श्रीमार्यशूरविरचित

जातकमाला

सम्पादक : अनुवादक

सूर्यनारायण चौधरी

मो ती ला ल ब ना र सी दा स

दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

आर्यशूर-कृत

जातकमाला

मूल, संस्कृत और हिन्दी अनुवाद, भूमिका, नोट्स
एवं अन्य छात्रोपयोगी सामग्री सहित

सम्पादक और अनुवादक
सूर्यनारायण चौधरी, एम० ए०
(पूर्णिया कालेज, पूर्णिया)

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

भारतीय संस्कृति साहित्य के प्रमुख प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता
मुख्य कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
शाखाएं : १. चौक, वाराणसी-१ (उ० प्र०)
२. अशोक राजपथ, पटना-४ (बिहार)

द्वितीय संशोधित संस्करण : १९७१

पुनर्मुद्रण : दिल्ली, १९८१

मूल्य : रु० २२.५०

भारत सरकार द्वारा उपलब्ध किये गये
रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित।

श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा प्रकाशित तथा श्री शान्तिलाल जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, ए-४५, फेस १, इंडस्ट्रियल एरिया, नारायणा, नई दिल्ली-२८ द्वारा मुद्रित।

भूमिका

जातकमाला में बुद्ध के पूर्व-जन्मों की कथाएँ है। बुद्ध सर्वज्ञ थे। वे अपने पूर्व-जन्मों की घटनाओं को भी जानते थे। गीता (४।५) में भी कृष्ण ने कहा है—

> बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
> तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

हे अर्जुन, मेरे और तेरे अनेक जन्म बीत चुके हैं। हे परंतप, मैं उन सब जन्मों को जानता हूँ, तू नहीं जानता।

बुद्ध ने एक जन्म के ही प्रयत्नों से बुद्धत्व नहीं पाया था। उन्होंने असंख्य जन्मों तक बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए भगीरथ-प्रयत्न किये थे। जब वे अपने पूर्व-जन्मों में सद्‌गुणों का विकास और सत्कर्मों का आचरण कर रहे थे, तब उनकी संज्ञा बोधिसत्त्व थी। बोधि का अर्थ है बुद्धत्व और सत्त्व का अर्थ है प्राणी। इस प्रकार बोधिसत्त्व का अर्थ हैं बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करनेवाला प्राणी। बोधिसत्त्व को हम भावी बुद्ध भी कह सकते हैं। बुद्ध तो सर्वज्ञ थे ही, किन्तु बोधिसत्त्व भीं कभी-कभी अपने पूर्व-जन्म को स्मरण कर सकते थे। बोधिसत्त्व कोशल-अधिपति ने (देखिये कुल्माषपिण्डी-जातक) अपने अतीत जन्म को स्मरण करते हुए कहा था कि पूर्व जन्म में जब वे मजदूर थे तब भिक्षुओं को कुछ भोजन देने के फल-स्वरूप ही वे दूसरे जन्म में कोशल के अधिपति हुए और उनकी धर्मपरायणा रानी ने भी (जो बोधिसत्त्व नहीं थी) अपने अतीत जन्म को स्मरण करते हुए कहा कि पूर्व जन्म में जब वह दासी थी तो किसी मुनि को कुछ भोजन देने के फलस्वरूप ही वह कोशलाधिपति की रानी हुई।

बुद्ध के जीवन में सैकड़ों बार ऐसे अवसर आये जब कि तत्कालीन किसी घटना को देखकर उन्हें पूर्व-जन्म की घटना स्मरण हो जाती थी और वे उस जन्म की घटना उपस्थित श्रोताओं को सुनाकर वर्तमान के साथ अतीत का मेल बैठा दिया करते थे। और वह उनकी एक जन्म-कथा या जातक-कथा हो जाती

थी। इस प्रकार की ५४७ जातक-कथाएँ पालि में उपलब्ध हैं। विशेषत: इन्हीं पालि-जातकों[1] और कुछ श्रुति-परम्परागत बौद्ध कथाओं से भी आर्यशूर ने अपनी माला या संग्रह के लिए जातकों का चयन किया है।

मैक्समूलर (Maxmuller) और स्पेयर (Speyer) इन जातकों को बुद्ध के पूर्व-जन्मों के वास्तविक वृत्तान्त न मानकर उपदेश-प्रद कथाएँ मानते हैं। इस प्रकार की कथाओं की परम्परा बुद्ध से पहले से ही भारत में आ रही थी। बुद्ध और बौद्ध आचार्यों ने भिक्षु-संघ और जनता को धर्मोपदेश देने के लिए इन कथाओं का उपयोग किया है। बुद्ध के समय में और उनके पीछे इनकी संख्या में वृद्धि हुई है। जातकमाला का व्याघ्री-जातक पालि-जातकों में उपलब्ध नहीं है। आर्यशूर ने श्रुति-परम्परा से ही इसे अपने गुरु से सुना था। जातक-ग्रन्थ के अतिरिक्त पञ्चतन्त्र और कथासरित्सागर भारत वर्ष के दो प्राचीन प्रमुख कथा-ग्रन्थ हैं। पञ्चतन्त्र का पूर्व रूप नष्ट हो गया तथा कथासरित्सागर का आधार बृहत्कथा[2] भी अनुपलब्ध है। कितने ही जातकों से मिलती-जुलती कथाएँ पञ्चतन्त्र और कथासरित्सागर में पाई जाती हैं। भारतीय कथा-साहित्य प्राचीन काल में ही विश्व के विभिन्न भागों में पहुँचकर वहाँ के साहित्य का अविभाज्य अङ्ग हो गया है।

पालि-जातक-ग्रन्थ में सब प्रकार के जातक हैं। अधिकांश तो पञ्चतन्त्र और हितोपदेश की कथाओं की तरह नीति-परक और मनोरञ्जक हैं और कुछ बौद्ध धर्म के आध्यात्मिक उपदेशों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पालि-जातक मस्तिष्क और हृदय दोनों के ही गुणों के दृष्टान्त हैं, किन्तु ये संस्कृत-जातक मुख्यतः हृदय के सद्‌गुणों के दृष्टान्त हैं। पालि-जातकों में भले-बुरे लोक-व्यवहार और अधम-उत्तम नीति की जितनी झलक मिलती है उतनी हृदय के सद्‌गुणों की नहीं, किंतु इन संस्कृत जातकों में हृदय को मृदु और उदार बनानेवाले तत्त्वों की ही प्रधानता है।

---

१ पालि-जातकों का अंग्रेजी, जर्मन, बंगला और हिन्दी में अनुवाद हुआ है। बंगला-अनुवाद श्री ईशानचन्द्र घोष ने और हिन्दी-अनुवाद भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने किया है। हिन्दी-अनुवाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित हुआ है।

२ देखिये लेखक का हर्षचरित, पूर्वार्ध, पृष्ठ ४।

जातकमाला के सब ३४ जातकों[1] में से जो जातक पालि से लिये गये हैं उनका मुख्यांश तो मूल का ही है, किन्तु इनमें कवि शूर ने उपयुक्त परिवर्तन भी किया है। कुछ जातकों को सुरुचिपूर्ण बनाने के लिए कवि ने मूल के बीभत्स दृश्यों को छोड़ भी दिया है (देखिये शिबि-जातक और क्षान्तिवादी-जातक)। जातकमाला के सभी जातकों के प्रधान पात्र बोधिसत्त्व हैं। वे मनुष्यों की योनि में कभी राजा, कभी आचार्य, कभी तपस्वी और कभी श्रेष्ठी के रूप में प्रकट होते हैं, देव-योनि में देवताओं के अधिपति शक्र होते हैं और पशु-पक्षियों की योनि में शशक मत्स्य मृग या हंस होकर जन्म लेते हैं। जिस किसी भी योनि में उत्पन्न हों वे बचपन से ही बड़े होनहार होते हैं, अल्पकाल में ही सर्वगुण-सम्पन्न हो जाते हैं। बोधिसत्त्व के जीवन का प्रधान लक्ष्य है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

मैं न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग, न मोक्ष। मैं चाहता हूँ कि दुःखी प्राणियों का दुःखनाश हो।

वे उस बाघिन के आगे, जो भूख की ज्वाला से व्याकुल होकर अपने सद्यः-प्रसूत शावकों को खाने के लिए उद्यत थी, अपना शरीर उत्सर्ग करते हुए उसकी प्राण-रक्षा और धर्म-रक्षा करते हैं। वे सर्वस्वदान से ही सन्तुष्ट न होकर अपने शरीर का अवयव भी प्रसन्नतापूर्वक देते हैं। दान-कर्म में भयानक विघ्न उपस्थित होने पर भी वे अपने कर्म से विचलित नहीं होते। तपस्या-काल में जब वे केवल कमल-नाल खाकर रहते थे तब लगातार कई दिनों तक इन्द्र के द्वारा उनका आहार लुप्त किया जाने पर भी उनके मन में विकार का उदय नहीं होता है। मनुष्य का ताजा मांस और गर्म रुधिर चाहने वाले भूखे और प्यासे यक्षों को अपने ही शरीर से मांस के टुकड़े खिलाकर और रुधिर की धारा पिलाकर वे उन क्रूर-हृदयों में भी करुणा का सञ्चार करने में समर्थ होते हैं। शशक की योनि में

---

१. हेमचन्द्र ने अपने अभिधानचिन्तामणि नामक कोष में जहाँ बुद्ध के अन्य नाम दिये हैं वहाँ उन्हें चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञ (अर्थात् अपने ३४ पूर्व-जन्मों के ज्ञाता) भी कहा है और व्याख्या में बतलाया है—"चतुस्त्रिंशतं जातकानि व्याघ्रीप्रभृतीनि जानाति चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञः।" इसके बाद उन्होंने व्याघ्री आदि जातकों के नाम गिनाये हैं, जो जातकमाला में पाये जाते हैं। इस सूचना के लिए मैं डा० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल का अनुगृहीत हूँ।

उत्पन्न होकर वे भूखे अतिथि के लिए अपने सुन्दर शरीर को ही अग्नि में डालकर अतिथि-सत्कार का अलौकिक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। वे आजन्म-आचरित अहिंसा के प्रभाव से समुद्र में संकटापन्न जहाज के संत्रस्त यात्रियों की प्राण-रक्षा करने में समर्थ होते हैं। वे अपने अमात्य की अत्यन्त रूपवती पत्नी को देखकर मोहित होते हैं और अमात्य द्वारा पत्नी अर्पित की जाने पर भी उसे अस्वीकार करते हुए शीघ्र ही मोह-मुक्त होकर सन्मार्ग का उपदेश करते हैं। वे देवेन्द्र शक्र होकर मद्य-पान में आसक्त राजा को मद्य-पान से विरत कर राजा और उसकी प्रजा का कल्याण करते हैं।

बोधिसत्त्व के कर्म दिव्य और अद्‌भुत हैं। उनका जीवन अलौकिक और आदर्श है। उनके सदाचरण से हम प्रेरणा लें। हम भूखी बाघिन के आगे अपना शरीर उत्सर्ग न करें; किन्तु भूखे प्राणियों—पशुओं और मनुष्यों—की वेदना से द्रवीभूत होकर उनकी भूख की ज्वाला शान्त करने के लिए कुछ उद्योग अवश्य करें। हम परोपकार करना सीखें। उससे प्राप्त होनेवाला दिव्य आनन्द ही हमारा अपूर्व पुरस्कार होगा।

जातकमाला का दूसरा नाम है बोधिसत्त्वावदानमाला। अवदान का अर्थ सुकर्म हैं। इस प्रकार बोधिसत्त्वावदानमाला का अर्थ होगा बोधिसत्त्व के अवदानों अर्थात् सुकर्मों की माला।

जातकमाला गद्य-पद्य-मिश्रित संस्कृत में है। गद्य-पद्य-मिश्रित रचना हमारे लिये कोई कुतूहल का विषय नहीं है। हमारे यहाँ लोक-कथाओं और ग्रन्थ-कथाओं में भी यह प्रणाली अपनाई गई है। पञ्चतन्त्र गद्य-पद्य-मिश्रित रचना का एक प्राचीन उदाहरण है। इस प्रणाली की उत्पत्ति का बीज पालि-जातकों में निहित है। पालि-जातक अत्यन्त सरल गद्य-शैली में हैं; प्रत्येक जातक में एक या अधिक गाथाएँ (=श्लोक) भी हैं। जातकमाला की शैली उदात्त, ओजस्वी और अलंकृत है। अश्वघोष की रचनाओं की तरह जातकमाला भी एक कलाकार की कृति है। आर्यशूर और अश्वघोष के पद्यों में विशेष अन्तर नहीं है। अश्वघोष के पद्य कुछ अधिक सरल हैं। कहीं-कहीं शूर के भी पद्य अत्यन्त सरल हैं और साथ ही मार्मिक भी (देखिये विश्वन्तर-जातक, श्लोक ६५–७२)। छन्दों की विविधता के लिये आर्यशूर विख्यात हैं। जातकमाला के गद्य के वाक्य और समास लम्बे-लम्बे हैं, किन्तु उनका अर्थ स्पष्ट है। निस्सन्देह बाणभट्ट की

क्लिष्ट गद्य-शैली की अपेक्षा आर्यशूर की गद्य-शैली बहुत सुबोध है। जातकमाला की भापा पाणिनीय व्याकरण की अनुगामिनी है।

हालैंड के श्रीकेर्न (Kern) द्वारा सम्पादित जातकमाला के आधार हैं कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की दो पाण्डुलिपियाँ (संख्या १३२८ और १४१५) तथा पेरिस के राष्ट्रीय ग्रन्थागार की पाण्डुलिपि (सं० ९५)। मैक्समूलर के इस कथन में बहुत सत्य है कि केर्न ने जातकमाला का जो संस्करण प्रस्तुत किया है वह उत्कृष्ट है और सम्भवतः उसमें परिवर्तन न हो सकेगा। रायल एसियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से १९४७ ई० की जनवरी-फरवरी में मुझे सूचना मिली है कि वहाँ जातकमाला की दो पाण्डुलिपियाँ हैं, दोनों नेपाल से आई हैं और नेवारी लिपि में लिखी हुई हैं। उनमें से एक (जी ९९८०) खण्डित हैं, जो ताल-पत्रपर ११ वीं शती की नेवारी लिपि में लिखी हुई है। इसमें अविषह्य-जातक से आरम्भ होनेवाले पाँच जातक हैं। दूसरी पाण्डुलिपि (बी १३) कागजपर १८वीं शती की नेवारी लिपि में है। इसमें सुभापराज नामक एक अधिक जातक है। दोनों पाण्डुलिपियाँ केर्न के संस्करण से प्रायः मिलती हैं। पहली का पाठ अधिक अच्छा है, दूसरी का पाठ कुछ अशुद्ध है।[1] इच्छा रहते भी अनुकूल परिस्थिति के अभाव में मैं इन पाण्डुलिपियों का अवलोकन और उपयोग न कर सका।

---

१. रायल एसियाटिक सोसाइटी कलकत्ता के सहायक पुस्तकाध्यक्ष १५-१-१९४७ के अपने पत्र में लिखते हैं—

'We have two Mss of the Jātakamālā, of which one is fragmentary.

(i) G 9980 Palmleaf and paper cut in the form of palmleaf : Folio, 8 (paper) and 16 (palmleaf) : paper, modern restoration : Palmleaves written in old Newari : damaged : contains five Jātakas beginning with the Avishahya."

(ii) B. 13. Nepali paper : Folio 135 : Modern Newari; fresh : contains one more Jātaka than Dr. Kern's edn., viz., "Subhāsarāja."

The two Mss. generally agree with Dr. Kern's edn. But Ms. G 9980 gives better reading and Ms. B. 13 is rather somewhat incorrect."

जातकमाला का चीनी भाषा में अनुवाद ९६० और ११२७ ई० के बीच हुआ। इस अनुवाद में केवल १४ जातक हैं। इत्सिंग के अनुसार ७वीं शती के अन्तिम भाग में भारतवर्ष में जातकमाला का व्यापक प्रचार था। अजन्ता की पत्थर की दीवारों पर जातकमाला के क्षान्तिवादी, मैत्रीबल, महाहंस, रुरु, शिवि, महाकपि, महिष आदि जातकों के दृश्य चित्रित हुए हैं और दृश्य-परिचय के लिये उन जातकों से उपयुक्त श्लोक भी उद्धृत हुए हैं। श्लोकों के अभिलेख की लिपि छठी शती की है। इससे अनुमान होता है कि ५वीं शती में जातकमाला की ख्याति हो चुकी थी। कहा जाता है कि आर्यशूर ने कर्म-फलपर एक सूत्र लिखा था, जिसका चीनी अनुवाद ४३४ ई० में हुआ था। यदि इस सूत्र के लेखक शूर ही हैं तो ये अवश्य ही इस अनुवाद-काल से पहले हुए हैं।

कला और सौन्दर्य के उपासक, रूप और ऐश्वर्य के प्रशंसक प्रवृत्ति-परक कवि कालिदास ने अपनी कृतियों में अपने जीवन पर कुछ प्रकाश नहीं डाला तो त्याग-तपस्या करुण और परोपकार के अमृत रस की धारा बहानेवाले निवृत्ति-परक कवि आर्यशूर को अपने जीवन की कथा लिखने की क्या चिन्ता हो सकती थी! जातकमाला की पाण्डुलिपियों तथा उसके चीनी अनुवाद में ग्रन्थ-प्रणेता का नाम आर्यशूर ही है। व्याघ्री-जातक के आरम्भ में उन्होंने श्रद्धापूर्वक अपने गुरु का उल्लेखमात्र किया है। ग्रन्थ के आरम्भ में अपनी काव्य-कृति का प्रयोजन बतलाते हुये कवि ने कहा है—"मुनि(= बुद्ध) ने अपने पूर्वजन्मों में जो सुकर्म किये थे उन्हें मैं अपने काव्यरूपी फूलों से पूजूँगा। इन सुकर्मों से बोधि-मार्ग प्रकाशित होगा और रूखे मनवालों का रूखापन दूर होकर उन्हें मृदुता और प्रसन्नता प्राप्त होगी। लोक-कल्याण के उद्देश्य से उन लोकोत्तम के चरितों का वर्णन कर अपनी काव्य-प्रतिभा को श्रुतिप्रिय बनाने का प्रयत्न करूँगा।" संक्षेप में, बुद्धपूजा लोक-कल्याण और काव्य-प्रतिभा का सदुपयोग—यही था उनकी इस रचना का प्रयोजन।

तिब्वत के बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध इतिहासकार तारानाथ का कथन है कि आर्यशूर ने एक बाघिन और उसके बच्चे को भूख से मरते देखकर अपना शरीर उनके

वे पुनः २४-२-९४७ के अपने पत्र में लिखते हैं—

"The Mss. (Nos G 9980 & B 13) are from Nepal. Their approximate dates of copying are 11 & 18 cen. A. D. respectively."

आगे उत्सर्ग करना चाहा। पहले उन्हें कुछ भय हुआ, किन्तु बुद्ध के स्मरण से निर्भय होकर उन्होंने अपने रक्त से ७० श्लोकों की एक स्तुति लिखी। फिर अपने शरीर का रक्त पीने के लिए बाघिन और उसके बच्चे को दिया। रक्त पीकर जब उनके भीतर कुछ शक्ति का संचार हुआ तब आचार्य ने अपना शरीर उनके आगे समर्पित कर दिया। उन्होंने अपने गुरु से सुने हुए व्याघ्री-जातक के बोधिसत्व के अलौकिक कृत्य का अनुसरंण किया। जिस कवि और आचार्य ने हृदय की समस्त श्रद्धा और भक्ति-भाव के साथ प्रतिभा-प्रसूत काव्य-कुसुमाञ्जलियों से बोधिसत्त्व के दिव्य और अद्भुत कर्मों को पूजा है उसने यदि अवसर उपस्थित होने पर बोधिसत्त्व के अनुकरण में अपना शरीर भी उत्सर्ग कर दिया हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।

जौन्स्टन ने बुद्धचरित के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में पृष्ठ ३७ पर लिखा है कि जातकमाला की दो व्याख्याएँ विद्यमान हैं। बहुत दिनों तक मैं इस भ्रम में रहा कि ये व्याख्याएँ संस्कृत में लिखी गई कहीं अप्रकाशित पड़ी हैं। देश के कई विद्वानों और संस्थाओं से पत्र-व्यवहार करने पर केवल डा० राघवन् (मद्रास विश्वविद्यालय) से उनके ५-१२-१९५० के पत्र में यह निश्चयात्मक उत्तर मिला—"दोनों व्याख्याएँ तिब्बती भाषा में सुरक्षित हैं। देखिये पी० कोर्डियर का सूचीपत्र, भाग ३, पृष्ठ ४१७ और ५१३। दो व्याख्याओं में से पहली है टीका, जिसके लेखक कोई धर्मकीर्ति बतलाये गये हैं और दूसरी है पञ्चिका, जिसके लेखक का नाम नहीं दिया गया है[1]।" डा० राघवन् के सौजन्य से मेरा भ्रम दूर हुआ। मैं उनका कृतज्ञ हूँ। यदि इन व्याख्याओं और चीनी अनुवाद के अंग्रेजी या हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत हो जायँ तो इनसे आर्यशूर और जातकमाला पर कुछ नया प्रकाश पड़े।[2]

---

1. The two commentaries mentioned by Johnston are preserved in the Tibetan. See Catalogue of P. Cordier Pt. 3, pp. 417 & 513. A Dharmakirti is mentioned as the author of the first, a Tīkā and the second (a) Pañcikā, is enterd anonymous."—Dr. V. Raghavan.

२. भूमिका लिखने के उपरान्त डा० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल के सौजन्य से मुझे विदित हुआ है कि जातकमाला के रचयिता आर्यशूर ने 'पारमितासमास' नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखा था जिसकी मूल प्रति नेपाल महाराज के पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसकी प्रतिलिपि

केर्न द्वारा सम्पादित जातकमाला अमेरिका की हार्वर्ड-प्राच्य-माला (Harvard Oriental Series) के प्रथम ग्रन्थ के रूप में १८९० ई० में हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस में मुद्रित होकर प्रकाशित हुई तथा स्पेयर-कृत अंग्रेजी अनुवाद आक्सफोर्ड की बौद्ध-धर्मग्रन्थ-माला (Sacred Books of the Buddhists) के प्रथम ग्रन्थ के रूप में १८९५ ई० में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस में छपकर प्रकाशित हुआ। पहली ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक हैं मैक्समूलर और दूसरी के लैनमन (Lanman)। इंगलैण्ड और अमेरिका के विश्व-विख्यात दो विद्या-केन्द्रों से योरोप के इन दो प्राच्य महाविद्वानों के प्रधान सम्पादकत्व में केर्न और स्पेयर-सदृश विशेषज्ञों द्वारा क्रमशः सम्पादित और अनूदित होकर जातकमाला का भव्य मनोरम और शीर्षस्थानीय रूप में प्रकाशित होना जहाँ एक ओर इस ग्रन्थ-रत्न की उत्कृष्टता को प्रमाणित करता है वहाँ दूसरी ओर पाश्चात्य देशों के भारतीय-विद्या-विषयक अनुराग का उज्ज्वल दृष्टान्त भी उपस्थित करता है।

जातकमाला का अमेरिकन संस्करण सब प्रकार से सुन्दर होनेपर भी कीमती है। १९४७ ई० में मैंने बैंक द्वारा ४ डालर ४१ सेन्ट भेजकर हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से इसकी एक प्रति मँगाई थी। इस समय भारतीय प्राच्य-पुस्तक विक्रेताओं से २५) रु० में एक प्रति मिलती है। इसके एक सुलभ संस्करण की आवश्यकता निर्विवाद है। काशी से जो जातकमाला प्रकाशित हुई है उसमें परीक्षोपयोगी चुने हुए १०-११ जातक ही हैं। इस सद्ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद होना भी आवश्यक है। कोई २० वर्ष पूर्व पटना-निवासी श्री महेशचन्द्र ने चुने हुए कुछ जातकों का संक्षिप्त अनुवाद छपवाया था और वह भी वर्षों से अप्राप्य है।

ऐसी परिस्थिति में, आशा है, मेरा यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा। इसमें आदि से २० जातक दिये गये हैं। यदि पाठकों ने इसे अपनाया तो शेष १४ जातकों को भी इसी रूप में प्रकाशित करूँगा।

विजया दशमी
संवत् २००९ } सूर्यनारायण चौधरी

इटली के प्रसिद्ध विद्वान् डा० तुच्चि ने की थी। उसे आधार मानकर उनकी शिष्या डॉ० फेरारी (A. Ferrari) ने इटली भाषा में अनुवाद के साथ पारमिता-समास का एक संस्करण १९४६ में रोम से एनाली लेटरेनेन्सी (Annali Lateranensi) नामक पत्रिका के भाग १० में प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ में दान-पारमिता शील पारमिता क्षान्ति पारमिता वीर्य-पारमिता ध्यान-पारमिता और प्रज्ञा-पारमिता नामक छः समास या सर्ग हैं और ३६४ श्लोक हैं। पारमिता अर्थात् नैतिक और आध्यात्मिक पूर्णता का जो आदर्श जातकमाला की कथाओं में पाया जाता है वही इस पारमिता-समास में भी प्रतिपादित हुआ है। इसकी भाषा भी जातकमाला की भाँति सरल है।

द्वितीय संस्करण

इस संशोधित संस्करण में शेष चौदह जातक भी अनुवाद के साथ दिये जा रहे हैं। इन जातकों में प्रधानतः क्षमाशीलता परोपकारिता कर्तव्य-पालन और हृदय-परिवर्तन के आदर्श चित्रित हैं। कई जातकों में विरोधी वृत्तियों की चरम सीमा और दुष्परिणाम भी प्रदर्शित हैं।

विपत्ति में पड़े हुए प्राणियों को देखकर बोधिसत्त्व दया से द्रवीभूत होते हैं और अपने अलौकिक पराक्रम से उनकी रक्षा करते हैं। उपकृत प्राणी कृतघ्नता या विश्वासघात करें तो भी बोधिसत्त्व दयापूर्वक उनका उपकार ही करते हैं। कुमार्ग-गामी हिंसक प्राणियों पर करुणा करते हुए वे सदुपदेश और सदाचरण के द्वारा उनका हृदय-परिवर्तन कर उन्हें सन्मार्ग पर चलाते हैं, अन्यथा उनके प्रति क्षमा की नीति अपनाते हैं।

क्रोधी हिंसक कर्त्तव्य-च्युत राजा ने क्षान्ति-वादी ऋषि के सदुपदेश की उपेक्षा कर उनका अङ्ग अङ्ग काट डाला, किन्तु उन्होंने क्षमा को न छोड़ा। शतपत्र पक्षी ने जिस सिंह के कण्ठ से अटके हुए हड्डी के टुकड़े को निकाला वह एण्ड्रोकल्स के द्वारा उपकृत सिंह के समान कृतज्ञ नहीं था। वह तो बड़ा कृतघ्न निकला, किन्तु समर्थ होकर भी शतपत्र ने उससे बदला नहीं लिया, उसे क्षमा ही किया। रुरु मृग ने प्रखर जल-धारा में वहते हुए जीवन से निराश जिस मनुष्य की रक्षा की वह भी कृतघ्न निकला, तो भी मृग ने दयापूर्वक उसका पुनः उपकार ही किया। कर्तव्य-पालक वानर-पति अपने आश्रित वानरों को संकट से पार करने के लिए स्वयं सेतु बन गये, इस प्रकार प्राण-परित्याग करते हुए वानर-पति ने परम सुख-शान्ति का अनुभव किया। स्वामिभक्त कर्त्तव्य-निष्ठ अमात्य सुमुख ने बन्धन में फँसे हुए अपने स्वामी (बोधिसत्त्व) हंस-राज की मुक्ति के लिए अपने को मूल्य के रूप में अर्पित कर व्याध के हृदय को द्रवीभूत किया। राजकुमार सुतसोम के द्वारा क्रूर नर-भक्षी सौदास के हृदय-परिवर्तन का दृष्टान्त भी रोचक है। ये सभी जातक-कथाएँ रोचक शिक्षा-प्रद और प्रेरक हैं।

इन चौदह जातकों के अनुवाद में भी मुझे स्पेयर-कृत अंग्रेजी अनुवाद से सहायता मिली है । वैद्य-द्वारा सम्पादित संस्करण में दिये गये कुछ पाठों को मैंने इन जातकों में अपनाया हैं तथा मैंने भी कहीं-कहीं नये पाठों का सुझाव दिया है । इतने पर भी जहाँ-तहाँ मूल पाठ में सुधार की आवश्यकता है ।

आश्विन-कार्तिक
संवत् २०२६
संस्कृत-भवन
पूर्णिया (विहार)

सूर्यनारायण चौधरी

विषय - सूची

श्रीमदार्यशूरविरचिता

जातकमाला

बोधिसत्त्वावदानमालापराख्या

मालामिमां सौगतजातकानां
दिव्याद्भुतां हिन्द्यनुवादयुक्ताम् ।
प्रकाशितां लोकहितार्थमद्य
गृह्णातु विद्वानविचिन्त्य दोषान् ॥

जातकमाला

ॐ नमः श्रीसर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः ॥

श्रीमन्ति सद्गुणपरिग्रहमङ्गलानि कीर्त्यास्पदान्यनवगीतमनोहराणि ।
पूर्वप्रजन्मसु मुनेश्चरिताद्भुतानि भक्त्या स्वकाव्यकुसुमाञ्जलिनार्चयिष्ये ॥१॥

श्लाघ्यैरमीभिरभिलक्षितचिह्नभूतैरादेशितो भवति यत्सुगतत्वमार्गः ।
स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो धर्म्याः कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः ॥२॥

लोकार्थमित्यभिसमीक्ष्य करिष्यतेऽयं श्रुत्यार्षयुक्त्यविगुणेन पथा प्रयत्नः ।
लोकोत्तमस्य चरितातिशयप्रदेशैः स्वं प्रातिभं गमयितुं श्रुतिवल्लभत्वम् ॥३॥

स्वार्थोद्यतैरपि परार्थचरस्य यस्य नैवान्वगम्यत गुणप्रतिपत्तिशोभा ।
सर्वज्ञ इत्यवितथाक्षरदीप्तकीर्तिं मूर्ध्ना नमे तमसमं सहधर्मसंघम् ॥४॥

१ व्याघ्री-जातकम्

सर्वसत्त्वेष्वकारणपरमवत्सलस्वभावः सर्वभूतात्मभूतः पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति बुद्धे भगवति परः प्रसादः कार्यः ॥

तद्यथानुश्रूयते रत्नत्रयगुरुभिः प्रतिपत्तिगुणाभिराधितगुरुभिर्गुणप्रविचयगुरुभिरस्मद्गुरुभिः परिकीर्त्यमानमिदं भगवतः पूर्वजन्मावदानम् ।

बोधिसत्त्वः किलायं भगवान्भूतः प्रतिज्ञातिशयसदृशैर्दानप्रियवचनार्थचर्याप्रभृतिभिः प्रज्ञापरिग्रहनिरवद्यैः कारुण्यनिस्यन्दैर्लोकममिगृह्णन् स्वधर्माभिरत्युपनतशुचिवृत्तिन्युदितोदिते महति ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार ॥ स कृतसंस्कारक्रमो जातकर्मादिभिरभिवर्धमानः प्रकृतिमेधावित्वात्सानाथ्यविशेषाज्ज्ञानकौतूहलादकौसीद्याच्च नचिरेणैवाष्टादशसु विद्यास्थानेषु स्वकुलक्रमाविरुद्धासु च सकलासु कलास्वाचार्यकं पदमवाप ।

स ब्रह्मवद् ब्रह्मविदां बभूव राजेव राज्ञां बहुमानपात्रम् ।
साक्षात्सहस्राक्ष इव प्रजानां ज्ञानार्थिनामर्थचरः पितेव ॥ ५ ॥

तस्य भाग्यगुणातिशयसमावर्जितो महाँल्लाभसत्कारयशोविशेषः प्रादुरभूत् । धर्माभ्यासभावितमतिः कृतप्रव्रज्यापरिचयस्तु बोधिसत्त्वो न तेनाभिरेमे

सभी बुद्धों और बोधिसत्त्वों को प्रणाम।

मुनिने अपने पूर्व-जन्मों में जो उज्ज्वल, सद्गुणों से परिपूर्ण, मङ्गलमय, कीर्तिप्रद अनिन्द्य (निर्दोष), मनोहर और अद्भुत कर्म किये थे उन्हें अपनी काव्य-कुसुमाञ्जलि (मुट्ठी-मुट्ठी काव्यरूपी फूलों) से भक्तिपूर्वक पूजूँगा ॥ १ ॥

इन स्तुत्य एवं (मार्ग के) चिह्न-स्वरूप[1] कर्मों से बोधि-मार्ग का उपदेश होता है। इन (कर्मों) से रूखे मनवालों को भी प्रसन्नता होगी तथा धर्म-कथाएँ और भी रमणीय होंगी ॥२॥

लोक कल्याण के उद्देश्य से परंपरा और शास्त्र (सम्मत पद्धति) के अनुसार उन लोकोत्तम के अद्भुत चरितों (=कार्यों) का वर्णन कर अपनी (काव्य-) प्रतिभा को श्रुति-प्रिय बनाने का प्रयत्न करूँगा ॥ ३ ॥

स्वार्थ में तत्पर रहने वाले लोग जिन परार्थचारी (=लोकोपकारी) के सुन्दर सदाचरण का अनुकरण न कर सके तथा 'सर्वज्ञ' इस सार्थक शब्द से जिनकी कीर्ति प्रज्वलित है, धर्म और संघ के साथ उन अनुपम (मुनि) के आगे शिर नवाता हूँ ॥ ४ ॥

१ व्याघ्री-जातक

भगवान् बुद्ध पूर्वजन्मों में भी सभी प्राणियों से अकारण ही अत्यन्त स्नेह किया करते थे और उनके साथ एकात्मभाव को प्राप्त हो गये थे। इसलिए हमें उन भगवान् में परम श्रद्धा होनी चाहिए। इसका यह दृष्टान्त यहां दिया जा रहा है। रत्न-त्रय (=बुद्ध, धर्म और संघ) के उपासक, सद्गुणों के संचय से गौरवशाली, सद्गुणों के अभ्यास के कारण गुरुजनों से पूजित हमारे गुरुवर भगवान के पूर्व-जन्म के इस सुकर्म का कीर्तन किया करते थे।

ये बोधिसत्त्व, जो पीछे भगवान् बुद्ध हुए, जब (बार-बार जन्म लेकर) अपनी असाधारण प्रतिज्ञा के अनुरूप दान, प्रियवचन, उपकार आदि बुद्धिमत्तापूर्ण निर्दोष (स्तुत्य) कार्यों तथा दया की वृष्टि से संसार पर अनुग्रह कर रहे थे तब (एकबार) स्वधर्मानुराग के कारण पवित्र शील वाले किसी उन्नत और महान्-ब्राह्मण कुल में उन्होंने जन्म-ग्रहण किया। उनके जात-कर्म आदि संस्कार क्रम से सम्पन्न हुए। वह (धीरे-धीरे) बढ़ने लगे। स्वभावतः मेधावी, उत्तम सहायता[2] से युक्त, ज्ञानार्जन के लिए उत्सुक और आलस्य-रहित (उद्योगी) होने के कारण उन्होंने अल्पकाल में ही अठारहों विद्या-स्थानों एवं वंश-परम्परा के अनुरूप सकल कलाओं में आचार्य-पद प्राप्त कर लिया।

वह ब्रह्म-वेत्ताओं के लिए ब्रह्म के समान, राजाओं के लिए सम्मानित (अधीश्वर) राजा के समान[3], प्रजाओं के लिए साक्षात् इन्द्र के समान और विद्यार्थियों के लिए अनुकूल व उपकारी पिता के समान थे ॥ ५ ॥

अपने सौभाग्य के कारण उन्हें महान् सम्पत्ति, सत्कार और कीर्ति प्राप्त हुई। किन्तु धर्मशास्त्र के अभ्यास से जिनकी बुद्धि पवित्र हो गई थी और प्रव्रज्या (=संन्यास) से जिनका परिचय हो गया था उन बोधिसत्त्व को उस (लाभ) से आनन्द नहीं हुआ।

---

१ टिप्पणी के लिए देखिये परिशिष्ट।

स पूर्वचर्यापरिशुद्धबुद्धिः कामेषु दृष्ट्वा बहुदोषजातम् ।
गार्हस्थ्यमस्वास्थ्यमिवावधूय कंचिद्वनप्रस्थमलंचकार ॥ ६ ॥

स तत्र निःसङ्गतया तया (च) प्रज्ञावदातेन शमेन चैव ।
प्रत्यादिदेशेव कुकार्यसङ्गाद्विश्लिष्टशिष्टोपशमं नृलोकम् ॥ ७ ॥

मैत्रीमयेन प्रशमेन तस्य विस्यन्दिनेवानुपरीतचित्ताः ।
परस्परद्रोहनिवृत्तभावास्तपस्विवद् व्याडमृगा विचेरुः ॥ ८ ॥

आचारशुद्ध्या निभृतेन्द्रियत्वात्संतोषयोगात्करुणागुणाच्च ।
असंस्तुतस्यापि जनस्य लोके सोऽभूत् प्रियस्तस्य यथैव लोकः ॥ ९ ॥

अल्पेच्छभावात्कुहनानभिज्ञस्त्यक्तस्पृहो लाभयशःसुखेषु ।
स देवतानामपि मानसानि प्रसादभक्तिप्रवणानि चक्रे ॥ १० ॥

श्रुत्वाथ तं प्रव्रजितं मनुष्या गुणैस्तदीयैरवबद्धचित्ताः ।
विहाय बन्धूंश्च परिग्रहांश्च तच्छिष्यतां सिद्धिमिवोपजग्मुः ॥ ११ ॥

शीले शुचाविन्द्रियभावनायां स्मृत्यप्रमोषे प्रविविक्ततायाम् ।
मैत्र्यादिके चैव मनःसमाधौ यथाबलं सोऽनुशशास शिष्यान् ॥ १२ ॥

अथ कदाचित्स महात्मा परिनिष्पन्नभूयिष्ठे पृथूभूते शिष्यगणे प्रतिष्ठापितेऽस्मिन्कल्याणे वर्त्मन्यवतारिते नैष्क्रम्यसत्पथं लोके संवृतेष्विवापायद्वारेषु राजमार्गीकृतेष्विव सुगतिमार्गेषु दृष्टधर्मसुखविहारार्थं तत्कालशिष्येणाजितेनानुगम्यमानो योगानुकूलान् पर्वतदरीनिकुञ्जाननुविचचार ॥

अथात्र व्याघ्रवनितां ददर्श गिरिगह्वरे ।
प्रसूतिक्लेशदोषेण गतां निस्पन्दमन्दताम् ॥ १३ ॥

परिक्षामेक्षणयुगां क्षुधा छाततरोदरीम् ।
आहारमिव पश्यन्तीं बालान्स्वतनयानपि ॥ १४ ॥

स्तन्यतर्षादुपसृतान्मातृविस्रम्भनिर्व्यथान् ।
रोरूयितरवैः क्रूरैर्भर्त्सयन्तीं परानिव ॥ १५ ॥

बोधिसत्त्वस्तु तां दृष्ट्वा धीरोऽपि करुणावशात् ।
चकम्पे परदुःखेन महीकम्पादिवाद्रिराट् ॥ १६ ॥

महत्स्वपि स्वदुःखेषु व्यक्तधैर्याः कृपात्मकाः ।
मृदुनाप्यन्यदुःखेन कम्पन्ते यत्तदद्भुतम् ॥ १७ ॥

पूर्व के आचरण से उनकी बुद्धि शुद्ध हो गई थी। भोगों में उन्होंने अनेक दोष देखे। अतः गृहस्थी को रोग के समान छोड़कर उन्होंने किसी वनगिरि को अलंकृत किया ॥ ६ ॥

वहाँ उन्होंने अपनी अनासक्ति और प्रज्ञा-विमल शान्ति के द्वारा मनुष्य-लोक को, जो कुकार्यों में आसक्त होने के कारण सज्जनों की शान्ति से वञ्चित था, मानो तिरस्कृत और लज्जित किया ॥ ७ ॥

उन्होंने मैत्री से परिपूर्ण शान्ति-रस की धारा बहाई, जो हिंसक पशुओं के हृदय में घुस गई, जिससे आपस के वैर-भाव को छोड़ कर वे तपस्वियों की भाँति विचरने लगे ॥ ८ ॥

पवित्र आचरण, इन्द्रिय-संयम, संतोष और करुणा के कारण वह अपरिचित जनता के भी उतने ही प्रिय हो गये जितना प्रिय कि उन्हें समस्त जीवलोक था ॥ ९ ॥

अल्पेच्छता के कारण वह बगुला-भक्ति[1] से अनभिज्ञ थे। उन्होंने लाभ, यश और सुख की अभिलाषा छोड़ दी थी। अतः देवताओं के भी मन श्रद्धा और भक्ति से उनकी ओर झुक गये ॥ १० ॥

वह प्रव्रजित (संन्यासी) हो गये हैं, ऐसा सुन कर लोग, जो (पहले से ही) उनके गुणों पर मुग्ध थे, स्वजन परिवार और सम्पत्ति को छोड़ कर, उनके शिष्य क्या बन गये मानो सिद्धि प्राप्त कर ली ॥ ११ ॥

उन्होंने पवित्र शील, इन्द्रिय-संयम, स्मृति की रक्षा (=सतत जागरूकता) एकान्त-सेवन और मैत्री-भावना आदि से युक्त मानसिक समाधि के विषय में अपने शिष्यों को यथा-शक्ति उपदेश दिया ॥ १२ ॥

जब उनकी शिष्यमण्डली बहुत बढ़ गई और उसमें से अनेकों ने सिद्धि प्राप्त कर ली, जब (संसार में) कल्याण-मार्ग स्थापित हो गया और लोग वैराग्य के सन्मार्ग पर आरूढ़ हो गये, जब दुर्गति के द्वार मानो बन्द हो गये और सुगति के मार्ग मानो राजमार्ग (की तरह प्रशस्त समतल और सुगम) बन गये तब एक बार वह महात्मा इसी जन्म में सुखपूर्वक विहार करने के लिए अपने तत्कालीन शिष्य अजित के साथ योग के अनुकूल पर्वत-कन्दराओं और निकुञ्जों में घुमने लगे।

तब उन्होंने पर्वत की कन्दरा में एक युवती बाघिन को देखा, जो प्रसव की पीड़ा से सुस्त हो गई थी, चल-फिर नहीं सकती थी ॥ १३ ॥

भूख से उसकी आँखें धँस गई थीं और उदर क्षीण हो गया था। वह अपने नन्हें बच्चों को भी अपने आहार के तौर पर देख रही थी ॥ १४ ॥

दूध की प्यास से समीप में आये हुए और मातृ-विश्वास से निर्भय उन बच्चों पर क्रूरता-पूर्वक बार-बार गर्जती हुई वह ऐसे गुर्रा रही थी जैसे शत्रुओं पर ॥ १५ ॥

उस बाघिन को देखकर बोधिसत्त्व धीर होने पर भी करुणा के वशीभूत हो गये और दूसरे के दुःख से ऐसे काँपने लगे जैसे भूकम्प से गिरि-राज काँप रहा हो ॥ १६ ॥

दयालु व्यक्ति अपने भारी दुःखों में भी धैर्य धारण करते हैं और दूसरे के हल्के दुःख से भी विचलित हो जाते हैं, यह आश्चर्य है ॥ १७ ॥

अथ स बोधिसत्त्वः ससंभ्रमाम्रेडितपदं स्वभावातिशयव्यञ्जकं करुणावल-समाहिताक्षरं शिष्यमुवाच । वत्स वत्स !

पश्य संसारनैर्गुण्यं मृग्येषा स्वसुतानपि ।
लङ्घितस्नेहमर्यादा भोक्तुमन्विच्छति क्षुधा ॥ १८ ॥

अहो बतातिकष्टेयमात्मस्नेहस्य रौद्रता ।
येन मातापि तनयानाहारयितुमिच्छति ॥ १९ ॥

आत्मस्नेहमयं शत्रुं को वर्धयितुमर्हति ।
येन कुर्यात् पदन्यासमीदृशेष्वपि कर्मसु ॥ २० ॥

तच्छीघ्रमन्विष्यतां तावत्कुतश्चिदस्याः क्षुद्दुःखप्रतीकारहेतुर्यावन्न तनया-नात्मानं चोपहन्ति । अहमपि चैनां प्रयतिष्ये साहसादस्मान्निवारयितुम् । स तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य प्रक्रान्तस्तदाहारान्वेषणपरो बभूव ॥ अथ बोधिसत्त्वस्तं शिष्यं सव्यपदेशमतिवाह्य चिन्तामापेदे ।

सविद्यमाने सकले शरीरे कस्मात्परस्मान्मृगयामि मांसम् ।
यादृच्छिकी तस्य हि लाभसंपत् कार्यात्ययः स्याच्च तथा ममायम् ॥ २१ ॥

अपि च

निरात्मके भेदिनि सारहीने दुःखे कृतघ्ने सततांशुचौ च ।
देहे परस्मायुपयुज्यमाने न प्रीतिमान्यो न विचक्षणः सः ॥ २२ ॥

स्वसौख्यसङ्गेन परस्य दुःखमुपेक्ष्यते शक्तिपरिक्षयाद्वा ।
न चान्यदुःखे सति मेऽस्ति सौख्यं सत्यां च शक्तौ किमुपेक्षकः स्याम् ॥ २३ ॥

सत्यां च शक्तौ मम यद्युपेक्षा स्यादाततायिन्यपि दुःखमग्ने ।
कृत्वेव पापं मम तेन चित्तं दह्येत कक्षं महताग्निनेव ॥ २४ ॥

तस्मात्करिष्यामि शरीरकेण तटप्रपातोद्गतजीवितेन ।
संरक्षणं पुत्रवधाच्च मृग्या मृग्याः सकाशाच्च तदात्मजानाम् ॥ २५ ॥

किं च भूयः

सदर्शनं लोकहितोत्सुकानामुत्तेजनं मन्दपराक्रमाणाम् ।
संहर्षणं त्यागविशारदानामाकर्षणं सज्जनमानसानाम् ॥ २६ ॥

विषादनं मारमहाचमूनां प्रसादनं बुद्धगुणप्रियाणाम् ।
व्रीडोदयं स्वार्थपरायणानां मात्सर्यलोभोपहतात्मनां च ॥ २७ ॥

तब करुणा की शक्ति से प्रेरित होकर बोधिसत्त्व ने संवेग में आकर बार बार अपने सुन्दर स्वभाव के अनुरूप ये शब्द अपने शिष्य से कहे—

"वत्स, वत्स,

संसार की निर्गुणता (=असारता) को देखो ! भूख से व्याकुल यह बाघिन (सन्तति-) स्नेह के नियम को तोड़ कर[1] अपने बच्चों को ही खाना चाहती है ।। १८ ।।

अहो ! धिक्कार है आत्म-स्नेह (=शरीर-प्रेम) की इस क्रूरता को[2], जिससे माता भी अपने पुत्रों को ही अपना आहार बनाना चाहती है ।। १९ ।।

किसके लिए यह उचित है कि वह आत्म-स्नेह रूप शत्रु को बढ़ाये, जिससे कि मनुष्य इस प्रकार के (कु-) कर्मों में भी पैर रख सकता है ? ।। २० ।।

जब तक कि यह अपने पुत्रों की और अपनी भी हत्या नहीं कर लेती है तब तक शीघ्र ही कहीं से इसकी भूख की पीड़ा को मिटाने के लिए कुछ खोज लाओ । मैं भी बाघिन को इस दुस्साहस से रोकने की चेष्टा करूँगा ।" 'बहुत अच्छा' कह कर वह चला गया और उसके आहार की खोज में लग गया । तब बोधिसत्त्व उस शिष्य को बहाने से दूर हटा कर सोचने लगे—

"इस सम्पूर्ण शरीर के रहते मैं किस दूसरे प्राणी का मांस खोजूँ[3] ? क्योंकि उसका मिलना भी निश्चित नहीं है और मेरा यह कार्य भी बिगड़ सकता है ।। २१ ।।

और भी—

अनात्म, असार, विनाशवान् , दुःखमय, कृतघ्न और सदा अपवित्र रहने वाले इस शरीर के दूसरे के उपयोग में आने पर जो मनुष्य प्रसन्न नहीं होता वह बुद्धिमान् नहीं है ।।२२।।

अपने सुख की आसक्ति से या अपनी शक्ति क्षीण होने से दूसरे के दुःख की उपेक्षा की जाती है । किंतु दूसरे को दुःख रहते मुझे सुख नहीं हो सकता और शक्ति के रहते मैं क्यों उपेक्षा करूँ ? ।। २३ ।।

यदि आततायी (अत्याचारी) भी दुःख में मग्न (पड़ा) हो और शक्ति के रहते मैं उसकी उपेक्षा करूँ तो मानो पाप करके[4] उस पाप से मेरा चित्त ऐसे जलेगा जैसे अग्नि-पुञ्ज से तृण जल जाय ।। २४ ।।

अतः प्रपात (=पहाड़ के खड़े किनारे) से गिरकर प्राण छोड़ूंगा और तब इस क्षुद्र (निष्प्राण) शरीर के द्वारा पुत्र-वध (के पाप) से बाघिन को और बाघिन से उसके बच्चों को बचाऊँगा ।। २५ ।।

और (इस कार्य के द्वारा)

लोकोपकार के लिए उत्सुक रहनेवालों को रास्ता दिखलाऊँगा, आलसी लोगों को (पराक्रम के लिए) उत्तेजित करूँगा, त्यागी पुरुषों को हर्षाऊँगा, सज्जनों के चित्त को आकृष्ट करूँगा ।। २६ ।।

मार की महासेना को निराश करूँगा, बुद्ध के भक्तों को प्रसन्न करूँगा, स्वार्थी द्वेषी और लोभी मनुष्यों को लज्जित करूँगा ।। २७ ।।

श्रद्धापनं यानवराश्रितानां विस्मापनं त्यागकृतस्मयानाम् ।
विशोधनं स्वर्गमहापथस्य त्यागप्रियाणामनुमोदि नृणाम् ॥ २८ ॥

कदा नु गात्रैरपि नाम कुर्यां हितं परेषामिति यश्च मेऽभूत् ।
मनोरथस्तत्सफलीक्रियां च संबोधिमग्र्यामपि चाविदूरे ॥ २९ ॥

अपि च ।

न स्पर्धया नैव यशोऽभिलाषान्न स्वर्गलाभान्न च राज्यहेतोः ।
नात्यन्तिकेऽप्यात्मसुखे यथायं ममादरोऽन्यत्र परार्थसिद्धेः ॥ ३० ॥

तथा ममानेन समानकालं लोकस्य दुःखं च सुखोदयं च ।
हर्तुं च कर्तुं च सदास्तु शक्तिस्तमः प्रकाशं च यथैव भानोः ॥ ३१ ॥

दृष्टे गुणेऽनुस्मृतिमागतो वा स्पृष्टः कथायोगमुपागतो वा ।
सर्वप्रकारं जगतो हितानि कुर्यामजस्रं सुखसंहितानि ॥ ३२ ॥

एवं स निश्चित्य परार्थसिद्ध्यै प्राणात्ययेऽप्यापतितप्रमोदः ।
मनांसि धीराण्यपि देवतानां विस्मापयन्स्वां तनुमुत्ससर्ज ॥ ३३ ॥

अथ सा व्याघ्री तेन बोधिसत्त्वस्य शरीरनिपातशब्देन समुत्थापितकौतूहलामर्षा विरम्य स्वतनयवैशसोद्यमात्ततो नयने विचिक्षेप । दृष्ट्वैव च बोधिसत्त्वशरीरमुद्गतप्राणं सहसाभिसृत्य भक्षयितुमुपचक्रमे ॥

अथ स तस्य शिष्यो मांसमनासाद्यैव प्रतिनिवृत्तः कुत्रोपाध्याय इति विलोकयंस्तद्बोधिसत्त्वशरीरमुद्गतप्राणं तया व्याघ्रयुवत्या भक्ष्यमाणं ददर्श । स तत्कर्मातिशयविस्मयात्प्रतिव्यूढशोकदुःखावेगस्तद्गुणाश्रयबहुमानमिवोद्गिरन्निदमात्मगतं ब्रुवाणः शोभेत[1] ।

अहो दयास्य व्यसनातुरे जने स्वसौख्यनैःसङ्ग्यमहो महात्मनः ।
अहो प्रकर्षं गमिता स्थितिः सतामहो परेषां मुदिता यशःश्रियः ॥ ३४ ॥

अहो पराक्रान्तमपेतसाध्वसं गुणाश्रयं प्रेम परं प्रदर्शितम् ।
अहो नमस्कारविशेषपात्रतां प्रसह्य नीतास्य गुणातनुस्तनुः ॥ ३५ ॥

निसर्गसौम्यस्य वसुंधराधृतेरहो परेषां व्यसनेष्वमर्षिता ।
अहो मदीया गमिता प्रकाशतां खटुङ्कता विक्रमसंपदानया ॥ ३६ ॥

अनेन नाथेन सनाथतां गतं न शोचितव्यं खलु सांप्रतं जगत् ।
पराजयाशङ्कितजातसंभ्रमो ध्रुवं विनिश्वासपरोऽद्य मन्मथः ॥ ३७ ॥

---

१ 'शोभेत' के स्थान में 'अशोभते' उपयुक्त होता ।

बुद्धयान (या महायान) के आश्रितों की श्रद्धा बढ़ाऊँगा[1], त्यागपर हँसनेवालों को चकित करूँगा। स्वर्ग-प्राप्ति के महापथ को साफ करूँगा, जिससे त्याग-प्रिय व्यक्तियों को आनन्द होगा ॥ २८ ॥

'कब अपना शरीर देकर भी दूसरों की भलाई करूँगा यह जो मेरा मनोरथ था उसे अब पूरा करूँगा और निकट भविष्य में ही सम्यक् बोधि (=बुद्धत्व) प्राप्त करूँगा ॥ २९ ॥

(मैं जो परोपकार करना चाहता हूँ वह) स्पर्धा (या होड़) से नहीं, यश की अभिलाषा से नहीं, स्वर्ग-प्राप्ति के लिए नहीं, राज्य के लिए नहीं। परोपकार को छोड़कर दूसरी किसी भी चीज में, आत्यन्तिक आत्म-सुख की प्राप्ति में भी मेरी यह अभिरुचि नहीं है ॥ ३० ॥

इसके द्वारा एक ही साथ जीव-लोक का दुःख दूर करने की तथा उसे सुख पहुँचाने की शक्ति मेरे में सर्वदा बनी रहे, जैसे एक ही समय में सूर्य अन्धकार दूर करता है और प्रकाश फैलाता है ।। ३१ ॥

सद्गुण की चर्चा होनेपर अनुस्मरण (याद) किया जाऊँ या कथा के सिलसिले में व्यक्त किया जाऊँ, मैं सब प्रकार से निरन्तर जगत् का हितसाधन करता रहूँ और उसे सुख पहुँचाता रहूँ ।। ३२ ॥

ऐसा निश्चय कर परोपकार के लिए प्राण छोड़ने में भी आनन्दित होते हुए और शान्त-चित्त देवताओं को भी विस्मित करते हुए उन्होंने शरीरोत्सर्ग कर दिया ।। ३३ ।।

तब बोधिसत्त्व के शरीर के गिरने का शब्द सुनकर बाघिन को क्रोध और कुतूहल हो गया। अपने पुत्रवध के उद्योग से विरत होकर वह उधर ही देखने लगी । बोधिसत्त्व के निष्प्राण शरीर को देखते ही वह तेजी से समीप जाकर उसे खाने लगी ।

तब उसका शिष्य मांस पाये बिना ही लौट आया । 'आचार्य कहाँ हैं' इसका पता लगाते हुये उसने देखा कि बोधिसत्त्व के उस निष्प्राण शरीर को वह युवती बाघिन खा रही है। उनके उस महान् कार्य से विस्मय होनेपर उसके दुःख और शोक का आवेग दब गया । और उनके सद्गुणों के प्रति आदर-भाव होने से उसने ठीक ही अपना यह उद्गार प्रगट किया[2]:-

"अहो, यह महात्मा दुःख से पीड़ित प्राणियों के प्रति कितने दयालु और अपने सुख की ओर से कितने लापरवाह थे । इन्होंने सज्जनों की मर्यादा को पराकाष्ठापर पहुँचा दिया और असज्जनों की कीर्ति को मिट्टी में मिला दिया ।। ३४ ।।

अहो, इन्होंने निर्भय होकर पराक्रम किया और गुणों के आश्रयरूप उत्कृष्ट प्रेमका प्रदर्शन किया । सद्गुणों से भरा हुआ इनका शरीर अब विशेष रूप से वन्दनीय हो गया है ॥ ३५ ॥

स्वभाव से ही शान्त-चित्त और वसुन्धरा के समान धैर्यशाली होनेपर भी वह दूसरों के दुःख को नहीं सह सकते थे । उनकी इस वीरता से मेरी कापुरुषता (या कठोर-हृदयता) प्रकाशित हो गई है ।। ३६ ।।

इन नाथ (स्वामी) को पाकर यह जगत् सनाथ हो गया, अब इसके लिये शोक करना उचित नहीं । अपने पराजय की आशङ्का से संक्षुब्ध होकर मन्मथ[3] आज निश्चय ही लम्बी सांसें ले रहा है ।। ३७ ।।

सर्वथा नमोऽस्त्वस्मै महाभागाय सर्वभूतशरण्यायातिविपुलकारुण्यायाप्रमेयसत्त्वाय भूतार्थबोधिसत्त्वाय महासत्त्वायेति ।। अथ स तमर्थं सब्रह्मचारिभ्यो निवेदयामास ।

तत्कर्मविस्मितमुखैरथ तस्य शिष्यैर्गन्धर्वयक्षभुजगैस्त्रिदशाधिपैश्च ।
माल्याम्बराभरणचन्दनचूर्णवर्षैश्छन्ना तदस्थिवसुधा वसुधा बभूव ॥३८॥

तदेव सर्वसत्त्वेष्वकारणपरमवत्सलस्वभावः सर्वभूतात्मभूतः पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति बुद्धे भगवति परः प्रसादः कार्यः जातप्रसादैश्च बुद्धे भगवति परा प्रीतिरुत्पादयितव्या । एवमायतनगतो नः प्रसाद इत्येवमभ्युन्नेयम् । तथा सत्कृत्य धर्मः श्रोतव्यः । एवं दुष्करशतसमुदानीतत्वात् करुणावर्णेऽपि वाच्यमेवं स्वभावातिशयस्य निष्पादिका परानुग्रहप्रवृत्तिहेतुः करुणेति ॥

इति व्याघ्रीजातकं प्रथमम्

---

२ शिवि-जातकम्

दुष्करशतसमुदानीतोऽयमस्मदर्थं तेन भगवता सद्धर्म इति सत्कृत्य श्रोतव्यः ॥ तद्यथानुश्रूयते ।

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवानपरिमितकालाभ्यासात्सात्मीभूतोपचितपुण्यकर्मा कदाचिच्छिबीनां राजा बभूव । स बाल्यात्प्रभृत्येव वृद्धोपासनरतिर्विनयानुरक्तोऽनुरक्तप्रकृतिः प्रकृतिमेधावित्वादनेकविद्याधिगमविपुलतरमतिरुत्साहमंत्रप्रसादशक्तिदैवसंपन्नः स्वा इव प्रजाः प्रजाः पालयति स्म ।

तस्मिंस्त्रिवर्गानुगुणा गुणौघाः संहर्षयोगादिव संनिविष्टाः ।
समस्तरूपा विभभुर्न चासुर्विरोधसंक्षोभविपन्नशोभाः ॥१॥

विडम्बनेवाविनयोद्धतानां दुर्मेधसामापदिवातिकष्टा ।
अल्पात्मनां या मदिरेव लक्ष्मीर्बभूव सा तत्र यथार्थनामा ॥२॥

उदारभावात्करुणागुणाच्च वित्ताधिपत्याच्च स राजवर्यः ।
रेमेऽर्थिनामीप्सितसिद्धिहर्षादक्लिष्टशोभानि मुखानि पश्यन् ॥३॥

सब प्राणियों को शरण देनेवाले इन महाकारुणिक अत्यन्त धैर्यशाली महाभाग्यवान् महापुरुष, लोकोपकारी बोधिसत्त्व को सब प्रकार से प्रणाम है।" तब उसने यह बात अपने सहपाठियों (= गुरुभाइयों) से निवेदन की।

उस कार्य से विस्मित होकर उनके शिष्यों तथा गन्धर्वों यक्षों नागों और देव-अधिपतियों ने उनकी हड्डीरूपी रत्न-राशि से युक्त उस भूमि को मालाओं वस्त्रों आभरणों और चन्दन-चूर्ण की वृष्टि से पाट दिया ॥ ३८ ॥

इस प्रकार भगवान् बुद्ध पूर्व-जन्मों में भी सभी प्राणियों से अकारण ही अत्यन्त स्नेह किया करते थे और उनके साथ एकात्मभाव को प्राप्त हो गये थे। इसलिये हमें उन भगवान् में परम श्रद्धा होनी चाहिये। और भगवान् बुद्ध में श्रद्धा उत्पन्न होनेपर हमें अत्यन्त आनन्दित होना चाहिए। इस प्रकार हमारी श्रद्धा स्थिर हो जायगी, यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिए। तथा आदरपूर्वक धर्म श्रवण करना चाहिए, क्योंकि शत-शत कष्टों को झेलकर धर्म (हमारे लिए यहाँ) लाया गया है। करुणा की स्तुति करते समय भी इस प्रकार कहना चाहिए—करुणा के ही कारण उत्तम स्वभाव का निर्माण होता है और दूसरों पर अनुग्रह करने की प्रवृत्ति होती है।

व्याघ्री–जातक प्रथम समाप्त।

२ शिबि-जातक

उन भगवान् ने अनेक दुष्कर कार्यों द्वारा हमारे लिए जिस सद्धर्म को उपस्थित किया उसे आदरपूर्वक सुनना चाहिए। तब जैसी कि अनुश्रुति है।

जब यह भगवान् बोधिसत्त्व ही थे तो अनन्त काल के अभ्यास से उपार्जित पुण्यराशि के प्रताप से एकबार शिबियों के राजा हुए। बाल्य काल से ही वह बड़े-बूढ़ों की सेवा में लगे रहते थे, बड़े विनयी थे और प्रजा भी उन्हें प्यार करती थी। स्वभाव से ही मेधावी होने के कारण उन्होंने अनेक विद्यायें सीख लीं, जिससे उनकी बुद्धि का विकास हुआ। उत्साह मंत्रणा और प्रभुता की (राजोचित) शक्तियों[1] तथा दैवी सम्पत्ति से युक्त होकर वह अपनी सन्तान के समान प्रजा का पालन करते थे।

त्रिवर्ग[2]-साधन के अनुरूप सकल गुण-गण मानों आनन्दातिरेक से उनमें प्रविष्ट हुए। एक साथ रहते हुए वे शोभित हुए, (पारस्परिक) विरोधजन्य क्षोभ (के अभाव) से उनकी शोभा नष्ट नहीं हुई ॥ १ ॥

जो लक्ष्मी दुर्विनीतों के लिए उपहास के समान, मूर्खों के लिए दारुण विपत्ति के समान और असंयमियों के लिए मदिरा के समान होती है वही लक्ष्मी उनके यहाँ अपने नाम के अनुरूप सिद्ध हुई ॥ २ ॥

अपनी उदारता, करुणा और ऐश्वर्य के कारण वह उत्तम राजा इच्छित वस्तु की प्राप्ति के आनन्द से याचकों के खिलते हुए चेहरों को देखकर आनन्दित होते थे ॥ ३ ॥

अथ स राजा दानप्रियत्वात्समन्ततो नगरस्य सर्वोपकरणधनधान्यसमृद्धा दानशालाः कारयित्वा स्वमाहात्म्यानुरूप यथाभिप्रायसंपादितं सोपचारं मनोहरमनतिक्रान्तकालसुभगं दानवर्षं कृतयुगमेघ इव ववर्ष । अन्नमन्नार्थिभ्यः, पानं पानार्थिभ्यः, शयनासनवसनभोजनगन्धमाल्यरजतसुवर्णादिकं तत्तदर्थिभ्यः ॥ अथ तस्य राज्ञः प्रदानौदार्यश्रवणाद्विस्मितप्रमुदितहृदया नानादिगभिलक्षितदेशनिवासिनः पुरुषास्तं देशमुपजग्मुः ।

परीत्य कृत्स्नं मनसा नृलोकमन्येष्वलब्धप्रणयावकाशाः ।
तमर्थिनः प्रीतमुखाः समीयुर्महाह्रदं वन्यगजा यथैव ॥ ४ ॥

अथ स राजा समन्ततः समापततो लाभाशाप्रमुदितमनसः पथिकजननेपथ्यप्रच्छादितशोभस्य वनीपकजनस्य

विप्रोषितस्येव सुहृज्जनस्य संदर्शनात्प्रीतिविजृम्भिताक्षः ।
याच्ञां प्रियाख्यानमिवाभ्यनन्दद्दत्त्वा च तुष्ट्यार्थिजनं जिगाय ॥ ५ ॥

दानोद्भवः कीर्तिमयः सुगन्धस्तस्यार्थिनां वागनिलप्रकीर्णः ।
मदं जहारान्यनराधिपानां गन्धद्विपस्येव परद्विपानाम् ॥ ६ ॥

अथ कदाचित्स राजा दानशालाः समनुविचरंस्तृप्तत्वादर्थिजनस्य प्रविरलं याचकजनसंपातमभिसमीक्ष्य दानधर्मस्यानुत्सर्पणान्न तुष्टिमुपजगाम ।

तर्षं विनिन्येऽर्थिजनस्तमेत्य न त्वर्थिनः प्राप्य स दानशौण्डः ।
न ह्यस्य दानव्यवसायमर्थी याच्ञाप्रमाणेन शशाक जेतुम् ॥ ७ ॥

तस्य बुद्धिरभवत् अतिसभाग्यास्ते सत्पुरुषविशेषा ये विस्रम्भनिर्यन्त्रणप्रणयमर्थिभिः स्वगात्राण्यपि याच्यन्ते । मम पुनः प्रत्याख्यानरूक्षाक्षरवचनसंतर्जित इवार्थिजनो धनमात्रकेऽप्रगल्भप्रणयः संवृत्त इति ॥

अथ क्षितीशस्य तमत्युदारं गात्रेष्वपि स्वेषु निवृत्तसङ्गम् ।
विज्ञाय दानाश्रयिणं वितर्कं पतिप्रिया स्त्रीव मही चकम्पे ॥ ८ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रः क्षितितलचलनादकम्पिते विविधरत्नप्रभोद्भासिनि सुमेरौ पर्वतराजे किमिदमिति समुत्पतितवितर्कस्तस्य राज्ञ इमं वितर्कातिशयं धरणीतलचलननिमित्तमवेत्य विस्मयावर्जितहृदयश्चिन्तामापेदे ।

उस दान-प्रिय राजा ने नगर के चारों ओर धन-धान्य आदि सभी उपकरणों से भर-पूर दानशालाएँ बनवाईं तथा अपने माहात्म्य के अनुरूप एवं अपने अभिप्राय के अनुसार उचित समय पर विधिवत् मनोहर दान-वृष्टि की, जैसे कृत युग का मेघ जल बरसा रहा हो। अन्न चाहने वालों को अन्न, पेय (पदार्थ) चाहने वालों को पेय, शयन-आसन-वसन-भोजन-सुगन्धि-माला चाँदी-सोना में से जो कुछ जो कोई चाहे उसे वही चीज देते थे। तब उस राजा की दानशीलता को सुनकर चारों ओर के देशों के रहनेवाले लोग विस्मय और आनन्द के साथ उस देश में पहुँचे।

चित्त द्वारा सम्पूर्ण मनुष्य लोक में विचरणकर और दूसरों के यहाँ प्रार्थना (याचना) करने का अवसर न पाकर याचकगण उनके ही समीप गये, जैसे जंगल के हाथी महासरोवर के पास जा रहे हों ॥ ४ ॥

चारों ओर से झुण्ड के झुण्ड भिक्षुक आने लगे। लाभ की आशा से उनके चित्त प्रसन्न थे। बटोहियों की वेष-भूषा में उन याचकों को,

प्रवास से लौटे हुए बन्धुओं की तरह देखकर राजा की आँखें आनन्द से विकसित हो गईं। प्रिय समाचार के समान याचना के शब्द सुनकर उन्हें आनन्द हुआ और दान देकर याचकों से भी अधिक संतोष हुआ ॥ ५ ॥

दान से उत्पन्न होनेवाली उनकी कीर्तिमय सुगन्ध ने, जिसे याचकों ने अपनी वाणीरूपी हवा से (दिग्-दिगन्तरों में) फैलाया, दूसरे राजाओं के मद का अपहरण किया, जिस प्रकार गन्ध-कुञ्जर की सुगन्ध (हवा में फैलकर) दूसरे हाथियों का अभिमान चूर्ण करती है ॥ ६ ॥

एकबार दान-शालाओं में घूमते हुए राजा ने देखा कि याचकों की इच्छाएँ तृप्त होने से उनकी संख्या कम हो गई है। अतः दान धर्म में रुकावट पड़ने से राजा को संतोष नहीं हुआ।

उनके समीप पहुँच कर याचकों ने अपनी प्यास मिटाई, किन्तु याचकों को पाकर उस दान-वीर की प्यास न मिटी। याचक याचना द्वारा उनकी दान देने की इच्छा (निश्चय) को न जीत सके ॥ ७ ॥

उन्होंने सोचा—"वे सज्जन अत्यन्त भाग्यवान् हैं, जिनसे याचकगण विश्वास और निर्भयतापूर्वक शरीर के अङ्गों की भी याचना करते हैं। किंतु मेरे फटकार के कठोर वचनों से मानो भयभीत होकर वे मुझ से केवल धन माँगने का ही साहस करते हैं।"

अङ्गों से भी आसक्ति हटाकर दान देने के सम्बन्ध में राजा के उस उदार विचार को जानकर, पति से प्यार करने वाली पत्नी की भाँति पृथ्वी काँपी ॥ ८ ॥

भूकम्प के कारण विविध रत्नों की प्रभा से उद्भासित पर्वत-राज सुमेरु के काँपने पर देवेन्द्र शक्र सोचने लगे—"यह क्या हुआ"। फिर राजा के उस अलौकिक विचार को भूकम्प का कारण जानकर उन्होंने विस्मित हृदय से सोचा—

दानातिहर्षोद्धतमानसेन वितर्कितं किं स्विदिदं नृपेण ।
आबध्य दानव्यवसायकक्ष्यां स्वगात्रदानस्थिरनिश्चयेन ॥ ९ ॥

तन्मीमांस्यं तावदेनमिति ॥ अथ तस्य राज्ञः पर्षदि निषण्णस्यामात्यगणपरिवृतस्य समुचितायां कृतायामर्थिजनस्य कः किमिच्छतीत्याह्वानावघोषणायामुद्घाव्यमानेषु कोशाध्यक्षाधिष्ठितेषु मणिकनकरजतधननिचयेषु विश्लेष्यमाणासु पुटासु विविधवसनपरिपूर्णगर्भासु समुपावर्त्यमानेषु विनीतविविधवाहनस्कन्धप्रतिष्ठितयुगेषु विचित्रेषु यानविशेषेषु प्रवृत्तसंपाते ऽर्थिजने शक्रो देवानामिन्द्रो वृद्धमन्धं ब्राह्मणरूपमभिनिर्माय राज्ञश्चक्षुःपथे प्रादुरभवत् । अथ तस्य राज्ञः कारुण्यमैत्रीपरिभावितया धीरप्रसन्नसौम्यया प्रत्युद्गत इव परिष्वक्त इव च दृष्ट्या केनार्थ इत्युपनिमन्त्र्यमाणः क्षितिपानुचरैर्नृपतिसमीपमुपेत्य जयाशीर्वचनपुरःसरं राजानमित्युवाच ।

दूराद्पश्यन्स्थविरोऽभ्युपेतस्त्वच्चक्षुषोऽर्थी क्षितिपप्रधानः ।
एकेक्षणेनापि हि पङ्कजाक्ष गम्येत लोकाधिप लोकयात्रा ॥ १० ॥

अथ स बोधिसत्त्वः समभिलषितमनोरथप्रसिद्ध्या परं प्रीत्युत्सवमनुभवन् किंस्विदिदं सत्यमेवोक्तं ब्राह्मणेन स्यादुत विकल्पाभ्यासान्मयैवमवधारितमिति जातविमर्शश्चक्षुर्याच्ञाप्रियवचनश्रवणतृषितमतिस्तं चक्षुर्याचनकमुवाच ।

केनानुशिष्टस्त्वमिहाभ्युपेतो मां याचितुं ब्राह्मणमुख्य चक्षुः ।
सुदुस्त्यजं चक्षुरिति प्रवादः संभावना कस्य मयि व्यतीता ॥ ११ ॥

अथ स ब्राह्मणवेषधारी शक्रो देवेन्द्रस्तस्य राज्ञ आशयं विदित्वोवाच ।

शक्रस्य शक्रप्रतिमानुशिष्टया त्वां याचितुं चक्षुरिहागतोऽस्मि ।
संभावनां तस्य ममैव चाशां चक्षुःप्रदानात्सफलीकुरुष्व ॥ १२ ॥

अथ स राजा शक्रसंकीर्तनान्नूनमस्य ब्राह्मणस्य भवित्री देवतानुभावादनेन विधिना चक्षुःसंपदिति मत्वा प्रमोदविशदाक्षरमेनमुवाच ।

येनाभ्युपेतोऽसि मनोरथेन तमेष ते ब्राह्मण पूरयामि ।
आकाङ्क्षमाणाय मदेकमक्षि ददामि चक्षुर्द्वयमप्यहं ते ॥ १३ ॥

स त्वं विबुद्धनयनोत्पलशोभितास्यः
संपश्यतो व्रज यथाभिमतं जनस्य ।
स्यात् किं सोऽयमुत नेति विचारदोला-
लोलस्य सोऽयमिति चोत्थितविस्मयस्य ॥ १४ ॥

"क्या दान देने के हर्षातिरेक से उद्धतचित्त[1] होकर राजा ने यह विचार किया है ? क्या दान देने के लिए कटिबद्ध होकर उन्होंने अपने अङ्गदान करने का दृढ़ निश्चय किया है ? ॥८॥

अच्छा, मैं उनकी परीक्षा करूँगा ।"

जब अपनी सभा में राजा अमात्यों से घिरे हुए बैठे थे तब 'याचकों में कौन क्या चाहता है' इस तरह पुकारकर समुचित घोषणा की जाने पर कोषाध्यक्ष के अधीन सोना-चाँदी-रत्न-सम्पत्ति के भण्डार खोले जाने लगे, भाँति-भाँति के कपड़ों से भरी हुई पिटारियाँ खोली जाने लगीं, चित्र-विचित्र उत्तम उत्तम यान (=सवारियाँ)—जिनके जुए शिक्षित (अश्व आदि) विविध वाहनों के कंधों पर रखे हुए थे—लाई जाने लगीं और झुण्ड के झुण्ड याचकगण आने लगे। उस समय देवों के अधिपति शक्र बूढ़े और अन्धे ब्राह्मण का रूप बनाकर राजा के दृष्टि-पथपर प्रकट हुए। राजा ने अपनी दयार्द्र मैत्रीपूर्ण धीर, प्रसन्न और सौम्य दृष्टि से मानो उनका स्वागत और आलिङ्गन किया। राजपुरुषों ने पूछा—"आप क्या चाहते हैं ?" वह राजा के समीप पहुँचकर आशीर्वाद देते हुए बोले—"हे राजेन्द्र, दूर देश से आया हूँ, बूढ़ा और अन्धा हूँ, मैं आपका एक नेत्र माँगता हूँ। हे कमलनयन, हे भूपति, एक नेत्र से भी लोक-यात्रा की जा सकती है।" ॥ १० ॥

तब अपनी अभिलाषा के पूरी होने पर, परम आनन्द अनुभव करते हुए 'क्या इस ब्राह्मण ने सत्य ही कहा है या अपनी इच्छा के अभ्यास से मैंने ही ऐसी कल्पना कर ली है' इस प्रकार विचार-विमर्श करते हुए बोधिसत्त्व ने नेत्र-याचना के प्रिय शब्द सुनने की प्यास से नेत्र के याचक से कहा—

"किसका आदेश पाकर, हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ, आप मुझ से नेत्र माँगने के लिय यहाँ आए हैं ? कहते हैं कि नेत्र का परित्याग करना अत्यन्त कठिन है। फिर मेरे प्रति किसकी ऐसी संभावना (=श्रद्धा) हुई है ?" ॥ ११ ॥

तब उस ब्राह्मण-वेषधारी देवेन्द्र शक्र ने राजा का आशय जानकर कहा—

"शक्र के शक्रोचित आदेश से मैं आप से चक्षु माँगने के लिए यहाँ आया हूँ। चक्षु देकर आप उनकी संभावना (=श्रद्धा) और मेरी आशा को सफल करें।" ॥ १२ ॥

तब शक्र का नाम सुनकर, अवश्य ही देवता के प्रभाव से इस ब्राह्मण को दृष्टिरूपी सम्पत्ति प्राप्त होगी—यह समझ कर उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक स्पष्ट शब्दों में कहा—

"जिस मनोरथ को लेकर, हे ब्राह्मण, आप आये हैं मैं उसे यह पूरा करता हूँ। आप मेरी एक आँख चाहते हैं मैं आपको अपनी दोनों आँखें देता हूँ ॥ १३ ॥

आपके कमलनयन विकसित होने से आपके मुख की शोभा बढ़े, आप जहाँ चाहें जायँ। और आपको देखकर यह जनसमूह 'क्या यह वही है या नहीं' इस प्रकार संशय करता हुआ, आश्चर्य-चकित होकर कहे—'हाँ यह वही है'।" ॥ १४ ॥

अथ तस्य राज्ञोऽमात्याश्चक्षुःप्रदानावसायमवेत्य ससंभ्रमावेगविषादव्यथितमनसो राजानमूचुः ।

दानातिहर्षादनयमसमीक्ष्याहितोदयम् ।
प्रसीद देव मा मैवं न चक्षुर्दातुमर्हसि ॥ १५ ॥

एकस्यार्थे द्विजस्यास्य मा नः सर्वान्पराकृथाः ।
अलं शोकाग्निना दग्धुं सुखसंवर्धिताः प्रजाः ॥ १६ ॥

धनानि लक्ष्मीप्रतिबोधनानि श्रीमन्ति रत्नानि पयस्विनीर्गाः ।
रथान् विनीतांश्च युजः प्रयच्छ मदोर्जितश्रीललितान् द्विपान्वा ॥ १७ ॥

समुच्चरन्नूपुरनिस्वनानि शरत्पयोदाभ्यधिकद्युतीनि ।
गृहाणि सर्वर्तुसुखानि देहि मा दाः स्वचक्षुर्जगदेकचक्षुः ॥ १८ ॥

विमृश्यतामपि च तावन्महाराज !

अन्यदीयं कथं नाम चक्षुरन्यत्र योज्यते ।
अथ देवप्रभावोऽयं त्वच्चक्षुः किमपेक्ष्यते ॥ १९ ॥

अपि च देव !

चक्षुषा किं दरिद्रस्य पराभ्युदयसाक्षिणा ।
धनमेव यतो देहि देव मा साहसं कृथाः ॥ २० ॥

अथ स राजा तानमात्यान्सानुनयमधुराक्षरमित्युवाच ।

अदाने कुरुते बुद्धिं दास्यमीत्यभिधाय यः ।
स लोभपाशं प्रभ्रष्टमात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥ २१ ॥

दास्यामीति प्रतिज्ञाय योऽन्यथा कुरुते मनः ।
कार्पण्यानिश्चितमतेः कः स्यात्पापतरस्ततः ॥ २२ ॥

स्थिरीकृत्यार्थिनामाशां दास्यामीति प्रतिज्ञया ।
विसंवादनरूक्षस्य वचसो नास्ति निष्कृतिः ॥ २३ ॥

यदपि चेष्टं देवतानुभावादेव चक्षुरस्य किं न संभवतीत्यत्र श्रूयताम् ।

नैककारणसाध्यत्वं कार्याणां ननु दृश्यते ।
कारणान्तरसापेक्षः स्याद्दैवोऽपि विधिर्यतः ॥ २४ ॥

तन्न मे दानातिशयव्यवसाये विघ्नाय व्यायन्तुमर्हन्ति भवन्त इति ॥

अमात्या ऊचुः—धनधान्यरत्नानि देवो दातुमर्हति न स्वचक्षुरिति विज्ञापितमस्माभिः । तन्न देवं वयमतीर्थे प्रतारयामः ॥ राजोवाच ।

तब नेत्र-दान का निश्चय जानकर, घबड़ाहट और दुःख से व्याकुल होकर, अमात्यों ने राजा से कहा—

"दान के आनन्दातिरेक के कारण आप इस दुर्नीति से होनेवाली बुराई को नहीं देख रहे हैं। हे देव, प्रसन्न हों, ऐसा न करें। आप अपना नेत्र नहीं दे सकते ॥ १५ ॥

इस एक द्विज के लिए आप हम सब की उपेक्षा न करें। सुख में पली हुई प्रजा को आप शोकाग्नि से न जलायें ॥ १६ ॥

लक्ष्मी को जगाने (बुलाने) वाले धन, उज्ज्वल रत्न, पयस्विनी गाएँ, रथ और विनीत (शिक्षित, घोड़ा आदि) वाहन, या सुन्दर बलवान् हाथी दें ॥ १७ ॥

शरद् ऋतु के बादलों से भी उज्ज्वल, सब ऋतुओं में सुखदायक, (रमणियों के) नूपुरों की ध्वनि से झंकृत गृह दें, किन्तु, हे संसार के एकमात्र नेत्र आप अपना नेत्र न दें ॥ १८ ॥

और भी। हे महाराज, सोचिये तो—

दूसरे का नेत्र भला दूसरे में कैसे जोड़ा (या लगाया) जा सकता है ? यदि देवता के प्रभाव से यह संभव भी हो तो आपके नेत्र की क्यों अपेक्षा की जाती है ? ॥ १९ ॥

और भी। हे देव,

दरिद्र को नेत्र से क्या प्रयोजन ? इससे तो दूसरों का अभ्युदय ही देखा जा सकता है[1]। अतः धन ही दें। दुस्साहस न करें" ॥ २० ॥

तब राजा ने उन अमात्यों से अनुनयपूर्वक मधुर वाणी में कहा—

'दूँगा' कहकर जो नहीं देने का विचार करता है वह उस लोभ-पाश को पहनता है, जिसे कि उसने पहले फेंका था[2] ॥ २१ ॥

'दूँगा' यह प्रतिज्ञा कर जो अपना विचार परिवर्त्तन करता है, जो कृपणता के कारण अपना निश्चय तोड़ता है उससे बढ़कर पापी कौन है ? ॥ २२ ॥

'दूँगा' इस प्रतिज्ञा द्वारा जो याचकों की आशा को स्थिर करता है और फिर (पीछे हट कर) विरोध में कठोर वचन कहता है उसकी मुक्ति नहीं है ॥ २३ ॥

यदि यह कहें कि देवता के प्रभाव से ही इसे नेत्र क्यों नहीं हो जाता है, तो इस सम्बन्ध में (मैं जो कहता हूँ उसे) सुनिये—

अनेक कारणों से कार्यों की सिद्धि होती देखी जाती है, इसलिए दैव को भी दूसरे कारण की (आवश्यकता) होती है ॥ २४ ॥

अतः मेरे महादान के निश्चय में आप विघ्न डालने की चेष्टा न करें।"

अमात्यों ने उत्तर दिया—"हमने तो इतना ही निवेदन किया है कि देव धन-धान्य-रत्न दे सकते हैं किन्तु अपना नेत्र नहीं। अतः हम देव को अतीर्थ (=कुघाट, अपुण्य, अशास्त्र) की ओर नहीं बहका रहे हैं।"

राजा ने कहा—

यदेव याच्येत तदेव दद्याज्ञानीप्सितं प्रीणयतीह दत्तम् ।
किमुह्यमानस्य जलेन तोयैः दास्याम्यतः प्रार्थितमर्थमस्मै ॥ २५ ॥

अथ तस्य राज्ञो दृढतरविस्रम्भप्रणयः स्नेहावेगादनपेक्षितोपचारोऽमात्यमुख्यस्त राजानमित्युवाच—मा तावद् भोः !

या नाल्पेन तपःसमाधिविधिना संप्राप्यते केनचिद्
यामासाद्य च भूरिभिर्मखशतैः कीर्तिं दिवं चाप्नुयात् ।
संप्राप्तामतिपत्य तां नृपतितां शक्रर्द्धिविस्पर्धिनीं
किं दृष्ट्वा नयने प्रदित्सति भवान्कोऽयं कुतस्त्यो विधिः ॥ २६ ॥

लब्धावकाशस्त्रिदशेषु यज्ञैः कीर्त्या समन्तादवभासमानः ।
नरेन्द्रचूडाद्युतिरञ्जिताङ्घ्रिः किं लिप्समानो नु ददासि चक्षुः ॥ २७ ॥

अथ स राजा तममात्यं सानुनयमित्युवाच—

नायं यत्नः सार्वभौमत्वमाप्तुं नैव स्वर्गं नापवर्गं न कीर्तिम् ।
त्रातुं लोकानित्ययं त्वादरो मे याच्ञाक्लेशो मा च भूदस्य मोघः ॥ २८ ॥

अथ स राजा नीलोत्पलदलशकलरुचिरकान्तिनयनमेकं वैद्यपरिदिष्टेन विधिना शनकैरक्षतमुत्पाट्य परया प्रीत्या चक्षुर्याचनकाय प्रायच्छत् । अथ शक्रो देवेन्द्रस्तादृशमृद्ध्यभिसंस्कारं चक्रे यथा ददर्श स राजा सपरिजनस्तत्तस्य चक्षुश्चक्षुःस्थाने प्रतिष्ठितम् । अथोन्मिषितैकचक्षुषं चक्षुर्याचनकमभिवीक्ष्य स राजा परमेण प्रहर्षेण समापूर्यमाणहृदयो द्वितीयमप्यस्मै नयनं प्रायच्छत् ।

ततः स राजा नयने प्रदाय विपद्मपद्माकरतुल्यवक्त्रः ।
पौरैरसाधारणतुष्टिरासोत्समग्रचक्षुर्ददृशे द्विजश्च ॥ २९ ॥

अन्तःपुरेऽथ मनुजाधिपतेः पुरे च
शोकाश्रुभिर्वसुमती सिषिचे समन्तात् ।
शक्रस्तु विस्मयमवाप परां च तुष्टिं
सबोधये नृपमकम्प्यमतिं समीक्ष्य ॥३०॥

अथ शक्रस्य विस्मयावर्जितहृदयस्यैतदभवत्

अहो धृतिरहो सत्त्वमहो सत्त्वहितैषिता ।
प्रत्यक्षमपि कर्मेदं करोतीव विचारणाम् ॥ ३१ ॥

तन्नायमाश्चर्यसत्त्वश्चिरमिमं परिक्लेशमनुभवितुमर्हति । यतः प्रयतिष्ये चक्षुरस्योपायप्रदर्शनादुत्पादयितुम् ॥

"जो चीज माँगी जाय वही देनी चाहिए। अनचाही वस्तु देने से प्रसन्नता नहीं होती है। बाढ़ में बहते हुए को पानी का क्या प्रयोजन? अतः मैं माँगी हुई वस्तु ही इन्हें दूँगा।" ॥ २५ ॥

तब प्रधान मंत्री ने, जिस पर राजा का अटूट विश्वास और प्रेम था, शिष्टाचार की उपेक्षा करते हुए राजा से कहा—"ऐसा न करें।

जिसे कोई कोई ही महान् तपस्या और समाधि से प्राप्त करता है और जिसे पाकर मनुष्य सैकड़ों बड़े-बड़े यज्ञों द्वारा स्वर्ग और कीर्त्ति प्राप्त कर सकता है, शक्र की समृद्धि से स्पर्धा करने वाली वह राज्य-लक्ष्मी आपको प्राप्त है और आप उसका अतिक्रमण कर रहे हैं! क्या (लाभ) देखकर आप नेत्र देना चाहते हैं? यह कौन-सा कैसा तरीका है? ॥ २६ ॥

आपने यज्ञों द्वारा देवताओं के बीच स्थान प्राप्त किया है, आप अपनी कीर्त्ति से चहुँ ओर प्रकाशित हैं, (प्रणाम करते हुए) राजाओं की चूड़ामणियों की कान्ति से आपके चरणकमल रञ्जित होते हैं, ऐसा वह क्या है, जिसे प्राप्त करने की इच्छा से आप नेत्र-दान कर रहे हैं?" ॥ २७ ॥

तब राजा ने अनुनयपूर्वक उस आमात्य से कहा—

"मेरा यह प्रयत्न सम्पूर्ण पृथ्वी का आधिपत्य, स्वर्ग, अपवर्ग, या कीर्ति प्राप्त करने के लिए नहीं, किंतु लोकरक्षा के लिए है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि याचना करने में इन्हें जो कष्ट हुआ है वह व्यर्थ न हो।" ॥ २८ ॥

तब राजा ने नीले कमल की पंखुड़ी के समान कान्तिमान नेत्र को वैद्य के बताये तरीके से धीरे-धीरे अखण्डित ही उखाड़ कर अत्यन्त आनन्दपूर्वक उस नेत्र माँगने वाले को दे दिया। और, देवेन्द्र शक्र ने ऐसा ऋद्धि-चमत्कार किया कि परिजन-सहित राजा ने उस नेत्र को उसके नेत्र-स्थान में प्रतिष्ठित देखा। नेत्र माँगने वाले का एक नेत्र विकसित हो गया, यह देख कर राजा का हृदय अत्यन्त आह्लाद से भर गया और उन्होंने दूसरा नेत्र भी उसे दे दिया।

जब राजा ने अपने दोनों नेत्र दे दिये तब उसका मुख कमल-रहित सरोवर के समान (कान्ति-हीन) हो गया और उस ब्राह्मण के नेत्र अखण्ड दिखाई पड़े। इससे राजा को तो आनन्द हुआ, किन्तु पुरवासियों को नहीं ॥ २९ ॥

अन्तःपुर में और राजधानी में धरती दुःख के आँसुओं से भींग गई। संबोधि-प्राप्ति के लिए राजा का निश्चय अविचल देखकर शक्र को विस्मय और अत्यन्त आनन्द हुआ ॥ ३० ॥

तब विस्मित-हृदय शक्र ने यों चिन्तन किया—

"अहो, यह धैर्य, यह साहस, यह प्राणिहितैषिता! यद्यपि मैंने अपनी आँखों से यह (आश्चर्य) कर्म देखा, तो भी (इसके सत्यासत्य के बारे में) मैं मानो विचार ही कर रहा हूँ (मानो विश्वास नहीं हो रहा है) ॥ ३१ ॥

यह महापुरुष चिरकाल तक इस (चक्षु-) क्लेश को भोगे, यह उचित नहीं। मैं इन्हें कोई उपाय बतला कर इनके नेत्र उत्पन्न करने का प्रयत्न करूँगा।"

अथ तस्य राज्ञः क्रमात्संरूढनयनव्रणस्यावगीतप्रतनूभूतान्तःपुरपौरजानपदशोकस्य प्रविवेककामत्वादुद्यानपुष्करिण्यास्तीरे कुसुमभरावनततरुचिरतरुवरनिचिते मृदुसुरभिशिशिरसुखपवने मधुकरगणोपकूजिते पर्यङ्केण निषण्णस्य शक्रो देवेन्द्रः पुरस्तात्प्रादुरभवत् । क एष इति च राज्ञा पर्यनुयुक्तोऽब्रवीत्—

शक्रोऽहमस्मि देवेन्द्रस्त्वत्समीपमुपागतः ।

राजोवाच । स्वागतम् । आज्ञाप्यतां केनार्थ इति ॥ स उपचारपुरःसरमुक्तो राजानं पुनरुवाच—

वरं वृणीष्व राजर्षे यदिच्छसि तदुच्यताम् ॥ ३२ ॥

अथ स राजा प्रदानसमुचितत्वादनभ्यस्तयाच्ञाकार्पण्यमार्गो विगृह्य विस्मयशौटीर्यमेनमुवाच—

प्रभूतं मे धनं शक्र शक्तिमच्च महद् बलम् ।
अन्धभावात्त्विदानीं मे मृत्युरेवाभिरोचते ॥ ३३ ॥

कृत्वापि पर्याप्तमनोरथानि प्रीतिप्रसादाधिकलोचनानि ।
मुखानि पश्यामि न याचकानां यत्तेन मृत्युर्दयितो ममेन्द्र ॥ ३४ ॥

शक्र उवाच—अलमलमनेन ते व्यवसायेन । सत्पुरुषा एवेदृशान्यनुप्राप्नुवन्ति । अपि च पृच्छामि तावद् भवन्तम् ।

इमामवस्थां गमितस्य याचकैः कथं नु ते संप्रति तेषु मानसम् ।
प्रचक्ष्व तत्तावदलं निगूहितुं व्रजेश्च संप्रत्यपनीय तां यथा ॥ ३५ ॥

राजोवाच । कोऽयमस्मान् विकत्थयितुमत्रभवतो निर्बन्धः । अपि च देवेन्द्र श्रूयताम्—

तदैव चैतर्हि च याचकानां वचांसि याच्ञानियताक्षराणि ।
आशीर्मयाणीव मम प्रियाणि यथा तथोदेतु ममैकमक्षि ॥ ३६ ॥

अथ तस्य राज्ञः सत्याधिष्ठानबलात् पुण्योपचयविशेषाच्च वचनसमनन्तरमेवेन्द्रनीलशकलाक्रान्तमध्यमिव नीलोत्पलदलसदृशमेकं चक्षुः प्रादुरभवत् । प्रादुर्भूते च तस्मिन्नयनाश्चर्ये प्रमुदितमनाः स राजा पुनरपि शक्रमुवाच—

यश्चापि मां चक्षुरयाचतैकं तस्मै मुदा द्वे नयने प्रदाय ।
प्रीत्युत्सवैकाग्रमतिर्यथासं द्वितीयमप्यक्षि तथा ममास्तु ॥ ३७ ॥

अथाभिव्याहारसमनन्तरमेव तस्य राज्ञो विस्पर्धमानमिव तेन नयनेन द्वितीयं चक्षुः प्रादुरभवत् ।

क्रम से राजा की आँखों का घाव भर गया। अन्तःपुर, नगर-निवासियों और ग्राम-वासियों का शोक कम हो गया। एकबार एकान्त-सेवन की इच्छा से उद्यान के सरोवर के तीरपर— जहाँ फूलों के भार से सुन्दर सुन्दर तरुवर झुके हुए थे, मृदु सुगन्धित शीतल सुखदायक हवा बह रही थी और भौंरें गूँज रहे थे—राजा पर्यङ्क आसन से बैठे हुए थे। उस समय देवेन्द्र शक्र उनके आगे प्रकट हुए। 'यह कौन है ?' इस प्रकार राजा के पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया—

"मैं, देवेन्द्र शक्र, आपके समीप आया हूँ।"

राजा ने कहा—"स्वागत। आपको किस वस्तु का प्रयोजन है ? आज्ञा कीजिए।"

इस प्रकार शिष्टाचारपूर्वक पूछे जाने पर उन्होंने राजा से कहा—

"हे राजर्षि, वर माँगिये। आप जो कुछ चाहते हैं वह कहिए।"

याचना के कृपण मार्ग पर चलने का अभ्यास न होने के कारण उस दानशील राजा ने अभिमान और आश्चर्य के साथ कहा—

"हे शक्र, मुझे बहुत धन है और बलवती विशाल सेना भी है, किंतु अंधा होने के कारण अब मुझे मृत्यु ही पसन्द है ॥ ३३ ॥

याचकों के मनोरथ पूर्ण करने पर जब आनन्द और तृप्ति से उनकी आँखें खिल उठती हैं उस समय भी मैं उनके मुखों को नहीं देख सकता हूँ, अतः, हे इन्द्र, मुझे मरण ही प्रिय है।" ॥ ३४ ॥

शक्र ने कहा—"आप इस विचार को छोड़ें। सत्पुरुष ही इस अवस्था को प्राप्त होते हैं। और भी। मैं आप से पूछता हूँ—

याचकों ने आपको इस अवस्था में पहुँचा दिया है। तो भी क्यों आपका मन उन्हीं में लगा हुआ है ? मुझ से छिपाये बिना ही आप इसका कारण कहें और इस (दुर्-) अवस्था से मुक्त हो जायें।" ॥ ३५ ॥

राजा ने कहा—"मुझ से आत्म-प्रशंसा करवाने के लिए आप क्यों हठ कर रहे हैं ? अच्छा, हे देवेन्द्र, सुनिये—

पहले और अब भी यदि याचकों के याचना के वचन मुझे आशीर्वाद की तरह प्रिय लगे हैं तो मेरे एक नेत्र का उदय हो।" ॥ ३६ ॥

यह कहते ही राजा के सत्य-बल और पुण्य-प्रताप से नीले कमल की पंखुड़ी के समान एक नेत्र, जिसका मध्य भाग मानो इन्द्रनील नामक मणि के टुकड़े से जड़ा हुआ था, प्रकट हो गया। उस नेत्ररूपी आश्चर्य के प्रकट होने पर प्रसन्नचित्त राजा ने पुनः शक्र से कहा—

"जिसने मुझ से एक नेत्र माँगा उसे खुशी से दोनों नेत्र देकर यदि मैं आनन्दोल्लास में तल्लीन हो गया तो मेरा दूसरा नेत्र भी उत्पन्न हो।" ॥ ३७ ॥

इतना कहते ही राजा के उस नेत्र से मानो स्पर्धा करता हुआ दूसरा नेत्र भी प्रकट हो गया।

ततश्चकम्पे सधराधरा धरा व्यतीत्य वेलां प्रससार सागरः ।
प्रसक्तगम्भीरमनोज्ञनिस्वनाः प्रसस्वनुर्दुन्दुभयो दिवौकसाम् ॥ ३८ ॥

प्रसादरम्यं ददृशे वपुर्दिशां रराज शुद्धया शरदीव भास्करः ।
परिभ्रमच्चन्दनचूर्णरञ्जितं पपात चित्रं कुसुमं नभस्तलात् ॥ ३९ ॥

समाययुर्विस्मयफुल्ललोचना दिवौकसस्तत्र सहाप्सरोगणाः ।
ववौ मनोज्ञात्मगुणः समीरणो मनस्सु हर्षो जगतां व्यजृम्भत ॥ ४० ॥

उदीरिता हर्षपरीतमानसैर्महर्द्धिभिर्भूतगणैः सविस्मयैः ।
नृपस्य कर्मातिशयस्तवाश्रयाः समन्ततः शुश्रुविरे गिरः शुभाः ॥ ४१ ॥

अहो बतौदार्यमहो कृपालुता विशुद्धता पश्य यथास्य चेतसः ।
अहो स्वसौख्येषु निरुत्सुका मतिर्नमोऽस्तु तेऽभ्युद्गतधैर्यविक्रम ॥ ४२ ॥

सनाथतां साधु जगद्गतं त्वया पुनर्विबुद्धेक्षणपङ्कजश्रिया ।
अमोघरूपा बत पुण्यसञ्चयाश्चिरस्य धर्मेण खलूर्जितं जितम् ॥ ४३ ॥

अथ शक्रः साधु साध्वित्येनमभिसंराध्य पुनरुवाच—

न नो न विदितो राजस्तव शुद्धाशयाशयः ।
एवं नु प्रतिदत्ते ते मयेमे नयने नृप ॥ ४४ ॥

समन्ताद्योजनशतं शैलैरपि तिरस्कृतम् ।
द्रष्टुमव्याहता शक्तिर्भविष्यत्यनयोश्च ते ॥ ४५ ॥

इत्युक्त्वा शक्रस्तत्रैव चान्तर्दधे ॥

अथ बोधिसत्त्वो विस्मयपूर्णमनोभिर्मन्दमन्दनिमेषप्रविकसितनयनैरमात्यैरनुयातः पौरैश्चाभिवीक्ष्यमाणो जयाशीर्वचनपुरःसरैश्च ब्राह्मणैरभिनन्द्यमानः पुरवरमुच्छ्रितध्वजविचित्रपताकं प्रवितन्यमानाभ्युदयशोभमभिगम्य पर्षदि निषण्णः समाजनार्थमभिगतस्यामात्यप्रमुखस्य ब्राह्मणवृद्धपौरजानपदस्यैवमात्मोपनायिकं धर्मं देशयामास—

को नाम लोके शिथिलादरः स्यात् कर्तुं धनेनार्थिजनप्रियाणि ।
दिव्यप्रभावे नयने ममेमे प्रदानपुण्योपनते समीक्ष्य ॥ ४६ ॥

अनेकशैलान्तरितं योजनानां शतादपि ।
अदूरस्थितविस्पष्टं दृश्यं पश्यामि सर्वतः ॥ ४७ ॥

परानुकम्पाविनयाभिजाताद्दानात्परः कोऽभ्युदयाभ्युपायः ।
यन्मानुषं चक्षुरिहैव दत्त्वा प्राप्तं मयाऽमानुषदिव्यचक्षुः ॥ ४८ ॥

एतद्विदित्वा शिबयः प्रदानैर्भोगेन चार्थान् सफलीकुरुध्वम् ।
लोके परस्मिन्निह चैष पन्थाः कीर्तिप्रधानस्य सुखोदयस्य ॥ ४९ ॥

उस समय पर्वतों-सहित पृथ्वी काँपी, अपने तीर का अतिक्रमण कर सागर आगे बढ़ा, लगातार गम्भीर और मनोरम ध्वनि करती हुई देव-दुन्दुभियाँ बजीं ॥ ३८ ॥

दिशाएँ स्वच्छ और सुन्दर हो गईं, सूर्य ऐसे चमका जैसे शरद ऋतु में चमक रहा हो, चन्दन-चूर्ण से रँगे हुए चित्र-विचित्र फूल आकाश से चक्कर काटते हुए गिरे ॥ ३९ ॥

विस्मय से विकसित आँखों वाले देवगण अप्सराओं के साथ (पृथ्वी पर) आये, मनोरम हवा बहने लगी, लोगों के हृदय में आनन्द का उदय हुआ ॥ ४० ॥

महाऋद्धिशाली प्राणियों ने प्रसन्नचित और आश्चर्यचकित होकर राजा के लोकोत्तर कर्म की प्रशंसा में ये शुभ वचन कहे, जो चारों ओर सुनाई पड़े—॥ ४१ ॥

"अहो, आपका चित्त कितना उदार, कितना कृपालु और कितना विशुद्ध है ! अहो, आप अपने सुखों की ओर से कितने उदासीन हैं ! आप धैर्यशाली और पराक्रमी को प्रणाम है ॥४२॥

आप के नयनकमल की शोभा खिल उठने से यह पृथ्वी पुनः सनाथा है। आपके चिर-संचित पुण्य सफल हुए। आप ने धर्म द्वारा महान् विजय प्राप्त की" ॥४३॥

'साधु, साधु' कहकर उनकी प्रशंसा करते हुए शक्र ने पुनः कहा—

"हे शुद्धचित्त राजन्, आप का अभिप्राय मुझ से छिपा हुआ नहीं है। इसीलिये तो मैंने बदले में ये नेत्र आपको दिये ॥ ४४ ॥

चारों ओर सौ योजन तक पहाड़ों के पार भी देखने की अप्रतिहत शक्ति आप के इन नयनों को होगी" ॥ ४५ ॥

इतना कहकर शक्र वहीं अन्तर्धान हो गये।

तब विस्मयपूर्वक अपलक एवं विकसित आँखों से देख रहे अमात्यों के आगे आगे जाते हुए, पुर-वासियों द्वारा देखे जाते हुये, ब्राह्मणों द्वारा जय-जय-कार और आशीर्वादपूर्वक अभिनन्दित होते हुये बोधिसत्त्व अपने नगर में गये। वहाँ ऊँची ध्वजाएँ और रंग-बिरंगी पताकायें फहरा रही थीं, जिससे राजधानी की अभ्युदय-शोभा में वृद्धि हो रही थी। वहाँ पहुँचकर वह सभा में बैठ गये और स्वागत के लिए आये हुए अमात्यों, ब्राह्मणों, वृद्धों, नगर-निवासियों और ग्राम-वासियों को स्वानुभूत (श्रेयस्कर) धर्म का यों उपदेश दिया—

"दान के पुण्य से मुझे ये दिव्य नेत्र प्राप्त हुए, यह देखकर ऐसा कौन है जो धन से याचकों का प्रिय (उपकार) करने की ओर से लापरवाह रहेगा ? ॥ ४६ ॥

चारों ओर सौ योजन तक का दृश्य पहाड़ों से ओझल होनेपर भी मुझे साफ-साफ दिखाई पड़ता है, जैसे समीप में ही स्थित हो ॥ ४७ ॥

विनय और जीव-दया से उत्पन्न होनेवाले दान से बढ़कर अभ्युदय का दूसरा कौन उपाय है ? तभी तो मैंने मानुष चक्षु देकर इहलोक में ही अलौकिक दिव्य चक्षु प्राप्त किया है ॥४८॥

यह जानकर, हे शिवियो, दान और उपभोग द्वारा अपनी सम्पत्ति को सफल करो। इह-लोक और परलोक में सुख और कीर्त्ति प्राप्त करने का यह रास्ता है ॥ ४९ ॥

धनस्य निःसारलघोः स सारो यद्दीयते लोकहितोन्मुखेन ।
निधानतां याति हि दीयमानमदीयमानं निधनैकनिष्ठम् ॥ ५० ॥

तदेवं दुष्करशतसमुदानीतोऽयमस्मदर्थं तेन भगवता सद्धर्म इति सत्कृत्य श्रोतव्यः । तथागतमाहात्म्ये पूर्ववच्च करुणावर्णेऽपि वाच्यमिहैव पुण्यफलप्रदर्शने चैवं सत्कृत्योपचितानि पुण्यानीहैव पुष्पमात्रमात्मप्रभावस्य कीर्तिसंततिमनोहरं प्रदर्शयन्तीति ॥

इति शिबिजातकं द्वितीयम् ।

३. कुल्माषपिण्डी-जातकम्

चित्तप्रसादोद्गतं पात्रातिशयप्रतिपादितं च नाल्पकं नाम दानमस्ति विपाकमहत्त्वात् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान्कोशलाधिपतिर्बभूव । तस्योत्साहमन्त्रप्रभुशक्तिसम्पत्प्रभृतीनां प्रकर्षिणामपि राजगुणानां विभूतिमतिशिश्ये दैवसम्पद्गुणशोभा ।

गुणास्तस्याधिकं रेजुर्दैवसम्पद्विभूषणाः ।
किरणा इव चन्द्रस्य शरदुन्मीलितश्रियः ॥ १ ॥

तत्याज दृप्तानपि तस्य शत्रून् रक्तेव रेमे तदुपाश्रितेषु ।
इत्यास तस्यान्यनराधिपेषु कोपप्रसादानुविधायिनी श्रीः ॥ २ ॥

धर्मात्मकत्वान्न च नाम तस्य परोपतापाश्रिवमास चेतः ।
भृत्यानुरागस्तु तथा जजृम्भे द्विषत्सु लक्ष्मीर्न यथास्य रेमे ॥ ३ ॥

सोऽनन्तरातीतां स्वजातिमनुसस्मार । तदनुस्मरणाच्च समुपजातसंवेगो विशेषवत्तरं श्रमणब्राह्मणकृपणवनीपकेभ्यः सुखहेतुनिदानं दानमदाच्छीलसंवरमनवरतं पुपोष पोषधनियमं च पर्वदिवसेषु समाददे । अभीक्ष्णं च राजा पर्षदि स्वस्मिंश्चान्तःपुरे पुण्यप्रभावोद्भावनाल्लोकं श्रेयसि नियोक्तुकामः प्रतीतहृदयो गाथाद्वयमिति नियतार्थं बभाषे ।

न सुगतपरिचर्या विद्यते स्वल्पिकापि
प्रतनुफलविभूतिर्यच्छ्रुतं केवलं प्राक् ।
तदिदमलवणायाः शुष्करूक्षारुणायाः
फलविभवमहत्त्वं पश्य कुल्माषपिण्ड्याः ॥ ४ ॥

तुच्छ और असार धन का यही इतना सार है कि वह लोक-हित के लिये दान किया जाता है; क्योंकि जो कुछ दिया जाता है वह (अक्षय) निधि हो जाता है और जो नहीं दिया जाता है वह नष्ट होता है" ॥ ५० ॥

इस प्रकार शत-शत कष्टों को सहकर उन भगवान् ने हमारे लिए इस सद्धर्म को उपस्थित किया। अतः हमें इसे ध्यानपूर्वक सुनना चाहिये। तथागत का माहात्म्य दिखलाने में, और पूर्ववत् करुणा का वर्णन करने में भी तथा इहलोक में ही पुण्य-फल की प्राप्ति बतलाने में यह कथा कहनी चाहिये। इस प्रकार आदरपूर्वक सञ्चित पुण्य इहलोक में ही अपनी शक्ति (प्रताप) और कीर्त्ति के सुन्दर फूल प्रकट करते हैं।

शिबि-जातक द्वितीय समाप्त।

★

३. कुल्माषपिण्डी-जातक

प्रसन्नतापूर्वक सत्पात्र को दिया गया दान महा-फल-दायक होने के कारण थोड़ा नहीं कहा जा सकता। परम्परा से ऐसा सुनने में आता है—

ये भगवान् (बुद्ध) जब बोधिसत्त्व थे तब कोशलदेश के राजा हुए। उनके उत्साह मन्त्रणा प्रभुता आदि उत्कृष्ट राजोचित गुणों से बढ़कर उनकी दैवी सम्पत्ति थी।

दैवी सम्पत्ति से विभूषित होकर उनके सद्गुण और भी शोभित हुए, जैसे शरद्ऋतु के संयोग से चाँदनी की शोभा बढ़ जाती है ॥ १ ॥

राज्य-लक्ष्मी ने उसके अभिमानी शत्रुओं का भी परित्याग किया और उसके आश्रय में रहनेवालों के साथ अनुरक्ता स्त्री के समान रमण (अनुराग) किया। इस प्रकार वह दूसरे राजाओं के ऊपर (अपने स्वामी के अनुसार ही) क्रुद्ध भी हुई और प्रसन्न भी हुई ॥ २ ॥

धार्मिक होने के कारण दूसरों को उत्पीड़ित नहीं करने से उसका चित्त दूषित नहीं हुआ। उसका भृत्यानुराग[1] बढ़ता ही गया, जिस कारण उसके शत्रुओं से राज्य-लक्ष्मी विमुख हो गई ॥ ३ ॥

राजा ने अपने अन्तिम पूर्व जन्म का स्मरण किया। उसका स्मरण करने से उसको संवेग हो गया और उसने संन्यासियों, ब्राह्मणों, दीन-दुःखियों और याचकों को खूब दान दिया, जो कि सुख का हेतु और आदि कारण है। सदा शील-संवर का पालन किया और पर्व के दिनों में उपवास (उपोषध) का नियम ग्रहण किया। राजा ने निरन्तर अपनी सभा में और अपने अन्तःपुर में पुण्य का प्रभाव प्रकट करके लोगों को श्रेय में लगाने की इच्छा से प्रसन्नचित्त होकर निश्चित अर्थ से युक्त इन दो गाथाओं को गाया—

यदि सुगतों (आस्रव-रहित साधु-संन्यासियों) की थोड़ी सी भी सेवा की जाय तो उसका फल अल्प नहीं होता है, ऐसा पहले केवल सुनते थे। अब सूखी-रूखी लाल-अलोनी कुल्थी की दाल (या कुल्फे के साग) (की भिक्षा देने) का यह महान् फल (प्रत्यक्ष) देखो ॥ ४ ॥

रथतुरगविचित्रं मत्तनागेन्द्रनीलं
बलमकृशमिदं मे मेदिनी केवला च ।
बहु धनमनुरक्ता श्रीरुदाराश्च दाराः
फलसमुदयशोभां पश्य कुल्माषपिण्ड्याः ॥ ५ ॥

तममात्या ब्राह्मणवृद्धाः पौरमुख्याश्च कौतूहलाघूर्णितमनसोऽपि न प्रसहन्ते स्म पर्यनुयोक्तुं किमभिसमीक्ष्य महाराजो गाथाद्वयमिदमभीक्ष्णं भाषत इति । अथ तस्य राज्ञो वाल्लभ्यत्वादव्याहततरप्रणयप्रसरा देवी समुत्पन्नकौतूहला सत्कथाप्रस्तावागतं पर्षदि पर्यपृच्छदेनम् ।

नियतमिति नरेन्द्र भाषसे हृदयगतां मुदमुद्गिरन्निव ।
भवति मम कुतूहलाकुलं हृदयमिदं कथितेन तेन ते ॥ ६ ॥

तदर्हति श्रोतुमयं जनो यदि प्रचक्ष्व तत्किं न्विति भाषसे नृप ।
रहस्यमेव च न कीर्त्यते क्वचित्प्रकाशमस्माच्च मयापि पृच्छ्यते ॥ ७ ॥

अथ स राजा प्रीत्यभिस्निग्धया दृष्ट्या समभिवीक्ष्य देवीं स्मितप्रविकसितवदन उवाच—

अविभाव्य निमित्तार्थं श्रुत्वोद्गारमिमं मम ।
न केवलं तवैवात्र कौतूहलचलं मनः ॥ ८ ॥

समन्तमप्येतदमात्यमण्डलं कुतूहलाघूर्णितलोलमानसम् ।
पुरं च सान्तःपुरमत्र तेन मे निशम्यतां येन मयैवमुच्यते ॥ ९ ॥

सुप्तप्रबुद्ध इव जातिमनुस्मरामि
यस्यामिहैव नगरे भृतकोऽहमासम् ।
शीलान्वितोऽपि धनमात्रसमुच्छ्रितेभ्यः
कर्माभिराधनसमर्जितदीनवृत्तिः ॥ १० ॥

सोऽहं भृतिं परिभवश्रमदैन्यशालां
त्राणाशयात्स्वयमवृत्तिभयाद्विविक्षुः ।
भिक्षार्थिनश्च चतुरः श्रमणानपश्यं
वश्येन्द्रियाननुगतानिव भिक्षुलक्ष्म्या ॥ ११ ॥

तेभ्यः प्रसादमृदुना मनसा प्रणम्य
कुल्माषमात्रकमदां प्रयतः स्वगेहे ।
तस्याङ्कुरोदय इवैष यदन्यराज-
चूडाप्रभाश्चरणरेणुषु मे निषक्ताः ॥ १२ ॥

तदेतदभिसन्धाय मयैवं देवि कथ्यते ।
पुण्येन च लभे तृप्तिमर्हतां दर्शनेन च ॥ १३ ॥

रथों और घोड़ों से चित्र-विचित्र और मतवाले हाथियों से श्यामल विशाल सेना, सम्पूर्ण पृथ्वी, विपुल धन-राशि, अनुरक्त (अनुकूल) लक्ष्मी, कुलीन स्त्रियाँ—यह सब थोड़ी-सी कुल्थी की दाल (या कुल्फे के साग) देने का सुन्दर फल है ।। ५ ।।

यद्यपि अमात्यों, वृद्ध ब्राह्मणों और प्रधान पुरवासियों का मन कुतूहल से आकुल हो गया तो भी वे उनसे न पूछ सके—'क्या देखकर महाराज इन दो गाथाओं का निरन्तर पाठ कर रहे हैं।' राजा इस वाक्य का नित्य उच्चारण करते हैं, इससे उनकी प्यारी रानी को भी बड़ा कुतूहल हुआ और उसने बातचीत के प्रसङ्ग में सभा में उनसे पूछा—

"हे राजन्, अपने हार्दिक आनन्द को प्रकट करते हुए आप इस वाक्य को निरन्तर कह रहे हैं; आप के इस वचन से मेरा यह हृदय कुतूहल से आकुल हो रहा है ।। ६ ।।

अतः यदि यह व्यक्ति सुनने का पात्र है तो बतलाइये कि आप यह क्या कह रहे हैं। रहस्य (गोपनीय बात) का इस प्रकार कहीं कीर्तन नहीं किया जाता है, यह प्रकाशित करने योग्य है, इसीलिए मैं आप से पूछ रही हूँ" ।। ७ ।।

तब राजा ने प्रेमपूर्ण दृष्टि से रानी को देखकर मुसकराते हुए कहा—

"मेरे इस उद्गार को सुनकर और इसका मूल अर्थ नहीं जानकर केवल तुम्हारा ही मन कौतूहल से चञ्चल नहीं है ।। ८ ।।

किंतु मेरे इस उद्गार से इस सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल तथा अन्तःपुर सहित पुरवासियों का मन कुतूहल (जिज्ञासा) से आकुल और चञ्चल है। अतः सुनिये कि मेरी इस उक्ति का क्या हेतु है ।। ९ ।।

सोकर उठे हुए के समान मैं (अपने पूर्व-) जन्म को स्मरण कर रहा हूँ, जिस (जन्म) में कि मैं इसी नगर में मजदूर (का काम करता) था। शीलवान् होने पर भी मैं धनमात्र से गर्वोन्नत लोगों से उनकी सेवा (मजदूरी) करके अपनी अल्प वृत्ति अर्जन करता था ।। १० ।।

(अपने तथा अपने परिवार की) रक्षा के उद्देश्य से तथा वृत्ति का कहीं अभाव न हो जाय इस भय से मैं अपमान, थकावट, तथा दीनता (दुःख) के निवास-स्थान—उस-सेवा-कार्य—के लिए जा ही रहा था कि मैंने चार भिक्षार्थी संन्यासियों को देखा। वे जितेन्द्रिय थे और जान पड़ता था जैसे संन्यास-लक्ष्मी उनके पीछे चल रही हो ।। ११ ।।

मैंने प्रसन्न और कोमल चित्त से उन्हें प्रणाम किया और पवित्रतापूर्वक अपने घर में उन्हें केवल थोड़ी सी कुलथी की दाल (या कोई साग) दी। उसी का यह फल है कि मेरे चरणों की धूल में दूसरे राजाओं की चूडामणियों की किरणें पड़ रही हैं ।। १२ ।।

हे देवि, यही सोचकर मैं यह (गाथा-युगल) पढ़ता हूँ। मैं पुण्यकार्यों से और अर्हतों (पूज्य पुरुषों) के दर्शन से तृप्ति-लाभ करता हूँ" ।। १३ ।।

अथ सा देवी प्रहर्षविस्मयविशालाक्षी सबहुमानमुदीक्षमाणा राजानमित्युवाच। उपपन्नरूपः पुण्यानामयमेवंविधो विपाकाभ्युदयविशेषः। पुण्यफलप्रत्यक्षिणश्च महाराजस्य यदयं पुण्येष्वादरः। तदेवमेव पापप्रवृत्तिविमुखः पितेव प्रजानां सम्यक्परिपालनसुमुखः पुण्यगणार्जनाभिमुखः।

यशःश्रिया दानसमृद्धया ज्वलन्प्रतिष्ठिताज्ञः प्रतिराजमूर्धसु।
समीरणाकुञ्चितसागराम्बरां चिरं महीं धर्मनयेन पालय॥ १४॥

राजोवाच। किं ह्येतद्देवि न स्यात्।

सोऽहं तमेव पुनराश्रयितुं यतिष्ये
श्रेयःपथं समभिलक्षितरम्यचिह्नम्।
लोकः प्रदित्सति हि दानफलं निशम्य
दास्याम्यहं किमिति नात्मगतं निशम्य॥ १५॥

अथ स राजा देवीं देवीमिव श्रिया ज्वलन्तीमभिस्निग्धमवेक्ष्य श्रीसम्पत्तिहेतुकुतूहलहृदयः पुनरुवाच—

चन्द्रलेखेव ताराणां स्त्रीणां मध्ये विराजसे।
अकृथाः किं नु कल्याणि! कर्मातिमधुरोदयम्॥ १६॥

देव्युवाच—अस्ति देव किञ्चिदहमपि पूर्वजन्मवृत्तिं समनुस्मरामीति। कथय कथयेदानीमिति च सादरं राज्ञा पर्यनुयुक्तोवाच—

बाल्येऽनुभूतमिव तत्समनुस्मरामि
दासी सती यदहमुद्धृतभक्तमेकम्।
क्षीणास्रवाय मुनये विनयेन दत्त्वा
सुप्तेव तत्र समवापमिह प्रबोधम्॥ १७॥

एतत्स्मरामि कुशलं नरदेव! येन
त्वन्नाथतामुपगतास्मि समं पृथिव्या।
क्षीणास्रवेषु न कृतं तनु नाम किञ्चि-
दित्युक्तवानसि यथैव मुनिस्तथैव॥ १८॥

अथ स राजा पुण्यफलप्रदर्शनात्पुण्येषु समुत्पादितबहुमानामभिप्रसन्नमनसं पर्षदं विस्मयैकाग्रामवेत्य नियतमीदृशं किञ्चित्समनुशशास।

अल्पस्यापि शुभस्य विस्तरमिमं दृष्ट्वा विपाकश्रियः
स्यात्को नाम न दानशीलविधिना पुण्यक्रियातत्परः।
नैव द्रष्टुमपि क्षमः स पुरुषः पर्याप्तवित्तोऽपि सन्
यः कार्पण्यतमिस्रयावृतमतिर्नाप्नोति दानैर्यशः॥ १९॥

तब आनन्द और विस्मय से विकसित आँखों वाली रानी ने राजा को देखते हुए कहा—"पुण्य कर्मों का यह ऐसा सुन्दर फल प्राप्त होना उचित ही है। महाराज ने पुण्य कर्मों से होनेवाले फल का प्रत्यक्ष दर्शन किया है, इसीलिए तो आप पुण्य कर्मों के प्रति आदर (श्रद्धा) प्रकट कर रहे हैं। इसीलिए तो आप पाप-प्रवृत्ति से विमुख होकर पिता के समान प्रजाजन का उचित रूप से पालन करने में दत्तचित्त हैं और पुण्य-राशि के अर्जन में संलग्न हैं।

आप दान देने से बढ़ी हुई कीर्ति की दीप्ति से प्रज्वलित हो रहे हैं, आपने प्रतिस्पर्धी राजाओं के द्वारा अपनी आज्ञा शिरोधार्य करवायी है, आप वायुप्रकम्पित समुद्र-वसना (हवासे लहराते हुए समुद्ररूपी वस्त्रवाली) पृथ्वी का चिरकालतक धर्म-नीति से पालन करें" ॥ १४ ॥

राजा ने कहा—"क्यों नहीं, देवि ?

मैं पुनः उसी कल्याण-मार्ग का आश्रय लूँगा, जिसके सुन्दर चिह्न मैंने देख लिये हैं। दान से प्राप्त होनेवाले फल को सुनकर लोग देने की इच्छा करते हैं; तब उसे (दान-फल को) स्वयं अनुभव करके मैं क्यों नहीं दान दूँगा ?" ॥ १५ ॥

तब देवी (देवता) के समान दीप्तिमती रानी को स्नेहपूर्वक देखकर राजा ने उसकी दीप्ति का हेतु जानने की इच्छा से पुनः कहा—

"जैसे ताराओं के बीच चाँदनी शोभित होती है वैसे ही तुम स्त्रियों के बीच विराज रही हो। हे कल्याणि, तुमने कौन-सा (पुण्य–) कर्म किया था, जिसका यह मधुर फल तुम्हें प्राप्त हुआ है ?" ॥ १६ ॥

रानी ने कहा—"हे देव, हाँ मुझे भी पूर्व-जन्म का एक वृत्तान्त स्मरण हो रहा है।" तब "कहो, कहो" इस प्रकार राजा के द्वारा सादर पूछी जाने पर उसने कहा—

"वह (वृत्तान्त) मुझे ऐसे स्मरण हो रहा है, जैसे मैंने अपने बचपन में उसे अनुभव किया हो। दासी का काम करती हुई मैं थोड़ा-सा भात निकालकर आस्रव-रहित (निर्मल-चित्त) मुनि को विनयपूर्वक देकर वहाँ (उस जन्म में) मानो सो रही और यहाँ (इस जन्म में) नींद से जगी ॥ १७ ॥

हे राजन्, यही इतना शुभ कर्म मुझे स्मरण हो रहा है, जिस कारण कि पृथ्वी के साथ-साथ मैंने आप सरीखे पति को प्राप्त किया है। जिनके आस्रव (चित्त-मल) क्षीण हो गये हैं उनका यदि कुछ उपकार किया जाय तो वह थोड़ा (फल-दायक) नहीं होता है, यह जो अभी आपने कहा यही तो तब उस मुनि ने भी कहा था" ॥ १८ ॥

तब प्रसन्न विस्मित और एकाग्र सभासदों को, जिन्हें पुण्य-फल प्रकाशित करने से पुण्य के प्रति अत्यन्त आदर-भाव (श्रद्धा) उत्पन्न हो गया था, राजा ने इस प्रकार उपदेश दिया—

"थोड़े-से भी शुभ कर्म का यह इतना बड़ा सुन्दर फल मिलता है, यह देखकर कौन मनुष्य दान और शील के द्वारा पुण्य कर्मों में तत्पर नहीं होगा ? वह पुरुष देखने के भी योग्य नहीं है, जो सम्पत्तिशाली होकर भी कृपणतारूपी अंधकार से व्याप्त होने के कारण दान देकर यश प्राप्त नहीं करता है ॥ १९ ॥

त्यक्तव्यं विवशेन यन्न च तथा कस्मैचिदर्थाय यत्
तन्न्यायेन धनं त्यजन्यदि गुणं कञ्चित्समुद्भावयेत् ।
कोऽसौ तत्र भजेत मत्सरपथं जानन्गुणानां रसं
प्रीत्याद्या विविधाश्च कीर्त्यनुसृता दानप्रतिष्ठागुणाः ॥ २० ॥

दानं नाम महानिधानमनुगं चौराद्यसाधारणं
दानं मत्सरलोभदोषरजसः प्रक्षालनं चेतसः ।
संसाराध्वपरिश्रमापनयनं दानं सुखं वाहनं
दानं नैकसुखोपधानसुमुखं सन्मित्रमात्यन्तिकम् ॥ २१ ॥

विभवसमुदयं वा दीप्तमाज्ञागुणं वा
त्रिदशपुरनिवासं रूपशोभागुणं वा ।
यदभिलषति सर्वं तत्समाप्नोति दाना-
दिति परिगणितार्थः को न दानानि दद्यात् ॥ २२ ॥

सारादानं दानमाहुर्धनानामैश्वर्याणां दानमाहुर्निदानम् ।
दानं श्रीमत्सज्जनत्वावदानं बाल्यप्रज्ञैः पांसुदानं सुदानम् ॥ २३ ॥

अथ सा पर्षत्तस्य राज्ञस्तद्ग्राहकं वचनं सबहुमानमभिनन्द्य प्रदानादिप्रतिपत्त्यभिमुखी बभूव ।

तदेवं चित्तप्रसादोद्गतं पात्रातिशयप्रतिपादितं च नाल्पकं नाम दानमस्ति विपाकमहत्त्वादिति प्रसन्नचित्तेनानुत्तरे पुण्यक्षेत्र आर्यसंघे दानं ददता परा प्रीतिरुत्पादयितव्या । अदूरे ममाप्येवंविधा अतो विशिष्टतराश्च सम्पत्तय इति ।

इति कुल्माषपिण्डी-जातकं तृतीयम् ।

---

४. श्रेष्ठि-जातकम्

अत्ययमप्यविगणय्य दित्सन्ति सत्पुरुषाः । केन नाम स्वस्थेन न दातव्यं स्यात् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान्भाग्यातिशयगुणादुत्थानसम्पदा चाधिगतविपुलधनसमृद्धिरविषमव्यवहारशीलत्वाल्लोके बहुमाननिकेतभूत उदाराभिजनवाननेकविद्याकलाविकल्पाधिगमविमलतरमतिर्गुणमाहात्म्याद्राज्ञा संमुपहृतसम्मानः प्रदानशीलत्वाल्लोकसाधारणविभवः श्रेष्ठी बभूव ।

अर्थिभिः प्रीतहृदयैः कीर्त्यमानमितस्ततः ।
त्यागशौर्योन्नतं नाम तस्य व्याप दशो दिशः ॥ १ ॥

विवश होकर जिसको छोड़ना ही पड़ेगा और इस प्रकार जो किसी काम का नहीं होता है उस धन का उचित रीति से त्याग करता हुआ यदि कोई किसी गुण को प्राप्त करे तो गुणों का रस जाननेवाला कौन मनुष्य कृपणता के मार्ग पर चलेगा ? कीर्ति और प्रसन्नता आदि अनेक गुण दान में रहते हैं ॥ २० ॥

दान सदा साथ रहनेवाली महानिधि है, चोर आदि (चोर, राजा, अग्नि, जल) की पहुँच से बाहर है; दान मानसिक कृपणता-लोभ-द्वेषरूपी मलका धोनेवाला है; दान संसार-यात्रा की थकावट को दूर करनेवाला सुखदायक वाहन (सवारी) है; दान अनेक प्रकार के सुख पहुँचाने के कारण आनन्द-दायक आत्यन्तिक सन्मित्र है ॥ २१ ॥

सम्पत्ति का उदय या उज्ज्वल शासन (आज्ञा-अधिकार) या स्वर्गनिवास या (शारीरिक) रूप-शोभा, जो कुछ चाहे सब दान से प्राप्त कर सकता है; यह लाभ देखकर भला कौन दान नहीं देगा ? ॥ २२ ॥

कहते हैं कि दान देना सम्पत्ति का सार ग्रहण करना है और दान ऐश्वर्य का आदि-कारण है; दान श्रीमानों की सज्जनता है, सुन्दर कर्म है। अल्पज्ञों द्वारा किया गया धूलि-दान (मिट्टी के वर्तन का या चिथड़े का दान, या कोई भी तुच्छ दान) सुन्दर दान है" ॥ २३ ॥

तब उन सभासदों ने राजा के उस प्रेरक वचन का आदरपूर्वक अभिनन्दन किया और दान-आदि क्रियाओं की ओर उनकी प्रवृत्ति हुई।

इसलिए प्रसन्नतापूर्वक सत्पात्र को दिया गया दान महा-फल-दायक होने के कारण थोड़ा नहीं कहा जा सकता। निकट भविष्य में मुझे भी ऐसी ही या इससे भी अधिक समृद्धि प्राप्त होगी, ऐसा सोचकर प्रसन्न चित्त से पवित्र आर्य-संघ में—पुण्य (-वपन के उपयुक्त)-क्षेत्र में—दान देकर परम आनन्द प्राप्त करना चाहिये।

कुल्माषपिण्डी-जातक तृतीय समाप्त।

४. श्रेष्ठि-जातक

अपनी विपत्तिकी उपेक्षा करके भी सत्पुरुष दान देने की इच्छा करते हैं। तब जो मनुष्य विपत्ति में नहीं है वह क्यों नहीं दान देगा ? ऐसी अनुश्रुति है—

ये भगवान् (बुद्ध) जब बोधिसत्त्व थे तो (एक बार) सेठ के कुल में उत्पन्न हुए। अपने सौभाग्य और सत्प्रयत्न से उन्होंने बहुत सम्पत्ति प्राप्त की। वे संसार में सबके साथ समान व्यवहार करते थे, अतः[1] वे लोगों के सम्मान-पात्र बन गये। वे उत्तम कुल में उत्पन्न हुये थे; अनेक विद्याएँ और कलाएँ प्राप्त करने से उनकी बुद्धि निर्मल हो गई थी। उनके सद्-गुणों के कारण राजा ने भी उनका सम्मान किया। उनकी दानशीलता के कारण उनकी सम्पत्ति सब लोगों के लिए उपभोग्य थी।

याचकों ने प्रसन्न मन से जहाँ तहाँ उनके नाम का कीर्तन किया, जिससे उनकी दान-वीरता का यश दशों दिशाओं में व्याप्त हो गया ॥ १ ॥

दद्यान्न दद्यादिति तत्र नासीद्विचारदोलाचलमानसोऽर्थी ।
ख्यातावदाने हि बभूव तस्मिन्विस्रम्भधृष्टप्रणयोऽर्थिवर्गः ॥ २ ॥

नाऽसौ जुगोपात्मसुखार्थमर्थं न स्पर्धया लोभपरामवाद्वा ।
सत्त्वार्थिदुःखं न शशाक सोढुं नास्तीति वक्तुं च ततो जुगोप ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्तस्य महासत्त्वस्य भोजनकाले स्नातानुलिप्तगात्रस्य कुशलोदारसूदोपकल्पिते समुपस्थिते वर्णगन्धरसस्पर्शादिगुणसमुदिते विचित्रे भक्ष्यभोज्यादिविधौ तत्पुण्यसम्भाराभिवृद्धिकामो ज्ञानाग्निनिर्दग्धसर्वक्लेशेन्धनः प्रत्येकबुद्धस्तद्गृहमभिजगाम भिक्षार्थी । समुपेत्य च द्वारकोष्ठके व्यतिष्ठत ।

अशङ्किताचञ्चलधीरसौम्यमवेक्षमाणो युगमात्रमुर्व्याः ।
तत्रावतस्थे प्रशमाभिजातः स पात्रसंसक्तकराग्रपद्मः ॥ ४ ॥

अथ मारः पापीयान्बोधिसत्त्वस्य तां दानसम्पदमसृष्यमाणस्तद्विघ्नार्थमन्तरा च तं भदन्तमन्तरा च द्वारदेहलीं प्रचलज्ज्वालाकरालोदरमनेकपौरुषमतिगम्भीरं भयानकदर्शनं सप्रतिभयनिर्घोषं नरकमभिनिर्ममे विस्फुरद्भिरनेकैर्जनशतैराचितम् ।

अथ बोधिसत्त्वः प्रत्येकबुद्धं भिक्षार्थिनमभिगतमालोक्य पत्नीमुवाच—भद्रे ! स्वयमार्याय पर्याप्तं पिण्डपातं देहीति । सा तथेति प्रतिश्रुत्य प्रणीतं भक्ष्यभोज्यमादाय प्रस्थिता । नरकमालोक्य द्वारकोष्ठकसमीपे भयविषादचञ्चलाक्षी सहसा न्यवर्तत । किमेतदिति च भर्त्रा पर्यनुयुक्ता समापतितसाध्वसापिहितकण्ठी तत्कथञ्चित्तस्मै कथयामास ।

अथ बोधिसत्त्वः कथमयमार्यो मद्गृहादनवाप्तभिक्ष एव प्रतियास्यतीति ससम्भ्रमं तत्तस्याः कथितमनादृत्य स्वयमेव च प्रणीतं भक्ष्यभोज्यमादाय तस्य महात्मनः पिण्डपातं प्रतिपादयितुकामो द्वारकोष्ठकसमीपमभिगतस्तमतिभीषणमन्तरा नरकं ददर्श । तस्य किं स्विदिदमिति समुत्पन्नवितर्कस्य मारः पापीयान्भवनभित्तेर्विनिःसृत्य संदृश्यमानदिव्याद्भुतवपुरन्तरिक्षे स्थित्वा हितकाम इव नामाब्रवीत्—गृहपते महारौरवनामायं महानरकः ।

अर्थिप्रशंसावचनप्रलुब्धा दित्सन्ति दानव्यसनेन येऽर्थान् ।
शरत्सहस्राणि बहूनि तेषामस्मिन्निवासोऽसुलभप्रवासः ॥ ५ ॥

अर्थस्त्रिवर्गस्य विशेषहेतुस्तस्मिन्हते केन हतो न धर्मः ।
धर्मं च हत्वार्थनिबर्हणेन कथं नु न स्यान्नरकप्रतिष्ठः ॥ ६ ॥

'देंगे या न देंगे' इस प्रकार की शंका से उनके याचकों का मन दोलायमान नहीं होता था। उनके उदारता के कार्य विख्यात होने के कारण याचकगण उनमें विश्वास करते थे और उनसे याचना करने में ढीठ हो गये थे ॥ २ ॥

उन्होंने अपने सुख के लिए या स्पर्धा से या लोभ के वशीभूत होकर धन की रक्षा नहीं की। वे प्रार्थियों का दुःख नहीं सह सकते थे, अतः 'नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते थे ॥ ३ ॥

एक बार भोजन-काल में उन महासत्त्व (बोधिसत्त्व) के स्नान और अनुलेपन करनेपर, उनके आगे कुशल पाचकों द्वारा बनाई गई सुन्दर वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि गुणों से युक्त भोजन-सामग्री परोसी जाने पर, उनकी पुण्य-राशि बढ़ाने की इच्छा से एक भिक्षु उनके घर पर आये। वे थे प्रत्येकबुद्ध, जिनके सब क्लेशरूपी इन्धन ज्ञानरूपी अग्नि से जल गये थे। वहाँ पहुँचकर वह द्वार के समीप खड़े रहे।

वह केवल जुए की दूरी तक पृथ्वी को देखते हुये वहाँ खड़े रहे, वह शंका-रहित, चञ्चलता-रहित धीर और सौम्य थे। उनकी आकृति शान्त और सुन्दर थी। उनके हाथ का अग्रभाग भिक्षा-पात्र में लगा हुआ था ॥ ४ ॥

तब उस पापी मार (शैतान) ने बोधिसत्त्व की उस उदारता को नहीं सह सकने के कारण विघ्न खड़ा करने के लिए उन भदन्त तथा द्वार-देहली के बीच अनेक पुरुषों के माप का अत्यन्त गहरा नरक बनाया, जिसका भीतरी भाग चञ्चल ज्वालाओं से विकराल था, जो देखने में भयानक था, जिसका शब्द सुनकर भय होता था और जो जलते व छटपटाते हुये सैकड़ों लोगों से भरा हुआ था।

तब बोधिसत्त्व ने प्रत्येकबुद्ध को भिक्षा के लिए आया हुआ देखकर अपनी पत्नी से कहा—'भद्रे, स्वयं जाकर आर्य को पर्याप्त भिक्षा दो।' पत्नी ने उत्तर दिया 'बहुत अच्छा' और उत्तम भोजन-सामग्री लेकर चली गई। द्वार के समीप नरक देखकर भय और विषाद से उसकी आँखें चञ्चल हो गईं और सहसा ही वह लौट आई। 'यह क्या' इस प्रकार पति द्वारा पूछे जानेपर, भयभीत होने के कारण अवरुद्ध कण्ठ से उसने किसी किसी तरह वह वृत्तान्त कह सुनाया। 'क्या यह आर्य मेरे घर से भिक्षा पाये बिना ही लौट जायँगे' इस प्रकार चिन्ता करते हुए बोधिसत्त्व पत्नी के कथन की उपेक्षा करके स्वयं ही उत्तम भोजन-सामग्री लेकर द्वार के समीप पहुँच गये और बीच में उस अत्यन्त भीषण नरक को देखा। 'यह क्या है' यह विचार जब बोधिसत्त्व के मन में उत्पन्न हुआ तब पापी मार ने घर की दीवार से निकलकर अपनी दिव्य एवं अद्भुत आकृति दिखलाते हुए, अन्तरिक्ष में खड़े होकर, हितैषी व्यक्ति के समान कहा—"हे गृहपति, यह महारौरव नामक महानरक है।

याचकों की स्तुति से मुग्ध होकर जो लोग दान देने के व्यसन के कारण धन देने की इच्छा करते हैं वे हजारों वर्ष तक इसमें निवास करते हैं, जहाँ से उनका निकलना कठिन है ॥ ५ ॥

अर्थ त्रिवर्ग-साधन का प्रधान कारण है, उसका नाश होनेपर भला धर्म का नाश कैसे नहीं होगा ? अर्थ-विनाश द्वारा धर्म का नाश करके भला कैसे नरक में नहीं निवास करेगा ? ॥ ६ ॥

दानप्रसङ्गेन च धर्ममूलं घ्नता त्वयार्थं यदकारि पापम् ।
त्वामत्तुमभ्युद्गतमेतदस्माज्ज्वालाग्रजिह्वं नरकान्तकास्यम् ॥ ७ ॥

तत्साधु दानाद्विनियच्छ बुद्धिमेवं हि सद्यःपतनं न ते स्यात् ।
विचेष्टमानैः करुणं रुदद्भिर्मा दातृभिर्गाः समतामभीभिः ॥ ८ ॥

प्रतिग्रहीता तु जनोऽभ्युपैति निवृत्तदानापनयः सुरत्वम् ।
तत्स्वर्गमार्गावरणाद्विरम्य दानोद्यमात्संयममाश्रयस्व ॥ ९ ॥

अथ बोधिसत्त्वो नूनमस्यैतद्दुरात्मनो मम दानविघ्नाय विचेष्टितमित्यवगम्य सत्त्वावष्टम्भधीरं विनयमधुराविच्छेदं नियतमित्यवोचदेनम् ।

अस्मद्धितावेक्षणदक्षिणेन विदर्शितोऽयं भवतार्यमार्गः ।
युक्ता विशेषेण च दैवतेषु परानुकम्पानिपुणा प्रवृत्तिः ॥ १० ॥

दोषोदयात्पूर्वमनन्तरं वा युक्तं तु तच्छान्तिपथेन गन्तुम् ।
गते प्रयासं ह्युपचारदोषैर्व्याधौ चिकित्साप्रणयो विघातः ॥ ११ ॥

इदं च दानव्यसनं मदीयं शङ्के चिकित्साविषयव्यतीतम् ।
तथा ह्यनादृत्य हितैषितां ते न मे मनः सङ्कुचति प्रदानात् ॥ १२ ॥

दानादधर्मं च यदूचिवांस्त्वमर्थं च धर्मस्य विशेषहेतुम् ।
तन्मानुषी नेयमवैति बुद्धिर्दानादृते धर्मपथो यथार्थः ॥ १३ ॥

निधीयमानः स नु धर्महेतुश्चौरैः प्रसह्याथ विलुप्यमानः ।
ओघोदरान्तर्विनिमग्नमूर्तिर्हुताशनस्याशनतां गतो वा ॥ १४ ॥

यच्चाथ दाता नरकं प्रयाति प्रतिग्रहीता तु सुरेन्द्रलोकम् ।
विवर्धितस्तेन च मे त्वयाऽयं दानोद्यमः संयमयिष्यतापि ॥ १५ ॥

अनन्यथा चास्तु वचस्तवेदं स्वर्गं च मे याचनका व्रजन्तु ।
दानं हि मे लोकहितार्थमिष्टं नेदं स्वसौख्योदयसाधनाय ॥ १६ ॥

अथ स मारः पापीयान्पुनरपि बोधिसत्त्वं हितैषीव धीरहस्तेनोवाच—

हितोक्तिमेतां मम चापलं वा समीक्ष्य येनेच्छसि तेन गच्छ ।
सुखान्वितो वा बहुमानपूर्वं स्मर्तासि मां विप्रतिसारवान्वा ॥ १७ ॥

दान की आसक्ति से धर्म के मूल-कारण अर्थ का नाश करते हुए तूने जो पाप किया है, इसीलिये तेरे को खाने के लिए यह नरकान्तक का मुख आया हुआ है, ज्वालायें ही जिसकी जिह्वायें हैं ॥ ७ ॥

दान की ओर से अपने मन को अच्छी तरह रोक ले, ऐसा करने से तेरा अभी पतन न होगा। छटपटाते हुए और आर्त होकर रोते हुए इन दाताओं की समानता (=दुर्दशा) को मत प्राप्त हो ॥ ८ ॥

दान ग्रहण करने वाला मनुष्य दानरूपी दुर्नीति (कुमार्ग) से निवृत्त होने के कारण देवत्व को प्राप्त होता है। इसलिए स्वर्ग के रास्ते को बन्द करने वाले दान-कर्म से विरत होकर संयम का आश्रय ले" ॥ ९ ॥

मेरे दान में विघ्न करने के लिए इस दुरात्मा की ही यह चेष्टा है, ऐसा समझकर बोधिसत्त्व ने अपने सत्त्वगुण के अनुसार धैर्य धारण करते हुये नम्रता एवं मधुरतापूर्वक यह निश्चित उत्तर दिया—

"हमारे हित को देखने में निपुण आपने यह आर्यमार्ग दिखलाया है, देवताओं में दूसरों पर दया करने की प्रवृत्ति का होना विशेष रूप से उचित है ॥ १० ॥

रोग होने से पहले ही या होते ही उसको रोकने की चेष्टा करना उचित है; किन्तु उपचार के दोष से (या उपेक्षा करने से) जब रोग बढ़कर दुस्साध्य हो जाता है तब उसकी चिकित्सा की चेष्टा व्यर्थ होती है ॥ ११ ॥

मेरा यह दान देने का व्यसन (रोग) मैं समझता हूँ, असाध्य (लाइलाज) हो गया है, इसलिये आप के हितोपदेश का अनादर करके मेरा मन दान की ओर से विमुख नहीं हो रहा है ॥ १२ ॥

आप ने जो कहा कि दान से अधर्म होता है और अर्थ धर्म का प्रधान कारण है, सो मेरी मानव-बुद्धि नहीं समझ रही है कि दान को छोड़कर भी कोई सच्चा धर्म-मार्ग हो सकता है? ॥ १३ ॥

यदि उस (तथा-कथित) धर्म के हेतुरूप धन को बन्द करके रखा भी जाय तो वह चोर-डाकुओं द्वारा बलात् लूट लिया जायगा, या जल-प्रवाह के भीतर डूब जायगा या अग्नि-देव के मुख में चला जायगा ॥ १४ ॥

आपने यह जो कहा कि दान देनेवाला नरक और दान लेनेवाला इन्द्र-लोक को जाता है, इसके द्वारा मुझे रोकने की इच्छा करते हुये भी, आप ने मेरे दानोद्योग को बढ़ाया ही है ॥ १५ ॥

आप का यह वचन अन्यथा न हो, मेरे याचक स्वर्ग जायँ। मैं चाहता हूँ कि मेरा दान लोक कल्याण के लिये हो, न कि आत्म-सुख प्राप्त करने के लिये" ॥ १६ ॥

तब उस पापी मारने पुनः बोधिसत्त्व से हितैषी की तरह धैर्यपूर्वक कहा—

"यह मेरा सदुपदेश है या मेरी चपलता है, इसकी समीक्षा करके तू जिस (रास्ते) से जाना चाहे उससे जा। तू (पीछे) सुखी होकर या अनुताप से युक्त होकर मेरा सम्मानपूर्वक स्मरण करेगा ॥ १७ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—मार्ष ! मर्षयतु भवान् ।

कामं पतामि नरकं स्फुरदुग्रवह्निं
ज्वालावलीढशिथिलावनतेन मूर्ध्ना ।
न त्वर्थिनां प्रणयदर्शितसौहृदानां
सम्मानकालमवमाननया हरिष्ये ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वा बोधिसत्त्वः स्वभाग्यबलावष्टम्भाज्जानानश्च निरत्ययतां दानस्य निवारणैकरसमवधूय स्वजनपरिजनं साध्वसानभिभूतमतिरभिवृद्धदानाभिलाषो नरकमध्येन प्रायात् ।

पुण्यानुभावादथ तस्य तस्मिन्नपङ्कजं पङ्कजमुद्बभूव ।
अवज्ञयेवावजहास मारं यच्छुक्लया केशरदन्तपङ्क्त्या ॥ १९ ॥

अथ बोधिसत्त्वः पद्मसंक्रमेण स्वपुण्यातिशयनिर्जातेनाभिगम्य प्रत्येकबुद्धं प्रसादसंहर्षापूर्णहृदयः पिण्डपातमस्मै प्रायच्छत् ।

मनःप्रसादप्रतिबोधनार्थं तस्याथ भिक्षुर्वियदुत्पपात ।
वर्षञ्ज्वलंश्चैव स तत्र रेजे सविद्युदुद्द्योतपयोदलक्ष्म्या ॥ २० ॥

अवमृदितमनोरथस्तु मारो द्युतिपरिमोषमवाप्य वैमनस्यात् ।
तमभिमुखमुदीक्षितुं न सेहे सह नरकेण ततस्तिरोबभूव ॥ २१ ॥

तत्किमिदमुपनीतम् । एवमत्ययमप्यविगणय्य दित्सन्ति सत्पुरुषाः । केन नाम स्वस्थेन न दातव्यं स्यात् । न सत्त्ववन्तः शक्यन्ते भयादप्यगतिं गमयितुमित्येवमप्युन्नेयम् ।

इति श्रेष्ठिजातकं चतुर्थम् ।

---

५. अविषह्यश्रेष्ठि-जातकम्

न विभवक्षयावेक्षया समृद्ध्याशया वा प्रदानवैधुर्यमुपयान्ति सत्पुरुषाः ॥ तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवांस्त्यागशीलकुलविनयश्रुतज्ञानाविस्मयादिगुणसमुदितो धनदायमानो विभवसंपदा सर्वातिथित्वादनुपरतदानसत्रो लोकहितार्थप्रवृत्तो दायकश्रेष्ठः श्रेष्ठी बभूव । मात्सर्यादिदोषाविषह्योऽविषह्य इति प्रकाशनामा ।

बोधिसत्त्व ने कहा—"महाशय, क्षमा करें। मैं स्वेच्छा से इस नरक में उतरूँगा, जिसकी भीषण अग्नि धधक रही है, भले ही लपटों के स्पर्श से (झुलसकर) मेरा मस्तक लटक जाय। किन्तु जिन याचकों ने प्रार्थना (याचना) द्वारा मित्रता प्रकट की है उनका आदर-सत्कार करने का यह समय उनका तिरस्कार करने में न विताऊँगा" ॥ १८ ॥

यह कहकर, बोधिसत्त्व अपने भाग्य-बलपर निर्भर करते हुये तथा दान देने का परिणाम बुरा नहीं हो सकता है यह जानते हुये, मना करने में लगे हुये स्वजन और परिजन की उपेक्षा करके, दान देने की बढ़ी हुई अभिलाषा के कारण भय-भीत हुये विना ही नरक के बीच से चले गये।

तब उनके पुण्य-कर्मों के प्रभाव से कीचड़ के विना ही उस नरक में कमल उत्पन्न हो गया, जो मानो अपने सफेद केशररूपी दाँत दिखलाकर अनादरपूर्वक मार का उपहास कर रहा था ॥ १९ ॥

अपनी पुण्य-राशि से उत्पन्न हुए कमल पर पैर रखकर प्रत्येक बुद्ध के समीप पहुँचकर बोधिसत्त्व ने प्रसन्न मन से उन्हें भिक्षा दी।

अपना आन्तरिक आनन्द प्रकट करने के लिये वह भिक्षु आकाश में उड़ गये और वहाँ बिजली के प्रकाश से युक्त बादल के समान जल बरसाते हुये और प्रज्वलित होते हुये विराजमान हुये ॥ २० ॥

मार का मनोरथ चूर्ण हो गया और उदासी के कारण उसकी कान्ति नष्ट हो गई। वह बोधिसत्त्व के सन्मुख देख भी नहीं सका। तब अपने नरक के साथ वह अन्तर्धान हो गया ॥ २१ ॥

तब इसका क्या सारांश निकला ? यह कि सज्जन अपनी विपत्ति की उपेक्षा करके भी दान देने की इच्छा करते हैं। तब जो मनुष्य विपत्ति में नहीं है वह क्यों नहीं दान देगा ? इससे यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिये कि सात्त्विक पुरुष भय दिखलाकर भी कुमार्गपर नहीं चलाये जा सकते हैं। (विपत्ति में पड़कर भी कुमार्गपर नहीं चल सकते।)

श्रेष्ठि-जातक चतुर्थ समाप्त।

५. अविषह्यश्रेष्ठि-जातक

धन क्षीण होने के विचार से या समृद्धि की आशा से सत्पुरुष दान से विरत नहीं होते। यह बात इस अनुश्रुति से सावित होगी—

जब ये भगवान् बोधिसत्त्व ही थे तो एकबार त्याग शील कुल विनय विद्या ज्ञान नम्रता आदि गुणों से युक्त श्रेष्ठी हुये। अपनी (प्रचुर) धनसम्पत्ति के कारण वे कुबेर के समान लगते थे। सबका अतिथि-सत्कार करने से उनका दान-यश कभी बन्द नहीं होता था। वे लोकोपकार में लगे रहते थे और दाताओं में श्रेष्ठ थे। कृपणता आदि दोषों से अविषह्य (अजेय, अपराजित) होने के कारण वे अविषह्य नाम से विख्यात हुये।

इष्टार्थसंपत्तिविमर्शनाशात् प्रीतिप्रबोधस्य विशेषहेतुः ।
यथार्थिनां दर्शनमास तस्य तथार्थिनां दर्शनमास तस्य ॥ १ ॥

देहीति याच्ञानियतार्थमुक्तो नास्तीति नासौ गदितुं शशाक ।
हृतावकाशा हि बभूव चित्ते तस्यार्थसक्तिः कृपया महत्या ॥ २ ॥

तस्यार्थिभिर्निर्ह्रियमाणसारे गृहे बभूवाभ्यधिकप्रहर्षः ।
विवेद स ह्युग्रघनाननर्थानकारणक्षिप्रविरागिणोऽर्थान् ॥ ३ ॥

भवन्ति लोकस्य हि भूयसार्था लोभाश्रयाद् दुर्गतिमार्गसार्थाः ।
परात्मनोरभ्युदयावहत्वादर्थास्तदीयास्तु बभुर्यथार्थाः ॥ ४ ॥

अथ तस्य महासत्त्वस्य यथाभिलषितैरक्लिष्टैः शिष्टोपचारविभूषणैर्विपुलैरर्थविसर्गैर्याचनकजनं समन्ततः संतर्पयतः प्रदानौदार्यश्रवणाद्विस्मयावर्जितमनाः शक्रो देवेन्द्रः प्रदानस्थिरनिश्चयमस्य जिज्ञासमानः प्रत्यहं धनधान्यरत्नपरिच्छदजातं तत्तदन्तर्धापयामास । अपि नामायं विभवपरिक्षयाशङ्कयापि मात्सर्याय प्रतार्येतेति । प्रदानाधिमुक्तस्य तु पुनर्महासत्त्वस्य

यथा यथा तस्य विनेशुरर्थाः सूर्याभिसृष्टा[1] इव तोयलेशाः ।
तथा तथैनान् विपुलैः प्रदानैर्गृहात्प्रदीप्तादिव निर्जहार ॥ ५ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रस्त्यागपरायणमेव तं महासत्त्वमवेत्य प्रक्षीयमाणविभवसारमपि विस्मिततरमतिस्तस्यैकरात्रेण सर्वं विभवसारमन्तर्धापयामासान्यत्र रज्जुकुण्डलाद्दात्राच्चैकस्मात् ॥ अथ बोधिसत्त्वः प्रभातायां रजन्यां यथोचितं प्रतिविबुद्धः पश्यति स्म धनधान्यपरिच्छदपरिजनविभवशून्यं निष्कूजदीनं स्वभवनं राक्षसैरिवोद्वासितमनभिरामदर्शनीयं किमिति च समुत्थितवितर्कः समनुविचरंस्तद्रज्जुकुण्डलकं दात्रं च केवलमत्र ददर्श । तस्य चिन्ता प्रादुरभवत् । यदि तावत् केनचिद्याचितुमनुचितवचसा स्वविक्रमोपार्जितोपजीविना मद्गृहे प्रणय एवं दर्शितः । सूपयुक्ता एवमर्थाः । अथ त्विदानीं मद्भाग्यदोषादुच्छ्रयमसहमानेन केनचिदनुपयुक्ता एव विद्रुतास्तत्कष्टम् ।

चलं सौहृदमर्थानां विदितं पूर्वमेव मे ।
अर्थिनामेव पीडा तु दहत्यत्र मनो मम ॥ ६ ॥

प्रदानसत्कारसुखोचिताश्चिरं
विविक्तमर्थैरभिगम्य मद्गृहम् ।
कथं भविष्यन्ति नु ते ममार्थिनः
पिपासिताः शुष्कमिवागता ह्रदम् ॥ ७ ॥

---

१. पा०सूर्याभिमृष्टाः । अभिमृष्ट = स्पृष्ट—सौन्दरनन्द ७।३६

जैसे याचकों के लिए उनका दर्शन (प्रिय) था वैसे ही उनके लिये भी याचकों का दर्शन (प्रिय) था। इच्छा-पूर्त्ति की आशङ्का नष्ट होने के कारण (उभय पक्ष के लिये) आनन्दित होने का यह विशेष हेतु (उपयुक्त अवसर) था ।। १ ।।

'दीजिये' कहकर याचना करने पर 'नहीं है' वह नहीं कह सकते थे: क्योंकि महाकरुणा के कारण उनके हृदय में धन की आसक्ति के लिए स्थान ही नहीं रहा ॥ २ ॥

ज्यों-ज्यों याचकगण उनके घर से धन ढोकर ले गये, त्यों-त्यों उनका आनन्द बढ़ता ही गया; क्योंकि उन्होंने धन को भारी और भयङ्कर अनर्थों का घर तथा शीघ्र ही अकारण नष्ट होनेवाला समझा ॥ ३ ॥

अत्यधिक धन, लोभ का आश्रय पाकर, मनुष्य को दुर्गति-मार्ग पर ले चलता है; किन्तु दूसरों के लिए तथा अपने लिए भी श्रेयस्कर होने के कारण उनका धन सार्थक था ॥ ४ ॥

जब वह महापुरुष चारों ओर याचकों को शिष्टाचार और उदारतापूर्वक यथेष्ट धन-राशि देकर संतुष्ट कर रहे थे तब उनकी उदार दानशीलता के बारे में सुनकर देवेन्द्र शक्र के मन में विस्मय हुआ। उनके दान देने के निश्चय की स्थिरता का पता लगाने के लिए देवेन्द्र प्रतिदिन उनका धनधान्य, रत्न और वस्त्र आदि सामग्री छिपाने लगे। शक्र ने सोचा शायद धन क्षीण होने की आशङ्का से वह कृपणता की ओर बहकाया जा सके। किन्तु वह महापुरुष तो दान देने पर तुले हुए थे।

सूर्य के सम्पर्क से (सूखते हुए) पानी के समान ज्यों-ज्यों उनका धन क्षीण होता गया त्यों-त्यों अधिकाधिक दान देकर उन्होंने उसे घर से ऐसे निकाला जैसे उसमें आग लगी हो ॥ ५ ॥

'धन क्षीण होते रहने पर भी वह महापुरुष दानपरायण ही हैं' यह देखकर देवेन्द्र शक्र और भी विस्मित हुए। तब उन्होंने एक ही रात में उनकी सारी धन सम्पत्ति, केवल कुण्डलाकार कुछ रस्सी और एक हँसिये को छोड़कर, छिपा दी। रात के बीतने पर प्रातःकाल पूर्ववत् यथासमय जगकर बोधिसत्त्वने देखा कि उनका घर धन धान्य, वस्त्र आदि सामग्री और नौकर-चाकर से रहित है, निःशब्द दीन-मलिन और श्री-हीन है, जैसे राक्षस ने उसे तहस नहस (नष्ट-भ्रष्ट) कर दिया हो। 'ऐसा क्यों' इस प्रकार सोच-विचार करते, चारों ओर घूमते हुए उन्होंने केवल रस्सी का एक कुण्डल और एक हँसिया देखा। उन्होंने सोचा—"यदि अपने पराक्रम से आजीविका उपार्जन करनेवाले किसी ऐसे व्यक्ति ने, जिसे भिक्षा माँगने का अभ्यास नहीं है, मेरे घर पर इस प्रकार प्रेम प्रकट किया है तो मेरे धन का सदुपयोग ही हुआ है। या यदि मेरे भाग्य के दोष से मेरी उन्नति को न सह सकनेवाले किसी ने मेरे धन का उपयोग किये बिना ही लोप कर दिया है तो यह दुःख की बात है।"

"धन की मित्रता स्थिर नहीं होती है, यह बात मुझे पहले ही मालूम थी। किन्तु याचकों को होनेवाले दुःख से मेरा मन जल रहा है ॥ ६ ॥

जिन्होंने चिरकाल तक दान और सत्कार के सुख का अनुभव किया है वे मेरे याचक धन से रहित मेरे घर पर पहुँचकर, जैसे प्यासे प्राणी सूखे सरोवर पर आकर, किस अवस्था को प्राप्त होंगे ?" ॥ ७ ॥

अथ स बोधिसत्त्वः स्वधैर्यावष्टम्भादनास्वादितविषाददैन्यस्तस्यामप्यवस्थायामनभ्यस्तयाच्ञाक्रमत्वात् परान् याचितुं परिचितानपि न प्रसेहे। एवं दुष्करं याचितुमिति च तस्य भूयसी याचनकेष्वनुकम्पा बभूव॥ अथ स महात्मा याचनकजनस्वागतादिक्रियावेक्षया स्वयमेव तद्रज्जुकुण्डलकं दात्रं च प्रतिगृह्य प्रत्यहं तृणविक्रयोपलब्धया विभवमात्रयार्थिजनप्रणयसम्माननां चकार। अथ शक्रो देवेन्द्रस्तस्येमामविषादितां परमेऽपि दारिद्र्ये प्रदानाभिमुखतां चावेक्ष्य सविस्मयबहुमानः संदृश्यमानदिव्याद्भुतवपुरन्तरिक्षे स्थित्वा दानाद्विच्छन्दयंस्तं महासत्त्वमुवाच—गृहपते!

सुहृन्मनस्तापकरीमवस्थामिमामुपेतस्त्वमतिप्रदानैः।
न दस्युभिर्नैव जलानलाभ्यां न राजभिः संह्रियमाणवित्तः॥ ८॥

तत्त्वां हितावेक्षितया ब्रवीमि नियच्छ दाने व्यसनानुरागम्।
इत्थंगतः सन्नपि चेन्न दद्या यायाः पुनः पूर्वसमृद्धिशोभाम्॥ ९॥

शश्वत् कृशेनापि परिव्ययेण कालेन दृष्ट्वा क्षयमर्जनानाम्।
चयेन वल्मीकसमुच्छ्रयांश्च वृद्धयर्थिनः संयम एव पन्थाः॥ १०॥

अथ बोधिसत्त्वः प्रदानाभ्यासमाहात्म्यं विदर्शयञ्छक्रमुवाच—

अनार्यमार्येण सहस्रनेत्र सुदुष्करं सुष्ठ्वपि दुर्गतेन।
मा चैव तद्भून्मम शक्र वित्तं यत्प्राप्तिहेतोः कृपणाशयः स्याम्॥ ११॥

इच्छन्ति याच्ञामरणेन गन्तुं दुःखस्य यस्य प्रतिकारमार्गम्।
तेनातुरान् कः कुलपुत्रमानी नास्तीति शुष्काशनिनाभिहन्यात्॥ १२॥

तन्मद्विधः किं स्विदुपाददीत रत्नं धनं वा दिवि वापि राज्यम्।
याच्ञाभितापेन विवर्णितानि प्रसादयेन्नार्थिमुखानि येन॥ १३॥

मात्सर्यदोषोपचयाय यः स्यान्न त्यागचित्तं परिबृंहयेद्वा।
स त्यागमेवार्हति मद्विधेभ्यः परिग्रहच्छद्ममयो विघातः॥ १४॥

विद्युल्लतानृत्तचले धने च साधारणे नैकविघातहेतौ।
दाने निदाने च सुखोदयानां मात्सर्यमार्यः क इवाश्रयेत॥ १५॥

तदर्थिता शक्र मयि स्वतेयं हिताभिधानादनुकम्पितोऽस्मि।
स्वभ्यस्तहर्षं तु मनः प्रदानैस्तदुत्पथे केन धृतिं लभेत॥ १६॥

अविचल धैर्य के कारण बोधिसत्त्व उदास नहीं हुए। भिक्षा माँगने का अभ्यास न होने के कारण वे उस अवस्था में भी दूसरों से, अपने परिचितों से भी, भीख न माँग सके। भिक्षा माँगना कितना दुष्कर है, यह जानकर याचकों के प्रति उनकी करुणा और भी बढ़ गई। तब याचकों का स्वागत आदि करने के ख्याल से वह महात्मा स्वयं ही उस रस्सी और हँसिये को लेकर प्रतिदिन घास काटते थे और उसको बेचकर जो कुछ धन मिलता था उससे भिक्षुओं का स्वागत सत्कार करते थे। घोर दारिद्र्य में भी वे उदास नहीं हैं, दान देने में प्रवृत्त हैं, यह देखकर देवेन्द्र शक्र को आश्चर्य और आदरभाव हुआ। तब अपना दिव्य अद्भुत रूप प्रकट करते हुए अन्तरिक्ष में खड़े होकर उन्होंने उस महापुरुष को दान देने से रोकते हुए कहा—"हे गृहपति,

अपने मित्रों के मन को भी संतापित करनेवाली इस अवस्था में जो आप पहुँचे हैं सो अत्यन्त दान देने से ही। जल अग्नि राजाओं या डाकुओं ने आपके धन का अपहरण नहीं किया है ॥ ८ ॥

इसलिए आपकी भलाई के ख्याल से कहता हूँ कि आप दान की इस आसक्ति को रोकें। इस अवस्था में भी यदि दान देना छोड़ दें तो आप पुनः पूर्वकाल की समृद्धि प्राप्त कर सकते हैं ॥ ९ ॥

थोड़ा-थोड़ा करके भी निरंतर खर्च करने से उपार्जित धन-राशि भी समय पाकर क्षीण हो जाती है और संचय करने से बड़े-बड़े वल्मीक स्तूप बन जाते हैं, यह देखकर वृद्धि चाहने वाले के लिए संयम का ही रास्ता (उचित) है" ॥ १० ॥

तब दान देने का माहात्म्य बतलाते हुए बोधिसत्त्व ने शक्र से कहा—

"अत्यन्त कष्ट में भी पड़कर, हे सहस्रनेत्र, आर्य पुरुष के लिए अनार्य कर्म करना कठिन है। इसलिए, हे शक्र, मुझे वह धन न हो, जिसकी प्राप्ति के लिए मुझे कृपण होना पड़े ॥ ११ ॥

याचना रूपी मरण से जिस दुःख का अन्त करना चाहते हैं; उस दुःख से पीड़ित व्यक्तियों को कौन स्वाभिमानी कुल-पुत्र 'नहीं है' इस अनभ्र वज्रपात से मारेगा ? ॥ १२ ॥

तब मुझ-जैसा आदमी उस धन, रत्न या स्वर्ग के भी राज्य को क्यों लेगा, जिसको लेकर याचना के संताप से उदासमुख याचकों को प्रसन्न न कर सके ? ॥ १३ ॥

जो कृपणता को बढ़ाये, उदारता को नहीं, उस परिग्रह रूपी विपत्ति को मुझ-जैसों के लिए छोड़ना ही उचित है ॥ १४ ॥

धन बिजली की चमक के समान चञ्चल है, सर्वसाधारण है और नाना विपत्तियों का घर है। किन्तु दान सुख होने का कारण है। तब कौन आर्य कृपणता का आश्रय ले ? ॥ १५ ॥

हे शक्र, आपने मेरे प्रति यह अपनापन (ममत्व) दिखलाया और भलाई की बात कह कर मेरे ऊपर अनुकम्पा की। किन्तु मेरा मन तो दान देने में ही आनन्दित होता रहा है। अब यह कुमार्ग पर कैसे स्थिर हो सकता है ? ॥ १६ ॥

न चात्र मन्योरनुवृत्तिमार्गे चित्तं भवानर्हति संनियोक्तुम् ।
न हि स्वभावस्य विपक्षदुर्गमारोढुमल्पेन बलेन शक्यम् ॥ १७ ॥

शक्र उवाच—गृहपते ! पर्याप्तविभवस्य परिपूर्णकोशकोष्ठागारस्य सम्यक्प्रवृत्तविविधविपुलकर्मान्तस्य विरूढायतेर्लोके वशीकृतैश्वर्यस्यायं क्रमो नेमां दशामभिप्रपन्नस्य । पश्य—

स्वबुद्धिविस्पन्दसमाहितेन वा यशोऽनुकूलेन कुलोचितेन वा ।
समृद्धिमाकृष्य शुभेन कर्मणा सपत्नतेजांस्यभिभूय भानुवत् ॥ १८ ॥

जने प्रसङ्गेन वितत्य सद्गतिं प्रबोध्य हर्षं ससुहृत्सु बन्धुषु ।
अवाप्तसंमानविधिर्नृपादपि श्रिया परिष्वक्त इवाभिकामया ॥ १९ ॥

अथ प्रदाने प्रविजृम्भितक्रमः सुखेषु वा नैति जनस्य वाच्यताम् ।
अजातपक्षः खमिवारुरुक्षया विघातमाक्केवलया तु दित्सया ॥ २० ॥

यतो धनं संयमनैभृताश्रयादुपार्ज्यतां तावदलं प्रदित्सया ।
अनार्यताप्यत्र च नाम का भवेन्न यत्प्रदद्या विभवेष्वभाविषु ॥ २१ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अलमतिनिर्बन्धेनात्रभवतः ।

आत्मार्थः स्याद्यस्य गरीयान् परकार्यात्
तेनापि स्याद्देयमनादृत्य समृद्धिम् ।
नैति प्रीतिं तां हि महत्यापि विभूत्या
दानैस्तुष्टिं लोभजयाद्यामुपभुङ्क्ते ॥ २२ ॥

नैति स्वर्गं केवलया यच्च समृद्ध्या
दानेनैव ख्यातिमवाप्नोति च पुण्याम् ।
मात्सर्यादीनामभिभवत्येव च दोषां-
स्तस्या हेतोर्दानमतः को न भजेत ॥ २३ ॥

त्रातुं लोकान्यस्तु जरामृत्युपरीता-
नप्यात्मानं दित्सति कारुण्यवशेन ।
यो नास्वादं वेत्ति सुखानां परदुःखैः
कस्तस्यार्थस्त्वद्गतया स्यादपि लक्ष्म्या ॥ २४ ॥

अपि च देवेन्द्र

संपत्तिरिव वित्तानामध्रुवा स्थितिरायुषः ।
इति याचनकं लब्ध्वा न समृद्धिरवेक्ष्यते ॥ २५ ॥

इस कारण आप क्रोध की ओर अपने चित्त को न प्रेरित करें, क्योंकि अल्प शक्ति से मेरे स्वभाव के विपक्ष दुर्ग पर आक्रमण करना शक्य नहीं।" ॥ १७ ॥

शक्र ने कहा—"हे गृहपति, जिसको बहुत धन है, जिसके कोश और अन्न-भण्डार भरे हुए हैं, जिसके तरह तरह के बड़े बड़े काम अच्छी तरह चल रहे हैं, जिसका भविष्य निश्चित है, जिसने ऐश्वर्य को वश में कर लिया है उसके लिए (दान देने का) यह क्रम उचित है, न कि इस दशा में पड़े हुए आप के लिए।

देखिये—

मनुष्य अपने बुद्धि-बल से यश के अनुकूल या कुलोचित (परंपरागत) किसी अच्छे काम को करके समृद्धिशाली बने और सूर्य के समान विपक्षी तेजस्वियों को पराजित करे ॥ १८ ॥

तब समय-समय पर दान देकर लोगों को सुखी करे और अपने मित्रों और बन्धुओं को भी आनन्दित करे। राजा भी उसका सम्मान करे और अभीष्ट लक्ष्मी उसका आलिङ्गन करे ॥ १९ ॥

तब यदि वह दान-कर्म या सुखोपभोग में अपना पाँव फैलाये तो लोग उसकी निन्दा न करेंगे। किन्तु पंख उत्पन्न होने से पहले ही उड़ने की इच्छा करनेवाले (पक्षि-शावक) के समान दान देने की इच्छा करनेवाला (निर्धन मनुष्य) विपत्ति में ही पड़ेगा ॥ २० ॥

इसलिए संयम के सहारे धनोपार्जन कीजिये और अभी दान देने की इच्छा छोड़िये। यदि धन के अभाव में आप दान न दें तो इसमें आप की क्या अनार्यता होगी?" ॥ २१ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"इस विषय में आप बहुत हठ न करें।

जिसके लिए पर-कार्य से स्वकार्य ही महत्त्वपूर्ण है उसके लिए भी समृद्धि की उपेक्षा करके दान देना ही उचित है; क्योंकि विपुल सम्पत्ति से भी उसे वह आनन्द नहीं प्राप्त होता है जो कि लोभ को जीतकर दान देने से होता है ॥ २२ ॥

और, केवल समृद्धि से न स्वर्ग मिलता है, न मात्सर्य (=द्वेष, कृपणता) आदि दोष नष्ट होते हैं। दान से ही पवित्र यश प्राप्त होता है। अतः इसके लिए कौन दान न देगा? ॥ २३ ॥

जो जरा-मरण (के दुःख) से घिरे हुए प्राणियों की रक्षा करने के लिए अपने को भी उत्सर्ग कर देना चाहता है, जो दूसरों को दुःख देकर (या दूसरों के दुःखी रहते) सुखोपभोग करना नहीं जानता, उसको आपकी लक्ष्मी से भी क्या प्रयोजन? ॥ २४ ॥

हे देवेन्द्र, और भी।

धन-सम्पत्ति के समान यह जीवन चञ्चल है। इसलिए याचक को पाकर समृद्धि का खयाल नही करना चाहिए ॥ २५ ॥

एको रथश्च भुवि यद्विदधाति वर्त्म
तेनापरो व्रजति धृष्टतरं तथान्यः ।
कल्याणमाद्यमिममित्यवधूय मार्गं
नासत्पथप्रणयने रमते मनो मे ॥ २६ ॥

अर्थश्च विस्तरमुपैष्यति चेत्पुनर्मे
हर्ता मनांसि नियमेन स याचकानाम् ।
एवंगतेऽपि च यथाविभवं प्रदास्ये
मा चैव दाननियमे प्रमदिष्म शक्र ॥ २७ ॥

इत्युक्ते शक्रो देवेन्द्रः समभिप्रसादितमनाः साधु साध्वित्येनमभिसंराध्य सबहुमानस्निग्धमवेक्षमाण उवाच—

यशःसपत्नैरपि कर्मभिर्जनः समृद्धिमन्विच्छति नीचदारुणैः ।
स्वसौख्यसङ्गादनवेक्षितात्ययः प्रतार्यमाणश्चपलेन चेतसा ॥ २८ ॥

अचिन्तयित्वा तु धनक्षयं त्वया स्वसौख्यहानिं मम च प्रतारणाम् ।
परार्थसंपादनधीरचेतसा महत्त्वमुद्भावितमात्मसंपदः ॥ २९ ॥

अहो बतौदार्यविशेषभास्वतः प्रमृष्टमात्सर्यतमिस्रता हृदः ।
प्रदानसंकोचविरूपतां गतं धने प्रनष्टेऽपि न यत्तदाशया ॥ ३० ॥

न चात्र चित्रं परदुःखदुःखिनः कृपावशाल्लोकहितैषिणस्तव ।
हिमावदातः शिखरीव वायुना न यत्प्रदानादसि कम्पितो मया ॥ ३१ ॥

यशः समुद्भावयितुं परीक्षया धनं तवेदं तु निगूढवानहम् ।
मणिर्हि शोभानुगतोऽप्यतोऽन्यथा न संस्पृशेद्दलयशोमहार्घताम् ॥ ३२ ॥

यतः प्रदानैरभिवर्ष याचकान् ह्रदान् महामेघ इवाभिपूरयन् ।
धनक्षयं नाप्स्यसि मत्परिग्रहादिदं क्षमेथाश्च विचेष्टितं मम ॥ ३३ ॥

इत्येनमभिसंराध्य शक्रस्तच्चास्य विभवसारमुपसंहृत्य क्षमयित्वा च तत्रैवान्तर्दधे ॥

तदेवं न विभवक्षयावेक्षया समृद्ध्याशया वा प्रदानवैधुर्यमुपयान्ति सत्पुरुषा इति ॥

इत्यविषह्यश्रेष्ठि-जातकं पञ्चमम् ।

पृथ्वी पर पहला रथ जिस रास्ते को बनाता है, उसी से दूसरा रथ जाता है और तीसरा तो और भी निर्भय होकर। अतः इस कल्याणकारी आदि मार्ग को छोड़कर कुमार्ग का निर्माण करना (या कुमार्ग से चलना) मुझे पसन्द नहीं ॥ २६ ॥

यदि मेरा धन पुनः बढ़ जायगा तो वह निश्चय ही याचकों के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करेगा। इस अवस्था में भी मैं अपनी सम्पत्ति के अनुसार दान दूँगा। हे शक्र, मैं दान देने के नियम में प्रमाद न करूँ।" ॥ २७ ॥

इतना कहने पर देवेन्द्र शक्र ने प्रसन्न चित्त से उनकी प्रशंसा की तथा आदर और स्नेह की दृष्टि से उन्हें देखते हुए कहा—

"अपने सुख की आसक्ति के कारण अनर्थ की अवहेलना कर तथा अपने चपल चित्त के बहकावे में आकर लोग यश के विरोधी नीच और दारुण कर्मों द्वारा भी समृद्धि की इच्छा करते हैं ॥ २८ ॥

किंतु आपने धन-विनाश, अपने सुख की हानि और मेरी प्रतारणा (=प्रवञ्चना, बहकावे) की चिन्ता छोड़कर, परोपकार के दृढ़ संकल्प द्वारा अपनी सम्पत्ति का महत्त्व प्रकट किया है ॥ २९ ॥

अहो ! आपके हृदय का मात्सर्यरूपी अन्धकार धुल गया है और वह उदारता (के प्रकाश) से अत्यन्त प्रकाशित हो रहा है। इसीलिए तो धन नष्ट होने पर भी धन की आशा से वह कृपणता से मलिन नहीं हुआ ॥ ३० ॥

जैसे हवा हिम-धवल पर्वत को नहीं कँपा सकती, वैसे ही मैं आपको दान से विचलित न कर सका। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। क्योंकि आप दूसरों के दुःख से दुःखी होते हैं, करुणा के वशीभूत होकर संसार की हितकामना करते हैं ॥ ३१ ॥

परीक्षा द्वारा आपका यश फैलाने के लिए ही मैंने आपके इस धन को छिपाया है; क्योंकि मणि सुन्दर होने पर भी, परीक्षा के विना, रत्न की ख्याति और मूल्य नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ३२ ॥

सरोवरों को (जल से) भरते हुए महामेघ के समान याचकों पर दान की वृष्टि कीजिये। मेरी कृपा से आपका धन कभी क्षीण न होगा। आप मेरे इस आचरण को क्षमा करें।"॥३३॥

इस प्रकार उनकी प्रशंसा कर शक्र उनकी उस धन-सम्पत्ति को ले आये और उनसे क्षमा कराकर वहीं अन्तर्धान हो गये।

इस प्रकार धन क्षीण होने की आशंका से या समृद्धि की आशा से सत्पुरुष दान से विरत नहीं होते।

अविषह्यश्रेष्ठि-जातक पञ्चम समाप्त।

---

६. शशजातकम्

तिर्यग्गतानामपि सतां महात्मनां शक्त्यनुरूपा दानप्रवृत्तिर्दृष्टा। केन नाम मनुष्यभूतेन न दातव्यं स्यात् ॥ तद्यथानुश्रूयते—

कस्मिंश्चिदरण्यायतनप्रदेशे मनोज्ञवीरुत्तृणतरुगहननिचिते पुष्पफलवति वैडूर्यनीलशुचिवाहिन्या सरिता विभूषितपर्यन्ते मृदुशाद्वलास्तरणसुखसंस्पर्शदर्शनीयधरणीतले तपस्विजनविचरिते बोधिसत्त्वः शशो बभूव।

स सत्त्वयोगाद्वपुषश्च संपदा बलप्रकर्षाद्विपुलेन चौजसा।
अतर्कितः क्षुद्रमृगैरशङ्कितश्चचार तस्मिन्मृगराजलीलया ॥ १ ॥

स्वचर्माजिनसंवीतः स्वतनूरुहवल्कलः।
मुनिवत्तत्र शुशुभे तुष्टचित्तस्तृणाङ्कुरैः ॥ २ ॥

तस्य मैत्र्यवदातेन मनोवाक्कायकर्मणा।
आसुर्जृम्भितदौरात्म्याः प्रायः शिष्यमुखा[1] मृगाः ॥ ३ ॥

तस्य गुणातिशयसंभृतेन स्नेहगौरवेण विशेषवत्तरमवबद्धहृदयास्तु ये सहाया बभूवुरुद्रः शृगालो वानरश्च। ते परस्परसंबन्धनिबद्धस्नेहा इव बान्धवा अन्योन्यप्रणयसंमाननविरूढसौहार्दा इव च सुहृदः संमोदमानास्तत्र विहरन्ति स्म। तिर्यक्स्वभावविमुखाश्च प्राणिषु दयानुवृत्त्या लौल्यप्रशमाद्विस्मृतस्तेयप्रवृत्त्या धर्माविरोधिन्या च यशोऽनुवृत्त्या पटुविज्ञानत्वाद्विनियमधीरया च सज्जनेष्टया चेष्टया देवतानामपि विस्मयनीया बभूवुः।

सुखानुलोमे गुणबाधिनि क्रमे गुणानुकूले च सुखोपरोधिनि।
नरोऽपि तावद्गुणपक्षसंश्रयाद्विराजते किम्वथ तिर्यगाकृतिः ॥ ४ ॥

अभूत्स तेषां तु शशाकृतिः कृती परानुकम्पाप्रतिपद्गुरुर्गुरुः।
स्वभावसंपच्च गुणक्रमानुगा यशो यदेषां सुरलोकमप्यगात् ॥ ५ ॥

अथ कदाचित् स महात्मा सायाह्नसमये धर्मश्रवणार्थमभिगतैः सबहुमानमुपास्यमानस्तैः सहायैः परिपूर्णप्रायमंडलमादित्यविप्रकर्षाद्व्यवदायमानशोभं रूप्यदर्पणमिव त्सरुविरहितमीषत्पार्श्वापवृत्तबिम्बं शुक्लपक्षचतुर्दशीचन्द्रमसमुदितमभिसमीक्ष्य सहायानुवाच—

असावापूर्णशोभेन मण्डलेन हसन्निव।
निवेदयति साधूनां चन्द्रमाः पोषधोत्सवम् ॥ ६ ॥

---

१. पा० 'शिष्यसखा'।

६. शश-जातक

पशु-पक्षियों की भी योनि में पड़कर सज्जन, महात्मा अपनी शक्ति के अनुरूप दान देते हुए देखे जाते हैं, फिर मनुष्य होकर कौन दान नहीं देगा ? तब जैसी कि अनुश्रुति है—

किसी जंगल के पवित्र स्थान में—जो मनोहर तृण-लता-तरुओं के झुरमुटों से भरा है, जो फूलों और फलों से युक्त है, वैदूर्य के समान नीले और निर्मल जल की धारा से जिसका सीमान्त विभूषित है, कोमल तृणों की शय्या से जिसका धरातल स्पर्श-सुखद और दर्शनीय है, जहाँ तपस्वि-जन विचरण करते हैं—बोधिसत्त्व खरगोश (की योनि में पैदा) हुए।

उसके सत्त्वगुण, रूप-सम्पत्ति, अद्भुत शक्ति और विपुल ओज के कारण क्षुद्र पशुओं ने उसपर संदेह नहीं किया और वह निर्भय होकर उस जंगल में सिंह के समान घूमते थे ॥ १ ॥

अपने चर्म रूपी मृगछाले और अपने रोमरूपी वल्कल से आच्छादित होकर, तृणों के अङ्कुरों (के आहार) से संतुष्ट रहते हुए वह वहाँ मुनि के समान शोभित हुए ॥ २ ॥

उसके मैत्रीपूर्ण उज्ज्वल मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों से दुरात्मा पशु भी प्रायः उसके मित्र और शिष्य हो गये ॥ ३ ॥

उसके सद्गुणों के कारण उत्पन्न स्नेहातिरेक से जिनके हृदय विशेष रूप से उसमें बँध गये, वे थे एक ऊदबिलाव (ऊध), एक सियाल और एक वानर। उसके ये (तीनों) साथी, उन बन्धुओं के समान, जिनका स्नेह आपस के (मधुर) सम्बन्ध से दृढ़ हो और उन मित्रों के समान, जिनकी मित्रता एक-दूसरे की इच्छाओं का आदर करने से बद्धमूल हो, वहाँ आनन्दपूर्वक विहार करते थे। पशु पक्षियों के स्वभाव से विमुख होकर वे प्राणियों पर दया करते थे, चपलता को छोड़कर चोरी को भूल गये थे, धर्मानुसार कीर्ति उपार्जन करते थे, बुद्धिमान् होने के कारण धैर्यपूर्वक[1] नियमों का पालन करते थे, इस प्रकार सज्जनों के अभीष्ट आचरण से उन्होंने देवताओं को भी चकित कर दिया।

सुख का मार्ग धर्म का बाधक है और धर्म का मार्ग सुख का बाधक है। धर्म का पक्ष ग्रहण करने पर मनुष्य भी शोभित होता है, फिर पशु-पक्षी का क्या कहना ? ॥ ४ ॥

खरहे की आकृति धारण कर दूसरों पर अनुकम्पा करने वाला वह पुण्यात्मा उनका गुरु था। धर्म-मार्ग पर चलने का उसका स्वभाव हो गया। उसकी कीर्ति देव-लोक तक पहुँच गई ॥ ५ ॥

एकबार सायंकाल में धर्मोपदेश सुनने के लिए आये हुए वे साथी जब उस महात्मा की उपासना कर रहे थे तो उसने शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी के चन्द्रमा को उगा हुआ देखा, जिसका मण्डल प्रायः पूरा हो गया था, जो सूर्य से दूर होने के कारण चमक रहा था, जो मूठ-रहित चाँदी के दर्पण के समान दिखाई पड़ता था और जिसका पार्श्व-भाग कुछ कुछ क्षीण था। उस चन्द्रमा को देखकर उसने अपने साथियों से कहा—

"अपने प्रायः परिपूर्ण मण्डल की शोभा से हँसता हुआ वह चन्द्रमा मानो साधुओं को पोषध-व्रत की सूचना दे रहा है ॥ ६ ॥

तद्व्यक्तं श्वः पञ्चदशी । यतो भवद्भिः पोषधनियममभिसंपादयद्भिर्न्यायोपलब्धेनाहारविशेषेण कालोपनतमतिथिजनं प्रतिपूज्य प्राणसंधारणमनुष्ठेयम् । पश्यन्तु भवन्तः ।

यत्संप्रयोगा विरहावसानाः समुच्छ्रयाः पातविरूपनिष्ठाः ।
विद्युल्लताभङ्गुरलोलमायुस्तेनैव कार्यो दृढमप्रमादः ॥ ७ ॥

दानेन शीलाभरणेन तस्मात् पुण्यानि संवर्धयितुं यतध्वम् ।
विवर्तमानस्य हि जन्मदुर्गे लोकस्य पुण्यानि परा प्रतिष्ठा ॥ ८ ॥

तारागणानामभिभूय लक्ष्मीं विभाति यत्कान्तिगुणेन सोमः ।
ज्योतींषि चाक्रम्य सहस्ररश्मिर्यद्दीप्यते पुण्यगुणोच्छ्रयः सः ॥ ९ ॥

दृप्तस्वभावाः सचिवा नृपाश्च पुण्यप्रभावात् पृथिवीश्वराणाम् ।
सदश्ववृत्त्या हतसर्वगर्वाः प्रीता इवाज्ञाधुरमुद्वहन्ति ॥ १० ॥

पुण्यैर्विहीनाननुयात्यलक्ष्मीर्विस्पन्दमानानपि नीतिमार्गे ।
पुण्याधिकैः सा ह्यवमत्स्यमाना पर्येत्यमर्षादिव तद्विपक्षान् ॥ ११ ॥

दुःखप्रतिष्ठादयशोऽनुबद्धादपुण्यमार्गादुपरम्य तस्मात् ।
श्रीमत्सु सौख्योदयसाधनेषु पुण्यप्रसङ्गेषु मतिं कुरुध्वम् ॥ १२ ॥

ते तथेत्यस्यानुशासनां प्रतिगृह्याभिवाद्य प्रदक्षिणीकृत्य चैनं स्वान्स्वानालयानभिजग्मुः । अचिरगतेषु च तेषु सहायेषु स महात्मा चिन्तामापेदे ।

अतिथेरभ्युपेतस्य संमानं येन तेन वा ।
विधातुं शक्तिरस्त्येषामत्र शोच्योऽहमेव तु ॥ १३ ॥

अस्मद्दन्ताग्रविच्छिन्नाः परितिक्तास्तृणाङ्कुराः ।
शक्या नातिथये दातुं सर्वथा धिगशक्तिताम् ॥ १४ ॥

इत्यसामर्थ्यदीनेन को न्वर्थो जीवितेन मे ।
आनन्दः शोकतां यायाद्यस्यैवमतिथिर्मम ॥ १५ ॥

तत्कुत्रेदानीमिदमतिथिपरिचर्यावैगुण्ये निःसारं शरीरकमुत्सृज्यमानं कस्यचिदुपयोगाय स्यादिति विमृशन्स महात्मा स्मृतिं प्रतिलेभे ।

अये !

स्वाधीनसुलभमेतन्निरवद्यं विद्यते ममैव खलु ।
अतिथिजनप्रतिपूजनसमर्थरूपं शरीरधनम् ॥ १६ ॥

स्पष्ट है कि कल पूर्णिमा होगी । अतः आपलोग पोषध व्रत के नियमों का पालन करते हुए न्यायपूर्वक प्राप्त उत्तम आहार से समय पर पहुँचे हुए अतिथि का सत्कार कर (प्राण-रक्षा के लिए) भोजन कीजियेगा । देखिये—

संयोग का अन्त वियोग है । उन्नति का अन्त पतन है । आयु बिजली की चमक के समान क्षण-भङ्गुर है । अतः खूब सावधान रहिये ॥ ७ ॥

दान और साथ ही शील के द्वारा पुण्य बढ़ाने की कोशिश कीजिये । क्योंकि भव-चक्र में भटकते हुए जगत् के लिए पुण्य बहुत बड़ा सहारा है ॥ ८ ॥

ताराओं की कान्ति को मातकर चन्द्रमा जो चमकता है और ग्रहों को निष्प्रभ कर सूर्य जो प्रज्वलित होता है, यह पुण्य का ही फल है ॥ ९ ॥

अभिमानी राजा और मंत्री अभिमान छोड़ कर पृथिवी-पति सम्राटों की आज्ञारूपी धुरे को प्रसन्नतापूर्वक अच्छे घोड़ों की तरह जो ढोते हैं, यह उन (सम्राटों) के पुण्य का ही प्रभाव है ॥ १० ॥

नीति-मार्ग पर भी डगमगाते हुए पुण्य-हीनों के पीछे अलक्ष्मी जाती है । (पुण्यवानों के) पुण्यों की अधिकता से तिरस्कृत होकर वह (अलक्ष्मी) क्रोध से उन पुण्य-हीनों को घेरती है ॥ ११ ॥

इसलिए दुःख और अपकीर्ति के निवास-स्थान अपुण्य-मार्ग से विरत होकर सुख के सुन्दर साधन पुण्य में अपना मन लगाइये" ॥ १२ ॥

'बहुत अच्छा' कह उसका आदेश ग्रहण कर तथा उसका अभिवादन और प्रदक्षिणा कर वे अपने-अपने घर चले गये । उन साथियों के जाते ही उस महात्मा ने सोचा—

"आये हुए अतिथि का जैसे-तैसे सत्कार करने की शक्ति इनमें है, किन्तु इसमें शोचनीय मैं ही हूँ ॥ १३ ॥

मेरे दाँतों के अग्र भाग से काटे गये तीते तृणों के अङ्कुर अतिथि को नहीं दिये जा सकते । इस शक्तिहीनता को सर्वथा धिक्कार है ॥ १४ ॥

इस असमर्थ दीन-हीन जीवन से मुझे क्या प्रयोजन, जब कि अतिथि के आने पर मेरा आनन्द इस प्रकार शोक में परिणत हो जाय ? ॥ १५ ॥

अतिथि-सत्कार में असमर्थ (व्यर्थ) इस असार क्षुद्र-शरीर को अब कहाँ छोड़ूं कि किसी के उपयोग में आये ?" इस प्रकार सोचते हुए उस महात्मा को होश हुआ—"अहो,

अतिथि-सत्कार में समर्थ यह शरीररूपी धन, यह मेरे अधीन, (सदा) सुलभ और निर्दोष है, यह केवल मुझे ही है ॥ १६ ॥

तत्किमहं विषीदामि ।

सम्प्रधिगतमिदं मयातिथेयं हृदय विमुञ्च यतो विषाददैन्यम् ।
समुपनतमनेन सत्करिष्याम्यहमतिथिप्रणयं शरीरकेण ॥ १७ ॥

इति विनिश्चत्य स महासत्त्वः परममिव लाभमधिगम्य परमप्रीतमनास्तत्रावतस्थे ।

वितर्कातिशये तस्य हृदये प्रविजृम्भिते ।
आविश्चक्रे प्रसादश्च प्रभावश्च दिवौकसाम् ॥ १८ ॥

ततः प्रहर्षादिव साचला चला मही बभूव[1] निभृतार्णवांशुका ।
वितस्तनुः खे सुरदुन्दुभिस्वना दिशः प्रसादाभरणाश्चकाशिरे ॥ १९ ॥

प्रसक्तमन्दस्तनिताः प्रहासिनस्तडित्पिनद्धाश्च घनाः समन्ततः ।
परस्पराश्लेषविकीर्णरेणुभिः प्रसक्तमेनं कुसुमैरवाकिरन् ॥ २० ॥

समुद्वहन्धीरगतिः समीरणः सुगन्धि नानाद्रुमपुष्पजं रजः ।
मुदा प्रविद्धैरविमक्तभक्तिभिस्तमर्चयामास कृशांशुकैरिव ॥ २१ ॥

तदुपलभ्य प्रमुदितविस्मितमनोभिर्देवताभिः समन्ततः परिकीर्त्यमानं तस्य वितर्काद्भुतं शक्रो देवेन्द्रः समापूर्यमाणविस्मयकौतूहलेन मनसा तस्य महासत्त्वस्य भावजिज्ञासया द्वितीयेऽहनि गगनतलमध्यसमिलङ्घमाने पटुतरकिरणप्रभावे सवितरि प्रस्फुलितमरीचिजालवसनासु भास्वरातपविसरावगुण्ठितास्वनालोकनक्षमासु दिक्षु संक्षिप्यमाणच्छायेष्वभिवृद्धचीरीविरावोन्नादितेषु वनान्तरेषु विच्छिद्यमानपक्षिसंपातेषु घर्मक्लमापीतोत्साहेष्वध्वगेषु शक्रो देवानामधिपतिर्ब्राह्मणरूपो भूत्वा मार्गप्रनष्ट इव क्षुत्तर्षश्रमविषाददीनकण्ठः सस्वरं प्ररुदन्नातिदूरे तेषां विचुक्रोश ।

एकं सार्थात्परिभ्रष्टं भ्रमन्तं गहने वने ।
क्षुच्छ्रमक्लान्तदेहं मां त्रातुमर्हन्ति साधवः ॥ २२ ॥

मार्गामार्गज्ञाननिश्चेतनं मां दिक्संमोहात्क्वापि गच्छन्तमेकम् ।
कान्तारेऽस्मिन्घर्मतर्षक्लमार्तं मा भैः शब्दैः को नु मां ह्लादयेत ॥ २३ ॥

अथ ते महासत्त्वास्तस्य तेन करुणेनाक्रन्दितशब्देन समाकम्पितहृदयाः ससंभ्रमा द्रुततरगतयस्तं देशमभिजग्मुः । मार्गप्रनष्टाध्वगदीनदर्शनं चैनमभिसमीक्ष्य समभिगम्योपचारपुरःसरं समाश्वासयन्त ऊचुः---

कान्तारे विप्रनष्टोऽहमित्यलं विभ्रमेण ते ।
स्वस्य शिष्यगणस्येव समीपे वर्तसे हि नः ॥ २४ ॥

---

१ पा० 'बभूवानिभृतार्णवां शुका' ।

तो मैं क्यों विषाद करूँ ?

मैंने अतिथि-सत्कार का यह सुन्दर साधन पाया। हे हृदय, तू विषाद और दीनता को छोड़। इस क्षुद्र शरीर से मैं आये हुए अतिथि का सत्कार करूँगा" ॥ १७ ॥

ऐसा निश्चय कर उस महासत्त्व को अत्यन्त आनन्द हुआ, मानो उसने परम लाभ पाया हो।

इस उत्तम विचार से उसका हृदय विकसित होने पर, देवताओं ने अपना आनन्द और प्रभाव प्रकट किया ॥ १८ ॥

तब मानो आनन्द में आकर समुद्रवसना[1] पृथ्वी पर्वतों सहित काँप उठी। आकाश में देव-दुन्दुभियाँ बजीं। दिशाएँ स्वच्छ होकर चमकीं ॥ १९ ॥

देर तक मन्द-मन्द गर्जते हुए, बिजली की चमक से हँसते हुए बादलों ने उसके ऊपर फूल बरसाये और आपस की रगड़ से उन फूलों का पराग चारों ओर फैल गया ॥ २० ॥

नाना वृक्षों के फूलों का सुगन्धित पराग लेकर हवा धीरे-धीरे बही, उसने मानो आनन्द में आकर बारीक रेशमी कपड़े के चँदोवे फैलाकर उस महात्मा की पूजा की ॥ २१ ॥

देवताओं ने आनन्दित और विस्मित होकर चारों ओर उसके अद्भुत विचार का कीर्तन किया। यह समाचार पाकर देवेन्द्र शक्र का हृदय विस्मय और कौतूहल से भर गया। उस महासत्त्व का भीतरी भाव जानने की इच्छा से दूसरे दिन जब कि आकाश के मध्यभाग को लाँघता हुआ सूर्य अपनी तीक्ष्ण प्रभा को फैला रहा था, जब कि काँपती किरणों की साड़ी पहने व उज्ज्वल आतप का घूँघट काढ़े दिशायें दुर्निरीक्ष्य हो रही थीं, जब कि झिंगुरों की बढ़ती हुई आवाज से गूँजते हुए जंगलों के भीतर (पेड़-पौधों की) छाया छोटी हो रही थी और पक्षियों का उड़ना बन्द हो रहा था, जब कि गर्मी और थकावट से बटोहियों की हिम्मत चूर हो रही थी तब देवताओं के अधिपति शक्र ने ब्राह्मण का रूप धारण कर, भूख-प्यास-थकावट के कष्ट से कराहते हुए मार्ग से भटकते हुए यात्री के समान, उन चारों से कुछ ही दूर पर, जोर जोर से रो-रोकर चिल्लाया—

"अपने साथियों से छूट कर मैं अकेला इस गहन वन में भटक रहा हूँ। भूख और थकावट से पीड़ित हूँ। साधु लोग मेरी रक्षा करें ॥ २२ ॥

कौन रास्ता है कौन नहीं, यह जानने की मेरी सुध-बुध चली गई। दिग्भ्रम के कारण मैं अकेला, न मालूम इस जंगल में कहाँ जा रहा हूँ। गर्मी प्यास और थकावट से व्यथित हूँ। यहाँ मुझे 'मत डरो, मत डरो' कहकर कौन आह्लादित करेगा ?" ॥ २३ ॥

इस करुण क्रन्दन को सुन कर उन महात्माओं के हृदय काँप उठे। वे घबड़ा कर तेजी से उस स्थान पर पहुँच गये। मार्ग से भटके हुए बटोही के समान उसे उदास देख, शिष्टाचार-पूर्वक उसके समीप पहुँच कर, वे उसे सान्त्वना देते हुए बोले—

'जंगल में भटक रहा हूँ' इस भ्रम को छोड़िये। हमारे समीप आप उसी प्रकार हैं जिस प्रकार अपने शिष्यों के समीप ॥ २४ ॥

तदद्य तावदस्माकं परिचर्यापरिग्रहात् ।
विधायानुग्रहं सौम्य श्वो गन्तासि यथेप्सितम् ॥ २५ ॥

अथोद्रस्तस्य तूष्णींभावादनुमतमुपनिमन्त्रणमवेत्य हर्षसंभ्रमत्वरितगतिः सप्त रोहितमत्स्यान्समुपनीयावोचदेनम्—

मीनारिभिर्विस्मरणोज्झिता वा त्रासोत्प्लुता वा स्थलमभ्युपेताः ।
खेदप्रसुप्ता इव सप्त मत्स्या लब्धा मयैतान्निवसेह भुक्त्वा ॥ २६ ॥

अथ शृगालोऽप्येनं यथोपलब्धमन्नजातमुपसंहृत्य प्रणामपुरःसरं सादरमित्युवाच--

एका च गोधा दधिभाजनं च केनापि संत्यक्तमिहाध्वगच्छन् ।
तन्मे हितावेक्षितयोपयुज्य वनेऽस्तु तेऽस्मिन्गुणवास वासः ॥ २७ ॥

इत्युक्त्वा परमप्रीतमनास्तदस्मै समुपजहार ॥

अथ वानरः परिपाकगुणादुपजातमार्दवानि मनःशिलाचूर्णरञ्जितानीवातिपिञ्जराण्यतिरक्तबन्धनमूलानि पिण्डीगतान्याम्रफलान्यादाय साञ्जलिप्रग्रहमेनमुवाच—

आम्राणि पक्वान्युदकं मनोज्ञं छाया च सत्संगमसौख्यशीता ।
इत्यस्ति मे ब्रह्मविदां वरिष्ठ भुक्त्वैतदत्रैव तवास्तु वासः ॥ २८ ॥

अथ शशः समुपसृत्यैनमुपचारक्रियानन्तरं सबहुमानमुदीक्षमाणः स्वेन शरीरेणोपनिमन्त्रयामास—

न सन्ति मुद्गा न तिला न तण्डुला वने विवृद्धस्य शशस्य केचन ।
शरीरमेतत्त्वनलाभिसंस्कृतं ममोपयुज्याद्य तपोवने वस ॥ २९ ॥

यदस्ति यस्येप्सितसाधनं धनं स तन्नियुङ्क्तेऽर्थिसमागमोत्सवे ।
न चास्ति देहादधिकं च मे धनं प्रतीच्छ सर्वस्वमिदं यतो मम ॥ ३० ॥

शक्र उवाच—

अन्यस्यापि वधं तावत्कुर्यादस्मद्विधः कथम् ।
इति दर्शितसौहार्दे कथा कैव भवद्विधे ॥ ३१ ॥

शश उवाच—उपपन्नरूपमिदमासन्नानुक्रोशे ब्राह्मणे । तदिहैव तावद्भवानास्तामस्मदनुग्रहापेक्षया यावत्कुतश्चिदात्मानुग्रहोपायमासादयामीति ॥ अथ शक्रो देवानामिन्द्रस्तस्य भावमवेत्य तप्ततपनीयवर्णस्फुरद्घनतनुज्वालं विकीर्यमाणवि-

अतः आज, हे सौम्य, हमारी सेवा-शुश्रूषा को स्वीकार कर हमारे ऊपर अनुग्रह कीजिये। कल आप, जहाँ चाहें, जा सकते हैं" ॥ २५ ॥

तब ऊदविलाव ने उसके मौन-भाव के कारण अपने निमंत्रण को स्वीकृत समझा और आनन्द के आवेग में आकर शीघ्रता से सात रोहित (रोहू) मछलियाँ ले आकर उससे कहा—

"मछुओं ने भूल कर इन्हें छोड़ दिया था या ये डर के मारे उछल कर स्थल पर चली आई थीं। वे यहाँ ऐसे पड़ी थीं जैसे थक कर सोई हुई हों। मैंने इन सात मछलियों को पाया है। आप इन्हें खा कर यहाँ रहें ॥ २६ ॥

तब सियाल ने भी जो कुछ भोजन-सामग्री पाई थी, लाकर उसे प्रणाम किया और सादर बोला—

"एक गोह और एक दही की हाँड़ी, हे यात्री, किसी ने यहाँ छोड़ दी है। मेरी भलाई के ख्याल से इसे खाकर, हे गुणवान्, आप इस वन में निवास करें" ॥ २७ ॥

इतना कह कर वह परम प्रसन्नता पूर्वक यह सब उसके समीप ले आया।

तब वानर ने पके हुए, कोमल, अत्यन्त पीले जैसे मनःशिला धातु से रंगे हुए, डंटी (मूठ) के चारों ओर अत्यन्त रक्त वर्ण आमों के गुच्छे लेकर हाथ जोड़ते हुए उससे कहा—

"पके हुए आम मनोरम जल और सत्संग-सुख के समान शीतल[1] छाया—यह है मेरे पास। हे ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ, इसे खाकर आप यहीं रहें" ॥ २८ ॥

तब शश ने समीप जाकर शिष्टाचार का पालन किया और उसकी ओर सम्मानपूर्वक देखते हुए अपना शरीर स्वीकार करने के लिए उसे निमंत्रित किया—

"मैं शश जंगल में पाला-पोसा गया हूँ, मेरे पास न मूँग हैं न तिल न तण्डुल। किन्तु है यह शरीर। आग में पकाकर आप इसका उपयोग करें और आज इस तपोवन में ठहरें ॥ २९ ॥

जिसके पास उपयोगी[2] जो धन होता है उसी (धन) से वह आये हुए अतिथि का सत्कार करता है। मेरे पास इस शरीर से अधिक कुछ नहीं है। इसलिये आप मेरे इस सर्वस्व को स्वीकार करें" ॥ ३० ॥

शक्र ने उत्तर दिया—

"मेरे-जैसा व्यक्ति किसी दूसरे का भी वध कैसे करे? फिर मित्रता प्रकट करने वाले आप-जैसे का क्या कहना" ॥ ३१ ॥

शश ने कहा—"दयालु ब्राह्मण के लिए यह उचित ही है। मेरे ऊपर अनुग्रह करने के विचार से आप तबतक यहीं ठहरें जबतक कि मैं अपने अनुग्रह का उपाय कहीं से प्राप्त करता हूँ। उसका भाव समझकर देवेन्द्र शक्र ने तपे हुए सोने के रंग का, धुँआ-रहित अङ्गारों का

स्फुलिङ्गप्रकरं निर्धूममङ्गारराशिमभिनिर्ममे ॥ अथ शशः समन्ततोऽनुविलोकयं-स्तमग्निस्कन्धं ददर्श । दृष्ट्वा च प्रीतमनाः शक्रमुवाच—समधिगतोऽयं मयात्मानुग्रहोपायः, तदस्मच्छरीरोपयोगात्सफलामनुग्रहाशां मे कर्तुमर्हसि । पश्य महाब्राह्मण

देयं च दित्साप्रवणं च चित्तं भवद्विधेनातिथिना च योगः ।
नावाप्तुमेतद्धि सुखेन शक्यं तत्स्यादमोघं भवदाश्रयान्मे ॥ ३२ ॥

इत्यनुनीय स महात्मा संमाननादरादतिथिप्रियतया चैनमभिवाद्य,

ततः स तं वह्निमभिज्वलन्तं निधिं धनार्थी सहसैव दृष्ट्वा ।
परेण हर्षेण समारुरोह तोयं हसत्पद्ममिवैकहंसः ॥ ३३ ॥

तद्दृष्ट्वा परमविस्मयावर्जितमतिर्देवानामधिपतिः स्वमेव वपुरास्थाय दिव्यकुसुमवर्षपुरःसरीभिर्मनःश्रुतिसुखाभिर्वाग्भिरभिपूज्य तं महासत्त्वं कमलपलाशलक्ष्मीसमृद्धाभ्यां भासुराङ्गुलीभूषणालंकृताभ्यां पाणिभ्यां स्वयमेव चैनं परिगृह्य त्रिदशेभ्यः संदर्शयामास । पश्यन्त्वत्रभवन्तस्त्रिदशालयनिवासिनो देवाः, समनुमोदन्तां चेदमतिविस्मयनीयं कर्मावदानमस्य महासत्त्वस्य ।

त्यक्तं बतानेन यथा शरीरं निःशङ्कमद्यातिथिवत्सलेन ।
निर्माल्यमप्येवमकम्पमाना नालं परित्यक्तुमधीरसत्त्वाः ॥ ३४ ॥

जातिः क्वेयं तद्विरोधि क्व चेदं त्यागौदार्यं चेतसः पाटवं च ।
विस्पष्टोऽयं पुण्यमन्दादराणां प्रत्यादेशो देवतानां नृणां च॥ ३५ ॥

अहो बत गुणाभ्यासवासितास्य यथा मतिः ।
अहो सद्वृत्तवात्सल्यं क्रियौदार्येण दर्शितम् ॥ ३६ ॥

अथ शक्रस्तत्कर्मातिशयविख्यापनार्थं लोकहितावेक्षी शशबिम्बलक्षणेन वैजयन्तस्य प्रासादवरस्य सुधर्मायाश्च देवसभायाः कूटागारकर्णिके चन्द्रमण्डलं चाभ्यलंचकार ।

सम्पूर्णेऽद्यापि तदिदं शशबिम्बं निशाकरे ।
छायामयमिवादर्शे राजते दिवि राजते ॥ ३७ ॥

ततः प्रभृति लोकेन कुमुदाकरहासनः ।
क्षणदातिलकश्चन्द्रः शशाङ्क इति कीर्त्यते ॥ ३८ ॥

तेऽप्युद्रशृगालवानरास्ततश्च्युत्वा देवलोक उपपन्नाः कल्याणमित्रं समासाद्य ॥

ढेर उत्पन्न किया, जिससे पतली लपटें निकल रही थीं और चिनगारियाँ छिटक रही थीं। तब शश ने चारों ओर दृष्टि-पात करते हुए उस अग्नि-पुञ्ज को देखा। और देखकर प्रसन्नतापूर्वक शक्र से कहा—"मैंने यह अपने अनुग्रह का उपाय पाया। अब मेरे शरीर का उपयोगकर आप से अनुगृहीत होने की मेरी आशा को आप सफल करें। देखिये हे महाब्राह्मण,

दान देना हो (या दान की वस्तु मौजूद हो), दान देने की हार्दिक इच्छा हो, आप जैसे अतिथि का योग हो—यह सुयोग अतिदुर्लभ है। अतः आप अपने सहयोग से इसे सफल करें" ॥ ३२ ॥

इस प्रकार अनुनय कर उस अतिथि-प्रिय महात्मा ने उसे सादर प्रणाम किया।

तब वह उस प्रज्वलित अग्नि को देखकर, जैसे धन चाहनेवाला हठात् ही निधि को पाकर, अत्यन्त प्रसन्न हुआ और वह उस अग्नि-पुञ्ज पर ऐसे चढ़ गया जैसे राजहंस खिलते हुए कमलों से युक्त जलाशय पर चढ़ रहा हो ॥ ३३ ॥

यह देखकर देवेन्द्र के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अपना (स्वाभाविक) रूप धारण कर दिव्य फूलों की वर्षा के साथ साथ मन और कान को आनन्द देनेवाली वाणी से उस महासत्त्व की पूजा-स्तुति की। तब कमल की पंखुड़ियों के समान सुन्दर हाथों में, जो उज्ज्वल अंगूठियों से अलंकृत थे, उसे लेकर देवताओं को दिखलाते हुए कहा—"देव-लोक के वासी आप पूज्य देवता देखें और इस महात्मा के इस अद्भुत सुकर्म का अनुमोदन करें।

जिस प्रकार निर्भय होकर इस अतिथि-वत्सल ने अपना शरीर छोड़ा, उस प्रकार अविचल होकर अधीर व्यक्ति निर्माल्य (=देवोच्छिष्ट वस्तु या फूल, जूठन) भी नहीं छोड़ सकते ॥ ३४ ॥

कहाँ इसकी जाति (पशु-योनि) और कहाँ यह विरोधी त्याग की उदारता और चित्त की दृढ़ता ! स्पष्ट ही इसने पुण्य की ओर से उदासीन मनुष्यों और देवताओं को जीत लिया ॥ ३५ ॥

अहो ! सद्गुणों के अभ्यास से इसकी बुद्धि सुगन्धित (पवित्र) हो गई है। अहो ! इसने उदार क्रिया के द्वारा अपना सदाचार-प्रेम प्रकट किया" ॥ ३६ ॥

तब शक्र ने लोक-हित को देखते हुए उस अद्भुत कर्म को विख्यात करने के लिए शश की आकृति के चिह्न से वैजयन्त प्रासाद और सुधर्मा देवसभा के शिखरों को तथा चन्द्रमण्डल को भी अलंकृत किया।

आज भी आकाश में पूर्ण चन्द्रमण्डल के भीतर यह शश की आकृति ऐसे विराजती है जैसे दर्पण के भीतर प्रतिबिम्ब ॥ ३७ ॥

तब से लोग कुमुदों को खिलाने (हँसाने) वाले रात्रि-तिलक (रात्रिविभूषण) चन्द्रमा को शशाङ्क कहते हैं ॥ ३८ ॥

वे तीनों भी, ऊदबिलाव सियाल और वानर, सन्मित्र को पाकर वहाँ से च्युत होकर देव-लोक में उत्पन्न हुए।

तदेवं तिर्यग्गतानामपि महासत्त्वानां शक्त्यनुरूपा दानप्रवृत्तिर्दृष्टा। केन नाम मनुष्यभूतेन न दातव्यं स्यात्॥ तथा तिर्यग्गता अपि गुणवात्सल्यात् संपूज्यन्ते सद्भिरिति गुणेष्वादरः कार्य इत्येवमप्युन्नेयम्॥

इति शश-जातकं षष्ठम्।

७. अगस्त्य-जातकम्

तपोवनस्थानामप्यलंकारस्त्यागशौर्यं प्रागेव गृहस्थानामिति॥ तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवाँल्लोकहितार्थं संसाराध्वनि वर्तमानश्चारित्रगुणविशुद्धयभिलक्षितं क्षितितलतिलकभूतमन्यतमं महद् ब्राह्मणकुलं गगनतलमिव शरदमलपरिपूर्णमण्डलश्चन्द्रमाः समुत्पतन्नेवाभ्यलंचकार। स यथाक्रमं श्रुतिस्मृतिविहितानवाप्य जातकर्मादीन् संस्कारानधीत्य साङ्गान्वेदान्कृत्स्नं च कल्पं व्याप्य विद्यायशसा मनुष्यलोकं गुणप्रियैर्दातृभिरभ्यर्थ्य प्रतिगृह्यमाणविभवत्वात् परां धनसमृद्धिमभिजगाम।

स बन्धुमित्राश्रितदीनवर्गान्संमाननीयानतिथीन्गुरूंश्च।
प्रह्लादयामास तथा समृद्धया देशान्महामेघ इवाभिवर्षन्॥ १॥

विद्वत्तया तस्य यशः प्रकाशं तत्त्यागशौर्यादधिकं चकाशे।
निशाकरस्येव शरद्विशुद्धं समग्रशोभाधिककान्ति बिम्बम्॥ २॥

अथ स महात्मा कुकार्यव्यासङ्गदोषसंबाध प्रमादास्पदभूतं धनार्जनरक्षण प्रसङ्गव्याकुलमुपशमविरोधिव्यसनशरशतलक्ष्यभूतमपर्यन्तकर्मान्तानुष्ठानपरिग्रहश्रममतृप्तिजनकं कृशास्वादं गार्हस्थ्यमवेत्य तद्दोषविविक्तसुखां च धर्मप्रतिपत्त्यनुकूलां मोक्षधर्मारम्भाधिष्ठानभूतां प्रव्रज्यामनुपश्यन् महतीमपि तां धनसमृद्धिमपरिक्लेशाधिगतां लोकसंनतिमनोहरां तृणवदपास्य तापसप्रव्रज्याविनयनियमपरो बभूव। प्रव्रजितमपि तं महासत्त्वं यशःप्रकाशत्वात् पूर्वसंस्तवानुस्मरणात् संभावितगुणत्वात् प्रशमाभिलक्षितत्वाच्च श्रेयोऽर्थी जनस्तद्गुणगणावर्जितमतिस्तथै-

इस प्रकार पशु-पक्षियों की योनि में भी पड़कर महासत्त्व यथाशक्ति दान-धर्म में प्रवृत्त देखे जाते हैं। तब मनुष्य होकर कौन दान नहीं देगा ? और, पशु-पक्षी भी अपने गुणानुराग के कारण सज्जनों से पूजित होते हैं, इसलिए गुणों का आदर करना चाहिए, यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है।

शश-जातक षष्ठ समाप्त

७. अगस्त्य-जातक

जो तपोवन में रहते हैं उनके लिए भी दान-वीरता अलङ्कार है, गृहस्थों के लिए तो और भी। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

जब ये भगवान् बोधिसत्त्व थे और लोक-हित के लिए संसार के पथ पर चल रहे थे तब एकबार उन्होंने पवित्र आचरण के लिए विख्यात, भूतल के तिलक-स्वरूप किसी महान् ब्राह्मण-कुल में जन्म लिया, मानो गगन में शरद् ऋतु के निर्मल परिपूर्ण चन्द्रमण्डल का उदय हुआ। उन्होंने क्रम से श्रुति-स्मृति में विहित जातकर्म आदि संस्कारों को प्राप्त किया, अङ्गों सहित वेदों और सम्पूर्ण कल्प का अध्ययन किया। उनकी विद्या की कीर्ति मनुष्य-लोक में व्याप्त हुई। गुण-प्रिय दाताओं ने उनसे धन ग्रहण करवाया और इस प्रकार उन्होंने विपुल धन-सम्पत्ति प्राप्त की।

उन्होंने बन्धुओं मित्रों आश्रितों दीनों आदरणीय अतिथियों और सम्माननीय गुरुओं को अपनी समृद्धि से आनन्दित किया, जैसे कोई महामेघ वृष्टि द्वारा नाना देशों को आह्लादित करे ॥ १ ॥

विद्वत्ता के कारण उनकी जो कीर्ति प्रकाशित हुई वह उनकी दानवीरता (=उदारता) के कारण और भी चमकी, जैसे समग्र शोभा से युक्त अत्यन्त कान्तिमान् (परिपूर्ण) चन्द्र-मण्डल शरद् ऋतु में निर्मल होकर और भी चमकता है ॥ २ ॥

तब उस महात्मा ने देखा कि गार्हस्थ्य (गृहस्थी) कुकर्मों के सम्पर्क के दोष से युक्त, प्रमाद का घर, धन के उपार्जन और संरक्षण की आसक्ति में होनेवाली व्याकुलता से ग्रस्त, शान्ति का विरोधी, शत-शत विपत्तियों के तीरों का लक्ष्य-स्थान, अनन्त कर्मों के करने से होनेवाली थकावट से युक्त, अतृप्तिजनक और अल्प सुख देने वाला है और उन्होंने देखा कि प्रव्रज्या (=संन्यास) उस (गृहस्थी) के दोषों से रहित होने के कारण सुखमय, धर्माचरण के अनुकूल और मोक्ष धर्म के लिए आरम्भ करने का सहारा है। यह देखकर उसने अनायास ही प्राप्त उस विपुल धन-सम्पत्ति को भी, जो लोक-सन्मान का साधन होने के कारण मनोहर थी, तृणवत् छोड़ दिया और वे तापसोचित प्रव्रज्या के विनय और नियम के पालन में लीन हुए। यद्यपि उस महासत्त्व ने प्रव्रज्या (संन्यास) ग्रहण की, तथापि उनकी कीर्ति प्रकाशित होने, शान्ति के लिए उनके विख्यात होने, उनके गुणों के प्रति आदरभाव होने और उनके पूर्व परिचय की स्मृति होने के कारण उनके सद्गुणों से आकृष्ट होकर मोक्ष चाहने वाले

वाभिजगाम । स तं गृहिजनसंसर्गं प्रविवेकसुखप्रमाथिनं व्यासङ्गविक्षेपान्तरायकरमबहुमन्यमानः प्रविवेकाभिरामतया दक्षिणसमुद्रमध्यावगाढमिन्द्रनीलभेदाभिनीलवर्णैरनिलबलाकलितैरूर्मिमालाविलासैराच्छुरितपर्यन्तं सितसिकतास्तीर्णभूमिभागं पुष्पफलपल्लवालंकृतविटपैर्नानातरुभिरुपशोभितं विमलसलिलाशयप्रतीरं काराद्वीपमध्यासनादाश्रमपदश्रिया संयोजयामास ।

सुतनुस्तपसा तत्र स रेजे तपसातनुः ।
नवचन्द्र इव व्योम्नि कान्तत्वेनाकृशः कृशः ॥ ३ ॥

प्रशमनिभृतचेष्टितेन्द्रियो व्रतनियमैकरसो वने वसन् ।
मुनिरिति तनुबुद्धिशक्तिभिर्मृगविहगैरपि सोऽन्वगम्यत ॥ ४ ॥

अथ स महात्मा प्रदानोचितत्वात्तपोवनेऽपि निवसन् कालोपनतमतिथिजनं यथासंनिहितेन मूलफलेन शुचिना सलिलेन हृद्याभिश्च स्वागताशीर्वादपेशलाभिस्तपस्विजनयोग्याभिर्वाग्भिः संपूजयति स्म । अतिथिजनोपयुक्तशेषेण च यात्रामात्रार्थमभ्यवहृतेन तेन वन्येनाहारेण वर्तयामास ॥ तस्य तपःप्रकर्षात् प्रविसृतेन यशसा समावर्जितहृदयः शक्रो देवेन्द्रः स्थैर्यजिज्ञासया तस्य महासत्त्वस्य तस्मिन्नरण्यायतने तापसजनोपभोगयोग्यं मूलफलमनुपूर्वेण सर्वमन्तर्धापयामास । बोधिसत्त्वोऽपि ध्यानप्रसृतमानसतया संतोषपरिचयादनधिमूर्च्छितत्वादाहारे स्वशरीरे चानभिष्वङ्गान्न तमन्तर्धानहेतुं मनसि चकार । स तरुणानि तरुपर्णान्यधिश्राय तैराहारप्रयोजनमभिनिष्पाद्यातृष्यमाण आहारविशेषानुत्सुकः स्वस्थमतिस्तथैव विजहार ।

न क्वचिद् दुर्लभा वृत्तिः संतोषनियतात्मनाम् ।
कुत्र नाम न विद्यन्ते तृणपर्णजलाशयाः ॥ ५ ॥

विस्मिततरमनास्तु शक्रो देवेन्द्रस्तस्य तेनावस्थानेन स्थिरतरगुणसंभावनस्तत्परीक्षानिमित्तं तस्मिन्नरण्यवनप्रदेशे निदाघकालानिलवत्समग्रं वीरुत्तृणतरुगणं पर्णसमृद्ध्या वियोजयामास ॥ अथ बोधिसत्त्वः प्रत्यार्द्रतराणि शीर्णपर्णानि समाहृत्य तैरुदकस्विन्नैरनुत्कण्ठितमतिर्वर्तमानो ध्यानसुखप्रीणितमनास्तत्रामृततृप्त इव विजहार ।

अविस्मयः श्रुतवतां समृद्धानाममत्सरः ।
संतोषश्च वनस्थानां गुणशोभाविधिः[1] परः ॥ ६ ॥

---

१ पा० 'गुणशोभानिधिः'—स्पेयर ।

लोग उनके पास उसी प्रकार आते ही रहे। उसने उस गृहस्थों के संसर्ग को ध्यान-सुख में बाधक और आसक्ति-विनाश में विघ्नकारी समझकर ध्यान-सौकर्य के लिए दक्षिण समुद्र के मध्य में स्थित कारा-द्वीप में—जिसके किनारे पर पवन बल से उठती हुई इन्द्रनील के टुकड़ों के समान नीले रंग की तरंग-मालाएँ अठखेलियाँ करती हैं, जिसका भू-भाग सफेद बालू से व्याप्त है, जो फूलों फलों और पल्लवों से अलंकृत शाखाओं वाले वृक्षों से शोभित है और जो विमल जलाशयों से व्याप्त[1] है—जाकर आसन जमाया और उसे अपने आश्रम की शोभा से युक्त किया।

तपस्या के कारण उनका शरीर क्षीण हुआ, किंतु तेज[2] में वे क्षीण नहीं हुए। आकाश में में (उगे हुए) नये चन्द्रमा के समान (आकृति में) क्षीण होकर भी वे कान्ति में क्षीण नहीं हुए॥ ३॥

शान्ति के कारण उनके इन्द्रिय निर्विकार थे, वे व्रतों और नियमों (के पालन) में तल्लीन होकर वन में रहते थे। पशु-पक्षियों ने भी, जिनकी सोचने की शक्ति थोड़ी होती है, उन्हें मुनि समझकर उन (के आचरण) का अनुकरण किया॥ ४॥

दान देने के अभ्यस्त होने के कारण वह महात्मा तपोवन में रहते हुए भी अभ्यागत अतिथियों को स्वच्छ जल और फल-मूल—जो कुछ रहता था—देकर तथा तपस्वियों के योग्य स्वागत और आशीर्वाद के कोमल और मनोहर वचन कहकर अतिथि-सत्कार करते थे। फिर अतिथियों के उपयोग से जो कुछ वन्य आहार—फल-मूल—शेष रहता था उसे ही शरीर-धारण मात्र के लिए खाकर जीवित रहते थे। जब उनकी चरम तपस्या की कीर्ति चारों ओर फैल गई तो उससे विचलित होकर देवेन्द्र शक्र ने उस महासत्त्व की स्थिरता की परीक्षा के लिए उस जंगल में तपस्वियों के उपभोग योग्य समस्त फल-मूल क्रम से अन्तर्धान (=लोप) कर दिया। बोधिसत्त्व तो ध्यान में लीन रहते थे, बड़े ही संतोषी थे, आहार और अपने शरीर में आसक्त नहीं थे, अतः उन्होंने (फल-मूल) के अन्तर्धान के कारण का विचार नहीं किया। वे वृक्षों के नये पत्ते लेकर[1] उन (पत्तों) से अपने भोजन का काम निकाल कर तृप्त रहे, भोजन-विशेष के लिए उत्सुक नहीं हुए, स्वस्थ-चित्त रहकर उसी प्रकार विहार करते रहे।

संतोषियों के लिए कहीं भी आहार प्राप्त करना कठिन नहीं है। घास-पात और जलाशय कहाँ नहीं रहते?॥ ५॥

उनकी इस अवस्था से देवेन्द्र शक्र को बड़ा आश्चर्य हुआ। उनका व्रत बहुत स्थिर है यह सोचकर इसकी परीक्षा के लिए उस जंगल में ग्रीष्म ऋतु के पवन के समान समस्त तृण-तरुओं और लताओं को पत्तों से वियुक्त कर दिया। तब बोधिसत्त्व ने ताजे झड़े हुए पत्तों को बटोरकर, पानी में उबालकर उत्कण्ठा-रहित होकर खाया और ऐसे तृप्त हुए जैसे अमृत पिया हो। वे ध्यान-सुख से प्रसन्नचित्त होकर वहाँ विहार करने लगे।

विद्वानों में अभिमान न हो, धनियों में द्वेष न हो, वन-वासियों को संतोष हो, यह उनके गुणों की शोभा का उत्तम उपाय है॥ ६॥

अथ शक्रस्तेन तस्याद्भुतरूपेण संतोषस्थैर्येण समभिवृद्धविस्मयः सामर्ष इव तस्य महासत्त्वस्य व्रतकाले हुताग्निहोत्रस्य परिसमाप्तजप्यस्यातिथिजनदिदृक्षया व्यवलोकयतो ब्राह्मणरूपमास्थायातिथिरिव नाम भूत्वा पुरस्तात्प्रादुरभूत् । स प्रीतमनाः समभिगम्य चैनं बोधिसत्त्वः स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरेणाहारकालनिवेदनेनोपनिमन्त्रयामास । तूष्णींभावात्तु तस्याभिमतमुपनिमन्त्रणमवेत्य स महात्मा ।

दित्साप्रहर्षविकसन्नयनास्यशोभः
स्निग्धैर्मनःश्रुतिसुखैरभिनन्द्य वाक्यैः ।
कृच्छ्रोपलब्धमपि तच्छ्रपणं समस्तं
तस्मै ददौ स्वयमभूच्च मुदेव तृप्तः ॥ ७ ॥

स तथैव प्रविश्य ध्यानागारं तेनैव प्रीतिप्रामोद्येन तमहोरात्रमतिनामयामास॥ अथ शक्रस्तस्य द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमेऽपि चाहनि तथैव व्रतकाले पुरतः प्रादुरभूत् । सोऽपि चैनं प्रमुदिततरमनास्तथैव प्रतिपूजयामास ।

दानाभिलाषः साधूनां कृपाभ्यासविवर्धितः ।
नैति संकोचदीनत्वं दुःखैः प्राणान्तिकैरपि ॥ ८ ॥

अथ शक्रः परमविस्मयाविष्टहृदयस्तपःप्रकर्षादस्य प्रार्थनामात्रापेक्षं त्रिदशपतिलक्ष्मीसंपर्कमवगम्य समुत्पतितभयाशङ्कः स्वमेव वपुर्दिव्याद्भुतशोभमभिप्रपद्य तपःप्रयोजनमेनं पर्यपृच्छत् ।

बन्धून्प्रियानश्रुमुखान्विहाय परिग्रहान्सौख्यपरिग्रहांश्च ।
आशाङ्कुशं[1] नु व्यवसृज्य कुत्र तपःपरिक्लेशमिमं श्रितोऽसि ॥ ९ ॥

सुखोपपन्नान्परिभूय भोगाँच्छोकाकुलं बन्धुजनं च हित्वा ।
न हेतुनाल्पेन हि यान्ति धीराः सुखोपरोधीनि तपोवनानि ॥ १० ॥

वक्तव्यमेतन्मयि मन्यसे चेत्कौतूहलं नोऽर्हसि तद्विनेतुम् ।
किं नाम तद्यस्य गुणप्रवेशवशीकृतैवं भवतोऽपि बुद्धिः ॥ ११ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—श्रूयतां मार्ष यन्निमित्तोऽयं मम प्रयत्नः ।

पुनः पुनर्जातिरतीव दुःखं जराविपद्व्याधिविरूपताश्च ।
मर्तव्यमित्याकुलता च बुद्धेर्लोकानतस्त्रातुमिति स्थितोऽस्मि ॥ १२ ॥

---

१ पा० 'आशाङ्कुरं' ?

उसके संतोष की उस अद्भुत स्थिरता से इन्द्र का आश्चर्य बहुत बढ़ गया। जब वह महासत्त्व अग्निहोत्र में हवन कर चुके, जप समाप्त कर चुके और अतिथियों के दर्शन की इच्छा से चारों ओर दृष्टिपात करने लगे तब उनके व्रत-काल में मानो क्रोध के वशीभूत होकर ब्राह्मण-रूप-धारी अतिथि बन कर शक्र उनके सम्मुख प्रकट हुआ। प्रसन्न चित्त से उसके समीप जा कर बोधिसत्त्व ने स्वागत आदि प्रिय वचन कह कर आहार-काल की सूचना देते हुए उसे (भोजन के लिए) निमंत्रित किया। उसके चुप रहने से उसको निमंत्रण स्वीकार है ऐसा समझ कर—

दान देने के आनन्द से उस महात्मा की आँखों और मुख की शोभा खिलने लगी। उन्होंने मन और कानों को आनन्द देने वाले वचनों से अतिथि का अभिनन्दन किया, कष्ट-पूर्वक प्राप्त किये गये उस समस्त आहार (=उबाले हुए पत्तों) को उसे दे दिया और स्वयं मानो (दान-जन्य) आनन्द से ही तृप्त हो गये ॥ ७ ॥

उन्होंने उसी प्रकार अपने ध्यानागार में प्रवेश कर उतने ही आनन्द से उस दिवा-रात्रि को बिताया। तब शक्र दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें दिन भी व्रत-काल में उसी प्रकार उनके सम्मुख प्रकट हुआ और उन्होंने भी प्रसन्न चित्त से उसी प्रकार उसका अतिथि-सत्कार किया।

दयालुता के कारण सज्जनों की बढ़ी हुई दान देने की अभिलाषा प्राणान्तक दुःखों में भी क्षीण नहीं होती ॥ ८ ॥

इन्द्र का हृदय अत्यन्त आश्चर्य से भर गया। अतिशय तपस्या के कारण प्रार्थना करते ही उन्हें देवेन्द्र की लक्ष्मी प्राप्त होगी, यह सोच कर इन्द्र भयभीत हो गया। अपना दिव्य अद्भुत रूप धारण कर उसने उनसे तप का प्रयोजन पूछा—

"वह क्या है जिस पर आशा लगा कर आप रोते हुए प्रिय बन्धुओं परिजनों और सुख-भोगों को छोड़ कर इस तपस्या से क्लेश को उठा रहे हैं? ॥ ९ ॥

क्योंकि अनायास-प्राप्त भोगों को ठुकरा कर और शोकाकुल बन्धुओं को छोड़ कर धीर पुरुष किसी अल्प हेतु से सुख के बाधक तपोवनों में नहीं जाते ॥ १० ॥

यदि आप मुझसे कहने योग्य समझते हैं तो आप मेरा कुतूहल दूर कीजिये। वह कौन-सी वस्तु है जिसके गुणों ने प्रवेश कर आपकी भी बुद्धि को इस प्रकार वश में कर लिया है?" ॥ ११ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"श्रीमन् सुनिये कि इस मेरे प्रयत्न का क्या निमित्त है?

"बार-बार जन्म लेना अत्यन्त दुःखदायक है, रूप को कुरूप करने वाला बुढ़ापा मृत्यु और रोग अत्यन्त दुःखदायक हैं। 'मरना पड़ेगा' यह सोच कर ही बुद्धि व्याकुल हो जाती है। अतः प्राणियों की रक्षा करने के लिए मैं स्थित हूँ" ॥ १२ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रो नायमस्मद्गतां श्रियमभिकामयत इति समाश्वासितहृदयः सुभाषितेन तेन चाभिप्रसादितमतिर्युक्तमित्यभिपूज्य तदस्य वचनं वरप्रदानेन बोधिसत्त्वमुपनिमन्त्रयामास—

अत्र ते तापसजन प्रतिरूपे सुभाषिते।
ददामि काश्यप वरं तद्वृणीष्व यदिच्छसि ॥ १३ ॥

अथ बोधिसत्त्वो भवभोगसुखेष्वनास्थः प्रार्थनामेव दुःखमवगच्छन्सात्मीभूतसंतोषः शक्रमुवाच—

दातुमिच्छसि चेन्मह्यमनुग्रहकरं वरम्।
वृणे तस्मादहमिमं देवानां प्रवरं वरम् ॥ १४ ॥

दारान्मनोऽभिलषितांस्तनयान्प्रभुत्व-
मर्थानभीप्सितविशालतरांश्च लब्ध्वा।
येनाभितप्तमतिरेति न जातु तृप्तिं
लोभानलः स हृदयं मम नाभ्युपेयात् ॥ १५ ॥

अथ शक्रस्तया तस्य संतोषप्रवणमानसतया सुभाषिताभिव्यञ्जितया भूयस्या मात्रया संप्रसादितमतिः पुनर्बोधिसत्त्वं साधु साध्विति प्रशस्य वरेणोपच्छन्दयामास—

अत्रापि ते मुनिजन प्रतिरूपे सुभाषिते।
प्रतिप्राभृतवत्प्रीत्या प्रयच्छाम्यपरं वरम् ॥ १६ ॥

अथ बोधिसत्त्वः क्लेशवियोगस्यैव दुर्लभतामस्य प्रदर्शयन्वरयाच्ञापदेशेन पुनरप्यस्मै धर्मं देशयामास—

ददासि मे यदि वरं सद्गुणावास वासव।
वृणे तेनेममपरं देवेन्द्रानवरं वरम् ॥ १७ ॥

अर्थादपि भ्रंशमवाप्नुवन्ति वर्णप्रसादाद्यशसः सुखाच्च।
येनाभिभूता द्विषतेव सत्त्वाः स द्वेषवह्निर्मम दूरतः स्यात् ॥ १८ ॥

तच्छ्रुत्वा शक्रो देवानामधिपतिर्विस्मयवशात् साधु साध्वित्येनमभिप्रशस्य पुनरुवाच—

स्थाने प्रव्रजितान्कीर्तिरनुरक्तेव सेवते।
तद्वरं प्रतिगृह्णीष्व मदत्रापि सुभाषिते ॥ १९ ॥

अथ बोधिसत्त्वः क्लेशप्रातिकूल्यात् क्लिष्टसत्त्वसंपर्कविगर्हां व्रति[1]संप्रतिग्रहापदेशेन कुर्वन्नित्युवाच—

---

१ पा० 'वृति-'।

"ये हमारी लक्ष्मी की कामना नहीं करते" यह जान कर देवेन्द्र शक्र का हृदय आश्वस्त हुआ और उस सुभाषित (सदुक्ति) को सुन कर उसका चित्त प्रसन्न हुआ। देवेन्द्र ने 'युक्तियुक्त है' कह कर उनकी इस सूक्ति की प्रशंसा की और वरदान के लिए उन्हें निमंत्रित किया।

"तपस्वियों के[1] अनुरूप आपकी इस सदुक्ति के लिए, हे काश्यप, मैं आपको वर देता हूँ। आप जो चाहें सो माँगिये" ॥ १३ ॥

तब संसार के सुख-भोगों में अनासक्त और संतोष-परायण बोधिसत्त्व ने 'याचना' को दुःख समझते हुए शक्र से कहा—

"यदि आप मुझे अनुगृहीत करने के लिए वर देना चाहते हैं तो, मैं देवेन्द्र से यह वर माँगता हूँ—॥ १४ ॥

अभिलषित पुत्र कलत्र प्रभुत्व और इच्छित विपुल[2] धन पाकर जिस लोभानल (तृष्णा) से चित्त संतप्त होकर तृप्ति नहीं पाता है वह लोभानल मेरे हृदय के निकट न आवे" ॥ १५॥

तब उनके सुभाषित से संतोष की ओर उनके मन का झुकाव प्रकट होनेपर शक्र अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने 'साधु ! साधु !' कहकर बोधिसत्त्व की पुनः प्रशंसा की और वर ग्रहण करने के लिए उनसे प्रार्थना की।

"मुनियों के अनुरूप आप के इस सुभाषित के लिए भी[3] प्रति-उपहार के तौरपर दूसरा वर प्रसन्नतापूर्वक देता हूँ।" ॥ १६ ॥

क्लेशों (द्वेष आदि दोषों) से मुक्त होना कितना कठिन है, यह दिखाते हुए बोधिसत्त्व ने वर माँगने के बहाने फिर उसे धर्मोपदेश किया।

"हे सद्गुणों के निवास शक्र, यदि आप मुझे वर देते हैं तो मैं आप देवेन्द्र से यह दूसरा तुच्छ वर माँगता हूँ— ॥ १७ ॥

शत्रु के समान जिस द्वेषाग्नि से पीड़ित होकर लोग धन, सुख, कान्ति और कीर्ति से च्युत (=हीन) होते हैं वह द्वेषाग्नि मुझ से दूर रहे।" ॥ १८ ॥

यह सुनकर देवों का अधिपति शक्र विस्मित हुआ और 'साधु ! साधु ! कहकर उनकी प्रशंसा करते हुए पुनः कहा—

"ठीक ही अनुरक्ता स्त्री की भाँति कीर्ति प्रव्रजितों की सेवा करती है। अतः इस सुभाषित के लिए भी आप मुझ से वर लीजिये" ॥ १९ ॥

तब क्लेशों (दोषों) की प्रतिकूलता के कारण बोधिसत्त्व ने क्लेशों में आसक्त प्राणियों के सम्पर्क की निन्दा करते हुए वर ग्रहण करने के बहाने यह कहा—

शृणुयामपि नैव जातु बालं न च वीक्षेय न चैनमालपेयम् ।
न च तेन निवासखेददुःखं समुपेयां वरमित्यहं वृणे त्वाम् ॥ २० ॥

शक्र उवाच—

अनुकम्प्यो विशेषेण सतामापद्गतो ननु ।
आपदां मूलभूतत्वाद्बाल्यं चाधममिष्यते ॥ २१ ॥

करुणाश्रयभूतस्य बालस्यास्य विशेषतः ।
कृपालुरपि सन्कस्मान्न दर्शनमपीच्छसि ॥ २२ ॥

बोधिसत्त्व उवाच । अगत्या मार्ष । पश्यत्वत्रभवान् ।

कथंचिदपि शक्येत यदि बालश्चिकित्सितुम् ।
तद्धितोद्योगनिर्यत्नः कथं स्यादिति मद्विधः ॥ २३ ॥

इत्थं चैष चिकित्साप्रयोगस्यापात्रमिति गृह्यताम् ।

सुनयवदनयं नयत्ययं परमपि चात्र नियोक्तुमिच्छति ।
अनुचितविनयार्जवक्रमो हितमपि चाभिहितः प्रकुप्यति ॥ २४ ॥

इति पण्डितमानमोहदग्धे हितवादिष्वपि रोषरूक्षभावे ।
रभसे विनयाभियोगमान्द्याद्वद कस्तत्र हितार्पणाभ्युपायः ॥ २५ ॥

इत्यगत्या सुरश्रेष्ठ करुणाप्रवणैरपि ।
बालस्याद्रव्यभूतस्य न दर्शनमपीष्यते ॥ २६ ॥

तच्छ्रुत्वा शक्रः साधु साध्वित्येनमभिनन्द्य सुभाषिताभिप्रसादितमतिः पुनरुवाच—

न सुभाषितरत्नानामर्घः कश्चन विद्यते ।
कुसुमाञ्जलिवत्प्रीत्या ददाम्यत्रापि ते वरम् ॥ २७ ॥

अथ बोधिसत्त्वः सर्वावस्थासुखतां सज्जनस्य प्रदर्शयञ्छक्रमुवाच—

वीक्षेय धीरं शृणुयां च धीरं स्यान्मे निवासः सह तेन शक्र ।
संभाषणं तेन सहैव भूयादेतं वरं देववर प्रयच्छ ॥ २८ ॥

शक्र उवाच—अतिपक्षपात इव खलु ते धीरं प्रति । तदुच्यतां तावत्

किं नु धीरस्तवाकार्षीद्वद काश्यप कारणम् ।
अधीर इव येनासि धीरदर्शनलालसः ॥ २९ ॥

"मैं मूर्ख की वाणी न सुनूँ, मूर्ख को न देखूँ, उसके साथ बात-चीत न करूँ और उसके साथ रहने का कष्ट न उठाऊँ। यही वर मैं आप से माँगता हूँ।" ॥ २० ॥

शक्र ने कहा—

"जो विपत्ति में है वह सज्जनों की अनुकम्पा का विशेषरूप से पात्र है। मूर्खता विपत्तियों का मूल है, अतः वह अत्यन्त निकृष्ट है ॥ २१ ॥

मूर्ख कृपा का विशेषरूप से पात्र है। आप कृपालु होकर भी क्यों उसका दर्शन नहीं चाहते ?" ॥ २२ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"श्रीमन्, उपायहीनता के कारण। आप देखें—

यदि किसी प्रकार भी मूर्ख की चिकित्सा करना शक्य होता तो मुझ-सा व्यक्ति कैसे उसकी भलाई के लिए उद्योग करने के लिए प्रयत्नशील नहीं होता ? ॥ २३ ॥

उसके ऊपर चिकित्सा का प्रयोग हो नहीं सकता, यह आप मानें।

वह सुनीति (सुमार्ग) की तरह अनीति (कुमार्ग) का अनुसरण करता है और दूसरे को भी उस (अनीति) में लगाना चाहता है। नम्रता और सरलता से अपरिचित होने के कारण वह हित की बात कही जानेपर भी क्रुद्ध होता है ॥ २४ ॥

वह अपने को पण्डित मानकर भ्रम में रहता है और हित कहने वालों पर क्रोध करता है। नम्रता की ओर अग्रसर नहीं होने के कारण वह उद्धत रहता है। कहिये कि उसकी भलाई करने का क्या उपाय है ? ॥ २५ ॥

हे देवेन्द्र, उपाय के अभाव में दयालु पुरुष भी पात्रता से हीन मूर्ख का दर्शन नहीं चाहते" ॥ २६ ॥

यह सुनकर देवेन्द्र ने 'साधु, साधु' कहकर उनका अभिनन्दन किया और सुभाषित से प्रसन्नचित होकर पुनः कहा—

"सुभाषितरूपी रत्नों का कोई मूल्य नहीं है (वे अमूल्य हैं)। इनके लिए भी कुसुमाञ्जलि (पूजा के फूल) के तौर पर आनन्द से आपको वर देता हूँ।" ॥ २७ ॥

"सज्जन सब अवस्थाओं में सुख-दायक है," यह दिखलाते हुए बोधिसत्त्व ने शक्र से कहा—

"हे शक्र, मैं धीर पुरुष को देखूँ, उसकी वाणी सुनूँ, उसके साथ रहूँ, उसके साथ बात-चीत करूँ। हे देवेन्द्र, मुझे यही वर दीजिये।" ॥ २८ ॥

शक्र ने कहा—"धीर के प्रति आपका बड़ा पक्षपात जान पड़ता है। बतलाइये—

धीर ने आपका क्या (उपकार) किया है ? हे काश्यप, कहिये क्या कारण है कि आप धीर के दर्शन की लालसा से अधीर-से हो रहे हैं ?" ॥ २९ ॥

अथ बोधिसत्त्वः सज्जनमाहात्म्यमस्य प्रदर्शयन्नुवाच—श्रूयतां मार्ष, येन मे धीरदर्शनमेवाभिलषते मतिः।

व्रजति गुणपथेन च स्वयं नयति परानपि तेन वर्त्मना।
वचनमपि न रूक्षमक्षमां जनयति तस्य हितोपसंहितम्॥ ३०॥

अशठविनयभूषणः सदा हितमिति लम्भयितुं स शक्यते।
इति मम गुणपक्षपातिनी नमति मतिर्गुणपक्षपातिनि॥ ३१॥

अथैनं शक्रः साधूपपन्नरूपमिदमिति चाभिनन्द्य समभिवृद्धप्रसादः पुनर्वरेणोपनिमन्त्रयामास।

कामं संतोषसात्मत्वात्सर्वत्र कृतमेव ते।
मदनुग्रहबुद्ध्या तु ग्रहीतुं वरमर्हसि॥ ३२॥

उपकाराशया भक्त्या शक्त्या चैव समस्तया।
प्रयुक्तस्यातिदुःखो हि प्रणयस्याप्रतिग्रहः॥ ३३॥

अथ तस्य परामुपकर्तुकामतामवेक्ष्य बोधिसत्त्वस्तत्प्रियहितकामतया प्रदानानुतर्षप्राबल्यमस्मै प्रकाशयन्नुवाच—

त्वदीयमन्न क्षयदोषवर्जितं मनश्च दित्साप्रतिपत्तिपेशलम्।
विशुद्धशीलाभरणाश्च याचका मम स्युरेतां वरसंपद वृणे॥ ३४॥

शक्र उवाच—सुभाषितरत्नाकरः खल्वत्रभवान्। अपि च—

यदभिप्रार्थितं सर्वं तत्तथैव भविष्यति।
ददामि च पुनस्तुभ्यं वरमस्मिन्सुभाषिते॥ ३५॥

बोधिसत्त्व उवाच—

वरं ममानुग्रहसंपदाकरं ददासि चेत्सर्वदिवौकसां वर।
न माभ्युपेयाः पुनरित्यभिज्वलन्निमं वर दैत्यनिसूदनं वृणे॥ ३६॥

अथ शक्रः सामर्षवदेनमतिविस्मयमान उवाच—मा तावद्भोः!

जपव्रतेज्याविधिना तपःश्रमैर्जनोऽयमन्विच्छति दर्शनं मम।
भवान्पुनर्नेच्छति केन हेतुना वरप्रदित्साभिगतस्य मे सतः॥ ३७॥

बोधिसत्त्व उवाच—अल ते मन्युप्रणयेन। समनुनेष्याम्यहमत्रभवन्तं देवराज! न ह्यसावदाक्षिण्यानुवृत्तिर्न चाप्यबहुमानविचेष्टितमसमवधानकाम्यता वा भवति भवताम्। किं तु

बोधिसत्त्व ने उन्हें सज्जन का माहात्म्य दिखलाते हुए कहा—"श्रीमन्! सुनिये कि किस कारण से मेरा मन धीर पुरुष का ही दर्शन करना चाहता है।

वह स्वयं सुमार्ग पर चलता है और दूसरों को भी उस मार्ग पर ले जाता है। रूखा और हितकारी वचन भी उसे विचलित (धैर्य-च्युत) नहीं कर सकता॥ ३०॥

वह सदा सज्जनोचित विनय से विभूषित रहता है, अतः उससे हित ग्रहण कराया जा सकता है। यही कारण है कि गुणों का पक्षपाती मेरा मन गुणों के पक्षपाती धीर की ओर आकृष्ट होता है" ॥ ३१ ॥

"ठीक है, युक्ति-युक्त है" कहकर शक्र ने उनका अभिनन्दन किया और अत्यधिक प्रसन्न होकर पुनः वर-ग्रहण के लिए उनसे प्रार्थना की।

"अवश्य ही आप संतोषात्मा ने सब कुछ प्राप्त कर लिया है, तथा मेरे अपर अनुग्रह करने के विचार से आप वर ग्रहण करें॥ ३२॥

उपकार करने के विचार से यदि कोई यथाशक्ति यथाभक्ति, कुछ प्रेम प्रकट करे (प्रेमोपहार स्वीकार करने के लिए प्रार्थना करे) और यदि वह स्वीकृत न हो तो इससे बहुत दुःख होता है।" ॥ ३३॥

तब उसकी उपकार करने की प्रबल कामना देखकर बोधिसत्त्व ने उसका प्रिय और हित करने की कामना से दान देने की उत्कट इच्छा प्रकाशित करते हुए उससे कहा—

"मुझे कभी क्षीण नहीं होने वाला आपका अन्न हो, दान देने के लिए कोमल मन हो, विशुद्ध शील से विभूषित (=सदाचारी) याचक हों, मैं यहीं वर माँगता हूँ।" ॥ ३४॥

शक्र ने कहा—"आप पूज्य, सुभाषितों के रत्नाकर हैं। और भी—

आपने जो कुछ माँगा वह सब उसी प्रकार होगा। इस सुभाषित के लिए मैं आपको पुनः वर देता हूँ।" ॥ ३५॥

बोधिसत्त्व ने कहा—

"यदि मुझे अनुगृहीत करने के लिए, हे देवेन्द्र, आप वर देना चाहते हैं तो इस दीप्त रूप में आप पुनः मेरे समीप न आवें। हे दैत्यनिषूदन, मैं यही वर माँगता हूँ।" ॥ ३६॥

तब शक्र ने मानो क्रोध में आकर विस्मित होते हुए कहा—"आप ऐसा न कहें।

जप तप व्रत और यज्ञ द्वारा लोग मेरा दर्शन चाहते हैं। मैं वर देने की इच्छा से आया हूँ और आप मेरा दर्शन नहीं चाहते। सो क्यों?" ॥ ३७॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"आप क्रोध न करें। हे देवराज, मैं आप पूज्य से अनुनय करूँगा। यह मेरे में शिष्टाचार का[1] अभाव नहीं है, यह आपका तिरस्कार या उपेक्षा नहीं है। किंतु,

---

१. दाक्षिण्य=सरलता, अनुकूलता, विनम्रता, शिष्टाचार।

निरीक्ष्य ते रूपममानुषाद्भुतं प्रसन्नकान्ति ज्वलितं च तेजसा ।
भवेत्प्रमादस्तपसीति मे भयं प्रसादसौम्यादपि दर्शनात्तव ॥ ३८ ॥

अथ शक्रः प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य चैनं तत्रैवान्तर्दधे । प्रभातायां च रजन्यां बोधिसत्त्वः शक्रप्रभावोपहृतं प्रभूतं दिव्यमन्नपानं ददर्श । शक्रोपनिमन्त्रणाहूतानि चानेकानि प्रत्येकबुद्धशतानि व्यायताबद्धपरिकरांश्च परिवेषणसज्जाननेकांश्च देवकुमारान् ।

तेनान्नपानविधिना स मुनिर्महर्षीन्
संतर्पयन्मुदमुदारतरामवाप ।
वृत्त्या च तापसजनोचितयाभिरेमे
ध्यानाप्रमाणनियमेन शमेन चैव ॥ ३९ ॥

तदेवं तपोवनस्थानामप्यलंकारस्त्यागशौर्यं प्रागेव गृहस्थानामिति त्यागशौर्येणालंकर्तव्य एवात्मा सत्पुरुषेणेति ॥ दानपतिसंप्रहर्षणायामप्युन्नेयं लोभद्वेषमोहबाल्यविगर्हायां कल्याणमित्रसंपर्कगुणे संतोषकथायां तथागतमाहात्म्ये च । एवं पूर्वजन्मस्वपि सुभाषितरत्नातिशयाकरः स भगवान् प्रागेव संबुद्ध इति ॥

इत्यगस्त्य-जातकं सप्तमम् ।

८. मैत्रीबल-जातकम्

न परदुःखातुराः स्वसुखमवेक्षन्ते महाकारुणिकाः । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल स्वमाहात्म्यकारुण्याभिप्रपन्नो जगत्परित्राणाध्याशयः, प्रदानदमनियमसौरत्यादिभिर्लोकानुग्रहानुकूलैर्गुणातिशयैरभिवर्धमानः सर्वसत्त्वमैत्रमना मैत्रबलो नाम राजा बभूव ।

दुःखं सुखं वा यदभूत्प्रजानां तस्यापि राज्ञस्तदभूत्तथैव ।
अतः प्रजारक्षणदक्षिणोऽसौ शस्त्रं च शास्त्रं च परामर्श ॥ १ ॥

नरेन्द्रचूडाधृतशासनस्य तस्य त्वलङ्कारवदास शस्त्रम् ।
विस्पष्टरूपं ददृशे च शास्त्रं नयेषु लोकस्य हितोदयेषु ॥ २ ॥

विनिग्रहप्रग्रहयोः प्रवृत्तिर्धर्मोपरोधं न चकार तस्य ।
हिताशयत्वान्नयनैपुणाच्च परीक्षकस्येव पितुः प्रजासु ॥ ३ ॥

आपके दिव्य अद्भुत विमल और दीप्त रूप को देखकर कहीं मैं तपस्या में प्रमाद न कर बैठूँ, इसी लिए आपके विमल ओर सौम्य रूप के भी दर्शन से मुझे भय हो रहा है" ॥ ३८ ॥

तब शक्र उन्हें प्रणाम कर और उनकी प्रदक्षिणा कर वहीं अन्तर्धान हो गया। रात के बीतने पर प्रातःकाल में बोधिसत्त्व ने शक्र के प्रभाव से लाये गये प्रचुर दिव्य अन्न-पान, शक्र के निवेदन पर बुलाये गये अनेक शत प्रत्येकबुद्धों, तथा कटि बद्ध होकर भोजन परोसने के लिए उद्यत अनेक देव-कुमारों को देखा।

उस अन्न-पान के द्वारा महर्षियों को तृप्त करते हुए वह मुनि अत्यन्त आनन्दित हुए और स्वयं तपस्वियों के योग्य वृत्ति (=आहार), ध्यान-नियम और शान्ति से ही प्रसन्न रहे ॥ ३९ ॥

इस प्रकार त्याग-वीरता तपोवन में रहने वालों के लिए भी अलंकार है, गृहस्थों के लिए तो पहले ही। यह देखकर सत्पुरुष अपने को त्याग-वीरता से अलंकृत करे। दान-पति को प्रफुल्लित करने में[1], लोभ द्वेष मोह और मूर्खता की निन्दा करने में, कल्याण-मित्र की संगति का गुण-गान करने में, संतोष की कथा कहने में और तथागत का माहात्म्य बतलाने में यह दृष्टान्त उपस्थित करना चाहिए। इस प्रकार अपने पूर्व-जन्मों में भी वह भगवान् सुभाषितों के रत्नाकर थे, फिर बुद्ध होने पर क्या कहना।

अगस्त्य-जातक सप्तम समाप्त।

---

८. मैत्रीबल-जातक

दूसरों के दुःख से दुःखी होने वाले अत्यन्त दयालु मनुष्य अपने सुख को परवाह नहीं करते हैं। ऐसी अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व एक बार मैत्रबल नामक राजा हुए। सब प्राणियों के प्रति उनके मन में मैत्री-भावना थी। वह महात्मा और दयालु थे। संसार के कल्याण में दत्तचित्त थे। दान दम नियम धर्मानुराग आदि लोकोपकारी सद्गुणों से उनकी वृद्धि हो रही थी।

दुःख या सुख जो कुछ प्रजा को होता था वह उसी प्रकार उनको भी (अनुभव) होता था; अतः प्रजा की रक्षा करने में निपुण उन राजा ने शस्त्र और शास्त्र का खयाल किया ॥ १ ॥

राजा लोग मुकुट झुकाकर उनकी आज्ञा पालन करते थे, अतः उनका शस्त्र अलंकार के समान (केवल शोभा के लिए) था; किंतु शास्त्र का लोकोपकारी कार्यों के लिए अच्छी तरह अवलोकन किया जाता था ॥ २ ॥

उनको दण्ड देने और अनुग्रह करने की प्रवृत्ति से धर्म में बाधा नहीं हुई। क्योंकि अपनी हितैषिता और नीति-निपुणता के कारण (गुण-दोषों के) परीक्षक पिता के समान वह प्रजाओं के प्रति (उचित व्यवहार करते) थे ॥ ३ ॥

---

१. दे० 'दायकजनसमुत्तेजनायां'—मैत्रीबलजातक के अन्त में।

तस्यैवं धर्मेण प्रजाः पालयतः सत्यत्यागोपशमप्रज्ञादिभिश्च परहितपरिणामनात्सविशेषोदात्तक्रमैर्बोधिसम्भारविधिभिरभिवर्धमानस्य कदाचित्कस्मिंश्चिदपराधे यक्षाणामधिपतिना स्वविषयात्प्रवाजिता ओजोहाराः पञ्च यक्षाः परवधदक्षास्तद्विषयमभिजग्मुः। व्यपगतसर्वोपद्रवत्वाच्च नित्यप्रवृत्तविविधोत्सवं परया सम्पदा समुपेतरूपं प्रमुदिततुष्टपुष्टजनमभिसमीक्ष्य तद्विषयं तन्निवसिनां पुरुषाणामोजांस्यपहर्तुं तेषामभिलाषो बभूव ।

ते परेणापि यत्नेन सम्प्रवृत्ताः स्वकर्मणि ।
नैव तद्विषयस्थानां हर्तुमोजः प्रलेहिरे ॥ ४ ॥

तस्य प्रभावातिशयान्नृपस्य ममेति यत्रैव बभूव बुद्धिः ।
सैवास्य रक्षा परमास तस्मादोजांसि हर्तुं न विषेहिरे ते ॥ ५ ॥

यदा च परमपि प्रयत्नं कुर्वन्तो नैव शक्नुवन्ति स्म कस्यचिद्विषयनिवासिनो जनस्यौजोऽपहर्तुमथ तेषां परस्परमवेक्ष्यैतदभूत् । किं नु खल्विदं मार्षाः !

अस्मत्प्रभावप्रतिघातयोग्या विद्यातपःसिद्धिमया विशेषाः ।
न सन्ति चैषामथ चाद्य सर्वे व्यर्थाभिधानत्वमुपागताः स्मः ॥ ६ ॥

अथ ते यक्षा ब्राह्मणवर्णमात्मानमभिनिर्माय समनुचरन्तो ददृशुः प्रत्यरण्यचरमन्यतमं गोपालकं सशाद्वले छायाद्रुममूले सोपानत्कं संनिषण्णं सपल्लवैर्वनतरुकुसुमैर्विरचितां मालामुद्वहन्तं दक्षिणतो विन्यस्तदण्डपरशुमेकाकिनं रज्जुवर्तनव्यापृतं प्रक्ष्वेडितविलासेन गायन्तमासीनं समुपेत्य चैनमूचुः—थथथददकाकाकाका । भो गवां संरक्षाधिकृत ! एवं विविक्ते निर्जनसम्पातेऽस्मिन्नरण्ये विचरन्नेवमेकाकी कथं न बिभेषीति । स तानालोक्याब्रवीत्—कुतो वा भेतव्यमिति । यक्षा ऊचुः—किं त्वया न श्रुतपूर्वा यक्षराक्षसानां पिशाचानां वा निसर्गरौद्रा प्रकृतिरिति ।

सहायमध्येऽपि हि वर्तमानो विद्यातपःस्वस्त्ययनैरुपेतः ।
येभ्यः कथञ्चित्परिमोक्षमेति शौर्यादवज्ञातभयोऽपि लोकः ॥ ७ ॥

तेभ्यो नृमेदःपिशिताशनेभ्यः कथं भयं तेऽस्ति न राक्षसेभ्यः ।
विविक्तगम्भीरभयानकेषु सहायहीनस्य वनान्तरेषु ॥ ८ ॥

इत्युक्ते स गोपालकः प्रहस्यैनानुवाच—

जनः स्वस्त्ययनेनायं महता परिपाल्यते ।
देवेन्द्रेणाप्यशक्योऽयं किं पुनः पिशिताशनैः ॥ ९ ॥

जब वह इस प्रकार धर्मानुसार प्रजा का पालन कर रहे थे और सत्य त्याग शान्ति प्रज्ञा आदि द्वारा दूसरों की भलाई करते हुए बोधि-प्राप्ति के लिए आवश्यक पुण्य कर्मों की वृद्धि कर रहे थे, तब एक बार यक्षों के अधिपति (कुबेर) द्वारा किसी अपराध में अपने देश से निर्वासित होकर पाँच यक्ष उस राज्य में आये। वे (प्राणियों के) ओज (=तेज) हरण करनेवाले और दूसरों का वध करने में निपुण थे। यह राज्य सब प्रकार के उपद्रवों से रहित और अत्यन्त समृद्धिशाली है, यहाँ नित्य भाँति भाँति के उत्सव होते हैं, लोग हृष्ट-पुष्ट और संतुष्ट हैं, यह देखकर उस देश में रहनेवाले मनुष्यों का ओज हरण करने की उनको इच्छा हुई।

वे बड़े यत्न से अपने कार्य में लग गये, किन्तु उस देश के लोगों का ओज अपहरण न कर सके ॥ ४ ॥

वह राजा इतने बड़े प्रभावशाली (पुण्यात्मा) थे कि 'यह (देश) मेरा है' उनका यह विचारमात्र ही उस (देश) का परम रक्षक सिद्ध हुआ, इसलिए वे ओज अपहरण न कर सके ॥ ५ ॥

जब बहुत यत्न करके भी वे उस देश में रहनेवाले किसी भी आदमी का तेज अपहरण न कर सके, तब एक दूसरे को देखते हुए उनके मन में हुआ--"तात, ऐसा क्यों हो रहा है ?

हमारे प्रभाव में रुकावट डालने योग्य विद्या तपस्या या सिद्धि का उत्कर्ष तो इनमें है नहीं, फिर भी आज हमलोगों का (ओजोहार) नाम व्यर्थ हो गया।" ॥ ६ ॥

तब ब्राह्मण का रूप बनाकर विचरते हुए उन यक्षों ने एक वनचारी गोपालक (ग्वाले) को छाँहदार वृक्ष के मूल में हरी दूब पर बैठा हुआ देखा। वह जूते पहने हुए था तथा जंगली वृक्षों के फूलों और पल्लवों से बनी माला धारण कर रहा था। अपनी दाईं ओर लाठी और कुल्हाड़ी रखकर वह अकेला ही रस्सी बाँटने में लगा हुआ था और स्वर-कम्प के साथ गीत गा रहा था। इस प्रकार उस बैठे हुए के पास जाकर उन्होंने कहा—"थ थ थ द द का का का का[1]। हे गो-रक्षक, इस एकान्त और निर्जन वन में अकेला विचरता तू भय-भीत क्यों नहीं हो रहा है ?" उसने उन लोगों को देखकर कहा—"किससे भय-भीत होऊँ ?" यक्षों ने कहा—"क्या तूने पहले नहीं सुना कि यक्षों राक्षसों और पिशाचों की प्रकृति स्वभाव से ही क्रूर होती है ?

जो सहायकों के बीच रहते हैं, विद्या तपस्या और स्वस्त्ययनों (तन्त्र-मन्त्र, मङ्गल-कर्मों) से युक्त हैं तथा जो अपनी शूरता के कारण भय की परवाह नहीं करते वे लोग भी मनुष्यों की चर्बी और मांस खानेवाले जिन राक्षसों से किसी किसी तरह ही छुटकारा पाते हैं, उन राक्षसों से इन एकान्त गम्भीर और भयानक जंगलों में तुझ असहाय को भय क्यों नहीं होता है ?" ॥ ७-८ ॥

यह सुनकर उस ग्वाले ने हँसते हुए उन्हें कहा—"इस देश के लोग महास्वस्त्ययन (महान् रक्षक) के द्वारा परिपालित हैं, इसलिए इन्द्र का भी उनपर कुछ वश नहीं चल सकता, फिर मांस-भक्षी राक्षसों का क्या कहना ? ॥ ९ ॥

तेन गेह इवारण्ये रात्रावपि यथा दिवा।
जनान्त इव चैकोऽपि निर्भयो विचराम्यहम् ॥ १० ॥

अथैनं ते यक्षाः कुतूहलप्राबल्यात्सादरमुत्साहयन्त इवोचुः—

तत्कथय कथय तावद्भद्र कीदृशोऽयं युष्माकं स्वस्त्ययनविशेष इति। स तान्प्रहसन्नुवाच—श्रूयतां यादृशोऽयमस्माकमत्यद्भुतः स्वस्त्ययनविशेषः।

कनकगिरिशिलाविशालवक्षाः शरदमलेन्दुमनोज्ञवक्त्रशोभः।
कनकपरिघपीनलम्बबाहुर्वृषभनिभेक्षणविक्रमो नरेन्द्रः ॥ ११ ॥

ईदृशोऽस्माकं स्वस्त्ययनविशेषः। इत्युक्त्वा सामर्षविस्मयस्तान्यक्षानवेक्षमाणः पुनरुवाच—आश्चर्यं वतेदम्।

एवं प्रकाशो नृपतिप्रभावः कथं नु वः श्रोत्रपथं न यातः।
अत्यद्भुतत्वादथवा श्रुतोऽपि भवत्सु विप्रत्ययतो न रूढः ॥ १२ ॥

शङ्के गुणान्वेषणविक्लवो वा देशी जनोऽसावकुतूहलो वा।
विवर्जितो भाग्यपरिक्षयाद्वा कीर्त्या नरेन्द्रस्य यतोऽभ्युपैति ॥ १३ ॥

तदस्ति वो भाग्यशेषं यत्तादृशाद्देशकान्तारादिहागताः स्थ। यक्षा ऊचुः—भद्रमुख! कथय किंकृतोऽयमस्य राज्ञः प्रभावो यदस्यामानुषा न प्रसहन्ते विषयवासिनं जनं हिंसितुमिति। गोपालक उवाच—स्वमाहात्म्याधिगतः प्रभावोऽयमस्माकं महाराजस्य। पश्यत महाब्राह्मणाः!

मैत्री तस्य बलं ध्वजाग्रशबलं त्वाचारमात्रं बलं
नाऽसौ वेत्ति रुषं न चाऽऽह परुषं सम्यक् च गां रक्षति।
धर्मस्तस्य नयो न नीति नकृतिः पूजार्थमर्थः सता-
मित्याश्चर्यमयोऽपि दुर्जनधनं गर्वं च नालम्बते ॥ १४ ॥

एवमादिगुणशतसमुदितोऽयमस्माकं स्वामी। तेनास्य न प्रसहन्ते विषयनिवासिनं जनं हिंसितुमुपद्रवाः। अपि च। कियदहं वः शक्ष्यामि वक्तुम्। नृपतिगुणश्रवणकौतूहलैस्तु भवद्भिर्नगरमेव युक्तं प्रवेष्टुं स्यात्। तत्र हि भवन्तः स्वधर्मानुरागाद्व्यवस्थितार्यमर्यादं नित्यक्षेमसुभिक्षत्वात्प्रमुदितसमृद्धमनुद्धतोदात्तवेषमभ्यागतातिथिजनविशेषवत्सलं नृपतिगुणाक्षिप्तहृदयं तत्कीर्त्याश्रयाः स्तुतीर्मङ्गलमिव स्वस्त्ययनमिव च प्रहर्षादभ्यस्यन्तं जनं दृष्ट्वा राज्ञो गुण-

इसलिए इस जंगल में वैसे ही जैसे कि अपने घर में, रात्रि में भी जैसे कि दिन में, अकेला भी जैसे कि जन-समुदाय के बीच, निर्भय विचरता हूँ।" ॥ १० ॥

उन यक्षों ने कुतूहल की प्रबलता के कारण उसे आदर के साथ मानों उत्साहित करते हुए कहा—"हे भद्र, कहो कहो तुम्हारा यह कौन-सा स्वस्त्ययन-विशेष (विशिष्ट रक्षक) है ?" उसने हँसते हुए उन्हें कहा—"हमारा यह अत्यन्त अद्भुत स्वस्त्ययन-विशेष जैसा है सो सुनिये।

सुवर्ण-पर्वत की शिला के समान विशाल वक्षःस्थलवाला, शरद् ऋतु के विमल चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाला, सुवर्ण-दण्ड के समान मोटी और लम्बी बाहुओंवाला, साँड़ की-सी दृष्टि और पराक्रम वाला हमारा राजा, ॥ ११ ॥

यही है हमारा परम स्वस्त्ययन।" इतना कहकर रोष और विस्मय के साथ उन यक्षों को देखते हुए उसने पुनः कहा—"यह कितना आश्चर्य है ?

राजा का प्रभाव इतना प्रकट है और आपलोगों ने सुना नहीं, यह कैसे ? या यदि सुना भी तो अति अद्भुत होने के कारण आप को विश्वास ही नहीं हुआ ॥ १२ ॥

मैं समझता हूँ, उस देश के लोग, जहाँ से कि आप आये हैं, सद्गुणों की खोज करने में असमर्थ हैं, या इसमें उनका कुतूहल ही नहीं है, या अपने भाग्य (पुण्य-कर्मों) के क्षीण होने से राजा की कीर्ति (सुनने) से वञ्चित हैं ॥ १३ ॥

किन्तु आप लोगों का भाग्य (पुण्य) अभी कुछ बचा हुआ है जो आप उस जंगली देश से यहाँ आ गये हैं।" यक्षों ने कहा—"भद्रमुख, कहो किस कारण से राजा का ऐसा प्रभाव है जो यक्ष-राक्षस आदि उनके राज्य में रहने वाले किसी व्यक्ति की हिंसा नहीं कर सकते ?" गोपालक ने उत्तर दिया—"हमारे महाराज ने अपने माहात्म्य से यह प्रभाव प्राप्त किया है। हे महाब्राह्मण, देखो।

मैत्री ही उनका बल है, पताकाओं से रंग-बिरंग सैन्यबल तो आचार की रक्षा के लिये है, वह क्रोध से अनभिज्ञ हैं, कठोर वचन नहीं कहते और पृथ्वी की सम्यक् रक्षा करते हैं। धर्म ही उनका नेता है, न कि नीच राजनीति। उनका धन सज्जनों की पूजा के लिये है। इतने आश्चर्यमय होने पर भी वह दुर्जनों की सम्पत्ति[1] नहीं लेते हैं और न अभिमान ही करते हैं ॥ १४ ॥

ऐसे सैकड़ों गुणों से युक्त हैं हमारे ये स्वामी। इसीलिये इनके राज्य में रहनेवाले मनुष्य की हिंसा (यक्ष आदि) उपद्रवकारी नहीं कर सकते। और भी। मैं कहाँ तक बतला सकूँगा ? यदि आपको राजा के सद्गुण सुनने का कुतूहल है तो नगर में जाना ही उचित होगा। वहाँ आप देखेंगे कि अपने धर्म से अनुराग करनेवाली जनता आर्य-मर्यादा की रक्षा करती है, नित्य कुशल-क्षेम और अन्न की प्रचुरता के कारण वह प्रसन्न और समृद्धिशाली है, विनम्र और उत्तम वेष धारण करती है, आगत अतिथियों से खूब स्नेह करती है और राजा के गुणों से मुग्ध है। आनन्द से उनकी कीर्ति-परक स्तुतियों का गान करती है, जैसे मंगलाचरण और

विस्तरमनुमास्यन्ते । सत्यां च गुणबहुमानोद्भावनायां तद्दिदृक्षया यूयमवश्यं तद्गुणप्रत्यक्षिणो भविष्यथेति । अथ ते यक्षाः स्वप्रभावप्रतिघातात्तस्मिन्राजनि सामर्षहृदया भावप्रयुक्तयापि युक्त्या तया तद्गुणकथया नैव मार्दवमुपजग्मुः ।

प्रायेण खलु मन्दानाममर्षज्वलितं मनः ।
यस्मिन्वस्तुनि तत्कीर्त्या तद्विशेषेण दह्यते ॥ १५ ॥

प्रदानप्रियतां तु समभिवीक्ष्य तस्य राज्ञस्ते यक्षास्तदपकारचिकीर्षवः समभिगम्य राजानं सन्दर्शनकाले भोजनमयाचन्त । अथ स राजा प्रमुदितमनास्तदधिकृतान्पुरुषान्समादिदेश—क्षिप्रममिरुचितं भोजनं ब्राह्मणेभ्यो दीयतामिति । अथ ते यक्षाः समुपहृतं राजार्हमपि भोजनं हरिततृणमिव व्याघ्रा नैव प्रत्यगृह्णन्नैवंविधं भोजनं वयमश्नीम इति । तच्छ्रुत्वा स राजा समभिगम्यैनानब्रवीत् अथ कीदृशं भोजनं युष्माकमुपशेते । यावत्तादृशमन्विष्यतामिति । यक्षा ऊचुः—

प्रत्यग्रोष्माणि मांसानि नराणां रुधिराणि च ।
इत्यन्नपानं पद्माक्ष ! यक्षाणामक्षतव्रत ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा दंष्ट्राकरालवदनानि दीप्त-पिङ्गल केकर-रौद्रनयनानि स्फुटितचिपिटविरूपघोणानि ज्वलदनलकपिलकेशश्मश्रूणि सजलजलधरान्धकाराणि विकृतभीषणानि स्वान्येव वपूंषि प्रत्यपद्यन्त । समभिवीक्ष्य चैनान्स राजा पिशाचाः खल्विमे न मानुषास्तेनास्मदीयमन्नपानं नाभिलषन्तीति निश्चयमुपजगाम ।

अथ तस्य नरेन्द्रस्य प्रकृत्या करुणात्मनः ।
भूयसी करुणा तेषु समभूच्छुद्धचेतसः ॥ १७ ॥

करुणैकतानहृदयश्च तान्यक्षाननुशोचन्नियतमीदृशमर्थं चिन्तयामास ।

दयावतस्तावदिदमन्नपानं सुदुर्लभम् ।
प्रत्यहं च तदन्वेष्यं किन्नु दुःखमतः परम् ॥ १८ ॥

निर्दयस्याप्यशक्तस्य विघातैकरसः श्रमः ।
शक्तस्याप्यहिताभ्यासात् किंस्वित्कष्टतरं ततः ॥ १९ ॥

एवंविधाहारपरायणानां कारुण्यशून्याशिवमानसानाम् ।
प्रत्याहमेषां दहतां स्वमर्थं दुःखानि यास्यन्ति कदा नु नाशम् ॥ २० ॥

तत्कथमिदानीमहमेषामीदृशाहारसम्पादनादेकाहमपि तावत्परहिंसाप्राणविघातं कुर्याम् ।

स्वस्ति-वाचन का पाठ कर रही हो। यह सब देखकर आप राजा की गुण-राशि का अनुमान करेंगे। उनके सद्गुणों के प्रति सम्मान-भाव उत्पन्न होनेपर आप को उनके दर्शन की अभिलाषा होगी और आप अपनी आँखों से उनके गुणों को देखेंगे। अपने प्रभाव (कार्य) में रुकावट होने के कारण राजा के प्रति उन यक्षों के मन में क्रोध था, इसलिये सद्भावपूर्वक कहे गये राजा के गुणों के सच्चे वृत्तान्त को सुनकर भी उनके मन से निष्ठुरता नहीं गई।

प्रायः ऐसा होता है कि जिस वस्तु के प्रति मूर्खों का मन क्रोध से प्रज्वलित होता है उसकी कीर्ति सुनकर वह और भी दग्ध होता है ॥ १५ ॥

राजा की दान-प्रियता देखकर, यक्षों ने उनका अपकार करने की इच्छा से दर्शन-काल में उनके समीप जाकर भोजन माँगा। राजा ने प्रसन्न मन से भोजन के अधिकारी पुरुषों को आदेश दिया—"इन ब्राह्मणों को शीघ्र स्वादिष्ठ भोजन दीजिये।" उन यक्षों के लिए लाया गया भोजन राजा के (खाने के) योग्य होने पर भी उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया, जैसे बाघ हरी घास को ग्रहण नहीं करते। यक्षों ने कहा—"हम ऐसा खाना नहीं खाते हैं।" यह सुनकर राजा ने उनके पास जाकर पूछा—"तब किस प्रकार का भोजन आपके (पाचन या रुचि) के अनुकूल पड़ता है ? बतलाइये जिसमें उसकी खोज की जाय।" यक्षों ने उत्तर दिया—

"हे कमल-नयन, हे अखण्ड-व्रत, मनुष्यों का ताजा मांस और गर्म रुधिर—यही तो यक्षों का खाना और पीना है" ॥ १६ ॥

इतना कहकर उन्होंने अपने विकृत और भयंकर रूप धारण कर लिये। बड़े-बड़े दाँतों से उनके मुख विकराल लगते थे। उनके नेत्र लाल पीले टेढ़े और भयंकर थे। उनकी नाकें खूब खुली हुई, चिपटी और कुरूप थीं। उनकी मूँछ, दाढ़ी और केश आग की लपटों के समान भूरे थे। उनके शरीर जल से भरे हुए बादल के समान काले थे। उन्हें देखकर राजा को निश्चय हो गया—"ये मनुष्य नहीं पिशाच हैं, इसीलिये हमारा भोजन इन्हें पसन्द नहीं है।"

तब स्वभाव से ही दयालु उस राजा के निर्मल मन में उनके प्रति बड़ी दया हुई ॥ १७ ॥

तब उन यक्षों के लिये शोक करते हुये दयार्द्रहृदय राजा ने इस प्रकार चिन्तन किया—

"जो दयालु है उसके लिए यह अन्न-पान (नर-मांस और रुधिर) प्राप्त करना कठिन है, प्रतिदिन इसकी खोज करनी पड़ेगी, इससे बढ़कर दुःख क्या हो सकता है ? ॥ १८ ॥

जो निर्दय है वह यदि (ऐसा-अन्न-पान प्राप्त करने में) असमर्थ है तो उसका परिश्रम व्यर्थ होगा। या यदि वह समर्थ भी है तो उसको बार-बार पाप-कर्म करना पड़ेगा, इससे बढ़कर कष्ट-कर क्या होगा ? ॥ १९ ॥

इस प्रकार के आहार में आसक्त, क्रूर एवं दुष्ट हृदय वाले ये यक्ष अपने ही अर्थ (सुख, लक्ष्य, मोक्ष) की हानि कर रहे हैं। क्या कभी इनके दुःखों का अन्त भी होगा ? ॥ २० ॥

इस समय इन्हें इस प्रकार का आहार देने के निमित्त मैं क्यों एक दिन के लिए भी पर-हिंसा और प्राणि-वध करूँ ?

नहि स्मराभ्यर्थितयागतानामाशाविपर्यासहतप्रभाणि ।
हिमानिलम्लापितपङ्कजानां समानदैन्यानि मुखानि कर्तुम् ॥ २१ ॥

भवतु । दृष्टम् ।

स्वतः शरीरात्स्थिरपीवराणि दास्यामि मांसानि सशोणितानि ।
अतोऽन्यथा को हि मम क्रमः स्यादित्यागतेष्वर्थिषु युक्तरूपः ॥ २२ ॥

स्वयंमृतानां हि निरूष्मकाणि भवन्ति मांसानि विशोणितानि ।
प्रियाणि चैषां नहि तानि सम्यक् बुभुक्षया पीडितविग्रहाणाम् ॥ २३ ॥

जीवतोऽपि च कुतोऽहमन्यस्मान्मांसमादास्ये मामभिगम्य चैते तथैव क्षुत्तर्षपरिक्षामनयनवदना निष्फलाशाप्रणयत्वादधिकतरविघातातुरमनसः कथं नाम प्रतियास्यन्ति । तदिदमत्र प्राप्तकालम् ।

दुष्टव्रणस्येव सदातुरस्य कडेवरस्यास्य रुजाकरस्य ।
करोमि कार्यातिशयोपयोगादत्यर्थरम्यं प्रतिकारखेदम् ॥ २४ ॥

इति विनिश्चित्य स महात्मा प्रहर्षोद्गमस्फीतीकृतनयनवदनशोभः स्वं शरीरमुपदर्शयंस्तान्यक्षानुवाच—

अमूनि मांसानि सशोणितानि धृतानि लोकस्य हितार्थमेव ।
यद्यातिथेयत्वमुपेयुरद्य महोदयः सोऽभ्युदयो मम स्यात् ॥ २५ ॥

अथ ते यक्षा जानन्तोऽपि तस्य राज्ञस्तमध्याशयमत्यद्भुतत्वादश्रद्दधाना राजानमूचुः—

अर्थिनात्मगते दुःखे याच्ञादैन्येन दर्शिते ।
ज्ञातुमर्हति दातैव प्राप्तकालमतः परम् ॥ २६ ॥

अथ राजाऽनुमतमिदमेषामिति प्रमुदितमनाः सिरामोक्षणार्थं वैद्या आज्ञाप्यन्तामिति समादिदेश । अथ तस्य राज्ञोऽमात्याः स्वमांसशोणितप्रदानव्यवसायमवेत्य सम्भ्रमामर्षव्याकुलहृदया व्यक्तमीदृशं कञ्चिदर्थं स्नेहवशादूचुः— नार्हति देवः प्रदानहर्षातिशयादनुरक्तानां प्रजानां हिताहितक्रममनवेक्षितुम् । न चैतदविदितं देवस्य । यथा—

यद्यत्प्रजानामहितोदयाय तत्तत्प्रियं मानद ! राक्षसानाम् ।
परोपरोधार्जितवृत्तितुष्टिरेवंस्वभावानघ जातिरेषाम् ॥ २७ ॥

सुखेष्वसक्तश्च बिभर्षि देव ! राज्यश्रमं लोकहितार्थमेव ।
स्वमांसदानव्यवसायमस्मात्त्वनिश्चयोन्मार्गमिमं विमुञ्च ॥ २८ ॥

मुझे स्मरण नहीं है कि मैंने कभी आये हुये याचकों को निराश करके उनके मुखों को उदास, सर्द हवा से मुरझाये हुये कमलों के समान दीन-मलिन किया हो ॥ २१ ॥

अच्छा। अब मैंने जान लिया।

अपने ही शरीर से शोणित-सहित स्थिर और पुष्ट मांस काटकर इन्हें दूँगा। इसके अतिरिक्त आये हुये याचकों (का सत्कार करने) के लिए मेरे लिये दूसरा कौन-सा उचित उपाय है ? ॥ २२ ॥

स्वयं मरे हुये प्राणियों का मांस ठंढा और बिना लोहू का होता है। यह इन्हें पसन्द नहीं होगा। इन्हें तेज भूख लगी हुई है, जिससे कि इनके शरीर में पीड़ा हो रही है ॥ २३ ॥

मैं क्योंकर दूसरे जीवित प्राणी का मांस लूँ ? मेरे समीप आकर निराशा और निष्फल याचना से अत्यन्त दुःखी होकर ये भूख-प्यास से धँसी आँखें और सूखे मुख ही कैसे लौटेंगे ? इसलिए अब जो कर्तव्य है उसका समय आ गया है।

यह शरीर दुष्ट फोड़े के समान सदा पीड़ित रहने वाला और क्लेश का घर है। मैं इसे उत्तम कार्य में लगाकर अच्छी तरह इसकी पीड़ा का प्रतीकार करूँगा।" ॥ २४ ॥

ऐसा निश्चय कर, हर्षातिरेक से विकसित आँखों और खिले हुए चेहरे की शोभा से युक्त हो, उस महात्मा ने अपना शरीर दिखलाते हुये उन यक्षों से कहा—

"मैंने यह मांस और शोणित लोकोपकार के लिये ही धारण किया है। यदि आज इसका अतिथि-सत्कार में उपयोग हो तो यह मेरा बड़ा सौभाग्य होगा।" ॥ २५ ॥

राजा के भीतरी आशय को जानकर भी यक्षों को इसपर विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि यह उनके लिए अत्यन्त आश्चर्यजनक था। उन्होंने राजा से कहा—

"याचक के द्वारा दीनतापूर्वक याचना करके अपना दुःख प्रकट किया जानेपर, किसका काल है (क्या कर्तव्य है)—यह दाता को ही जानना चाहिये।" ॥ २६ ॥

इन्होंने इस (निश्चय) का अनुमोदन किया है ऐसा समझकर राजा ने आदेश दिया "रक्त की धमनियाँ खोलने के लिए वैद्यों को आज्ञा दीजिए।" राजा ने अपना रक्त और मांस देने का निश्चय किया है, यह जानकर उनके अमात्य आवेग और क्रोध से व्याकुल हो उठे और स्नेह के वशीभूत होकर उन्होंने साफ साफ यों कहा—"दान देने के हर्षातिरेक से अपनी अनुरक्त प्रजा के हित-अहित की उपेक्षा करना श्रीमान् के लिए उचित नहीं है। श्रीमान् से यह छिपा हुआ नहीं है कि—

जिन बातों से प्रजाओं का अहित होता है, हे मानद, वे ही राक्षसों को प्रिय लगती हैं; हे निष्कलङ्क (निष्पाप), दूसरों की हिंसा करके अपनी आजीविका उपार्जन करने में संतोष अनुभव करना इनका जातीय स्वभाव है। ॥ २७ ॥

हे देव, आप सुखों में अनासक्त रहकर लोक-हित के लिये राज्य-भार वहन कर रहे हैं; इसलिये अपना मांस देने का जो यह निश्चय है, इस निश्चयरूपी कुमार्ग को छोड़िये ॥ २८ ॥

असंशयं न प्रसहन्त एते त्वद्वीर्यगुप्तं नरदेव लोकम् ।
अनर्थपाण्डित्यहतास्तथा हि नयेन वाञ्छन्त्यनयं प्रजानाम् ॥ २९ ॥

मेदोवसाद्यैस्त्रिदशा मखेषु प्रीतिं हुताशाभिहुतैर्व्रजन्ति ।
सत्कारपूतं भवदीयमन्नं सम्पन्नमेषां किल नैव रुच्यम् ॥ ३० ॥

कामं नास्मद्विधजनाधेयबुद्धयो देवपादाः स्वकार्यानुरागस्त्वयमस्मानेवमुपचारपथाद् भ्रंशयति। पञ्चानाममीषामर्थे सकलं जगदनर्थीकर्तव्यमिति कोऽयं धर्ममार्गो देवस्य । अपि च । किंकृतेयमस्मास्वेवं निष्प्रणयता, केन वास्माकं स्वाम्यर्थे विनियोज्यमानानि विनिगूढपूर्वाणि मांसशोणितानि यदपरिक्षीणेष्वेवामीषु स्वानि देवो दातुमिच्छतीति । अथ स राजा तानमात्यानुवाच—

संविद्यमानं नास्तीति ब्रूयादस्मद्विधः कथम् ।
न दास्यामीत्यसत्यं वा विस्पष्टमपि याचितः ॥ ३१ ॥

धर्मव्यवस्थासु पुरःसरः सन् स्वयं व्रजेयं यदि कापथेन ।
अस्मद्गताचारपथानुगानां भवेदवस्था मम का प्रजानाम् ॥ ३२ ॥

यतः प्रजा एव समीक्षमाणः सारं शरीरादहमुद्धरिष्ये ।
कश्च प्रभावो जगदर्थसाधुर्मात्सर्यहार्याल्पहृदो मम स्यात् ॥ ३३ ॥

यदपि चास्मत्प्रेमबहुमानावर्जितं प्रणयविस्रम्भगर्भमभिधीयते भवद्भिः किङ्कृतेयमस्मास्वेवं निष्प्रणयता यदपरिक्षीणेष्वेव नो मांसशोणितेषु स्वानि देवो दातुमिच्छतीति । अत्र वोऽनुनेष्यामि । न खलु मे युष्मासु प्रतिहतविषयः प्रणयमार्गो विस्रम्भविरहात्परिशङ्कागहनदुरवगाहो वा । किन्तु—

धने तनुत्वं क्रमशो गते वा भाग्यानुवृत्त्या क्षयमागते वा ।
विजृम्भमाणप्रणयः सुहृत्सु शोभेत न स्फीतधनः कृशेषु ॥ ३४ ॥

विवर्धितेष्वर्थिजनार्थमेव संविद्यमानेषु च मे बृहत्सु ।
गात्रेषु मांसोपचयोन्नतेषु युष्मास्वपि स्यात्प्रणयो विरूपः ॥ ३५ ॥

असंस्तुतानामपि न क्षमेय पीडां कथं कैव कथा भवत्सु ।
स्वान्येव मांसानि यतोऽस्मि दित्सुर्मां चैव याचन्त इमे न युष्मान् ॥ ३६ ॥

तदलमस्मदतिस्नेहाद्धर्मविघ्ननिःसाध्वसतया । अनुचितः खल्वयमत्र भवतामस्मदर्थिषु समुदाचारः । मीमांसितव्यमपि च तावदेतत्स्यात् ।

निश्चय ही, हे राजन् आप के वीर्य (वीरता, प्रभाव) से रक्षित प्रजाजन पर इनका कुछ वश नहीं चलता है[1], इसलिये अनर्थ-बुद्धि से युक्त[2] ये यक्ष इस उपाय से प्रजाओं का अनिष्ट करना चाहते हैं ॥ २९ ॥

यज्ञों के अवसर पर अग्नि में हवन की गई चर्बी आदि से देवगण प्रसन्न होते हैं, किन्तु आपके द्वारा सादर समर्पित यह पवित्र और सम्पन्न भोजन इन्हें पसन्द नहीं है ॥ ३० ॥

यद्यपि हम-जैसे लोगों के सम्मुख श्रीमान् अपना अभिप्राय (विचार) प्रकट करने के लिये बाध्य नहीं है तो भी अपने कर्तव्य का अनुराग हमें इस व्यवहार-मार्ग से विचलित कर रहा है। इन पाँच के लिए श्रीमान् समूचे संसार का अनर्थ कर रहे हैं, यह कौन-सा धर्म-मार्ग है ?

और भी। किस कारण से देव हमारे ऊपर इस प्रकार स्नेह-रहित ही रहे हैं ? या पूर्व में स्वामी के निमित्त हमारे मांस और शोणित का प्रयोजन होने पर हमने उसे छिपाया भी है जो उसके अक्षुण्ण रहते ही देव अपना ही शोणित और मांस देने की इच्छा करते हैं ?" तब राजा ने उन अमात्यों से कहा—

"साफ साफ माँगने पर और (चीज) मौजूद रहने पर 'नहीं है', या 'नहीं दूँगा' यह असत्य या अनुचित वचन हमारे-जैसा आदमी कैसे कह सकता है ? ॥ ३१ ॥

धर्म की बातों में आप का नेता होकर मैं स्वयं यदि कुमार्ग पर चलूँ तो मेरे आचरण का अनुसरण करनेवाली मेरी प्रजा का क्या हाल होगा ? ॥ ३२ ॥

इसलिए प्रजा (के हित) को देखता हुआ ही मैं अपने शरीर से सार निकालना चाहता हूँ। तब यदि कृपणता के वशीभूत होकर मैं अपने हृदय को छोटा कर लूँ तो लोक-कल्याण के लिए मेरा क्या प्रभाव होगा ? ॥ ३३ ॥

प्रेम और सम्मान के वशीभूत होकर, स्नेह और विश्वास पूर्वक आप लोगों ने कहा 'किस कारण से देव हमारे ऊपर इतना स्नेह-रहित हो रहे हैं कि हमारे मांस और शोणित के अक्षुण्ण रहते, देव अपना ही देना चाहते हैं।' इस सम्बन्ध में मैं आप से अनुनय करूँगा। विश्वास के अभाव से मेरा स्नेह-मार्ग अवरुद्ध हो गया हो या शंका के कारण वह बीहड़ और दुर्गम हो गया हो, ऐसी कोई बात नहीं है। किंतु—

धीरे-धीरे धन घटने पर या भाग्य के फेर से धन क्षीण (नष्ट) हो जानेपर यदि मित्रों के ऊपर प्रेम प्रकट किया जाय (अर्थात् उनसे याचना की जाय) तो यह उचित हो सकता है, किन्तु अपने पास विपुल सम्पत्ति के रहते अल्प सम्पत्तिवाले मित्रों के ऊपर प्रेम प्रकट करने में शोभा नहीं है ॥ ३४ ॥

मांस की वृद्धि से ऊँचे उठे हुए ये मेरे विशाल अङ्ग याचकों के लिए ही पोसे गये हैं। इन अङ्गों के रहते आप लोगों के ऊपर प्रेम प्रकट करना अनुचित होगा ॥ ३५ ॥

मैं अपरिचितों की भी पीड़ा को नहीं सह सकता हूँ, फिर आप लोगों का क्या कहना ? इसलिए मैं अपना ही मांस देना चाहता हूँ। और, ये मुझसे ही मांगते हैं, आप से नहीं ॥३६॥

मेरे प्रति अत्यन्त स्नेह होने के कारण आप निर्भय होकर इस धर्मकार्य में विघ्न डाल रहे हैं; इसको छोड़िये। मेरे याचकों के सम्बन्ध में आपका यह आचरण अनुचित है। आप को इस बातपर भी विचार करना चाहिए—

स्वार्थमन्नादि दित्सन्तं कथं स्याप्रतिषेधयन् ।
साधुवृत्तिरसाधुर्वा प्रागेवैवंविधं विधिम् ॥ ३७ ॥

तदलमनेनात्र वो निर्बन्धेन न्यायोपपरीक्षया क्रियतामस्मत्साचिव्यसदृशमुन्मार्गावरणं मनसः । अनुमोदनानुगुणवचसः खल्वत्रभवन्तः शोभेरन्नैवमधीरनयनाः । कुतः—

नैकोपयोगस्य धनस्य तावन्न प्रत्यहं याचनका भवन्ति ।
एवंविधस्त्वर्थिजनोऽधिगन्तुं न देवताराधनयापि शक्यः ॥ ३८ ॥

एवंविधे चार्थिजनेऽभ्युपेते देहे विनाशिन्यसुखास्पदे च ।
विमर्शमार्गोऽप्यनुदात्तता स्यान्मात्सर्यदैन्यं तु परा तमिस्रा ॥ ३९ ॥

तन्न मा वारयितुमर्हन्त्यत्रभवन्त इत्यनुनीय स राजा स्वां पर्षदमाहूय वैद्यान्पञ्च सिराः स्वशरीरे मोक्षयित्वा तान्यक्षानुवाच—

धर्मकर्मणि साचिव्यं प्रीतिं च परमां मम ।
भवन्तः कर्तुमर्हन्ति देयस्यास्य प्रतिग्रहात् ॥ ४० ॥

ते तथेत्युक्त्वाञ्जलिपुटैरेव राज्ञो रक्तचन्दनरसामिताम्रं रुधिरं पातुमुपचक्रमिरे ।

स पीयमानक्षतजः क्षितीशः क्षपाचरैर्हेमवपुश्चकाशे ।
सन्ध्यानुरक्तैर्जलभारनम्रैः पयोधरैर्मेरुरिवाप गूढः ॥ ४१ ॥

प्रीतिप्रकर्षाद्धृतिसम्पदा च वपुर्गुणादेव च तस्य राज्ञः ।
मम्लौ न गात्रं न मुमूर्छ चेतः संचिक्षिपे न क्षतजं क्षरद्वा ॥ ४२ ॥

विनीततर्षक्लमास्तु ते यक्षाः पर्याप्तमनेनेति राजानमूचुः—

अनेकदुःखायतने शरीरे सदा कृतघ्नेऽपि नराधिपस्य ।
गतेऽर्थिसंमाननसाधनत्वं हर्षानुकूलं ग्रहणं बभूव ॥ ४३ ॥

अथ स राजा हर्षप्रबोधादधिकतरनयनवदनप्रसादो नीलोत्पलदलनीलविमलपत्रं रत्नप्रमोद्भासुररुचिरत्सरुंनिशितं निस्त्रिंशमादाय स्वमांसानि च्छित्त्वा तेभ्यः प्रायच्छत् ।

ह्रियमाणवकाशं तु दानप्रीत्या पुनः पुनः ।
न प्रसेहे मनस्तस्य च्छेददुःखं विगाहितुम् ॥ ४४ ॥

जो अपने (हित के) लिए अन्न आदि देने की इच्छा करता है उसके मना करनेवालों को क्या कहा जाय ? सज्जन या दुर्जन ? फिर इस प्रकार के (दान–) कार्य को रोकनेवाले का क्या कहना ? ॥ ३७ ॥

इस सम्बन्ध में आप अपने इस हठ को छोड़िये । इस बात की अच्छी तरह परीक्षा कीजिये और मेरे साचिव्य (सचिव होने) के अनुरूप इस मानसिक अन्धकार का परित्याग कीजिये । उपयुक्त शब्द कहकर मेरा समर्थन करने में ही आप की शोभा है न कि अपनी आँखों को अधीर करने में ।

(केवल पेट भरने के) एक ही काम में आनेवाले धन के याचक तो प्रतिदिन आते ही रहते हैं, किन्तु इस प्रकार के याचक तो देवताओं की आराधना करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकते ॥ ३८ ॥

इस प्रकार के याचक आये हुए हैं, तथा शरीर नाशवान् और क्लेशों का घर है, ऐसी अवस्था में विचार-विमर्श करना भी नीचता होगी, फिर कृपणता और दीनता प्रकट करना तो घोर मानसिक अन्धकार होगा ॥ ३९ ॥

इसलिए मुझे मना करना आपके लिए उचित नहीं है," इस प्रकार अनुनय कर राजा ने अपनी परिषद् को बुलाया और वैद्यों-द्वारा अपने शरीर की पाँच रक्त-धमनियों को कटवाकर उन यक्षों से कहा—

"इस दान को स्वीकार कर धर्म-कार्य में मेरी सहायता करते हुए आप मुझे अत्यन्त आनन्दित कीजिए ।" ॥ ४० ॥

"बहुत अच्छा" कहकर वे अपने अञ्जलि-पुटों से ही राजा का रुधिर, जो रक्त-चन्दन के रस के समान ताम्रवर्ण था, पीने लगे ।

जब उन राक्षसों के द्वारा लोहू पिया जा रहा था तब राजा का सुनहला शरीर ऐसे शोभित हुआ जैसे (सोने का) सुमेरु पर्वत, जो सायंकाल की लाली से रंगे हुए तथा जल-भाव से झुके हुए (काले) बादलों से आलिङ्गित हो रहा हो ॥ ४१ ॥

आनन्द के अतिरेक, धैर्य की सम्पत्ति तथा उत्तमरूप[1] के कारण राजा का न शरीर मुरझाया, न चित्त मूर्छित हुआ और न रक्त का झरना ही बन्द हुआ ॥ ४२ ॥

प्यास और थकावट दूर होने पर यक्षों ने राजा से कहा—"इतना ही पर्याप्त है ।"

यद्यपि यह शरीर सदा कृतघ्न रहनेवाला तथा अनेक दुःखों का घर है तो भी यह याचकों के आदर-सत्कार का साधन साबित हुआ, यह सोचकर राजा को आनन्द हुआ ॥ ४३ ॥

आनन्द की अनुभूति से उनके नेत्र और मुख और भी खिल उठे । नीले कमल की पंखुड़ी के समान नीले और निर्मल पत्र (धार) वाली तेज तलवार से, जिसकी सुन्दर मूँठ रत्नों की प्रभा से चमक रही थी, राजा ने अपना मांस काटकर उन्हें दिया ।

दान देने की प्रसन्नता से बार बार उनका हृदय इतना भर गया कि उसमें (मांस) काटने से होनेवाले दुःख के घुसने (की अनुभूति) के लिए स्थान ही न रहा ॥ ४४ ॥

आकृष्यमाणं शितशस्त्रपातैः प्रीत्या पुनर्दूरमपास्यमानम् ।
खेदालसत्वादिव तस्य दुःखं मनःसमुत्सर्पणमन्दमासीत् ।। ४५ ।।

स प्रीतिमानेव निशाचरांस्तान्सन्तर्पयन्स्वैः पिशितैस्तथासीत् ।
क्रूराणि तेषामपि मानसानि येनासुराविष्कृतमार्दवानि ।। ४६ ।।

धर्मप्रियत्वात्करुणावशाद्वा त्यजन् परार्थे प्रियमात्मदेहम् ।
द्वेषाग्निदग्धान्यपि मानसानि प्रसादसौवर्ण्यनवानि कुर्यात् ।। ४७ ।।

अथ ते यक्षास्तं राजानं स्वमांसोत्कर्तनपरं तथैवास्खलितवदनप्रसादम-विकम्प्यमानं मांसच्छेदवेदनाभिरभिवीक्ष्य परं प्रसादं विस्मयञ्चोपजग्मुः ।

आश्चर्यमद्भुतमहो बत किंस्विदेतत्
सत्यं न वेति समुदीर्णविचारहर्षाः ।
राजन्यमर्षमपमृद्य मनःप्रसाद
तत्संस्तुतिप्रणतिभिः प्रथयाम्बभूवुः ।। ४८ ।।

अलमलं देव ! विरम्यतां स्वशरीरपीडाप्रसङ्गात् । सन्तर्पिताः स्मस्तवा-नयाद्भुतया याचनकजनमनोहरया प्रतिपत्त्येति ससम्भ्रमाः सप्रणामं विनिवार्य राजानं प्रसादाश्रुपरिषिक्तवदनाः सबहुमानमुदीक्षमाणाः पुनरूचुः—

स्थाने भक्तिवशेन गच्छति जनस्त्वत्कीर्तिवाचालतां
स्थाने श्रीः परिभूय पङ्कजवनं त्वत्संश्रयश्लाघिनी ।
व्यक्तं शक्रसनाथतामपि गता त्वद्वीर्यगुप्तामिमां
द्यौः पश्यत्युदितस्पृहा वसुमतीं नो चेदहो वञ्च्यते ।। ४९ ।।

किं बहुना । एवंविधजनाभ्युपपन्नः सभाग्यः खलु मनुष्यलोकः । युष्म-दायासाभ्यनुमोदनात्तु वयमेवात्र दग्धाः । भवद्विधजनापश्रयाच्छक्यमित्थङ्गतै-रप्यात्मानं समुद्धर्तुमिति स्वदुष्करप्रतीघाताशया भवन्तं पृच्छामः ।

अनादृत्य सुखप्राप्तामनुरक्तां नृपश्रियम् ।
किं तदत्यद्भुतं स्थानं पथानेन यदीप्ससि ।। ५० ।।

सर्वक्षितिपतित्वं नु धनेशत्वमथेन्द्रताम् ।
ब्रह्मभूयं विमोक्षं वा तपसानेन वाञ्छसि ।। ५१ ।।

अस्य हि व्यवसायस्य न दूरतरमीप्सितम् ।
श्रोतव्यं चैतदस्माभिर्वक्तुमर्हसि नो भवान् ।। ५२ ।।

राजोवाच—श्रूयतां यदर्थोऽयं ममाभ्युद्यमः ।

तलवार की तेज चोटों से समीप खींचा जाता हुआ और फिर प्रीति द्वारा दूर भगाया जाता हुआ कष्ट मानों थकावट से चकनाचूर होकर मन्द गति से उनके मन के समीप जाता था ॥४५॥

वह अपने मांस के टुकड़ों से उन निशाचरों को तृप्त करते हुए इतने प्रसन्न थे कि उन (राक्षसों) के कठोर मन भी कोमल बन गये ॥ ४६ ॥

धर्मानुराग या दया के वशीभूत होकर दूसरों के लिए अपने प्रिय शरीर को त्यागने वाला मनुष्य द्वेषाग्नि से जलते हुए चित्त को भी प्रसन्न करके निर्मल और नया बना सकता है ॥ ४७ ॥

राजा को अपना मांस काटने में तत्पर और उसी प्रकार प्रसन्नमुख, मांस काटने की पीड़ा में भी अविचल, देख कर उन यक्षों को बड़ी श्रद्धा और विस्मय हुआ।

"आश्चर्य ! आश्चर्य ! वह क्या है ? सत्य या असत्य ?" इस प्रकार के विचार से उन्हें आनन्द हुआ। राजा के प्रति उनका क्रोध दूर हो गया। उनकी स्तुति कर और उन्हें प्रणाम कर उन यक्षों ने अपनी आन्तरिक श्रद्धा प्रकट की ॥ ४८ ॥

"देव, समाप्त करें। अपने शरीर को अब और कष्ट न दें। याचकों के मन को मुग्ध करने वाले आपके इस अद्भुत कार्य से हम सन्तुष्ट हैं।" इस प्रकार घबड़ाहट में आकर उन्होंने नम्रतापूर्वक राजा को रोका। पवित्रता के आँसुओं से उनके मुख सिक्त हो गये। राजा की ओर सम्मानपूर्वक देखते हुए उन्होंने फिर से कहा—

"भक्ति के वशीभूत होकर लोग आपकी कीर्ति का बखान करते हैं, यह उचित ही है। लक्ष्मी कमलों को छोड़ कर आपके आश्रय में रहना पसन्द करती है, यह ठीक ही है। इन्द्र-तुल्य स्वामी को पाकर भी दिव्य-भूमि (स्वर्ग) यदि आपके वीर्य से रक्षित इस वसुमती को ईर्ष्या से न देखे तो निश्चय ही वह वञ्चिता (अभागिन) है ॥ ४९ ॥

कहाँ तक कहा जाय। ऐसे (महा-) पुरुष से युक्त यह मनुष्य-लोक अवश्य ही भाग्यशाली है। आपकी पीड़ा का अनुमोदन कर हम स्वयं दग्ध हुए। आप-जैसे (महा-) पुरुष के आश्रय से हमारे-जैसे लोग भी अपना उद्धार कर सकते हैं। अपने दुष्कर्म को नष्ट (विफल) करने की आशा से हम आपसे पूछते हैं।

अनायास ही प्राप्त इस अनुरक्त राज्य-लक्ष्मी का अनादर कर, वह कौन सा अद्भुत स्थान है जिसको इस मार्ग से चल कर आप प्राप्त करना चाहते हैं ? ॥ ५० ॥

समस्त पृथ्वी का आधिपत्य, कुबेर का पद, इन्द्रत्व, ब्रह्म-सायुज्य, या मोक्ष ? इस तपस्या द्वारा आप इनमें से किस पद की अभिलाषा करते हैं ? ॥ ५१ ॥

इस संकल्प और उद्योग का अभीष्ट (=लक्ष्य) दूर नहीं हो सकता है। यदि आप हमारे सुनने योग्य समझें तो आप अपना लक्ष्य हमें बतलाएँ" ॥ ५२ ॥

राजा ने कहा—"सुनिये, मेरे इस उद्योग का क्या उद्देश्य है !

प्रयत्नलभ्या यदयत्ननाशिनी न तृप्तिसौख्याय कुतः प्रशान्तये ।
भवाश्रया सम्पदतो न कामये सुरेन्द्रलक्ष्मीमपि किं स्वथेतराम् ॥ ५३ ॥

न चात्मदुःखक्षयमात्रकेण मे प्रयाति सन्तोषपथेन मानसम् ।
अमूननाथानभिवीक्ष्य देहिनः प्रसक्ततीव्रव्यसनश्रमातुरान् ॥ ५४ ॥

अनेन पुण्येन तु सर्वदर्शितामवाप्य निर्जित्य च दोषविद्विषः ।
जरा-रुजा-मृत्युमहोर्मिसङ्कुलात्समुद्धरेयं भवसागराज्जगत् ॥ ५५ ॥

अथ ते यक्षाः प्रसादसंहर्षिततनुरुहाः प्रणम्य राजानमूचुः । उपपन्नरूपमेवंविधस्य व्यवसायातिशयस्येदं कर्म । तन्न दूरे भवद्विधानामभिप्रायसम्पद इति निश्चितमनसो विज्ञापयामः ।

कामं लोकहितायैव तव सर्वोऽयमुद्यमः ।
स्वहितात्यादरं त्वेषां स्मर्तुमर्हसि नस्तदा ॥ ५६ ॥

अज्ञानाच्च यदस्माभिरेवमायासितो भवान् ।
स्वमप्यर्थमपश्यद्भिर्मृष्यतामेव तच्च नः ॥ ५७ ॥

आज्ञामपि च तावन्नस्त्वमनुग्रहपद्धतिम् ।
सचिवानामिव स्वेषां विस्रब्धं दातुमर्हसि ॥ ५८ ॥

अथ स राजा प्रसादमृदूकृतहृदयान्मत्त्वैनानुवाच—उपकारः खल्वयं नायासो ममेत्यलमत्र वोऽक्षमाशङ्कया । अपि च—

एवंविधे धर्मपथे सहायान्कि विस्मरिष्याम्यधिगम्य बोधिम् ।
युष्माकमेव प्रथमं करिष्ये विमोक्षधर्मामृतसंविभागम् ॥ ५९ ॥

अस्मत्प्रियं चाभिसमीक्षमाणैर्हिंसा भवद्भिर्विषवद्विवर्ज्या ।
लोभः परद्रव्यपरिग्रहेषु वाग्गर्हिता मद्यमयश्च पाप्मा ॥ ६० ॥

अथ ते यक्षास्तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य चैनं तत्रैवान्तर्दधिरे । स्वमांसशोणितप्रदाननिश्चयसमकालमेव तु तस्य महासत्त्वस्य ।

विकम्पमाना बहुधा वसुन्धरा विघूर्णयामास सुवर्णपर्वतम् ।
प्रसस्वनुर्दुन्दुभयश्च तद्गता द्रुमाश्च पुष्पं ससृजुर्विकम्पनात् ॥ ६१ ॥

तदभ्रवद्व्योमनि मारुतेरितं पतत्रिसेनेव वितानवत्क्वचित् ।
विसृत्य माला ग्रथितेव कुत्रचित्समं समन्तान्नृपतेर्व्यकीर्यत ॥ ६२ ॥

प्रयत्न से प्राप्त होने वाली और बिना यत्न के ही नष्ट होने वाली इस सांसारिक सम्पत्ति से तृप्ति नहीं होती है, फिर शान्ति कहाँ से होगी ? अतः मैं देवेन्द्र की लक्ष्मी की भी कामना नहीं करता हूँ, दूसरी का क्या कहना ? ॥ ५३ ॥

जब तक मैं इन अनाथ देहधारियों को घोर विपत्तियों से पीड़ित देखता हूँ तब तक केवल अपने ही दुःख का नाश होने से मेरे मन में सन्तोष नहीं हो सकता ॥ ५४ ॥

इस पुण्य के द्वारा सर्वज्ञता (=बुद्धत्व) प्राप्त कर और दोष (=राग-द्वेष-मोह) रूपी शत्रुओं को जीत कर, मैं जरा-व्याधि-मृत्यु रूपी महा-तरङ्गों से युक्त भवसागर से जगत् (के पीड़ित प्राणियों) का उद्धार करना चाहता हूँ" ॥ ५५ ॥

तब आनन्द से रोमाञ्चित हो उन यक्षों ने राजा को प्रणाम करके कहा—"इस महा-निश्चय के अनुरूप ही आपका यह कार्य है। इसलिए हम निश्चयपूर्वक कहते हैं कि आप-सरीखे (महा-) पुरुषों का अभीष्ट (लक्ष्य) दूर नहीं है।

अवश्य ही आपका यह सम्पूर्ण उद्योग लोकहित के लिए ही है। उस (लक्ष्य-प्राप्ति के) समय इन अत्यन्त स्वार्थी व्यक्तियों (यक्षों) को स्मरण कीजियेगा ॥ ५६ ॥

अज्ञान के कारण अपने ही हित को नहीं देखते हुए हमने आपको जो इस प्रकार कष्ट दिया सो कृपया हमें इसके लिए क्षमा करें ॥ ५७ ॥

हमारे ऊपर अनुग्रह करते हुए हमें भी, जैसे कि अपने मंत्रियों को, विश्वासपूर्वक आज्ञा दीजिये" ॥ ५८ ॥

भक्ति से इनके हृदय मृदु हो गये हैं, ऐसा सोच कर राजा ने उन्हें कहा—

"आपने मेरा यह उपकार ही किया है, न कि मुझे कष्ट दिया है। इसलिए इस सम्बन्ध में आप अब अनुचित आशंका न करें। और भी—

ऐसे (कठिन) धर्म-मार्ग (पर चलने) में सहायता करने वालों को बोधि प्राप्त करने के बाद भला कैसे भूल जाऊँगा ? पहले-पहल आप लोगों को ही मोक्ष-धर्म रूपी अमृत वितरण करूँगा ॥ ५९ ॥

यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो (प्राणि-) हिंसा, दूसरों का द्रव्य (और स्त्री) ग्रहण करने का लोभ, निन्दित वचन और मद्य रूपी पाप को विष समझ कर छोड़ दीजिये" ॥ ६० ॥

तब उन यक्षों ने उनसे 'बहुत अच्छा' कह कर (पाप कर्म न करने की) प्रतिज्ञा की; और वे उन्हें प्रणाम कर तथा उनकी प्रदक्षिणा कर वहीं अन्तर्धान हो गये। जिस समय उन महासत्त्व (बोधिसत्त्व) ने अपना मांस और शोणित देने का निश्चय किया था, उसी समय—

बार बार काँपती हुई पृथ्वी ने सुवर्ण-पर्वत को प्रकम्पित कर दिया, जिससे वहाँ की देव-दुन्दुभियाँ बजने लगीं और हिलते हुए वृक्षों ने फूल बरसाये ॥ ६१ ॥

हवा से प्रेरित होते (चलाये जाते) वे फूल आकाश में कहीं बादल के समान, कहीं पक्षियों के झुण्ड के समान, कहीं चँदोवे के समान, कहीं गुथी हुई विशाल माला के समान दिखाई पड़े, और एक ही साथ राजा के चारों ओर आकर फैल गये ॥ ६२ ॥

निवारयिष्यन्निव मेदिनीपतिं समुद्धतावेगतया महार्णवः ।
जलैः प्रकृत्यभ्यधिकक्रमस्वनैः प्रयाणसौजस्कवपुर्व्यरोचत ॥ ६३ ॥

किमेतदित्यागतसम्भ्रमस्ततः सुराधिपस्तत्र विचिन्त्य कारणम् ।
नृपात्ययाशङ्कितत्तूर्णमाययौ नृपालयं शोकभयाकुलाकुलम् ॥ ६४ ॥

तथागतस्यापि तु तस्य भूपतेर्मुखप्रसादात्सविशेषविस्मयः ।
उपेत्य तत्कर्म मनोज्ञया गिरा प्रसादसंहर्षवशेन तुष्टुवे ॥ ६५ ॥

अहो प्रकर्षो बत सज्जनस्थितेरहो गुणाभ्यासनिधेरुदारता ।
अहो परानुग्रहपेशला मतिस्त्वदर्पणान्नाथवती बत क्षितिः ॥ ६६ ॥

इत्यभिप्रशस्यैनं शक्रो देवेन्द्रः सद्यः क्षतरोहणसमर्थैर्दिव्यैर्मानुष्यकैरोषधिविशेषैर्निर्वेदनं यथापौराणं शरीरं कृत्वा दाक्षिण्यविनयोपचारमधुरं प्रतिपूजितस्तेन राज्ञा स्वमावासं प्रतिजगाम ।

तदेवं परदुःखातुरा नात्मसुखमवेक्षन्ते महाकारुणिका इति । को नाम धनमात्रकेऽप्यपेक्षां नोत्स्रष्टुमर्हतीति दायकजनसमुत्तेजनायां वाच्यम् । करुणावर्णेऽपि तथागतमाहात्म्ये सत्कृत्य धर्मश्रवणे च ।

यच्चोक्तं भगवता 'बहुकराः खल्वेते पञ्चका भिक्षवः' इति स्यादेतत्सन्धाय । तेन हि समयेन ते पञ्च यक्षा बभूवुः । तेषां भगवता यथाप्रतिज्ञातमेव प्रथमं धर्मामृतसंविभागः कृत इति ।

इति मैत्रीबल-जातकमष्टमम् ।

---

९. विश्वन्तर-जातकम्

न बोधिसत्त्वचरितं सुखमनुमोदितुमप्यल्पसत्त्वैः प्रागेवाचरितुम् ॥ तद्यथानुश्रूयते—

सात्मीभूतेन्द्रियजयः पराक्रमनयविनयसंपदा समधिगतविजयश्रीर्वृद्धोपासननियमात् त्रय्यान्वीक्षिक्योरुपलब्धार्थतत्त्वः स्वधर्मकर्मानुरक्ताभिरनुद्विग्नसुखोचिताभिरनुरक्ताभिः प्रकृतिभिः प्रकाश्यमानदण्डनीतिशोभः सम्यक्प्रवृत्तवार्त्ताविधिः संजयो नाम शिवीनां राजा बभूव ।

गुणोदयैर्यस्य निबद्धभावा कुलाङ्गनेवास नराधिपश्रीः ।
अतर्कणीयान्यमहीपतीनां सिंहाभिगुप्तेव गुहा मृगाणाम् ॥ १ ॥

महासमुद्र अत्यन्त आवेग में आकर राजा को मानो रोकना चाहता था, उसकी तरंगों का वेग और गर्जन अस्वाभाविक तौर पर बढ़ गया, उसका ओजस्वी रूप ऐसे शोभित हुआ जैसे यात्रा-काल में (किसी राजा का) ॥ ६३ ॥

'यह क्या है' इस प्रकार घबड़ाहट में आकर इन्द्र ने सोच कर कारण का पता लगाया। राज-विनाश की आशंका से वह शीघ्र ही राज-भवन में आ गया, जहाँ कि लोग शोक और भय से अत्यन्त व्याकुल थे ॥ ६४ ॥

उस अवस्था में भी राजा को प्रसन्न-मुख देख कर वह अत्यन्त विस्मित हो गया। समीप जाकर, आनन्द और हर्ष के वशीभूत हो उसने मधुर वाणी से उस कर्म की प्रशंसा की ॥ ६५ ॥

"अहो सज्जनता की पराकाष्ठा ! अहो आप गुण-राशि की उदारहृदयता ! अहो दूसरोंपर अनुग्रह करने में आपका मन कितना कोमल है ! आपको पाकर यह पृथ्वी सनाथा है।" ॥६६॥

इस प्रकार इनकी प्रशंसा कर देवेन्द्र शक्र ने तुरन्त घाव पूरा कर सकनेवाली दिव्य एवं मनुष्योचित उत्तम ओषधियों से उनके शरीर को पूर्ववत् पीड़ा-रहित कर दिया। तब राजा के द्वारा सादर और सविनय पूजित होकर इन्द्र अपने निवास-स्थान को लौट गया।

इस प्रकार दूसरों के दुःख से दुःखी होनेवाले महाकारुणिक अपने दुःख का खयाल नहीं करते। तब ऐसा कौन है जो तुच्छ धन में अपनी आसक्ति नहीं छोड़ेगा ? दाताओं को उत्तेजित करने में, करुणा का वर्णन करने में, तथागत का माहात्म्य दिखलाने में और सावधान होकर धर्म-श्रवण करने में (अर्थात् धर्मोपदेश करने में) यह कथा कहनी चाहिए।

भगवान् ने जो कहा—"हे भिक्षुओं, इन पाँचों ने बहुत कुछ किया है", वह इसी कथा का अनुसन्धान (अनुस्मरण) करके (कहा है)। उस समय के ये पाँच यक्ष थे। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भगवान् ने पहले इन्हीं पाँचों को धर्मामृत वितरण किया।

मैत्रीबल—जातक अष्टम समाप्त।

९. विश्वन्तर-जातक

(कम हिम्मतवाले) साधारण प्राणियों के लिए बोधिसत्त्व के कार्यों का अनुमोदन करना भी आसान नहीं है, फिर उनके करने का क्या कहना। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

एक बार शिबियों के संजय नामक बड़े ही जितेन्द्रिय राजा हुए। उसने पराक्रम नीति और विनय के द्वारा विजय-लक्ष्मी प्राप्त की तथा गुरुजनों की उपासना कर त्रयी (=वेदों) और आन्वीक्षिकी विद्या (=तर्क विद्या, अध्यात्म विद्या) का ज्ञान पाया। उसकी प्रजा, धर्म और कर्म में निरत निर्भय सुखी और अनुरक्त थी, इससे प्रकट होता था कि राजा की दण्ड-नीति (शासन प्रणाली) कितनी सुन्दर थी, राज्य में आजीविका का प्रबन्ध कितना उत्तम था (आर्थिक व्यवस्था कितनी अच्छी थी)।

उसके गुणों के कारण राज्यलक्ष्मी (पतिव्रता) कुलाङ्गना के समान उसमें अनुरक्त थी, दूसरे राजा उसकी लक्ष्मी (के अपहरण की बात) को सोच भी नहीं सकते थे, जैसे सिंह से रक्षित गुफा (लेने) को दूसरे पशु नहीं सोच सकते ॥ १ ॥

तपस्सु विद्यासु कलासु चैव कृतश्रमा यस्य सदाभ्युपेताः ।
विशेषयुक्तं बहुमानमीयुः[1] पूजाभिराविष्क्रियमाणसाराः ॥ २ ॥

तस्य राज्ञः प्रतिपत्त्यनन्तरं प्रथितगुणगणनिरन्तरो विश्वंतरो नाम पुत्रो युवराजो बभूव । (अयमेव भगवाञ्छाक्यमुनिस्तेन समयेन ।)

युवापि वृद्धोपशमाभिरामस्तेजस्व्यपि क्षान्तिसुखस्वभावः ।
विद्वानपि ज्ञानमदानभिज्ञः श्रिया समृद्धोऽप्यवलेपशून्यः ॥ ३ ॥

दृष्टप्रयाणासु[2] च दिक्षु तस्य व्याप्ते च लोकत्रितये यशोभिः ।
बभूव नैवान्ययशोलवानां प्रसर्तुमुत्साह इवावकाशः ॥ ४ ॥

अमृष्यमाणः स जगद्गतानां दुःखोदयानां प्रसृतावलेपम् ।
दानेषुवर्षी करुणोरुचापस्तैर्युद्धसंरम्भमिवाजगाम ॥ ५ ॥

स प्रत्यहमभिगतमर्थिजनमभिलषिताधिकै[3]रक्लिष्टैरर्थविसर्गैः प्रियवचनोपचारमनोहरैरतीव प्रह्लादयामास । पर्वदिवसेषु च पोषधनियमप्रशमविभूषणः शिरःस्नातः शुक्लक्षौमवासा हिमगिरिशिखरसंनिकाशं मदलेखाभ्यलंकृतमुखं लक्षणविनयजवसत्त्वसंपन्नं गन्धहस्तिनं समाज्ञातमौपवाह्यं द्विरदवरमभिरुह्य समन्ततो नगरस्याभिनिविष्टान्यर्थिजननिपानभूतानि स्वानि सत्त्रागाराणि प्रत्यवेक्षते स्म । तथा च प्रीतिविशेषमधिजगाम ।

नहि तां कुरुते प्रीतिं विभूतिर्भवनाश्रिता ।
संक्रम्यमाणार्थिजने सैव दानप्रियस्य याम् ॥ ६ ॥

अथ कदाचित्तस्यैवंविधं दानप्रसङ्गं प्रमुदितहृदयैरर्थिभिः समन्ततो विकीर्यमाणमुपलभ्यान्यतमो भूम्यनन्तरस्तस्य राजा शक्यमयमभिसंधातुं दानानुरागवशगत्वादिति प्रतर्क्य द्विरदवरापहरणार्थं ब्राह्मणांस्तत्र प्रणिदधे ॥ अथ ते ब्राह्मणा विश्वंतरस्य स्वानि सत्त्रागाराणि प्रत्यवेक्षमाणस्य प्रमोदादधिकतरनयनवदनशोभस्य जयाशीर्वादमुखराः समुच्छ्रिताभिप्रसारितदक्षिणाग्रपाणयः पुरस्तात् समतिष्ठन्त । स ततो विनिगृह्य द्विरदवरमुपचारपुरःसरमभिगमनप्रयोजनमेनान् पर्यपृच्छदाज्ञाप्यतां केनार्थ इति ॥ ब्राह्मणा ऊचुः—

अमुष्य तव नागस्य गतिलीलाविलम्बिनः ।
गुणैरर्थित्वमायाता दानशौर्याच्च ते वयम् ॥ ७ ॥

---

१. द्र० बुद्धचरित ७।५० घ ।
२. पा० 'दृष्टप्रयामासु' ।
३. द्र० 'मनोरथस्याप्यतिभारभूतान्'—बुद्धचरित ३।२ घ ।

जिन्होंने तपस्या, विद्या और कला (के उपार्जन) में परिश्रम किया था वे (तपस्वी विद्वान् और कलावान्) उसके समीप पहुँचते थे और अपना सार प्रकट कर (अपने सद्‌गुणों का परिचय देकर) उससे बहुत आदर सत्कार प्राप्त करते थे ॥ २ ॥

उस राजा का पुत्र विश्वन्तर युवराज बना। प्रतिष्ठा में वह राजा के बाद ही (द्वितीय स्थानपर) था, किंतु गुणों की ख्याति में राजा से कम नहीं था।

युवा होकर भी वह वृद्धोचित शान्ति से युक्त था, तेजस्वी होकर भी क्षमाशील था, विद्वान् होकर भी ज्ञान-मद से अनभिज्ञ था और लक्ष्मी-पात्र होकर भी अभिमान से रहित था ॥ ३ ॥

दिशाओं ने उनके दिग्विजय को देखा था और तीनों लोकों में उनकी कीर्ति व्याप्त थी; अतः दूसरों की क्षुद्र कीर्ति को फैलने का न उत्साह था न स्थान ॥ ४ ॥

वह संसार में दुःखों (के कारणों) का अनुचित (अत्यधिक, उद्धत) प्रसार नहीं सह सकता था, अतः करुणा का विशाल धनुष लेकर दानरूपी तीरों की वर्षा करते हुए उसने मानो उनके साथ घोर युद्ध किया ॥ ५ ॥

वह प्रतिदिन आये हुए याचकों को प्रिय वचन और शिष्टाचार के साथ मनोरथ से भी अधिक धन देकर आनन्दित करता था। पर्व के दिनों में उपवास के नियमों के पालन से होनेवाली शान्ति से विभूषित होकर, शिर से स्नान कर, सफेद रेशमी वस्त्र पहनकर वह हिमालय की चोटी के समान (उज्ज्वल और विशाल), मद-धारा से अलङ्कृत मुखवाले, सुलक्षणों से युक्त, विनयवान् (विनम्र), वेगवान् और बलवान् गन्ध-हस्ती पर चढ़ता था और उस विख्यात एवं चढ़ने योग्य श्रेष्ठ हाथी पर चढ़कर नगर के चारों ओर बनाये गये अपने दान-गृहों को, जो याचकों के लिए जलाशय-तुल्य थे, देखता था और देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता था।

दान-प्रिय व्यक्ति को घर में रखी हुई सम्पत्ति से उतना आनन्द नहीं होता है जितना कि उस सम्पत्ति को याचकों को देने से ॥ ६ ॥

जब याचकगण प्रसन्न होकर उनके इस दानानुराग की बात को चारों ओर फैला रहे थे तो एक बार पड़ोसी देश के किसी राजा ने इसे सुन लिया और सोचा कि दानानुराग के वशीभूत होने के कारण इसे वञ्चित किया जा सकता है। यह सोचकर उसने ब्राह्मणों को उस श्रेष्ठ हाथी के अपहरण के लिए वहाँ भेजा। जब अपनी दान-शालाओं को देखकर विश्वन्तर की आँखों और मुख की शोभा आनन्द से खिल रही थी, तब वे ब्राह्मण उसके आगे आकर अपने दाहिने हाथों को ऊपर उठाकर, 'जय जय' कहकर आशीर्वाद देते हुए खड़े हुए। तब उसने अपने श्रेष्ठ हाथी को रोककर शिष्टाचारपूर्वक उनसे आने का प्रयोजन पूछा—"आज्ञा कीजिये, क्या चाहते हैं।" ब्राह्मणों ने कहा—

"सुन्दर चालवाले आपके इस हाथी के गुणों से तथा आपकी दान-वीरता से आकृष्ट होकर हम आये हैं ॥ ७ ॥

कैलासशिखराभस्य प्रदानादस्य दन्तिनः ।
कुरुष्व तावल्लोकानां विस्मयैकरसं मनः ॥ ८ ॥

इत्युक्ते बोधिसत्त्वः प्रीत्या समापूर्यमाणहृदयश्चिन्तामापेदे । चिरस्य खल्दारप्रणयसुमुखमर्थिजनं पश्यामि । कः पुनरर्थ एवंविधेन द्विरदपतिनैषां ब्राह्मणानाम् । व्यक्तमयं लोभेर्ष्याद्वेषपर्याकुलमनसः कस्यापि राज्ञः कार्पण्यप्रयोगः ।

आशाविघातदीनत्वं तन्मा भूत्तस्य भूपतेः ।
अनादृत्य यशोधर्मौ योऽस्मद्धित इवोद्यतः ॥ ९ ॥

इति विनिश्चित्य स महात्मा त्वरितमवतीर्य द्विरदवरात् प्रतिगृह्यतामिति समुद्यतकाञ्चनभृङ्गारस्तेषां पुरस्तादवतस्थे ॥

ततः स विद्वानपि[1] राजशास्त्रमर्थानुवृत्त्या गतधर्ममार्गम् ।
धर्मानुरागेण ददौ गजेन्द्रं नीतिव्यलीकेन न संचकम्पे ॥ १० ॥

तं हेमजालरुचिराभरणं गजेन्द्रं
विद्युत्पिनद्धमिव शारदमभ्रराशिम् ।
दत्त्वा परां मुदमवाप नरेन्द्रसूनुः
संचुक्षुभे च नगरं नयपक्षपातात् ॥ ११ ॥

अथ द्विरदपतिप्रदानश्रवणात् समुदीर्णक्रोधसंरम्भाः शिबयो ब्राह्मणवृद्धा मन्त्रिणो योधाः पौरमुख्याश्च कोलाहलमुपजनयन्तः संजयं राजानमभिगम्य ससंभ्रमामर्षसंरम्भात् परिशिथिलोपचारयन्त्रणमूचुः—किमियं देव राज्यश्रीर्विलुप्यमानैवमुपेक्ष्यते । नार्हति देवः स्वराज्योपप्लवमेवमभिवर्धमानमुपेक्षितुम् । किमेतदिति च सावेगमुक्ता राज्ञा पुनरेवमूचुः—कस्माद् देवो न जानीते ।

निषेव्य मत्तभ्रमरोपगीतं यस्याननं दानसुगन्धि वायुः ।
मदावलेपं परवारणानामायासदुःखेन विना प्रमार्ष्टि ॥ १२ ॥

यत्तेजसाक्रान्तबलप्रभावाः संसुप्तदर्पा इव विद्विषस्ते ।
विश्वंतरेणैष गजः स दत्तो रूपी जयस्ते ह्रियतेऽन्यदेशम् ॥ १३ ॥

गावः सुवर्णं वसनानि भोज्यमिति द्विजेभ्यो नृप देयरूपम् ।
यस्मिञ्जयश्रीर्नियता द्विपेन्द्रे देयः स नामेत्यतिदानशौर्यम् ॥ १४ ॥

नयोत्पथेनैनमिति व्रजन्तं कथं समन्वेष्यति राजलक्ष्मीः ।
नोपेक्षणं देव तवात्र युक्तं पुरायमानन्दयति द्विषस्ते ॥ १५ ॥

१. जानन्नपि ।

अतः कैलास की चोटी के समान कान्तिमान् इस हाथी को देकर आप जनता को विस्मित कर दीजिये।" ॥ ८ ॥

इतना कहने पर बोधिसत्त्व का हृदय आनन्द से भर गया। उन्होंने सोचा—"बहुत दिनों के बाद इन उदार याचकों को देख रहा हूँ। किन्तु इस गजेन्द्र से इन ब्राह्मणों को क्या प्रयोजन ? स्पष्ट ही लोभ ईर्ष्या और द्वेष से आकुल चित्त वाले किसी राजा की यह चाल है।

जो अपनी कीर्ति और धर्म की उपेक्षा कर हमारे उपकार के लिए उद्यत हुआ है, उस राजा को निराशा का दुःख न हो।" ॥ ९ ॥

यह निश्चय कर वह महात्मा उस श्रेष्ठ हाथी पर से शीघ्र ही उतरकर "स्वीकार कीजिये" यह कहते हुए, सोने का (जल-पूर्ण) कलश लेकर उन (ब्राह्मणों) के आगे खड़ा हुआ।

अर्थ-परक (अर्थानुसारी, अर्थ-प्रधान) होने के कारण धर्म-विहीन राजशास्त्र (राजनीति) का विद्वान् (जाननेवाला) होकर भी[1] उसने धर्म के अनुराग से वह श्रेष्ठ हाथी दान कर दिया। (राज–) नीति के अतिक्रमण[2] से विचलित नहीं हुआ ॥ १० ॥

बिजली से युक्त शरद् ऋतु के बादल के समान सोने के सुन्दर आभूषण (जाली या हौदा) से विभूषित उस गजेन्द्र को दानकर वह राज-कुमार अत्यन्त प्रसन्न हुआ और नीति के पक्षपाती नगर-निवासी अत्यन्त क्षुब्ध हुए ॥ ११ ॥

तब उस गज-राज के दान की बात सुनकर शिवि (देश के) लोग, वृद्ध ब्राह्मण, मन्त्रिगण, सैनिकगण और मुख्य नागरिक अत्यन्त क्रुद्ध होकर, कोलाहल करते हुए राजा संजय के पास पहुँचकर, घबड़ाहट और क्रोध के आवेश में शिष्टाचार के नियम का उल्लंघन कर बोले—"देव, यह राज्य-लक्ष्मी जा रही है, क्यों आप इस तरह इसकी उपेक्षा कर रहे हैं ? देव अपने राज्य के इस प्रकार बढ़ते हुए उपद्रव की उपेक्षा नहीं कर सकते।" राजा ने आवेग में आकर पूछा—"यह क्या ?" उन्होंने उत्तर दिया—"क्या देव नहीं जानते—

मद-मत्त भ्रमरों से झंकृत एवं मद-धारा से सुगन्धित जिस (हाथी) के मुखमण्डल का सेवन (=स्पर्श) कर पवन दूसरे हाथियों के मद लेप[3] को अनायास ही पोंछता[4] है, जिस (हाथी) के तेज से आपके शत्रुओं का बल और प्रभाव क्षीण होता है, उनका अभिमान विलीन होता है, उस हाथी को (युवराज) विश्वन्तर ने दान कर दिया, उस मूर्तिमान् विजय को दूसरे देश ले जा रहे हैं ॥ १२–१३ ॥

गौ सुवर्ण वस्त्र और भोजन, यह द्विजों को देने योग्य है; किन्तु जिस श्रेष्ठ हाथी में विजय-लक्ष्मी प्रतिष्ठित है उसको दान करना दान-वीरता का अतिक्रमण है ॥ १४ ॥

नीति-मार्ग को छोड़कर चलनेवाले इस युवराज के साथ राज-लक्ष्मी कैसे रहेगी ? यह आपके शत्रुओं को आनन्दित करे इसके पहले ही, हे देव, आप इस विषय में उपेक्षा-भाव को छोड़ें।" ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा स राजा पुत्रप्रियत्वात् किंचित्तानेव प्रत्यप्रीतमनाः कार्यानुरोधात् सावेगवदेवमित्युक्त्वा समनुनेष्यञ्छिवीनुवाच—जाने दानप्रसङ्गव्यसनितां नीतिक्रमानपेक्षां विश्वंतरस्य न चैष क्रमो राज्यधुरि संन्नियुक्तस्य। दत्तं त्वनेन स्वं हस्तिनं वान्तकल्पं कः प्रत्याहरिष्यति। अपि तु तथाहमेव करिष्ये यथा दाने मात्रां ज्ञास्यति विश्वतरः। तदलमत्र वः संरम्भेणेति॥ शिवय ऊचुः—न खलु महाराज परिभाषामात्रसाध्योऽस्मिन्नर्थे विश्वंतर इति॥ संजय उवाच—अथ किमन्यदत्र मया शक्यं कर्तुम्।

दोषप्रवृत्तेर्विमुखस्य यस्य गुणप्रसङ्गा व्यसनीक्रियन्ते।
बन्धो वधो वात्मसुतस्य तस्य किं निष्क्रयः स्याद् द्विरदस्य तस्य॥१६॥

तदलमत्र वः संरम्भेण। निवारयिष्याम्यहमतो विश्वंतरमिति॥

अथ शिवयः समुदीर्णमन्यवो राजानमूचुः—

को वा वा वधं बन्धनताडनं वा सुतस्य ते रोचयते नरेन्द्र।
धर्मात्मकस्त्वेष न राज्यभारक्षोभस्य सोढा करुणामृदुत्वात्॥ १७॥

सिंहासनं तेजसि लब्धशब्दास्त्रिवर्गसेवानिपुणा भजन्ते।
धर्मानुरागान्नयनिरपेक्ष[1]स्तपोवनाध्यासनयोग्य एषः॥ १८॥

फलन्ति कामं वसुधाधिपानां दुर्नीतिदोषास्तदुपाश्रितेषु।
सह्यास्त एषां तु तथापि दृष्टा मूलोपरोधान्न तु पार्थिवानाम्॥ १९॥

किमत्र वा बह्वभिधाय निश्चयस्त्वयं शिवीनां त्वदभूत्यमर्षिणाम्।
प्रयातु वङ्कं तपसोऽभिवृद्धये नृपात्मजः सिद्धनिषेवितं गिरिम्॥ २०॥

अथ स राजा स्नेहप्रणयविस्रम्भवशादनयापायदर्शिना हितोद्यतेन तेन जनेन परिनिष्ठुरमित्यभिधीयमानः प्रकृतिकोपाद् व्रीडावनतवदनः पुत्रवियोगचिन्तापरिगतहृदयः सायासमभिनिश्वस्य शिवीनुवाच—यद्येष भवतां निर्बन्धस्तदेकमप्यहोरात्रमस्य मृष्यताम्। प्रभातायां रजन्यामभिप्रेतं वोऽनुष्ठाता विश्वन्तर इति।

---

१ पा० 'निर्व्यपेक्षस्' ?

यह सुन कर वह पुत्र-प्रिय राजा उन (शिवियों) के ही प्रति कुछ अप्रसन्न हुआ; किन्तु कर्तव्य-निष्ठा के कारण मानो आवेग में आकर कहा—"(आपका कहना) ठीक है" और पुनः शिवियों से अनुनय करते हुए कहा—"मैं जानता हूँ कि विश्वन्तर दान देने में इतना आसक्त है कि वह नीतिमार्ग की उपेक्षा कर बैठा है[1], राज्य-भार वहन करने वाले के लिए यह उचित रास्ता नहीं है। इसने अपना हाथी दान कर दिया, अब उगले हुए (अन्न) के समान उसे कौन लौटायेगा? किन्तु मैं स्वयं ऐसा करूँगा जिसमें विश्वन्तर दान की मात्रा को जाने। अतः आप इस विषय में क्रोध न करें।"

शिवियों ने कहा—"महाराज, इस विषय में डाँट-फटकार से ही (=निन्दा के कठोर वचन से ही) विश्वन्तर को वश में नहीं किया जा सकता।"

संजय ने कहा—"तो इसमें मैं और कर ही क्या सकता हूँ?

वह पापाचार से विमुख (दूर) है, अत्यन्त धर्माचरण ही उसका व्यसन बन गया है। कहिये कि उस हाथी का मूल्य क्या हो सकता है—अपने पुत्र को कारागार में डालना या मार डालना? ॥ १६ ॥

अतः इस विषय में आप क्रोध न करें। मैं विश्वन्तर को इस (व्यसन) से रोकूँगा।"

इस पर शिवियों ने क्रुद्ध होकर राजा से कहा—

"हे राजन्, आपके पुत्र को पीटा जाय, कारागार में डाला जाय या मार डाला जाय—यह किसको अच्छा लगेगा? यह धर्मात्मा अपनी दयालुता और कोमलता के कारण राज्य-भार के कष्ट को सहने में असमर्थ है ॥ १७ ॥

जो विख्यात पराक्रमी हैं और अर्थ-धर्म-काम—इस त्रिवर्ग के सेवन में निपुण हैं वे ही सिंहासन ग्रहण करते हैं। धर्मानुराग के कारण नीति की ओर से उदासीन यह कुमार तो तपोवन में रहने के योग्य है ॥ १८ ॥

राजाओं की दुर्नीति के दोष उनके आश्रितों (=प्रजाओं) में अवश्य फलते हैं। प्रजा-जन में दुर्नीति के ये दोष क्षम्य हो सकते हैं, किन्तु राजाओं में नहीं; क्योंकि इससे मूल का विनाश होगा[2] ॥ १९ ॥

इस विषय में अधिक कहने से क्या? आपके अमङ्गल को नहीं सह सकने वाले शिवियों का यह निश्चय है—राजकुमार सिद्धों से सेवित (=महात्माओं के स्थान) वङ्क-पर्वत पर तप करने के लिए जाय" ॥ २० ॥

जब अनीति-जन्य अनिष्ट की आशंका करने वाली उस हितैषी जनता ने स्नेह प्रेम और विश्वास के कारण राजा से यह कठोर वचन कहा तो प्रजा के क्रोध को देख कर उसने लज्जा से अपना मुख नीचे कर लिया और पुत्र-वियोग की चिन्ता से सन्तप्त होते हुए दुःख की साँस लेकर शिवियों से कहा—"यदि आप लोगों का यही आग्रह है तो एक दिन और एक रात के लिए इसे क्षमा करें। रात के बीतने पर प्रातःकाल विश्वन्तर आपकी इच्छा पूरी करेगा।"

एवमस्त्विति च प्रतिगृहीतानुनयः शिबिभिः स राजा क्षत्तारमुवाच—गच्छेमं वृत्तान्तं विश्वंतराय निवेदयेति। स तथेति प्रतिश्रुत्य शोकाश्रुपरिषिक्तवदनो विश्वंतरं स्वभवनगतमुपेत्य शोकदुःखावेगात् सस्वरं रुदन् पादयोरस्य न्यपतत्। अपि कुशलं राजकुलस्येति च ससंभ्रमं विश्वंतरेणानुयुक्तः समवसीदन्नविशदपदाक्षरमेनमुवाच—कुशलं राजकुलस्येति। अथ कस्मादेवमधीरोऽसीति च पुनरनुयुक्तो विश्वंतरेण क्षत्ता बाष्पवेगोपरुध्यमानगद्गदकण्ठः श्वासविस्खलितलुलिताक्षरं शनैरित्युवाच—

सान्त्वगर्भामनादृत्य नृपाज्ञामप्यदक्षिणाः।
राष्ट्राद्प्रव्राजयन्ति त्वां कुपिताः शिबयो नृप॥ २१॥

विश्वंतर उवाच—मां शिबयः प्रव्राजयन्ति कुपिता इति कः संबन्धः ?

रेमे न विनयोन्मार्गे द्वेष्मि चाहं प्रमादिताम्।
कुत्र मे शिबयः क्रुद्धा यन्न पश्यामि दुष्कृतम्॥ २२॥

क्षत्तोवाच—अत्युदारतायाम्।

अलोमशुभ्रा त्वयि तुष्टिरासील्लोभाकुला याचकमानसेषु।
दत्ते त्वया मानद वारणेन्द्रे धैर्याणि कोपस्त्वहरच्छिबीनाम्॥ २३॥

इत्यतीताः स्वमर्यादां रभसाः शिबयस्त्वयि।
येन प्रव्राजिता यान्ति पथा तेन किल व्रज॥ २४॥

अथ बोधिसत्त्वः कृपाभ्यासरूढां याचनकजनवत्सलतां धैर्यातिशयसंपदं च स्वामुद्भावयन्नुवाच—चपलस्वभावाः खलु शिबयोऽनभिज्ञा इव चास्मत्स्वभावस्य।

द्रव्येषु बाह्येषु क एव वादो दद्यामहं स्वे नयने शिरो वा।
इमं हि लोकार्थमहं बिभर्मि समुच्छ्रयं किम्वथ वस्त्रवाह्यम्॥ २५॥

यस्य स्वगात्रैरपि याचकानां वचांसि संपूजयितुं मनीषा।
भयान्न दद्यात्स इति प्रतर्कः प्रकाशना बालिशचापलस्य॥ २६॥

कामं मां शिबयः सर्वे घ्नन्तु प्रव्राजयन्तु वा।
न त्वेवाहं न दास्यामि गच्छाम्येष तपोवनम्॥ २७॥

अथ बोधिसत्त्वो विप्रियश्रवणविक्लवमुखीं पत्नीमुवाच—श्रुतोऽत्रभवत्या शिबीनां निश्चयः॥ मद्र्युवाच—श्रुतोऽयं देव॥ विश्वंतर उवाच—

"ऐसा ही हो" कह कर जब शिबियों ने राजा के अनुनय-विनय को मान लिया तो उसने क्षत्ता (=द्वारपाल, सारथि) से कहा—"जाकर विश्वन्तर से यह वृत्तान्त कहो।" "बहुत अच्छा" कह कर वह आँसुओं से अपने मुख को सींचते हुए, विश्वन्तर के समीप, जो अपने घर में ही था, पहुँच कर दुःख और शोक के आवेग से फूट-फूट कर रोते हुए उसके चरणों में गिर पड़ा। विश्वन्तर ने घबड़ा कर पूछा—"राज-कुल का कुशल तो है?" उसने कातर होकर अस्पष्ट अक्षरों में कहा—"राज-कुल का कुशल है।" "तो इतना अधीर क्यों हो?" विश्वन्तर के पुनः यह पूछने पर क्षत्ता ने आँसुओं से रुँधे हुए गद्गद कण्ठ से साँसों (सिसकियों) के कारण रुक-रुक कर भग्न अक्षरों में धीरे-धीरे कहा—

"राजा की सान्त्वनापूर्ण आज्ञा का भी उल्लंघन कर ये हृदय-हीन क्रुद्ध शिवि, हे राजन्, आपको निर्वासित कर रहे हैं" ॥ २१ ॥

विश्वन्तर ने पूछा—"शिवि क्रुद्ध होकर मुझे निर्वासित कर रहे हैं, इसका क्या कारण है?

मैं अविनय के मार्ग पर नहीं चलता हूँ और प्रमाद से दूर रहता हूँ। मैं अपना कोई अपराध नहीं देख रहा हूँ। शिवि क्यों मेरे प्रति कुपित हैं?" ॥ २२ ॥

क्षत्ता ने उत्तर दिया—"आपकी अति उदारता से।

अ-लोभ के कारण (निस्वार्थ भाव से हाथी देकर) आपका संतोष निर्दोष और पवित्र था, किन्तु याचकों का लोभ के कारण दूषित। हे सम्मान देने वाले, आपके द्वारा गजेन्द्र दान करने पर, क्रोध ने शिबियों को धैर्य-च्युत कर दिया ॥ २३ ॥

इसलिए आपके प्रति अपनी मर्यादा (प्रतिष्ठा की सीमा) का अतिक्रमण कर ये उद्धत शिवि (आपसे कहते हैं)—"जिस रास्ते से प्रव्रजित (संन्यासी, तपस्वी) जाते हैं उस रास्ते से आप जायँ ॥ २४ ॥

तब बोधिसत्त्व ने याचकों के प्रति करुणा के अभ्यास से उत्पन्न अपना स्नेह-भाव और परम धैर्य प्रकट करते हुए कहा—"ये चपल स्वभाव शिवि मेरे स्वभाव से अनभिज्ञ जान पड़ते हैं।

"बाह्य वस्तुओं का क्या कहना? मैं अपने नेत्र या शिर भी दान कर सकता हूँ। मैं लोकोपकार के लिए ही इस शरीर को धारण करता हूँ; फिर वस्त्र और वाहन[1] का क्या कहना? ॥ २५ ॥

जो अपने शरीर के अवयवों से भी याचकों के वचन (मनोरथ) को सम्मानित (पूरा) करना चाहता है वह भय-भीत होकर दान न दे, यह सोचना मूर्खों की चपलता प्रकट करना है ॥ २६ ॥

भले ही सब शिवि (मिल कर) मुझे मार डालें या निर्वासित करें, किन्तु मैं दान न दूँ यह हो नहीं सकता। मैं यह तपोवन को चला" ॥ २७ ॥

तब बोधिसत्त्व ने अप्रिय समाचार सुनने से उदासमुखी पत्नी से कहा—"सुना आपने शिबियों का निश्चय?" मद्री ने कहा—"सुना, हे देव!" विश्वन्तर ने कहा—

तद्यदस्ति धनं किंचिदस्मत्तोऽधिगतं त्वया ।
निधेहि तदनिन्द्याक्षि यच्च ते पैत्रिकं धनम् ॥ २८ ॥

मद्र्युवाच—कुत्रैतद्वेव निदधामीति । विश्वंतर उवाच—

शीलवद्भ्यः सदा दद्या दानं सत्कारशोभनम् ।
तथा हि निहितं द्रव्यमहार्यमनुगामि च ॥ २९ ॥

प्रियं श्वशुरयोः कुर्याः पुत्रयोः परिपालनम् ।
धर्ममेवाप्रमादं च शोकं मद्विरहात्तु मा ॥ ३० ॥

तच्छ्रुत्वा मद्री संतप्तहृदयापि भर्तुरधृतिपरिहारार्थमनादृत्य शोकदैन्य-मित्युवाच—

नैष धर्मो महाराज यद्याया वनमेककः ।
तेनाहमपि यास्यामि येन क्षत्रिय यास्यसि ॥ ३१ ॥

त्वदङ्गपरिवर्तिन्या मृत्युरुत्सव एव मे ।
मृत्योर्दुःखतरं तत्स्याज्जीवेयं यत्त्वया विना ॥ ३२ ॥

नैव च खलु मे देव वनवासो दुःख इति प्रतिभाति । तथा हि—

निर्दुर्जनान्यनुपभुक्तसरित्तरूणि
नानाविहंगविरुतानि मृगाकुलानि ।
वैडूर्यकुट्टिममनोहरशाद्वलानि
क्रीडावनाधिकसुखानि तपोवनानि ॥ ३३ ॥

अपि च देव !

अलंकृताविमौ पश्यन्कुमारौ माल्यधारिणौ ।
क्रीडन्तौ वनगुल्मेषु न राज्यस्य स्मरिष्यसि ॥ ३४ ॥

ऋतुप्रयत्नरचिता वनशोभा नवा नवाः ।
वने त्वां रमयिष्यन्ति सरित्कुञ्जाश्च सोदकाः ॥ ३५ ॥

चित्रं विरुतवादित्रं पक्षिणां रतिकाङ्क्षिणाम् ।
मदाचार्योपदिष्टानि नृत्तानि च शिखण्डिनाम् ॥ ३६ ॥

माधुर्यानवगीतं च गीतं मधुपयोषिताम् ।
वनेषु कृतसंगीतं हर्षयिष्यति ते मनः ॥ ३७ ॥

आस्तीर्यमाणानि च शर्वरीषु ज्योत्स्नादुकूलेन शिलातलानि ।
संवाहमानो वनमारुतश्च लब्धाधिवासः कुसुमद्रुमेभ्यः ॥ ३८ ॥

चलोपलप्रस्खलितोदकानां कला विरावाश्च सरिद्वधूनाम् ।
विभूषणानामिव संनिनादाः प्रमोदयिष्यन्ति वने मनस्ते ॥ ३९ ॥

"इसलिए, हे सुन्दर आँखों वाली, हमलोगों से या तेरे माता-पिता से प्राप्त जो कुछ धन तेरे पास है उसे रख दे" ॥ २८ ॥

मद्री ने कहा—"उसे कहाँ रखूँ हे देव ?" विश्वन्तर ने कहा—

"शीलवान् व्यक्तियों को सदा सत्कारपूर्वक दान दे; क्योंकि उस प्रकार रखा हुआ धन नष्ट नहीं होता है और (मरण के बाद) साथ जाता है ॥ २९ ॥

सास-ससुर की सेवा कर, पुत्र-पुत्री का पालन कर, प्रमाद-रहित होकर धर्माचरण कर और मेरे वियोग में शोक न कर" ॥ ३० ॥

यह सुन कर मद्री ने संतप्तहृदय होकर भी शोक की उपेक्षा कर स्वामी की धैर्य-रक्षा के लिए कहा—

"हे महाराज, आप अकेले बन जायँ, यह धर्म नहीं। हे क्षत्रिय, मैं भी वहाँ जाऊँगी जहाँ आप जाइयेगा ॥ ३१ ॥

आपके समीप रह कर (आपकी सेवा में) यदि मेरी मृत्यु भी हो जाय तो वह मेरे लिए उत्सव होगा। यदि आपके वियोग में मैं जीवित भी रहूँ तो वह मेरे लिए मृत्यु से भी दुःखदायी होगा ॥ ३२ ॥

और, हे देव, वन-वास मुझे दुःख-दायी नहीं जान पड़ता। क्योंकि—

"दुर्जनों से रहित, निर्मल[1] नदियों और पवित्र[1] वृक्षों से युक्त, नाना पक्षियों से निनादित, मृगों से परिपूर्ण, वैदूर्य-खचित फर्श के समान मनोहर दूर्वाच्छादित (तृणाच्छादित) भूमि से युक्त तपोवन (राज-प्रासादों के कृत्रिम) क्रीडा-उद्यानों से अधिक सुख-दायक हैं ॥ ३३ ॥

और भी, हे देव—

जब आप (फूलों की) मालाएँ धारण करनेवाले, (फूल-पत्तियों से) अलङ्कृत दोनों बच्चों को जंगल की झाड़ियों में खेलते हुए देखियेगा तब आप राज्य को भूल जाइयेगा ॥ ३४॥

(भिन्न भिन्न) ऋतुओं की अभिनव वन-शोभाएँ, लता-निकुञ्ज और जल से भरी हुई नदियाँ जंगल में आपको आनन्दित करेंगी ॥ ३५ ॥

रति चाहनेवाले (कामासक्त) पक्षियों के चित्र-विचित्र कूजनरूपी बाजे, उमंग में आकर नाचनेवाले मोरों के स्वाभाविक[2] नृत्य, भ्रमरियों के सुमधुर गीत—ये तीनों जंगल में आपको संगीत का आनन्द प्रदान करेंगे ॥ ३६–३७ ॥

रात में शिलाओं पर चाँदनीरूपी चादर का बिछाया जाना; फूलों के पेड़ों से सुगन्धि लेकर जंगली हवा द्वारा आपका अङ्ग-मर्दन; चलते हुए पत्थरोंपर गिरने वाली जल-धाराओं की मधुर ध्वनि, जैसे सरितारूपी वधुओं के आभूषणों की झनकार हो;—यह सब वन में आपके मन को प्रमुदित करेंगे" ॥ ३८–३९ ॥

इत्यनुनीयमानः स दयितया वनप्रयाणपर्युत्सुकमतिरर्थिजनापेक्षया महाप्रदानं दातुमुपचक्रमे ॥

अथेमां विश्वंतरप्रव्राजनप्रवृत्तिमुपलभ्य राजकुले तुमुल आक्रन्दशब्दः प्रादुरभूत् । शोकदुःखावेगान्मूर्च्छापरीत इवार्थिजनो मत्तोन्मत्त इव च तत्तद्बहुविधं विललाप ।

छायातरोः स्वादुफलप्रदस्य च्छेदार्थमागूर्णपरश्वधानाम् ।
धात्री न लज्जां यदुपैति भूमिर्व्यक्तं तदस्या हतचेतनत्वम् ॥ ४० ॥

शीतामलस्वादुजलं निपानं बिभित्सतामस्ति न चेन्निषेद्धा ।
व्यर्थाभिधाना बत लोकपाला विप्रोषिता वा श्रुतिमात्रकं वा ॥ ४१ ॥

अधर्मो बत जागर्ति धर्मः सुप्तोऽथवा मृतः ।
यत्र विश्वंतरो राजा स्वस्माद्राज्यान्निरस्यते ॥ ४२ ॥
कोऽनर्थपटुसामर्थ्यो याच्ञानूर्जितवृत्तिषु ।
अस्मास्वनपराधेषु वधाभ्युद्यमनिष्ठुरः ॥ ४३ ॥

अथ बोधिसत्त्वो नैकशतसहस्रसंख्यं मणिकनकरजतपरिपूर्णकोशं विविधधनधान्यनिचयवन्ति कोशकोष्ठागाराणि दासीदासयानवाहनवसनपरिच्छदादि च सर्वमर्थिभ्यो यथार्हमतिसृज्य शोकदुःखाभिभूतधैर्ययोर्मातापित्रोश्चरणानभिप्रणम्य सपुत्रदारः स्यन्दनवरमभिरुह्य पुण्याहघोषेणेव महतो जनकायस्याक्रन्दितशब्देन पुरवरान्निरगच्छत् । अनुरागवशगमनुयायिनं च जनं शोकाश्रुपरिक्लिन्नवदनं प्रयत्नाद्विनिवर्त्य स्वयमेव रथप्रग्रहान् प्रतिगृह्य येन वङ्कः पर्वतस्तेन प्रायात् । व्यतीत्य चाविक्लवमतिरुद्यानवनरुचिरमालिनं पुरवरोपचारमनुपूर्वेण प्रविरलच्छायाद्रुमं विच्छिद्यमानजनसंपातं प्रविचरितमृगगणसंबाधदिगालोकं चीरीविरावोन्नादितमरण्यं प्रत्यपद्यत ॥ अथैनं यदृच्छयाभिगता ब्राह्मणा रथवाहाँस्तुरगानयाचन्त ।

स वर्तमानोऽध्वनि नैकयोजने सहायहीनोऽपि कलत्रवानपि ।
प्रदानहर्षादनपेक्षितायतिर्ददौ द्विजेभ्यश्चतुरस्तुरंगमान् ॥ ४४ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्य स्वयमेव रथधुर्यतामुपगन्तुकामस्य गाढतरं परिकरमभिसंयच्छमानस्य रोहितमृगरूपिणश्चत्वारो यक्षकुमाराः सुविनीता इव सदश्वाः स्वयमेव रथयुगं स्कन्धप्रदेशैः प्रत्यपद्यन्त । तांस्तु दृष्ट्वा हर्षविस्मयविशालतराक्षीं मद्रीं बोधिसत्त्व उवाच—

इस प्रकार प्रियतमा के अनुनय करने पर वह वन जाने के लिए उत्सुक हो, याचकों का खयाल कर उन्हें महादान देने लगा।

विश्वन्तर के इस निर्वासन-समाचार को सुनकर राज-कुल में जोरों से रोने का शब्द हुआ। शोक और दुःख के आवेग से मानो मूर्छित होकर याचकों ने मद-मत्त और पागल के समान भाँति भाँति से विलाप किया—

"(शीतल) छाया और स्वादिष्ठ फल देनेवाले वृक्ष को काटने के लिए जिन्होंने कुठार उठाये[1] हैं उनके प्रति पृथ्वी माता जो लज्जित नहीं हो रही है सो स्पष्ट ही यह चेतना-हीन हो गई है॥ ४० ॥

शीतल विमल और मधुर जल के कुएँ को जो फोड़ना चाहते हैं, उन्हें रोकनेवाला यदि कोई नहीं है तो लोकपालों का नाम व्यर्थ है, या वे कहीं चले गये हैं, या (हैं तो) नाममात्र के लिए हैं॥ ४१ ॥

जहाँ युवराज विश्वन्तर अपने राज्य से निकाला जा रहा है वहाँ अधर्म जाग्रत् है और धर्म सोया हुआ या मरा हुआ है ॥ ४२ ॥

इस अनर्थ को उपस्थित करने में (=इस अनिष्ट का सर्जन करने में) समर्थ वह कौन है जो भिक्षा से जीनेवाले हम निरपराधों को (भूखों) मारने की चेष्टा में निष्ठुर हो गया है ?" ॥ ४३ ॥

तब बोधिसत्त्व लाखों की संख्या में (या लाखों का) सोना चाँदी और मणियों से परिपूर्ण कोश, विविध धनों के निधि, नाना प्रकार के अन्न-भण्डार, दास-दासी, गाड़ी-सवारी, वस्त्र-आभूषण आदि सब कुछ याचकों को यथायोग्य देकर, शोक और दुःख से विचलित-धैर्य माता-पिता के चरणों में प्रणाम कर, पुत्र-पुत्री और पत्नी के साथ उत्तम रथ पर सवार होकर, विशाल जन-समूह के रोने के शब्द के साथ—मानो पुण्य-दिवस की घोषणा के साथ—नगर से निकले। प्रेम-वश पीछे पीछे जानेवाले लोगों को, जिनके मुख शोक के आँसुओं से भीगे थे, प्रयत्नपूर्वक लौटाकर वे स्वयं ही रथ (के घोड़ों) की रस्सियाँ पकड़कर जहाँ वङ्क पर्वत था, वहाँ चले। शान्तचित्त होकर उन्होंने उद्यानों और उपवनों की श्रृंखलाओं से सुशोभित नगर के समीपवर्ती स्थानों को पार किया। अब क्रमशः छाया-वृक्षों की विरलता हो रही थी, मनुष्यों का आवागमन कट रहा था, चारों ओर विचरते मृगों (या पशुओं) से दिशाओं का आलोक लुप्त हो रहा था। वे झिंगुरों की बोली से गूँजते हुए जंगल में पहुँचे। तब संयोग से आये हुए ब्राह्मणों ने उनसे रथ ढोनेवाले घोड़ों की याचना की।

यद्यपि अभी वे अनेक योजनों के मार्गपर पत्नी के साथ अनुचरों से रहित थे, तथापि दान के आनन्द से भविष्य की उपेक्षा कर उन्होंने चारों घोड़े द्विजों को दे दिये ॥ ४४ ॥

अब बोधिसत्त्व स्वयं ही रथ ढोने की इच्छा से दृढ़ परिकर-बद्ध हो रहे थे कि रोहित मृगों के रूप में चार यक्ष-कुमार प्रकट हुए। उन्होंने सुशिक्षित (सुविनीत) उत्तम घोड़ों के समान स्वयं ही रथ के जुए को अपने कन्धों पर ले लिया। उन्हें देखकर आनन्द और आश्चर्य से विकसित आँखोंवाली मद्री से बोधिसत्त्व ने कहा—

तपोधनाध्यासनसत्कृतानां पश्य प्रभावातिशयं वनानाम् ।
यत्रैवमभ्यागतवत्सलत्वं संरूढमूलं मृगपुंगवेषु ॥ ४५ ॥

मद्रयुवाच—

तवैवाहमिमं मन्ये प्रभावमतिमानुषम् ।
रूढोऽपि हि गुणाभ्यासः सर्वत्र न समः सताम् ॥ ४६ ॥

तोयेषु ताराप्रतिबिम्बशोभा विशेष्यते यत्कुमुदप्रहासैः ।
कौतूहलाभिप्रसृता इवेन्दोर्हेतुत्वमत्राग्रकराः प्रयान्ति ॥ ४७ ॥

इति तयोरन्योन्यानुकूल्यात्परस्परं प्रियं वदतोरध्वानं गच्छतोरथापरो ब्राह्मणः समभिगम्य बोधिसत्त्वं रथवरमयाचत ।

ततः स्वसुखनिःसङ्गो याचकप्रियबान्धवः ।
पूरयामास विप्रस्य स रथेन मनोरथम् ॥ ४८ ॥

अथ बोधिसत्त्वः प्रीतमना रथादवतार्य स्वजनान्निर्यात्य रथवरं ब्राह्मणाय जालिनं कुमारमङ्केनादाय पद्भ्यामेवाध्वानं प्रत्यपद्यत । अविमनस्कैव च मद्री कृष्णाजिनां कुमारीमङ्केनादाय पृष्ठतोऽन्वगच्छदेनम् ॥

निमन्त्रयामासुरिव द्रुमास्तं हृद्यैः फलैरानमिताग्रशाखाः ।
पुण्यानुभावादभिवीक्षमाणाः शिष्या विनीता इव च प्रणेमुः ॥ ४९ ॥

हंसांसविक्षोभितपङ्कजानि किञ्जल्करेणुस्फुटपिञ्जराणि ।
प्रादुर्बभूवुश्च सरांसि तस्य तत्रैव यत्राभिचकाङ्क्ष वारि ॥ ५० ॥

वितानशोभां दधिरे पयोदाः सुखः सुगन्धिः प्रववौ नभस्वान् ।
परिश्रमक्लेशममृष्यमाणा यक्षाश्च संचिक्षिपुरस्य मार्गम् ॥ ५१ ॥

इति बोधिसत्त्व उद्यानगत इव पादचारविनोदनसुखमनुभवन्मार्गपरिखेद-रसमनास्वाद्य सपुत्रदारः प्रान्त एव तु वङ्कपर्वतमपश्यत् । तत्र च पुष्पफलपल्लवालंकृतस्निग्धविविधरुचिरतरुवरनिचितं मदमुदितविहंगबहुविधरुतविनदं प्रवृत्तनृत्तबर्हिगणोपशोभितं प्रविचरितनैकमृगकुलं कृतपरिकरमिव विमलनीलसलिलया सरिता कुसुमरजोऽरुणसुखपवनं तपोवनं वनचरकादेशितमार्गः प्रविश्य विश्वकर्मणा शक्रसंदेशात् स्वयमभिनिर्मितां मनोज्ञदर्शनां सर्वर्तुसुखां तत्र प्रविविक्तां पर्णशालामध्यावसत् ।

"तपस्वियों के निवास से सत्कृत[1] तपोवन का उत्कृष्ट प्रभाव देखो जहाँ के श्रेष्ठ मृगों में भी इस प्रकार का अतिथि-प्रेम बद्धमूल है" ॥ ४५ ॥

मद्री ने कहा—

"मैं तो इसे आपका ही अलौकिक प्रभाव मानती हूँ। क्योंकि, सज्जन सद्‌गुणी होकर भी अपने गुणों को सर्वत्र समान रूप से नहीं दिखलाते ॥ ४६ ॥

पानी में ताराओं के प्रतिबिम्ब की शोभा को (खिलते हुए) कुमुदों की शोभा मात कर देती है, इसका कारण है चन्द्रमा की किरणें जो मानों कुतूहल से (कुमुदों तक) पहुँचती हैं" ॥ ४७ ॥

जब वे दोनों (दम्पती) इस तरह एक दूसरे के मनोनुकूल परस्पर मधुर वचन बोलते हुए जा रहे थे तब एक दूसरे ब्राह्मण ने समीप आकर बोधिसत्त्व से उस उत्तम रथ की याचना की।

तब अपने सुख की ओर से लापरवाह, उस याचकों के प्रिय बन्धु ने रथ देकर ब्राह्मण का मनोरथ पूरा किया ॥ ४८ ॥

बोधिसत्त्व ने प्रसन्नतापूर्वक स्वजनों को रथ से उतारकर और ब्राह्मण को रथ देकर[2], कुमार जाली को स्वयं अपनी गोद में लेकर रास्ता पकड़ा। और, मद्री भी प्रसन्नतापूर्वक कुमारी कृष्णाजिना[3] को अपनी गोद में लेकर उनके पीछे पीछे चलीं।

वृक्षों ने अपनी शाखाओं के अग्रभाग झुकाकर उन्हें अपने स्वादिष्ठ फलों के लिए[4] निमंत्रित किया; पुण्य के प्रभाव से उनका दर्शन पाकर उन वृक्षों ने विनीत शिष्यों के समान उन्हें मानो प्रणाम किया ॥ ४९ ॥

जहाँ कहीं उन्होंने जल की आकाङ्क्षा की वहीं सरोवर प्रकट हुए, जिनके कमल हंसों के परों से प्रकम्पित हो रहे थे और जिनका जल कमलों के पराग से लाल-पीला हो रहा था ॥ ५० ॥

बादलों ने (प्रकट होकर उनके ऊपर) चँदोवे की शोभा धारण की, सुख-दायक सुगन्धित हवा बही, और उनकी थकावट की पीड़ा को नहीं सह सकनेवाले यक्षों ने उनके मार्ग को संक्षिप्त (छोटा) कर दिया ॥ ५१ ॥

इस प्रकार पुत्र-पुत्री और पत्नी के साथ उन्हें रास्ते की थकावट मालूम नहीं हुई, जान पड़ा जैसे वे उद्यान में पैदल चलने का (टहलने का) आनन्द अनुभव कर रहे हों। अन्त में उन्होंने वङ्क पर्वत को देखा। और, किसी वनचारी के बतलाये रास्ते से चलकर वे फूलों फलों व पल्लवों से अलंकृत हरे-भरे[5] नाना प्रकार के मनोहर वृक्षों से खचित, प्रमुदित पक्षियों के बहुविध कूजन से निनादित, नाचते हुए मोरों से सुशोभित, विचरते हुए अनेक प्रकार के मृगों से युक्त, निर्मल नीलाभ जलवाली नदी से परिवेष्टित, फूलों के पराग से सुगन्धित सुख-दायक हवा से युक्त[6] तपोवन में पहुँचे और वहाँ शक्र के आदेश से स्वयं विश्वकर्मा द्वारा बनाई गई देखने में सुन्दर सब ऋतुओं में सुख-दायक एकान्त और पवित्र पर्णशाला में रहने लगे।

तस्मिन्वने दयितया परिचर्यमाणः
शृण्वन्नयत्नमधुरांश्च सुतप्रलापान् ।
उद्यानसंस्थ इव विस्मृतराज्यचिन्तः
संवत्सरार्धमधिकं स तपश्चचार ॥ ५२ ॥

अथ कदाचिन्मूलफलार्थं गतायां राजपुत्र्यां पुत्रयोः परिपालननिमित्तमाश्रमपदमशून्यं कुर्वाणे राजपुत्रे मार्गरेणुपरुषीकृतचरणप्रजङ्घः परिश्रमक्षामनयनवदनो दण्डकाष्ठावबद्धस्कन्धावसक्तकमण्डलुर्ब्राह्मणः पत्न्या परिचारकानयनार्थं समर्पितदृढसंदेशस्तं देशमुपजगाम । अथ बोधिसत्त्वश्चिरस्यार्थिजनं दृष्ट्वाऽभिगतं मनःप्रहर्षात् समुपजायमाननयनवदनप्रसादः प्रत्युद्गम्य स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरं प्रवेश्य चैनमाश्रमपदं कृतातिथिसत्कारमागमनप्रयोजनमपृच्छत् । अथ स ब्राह्मणो भार्यानुरागादुत्सारितधैर्यलज्जः प्रतिग्रहमात्रसज्ञो नियतमर्थमीदृशमुवाच—

आलोको भवति यतः समश्च मार्गो
लोकोऽयं व्रजति ततो न दुर्गमेण ।
प्रायोऽस्मिञ्जगति तु मत्सरान्धकारे-
णान्ये न प्रणयपदानि मे वहन्ति ॥ ५३ ॥

प्रदानशौर्योदितया यशःश्रिया गतं च गन्तव्यमशेषतस्तव ।
अतोऽस्मि याच्ञाश्रममभ्युपेयिवान्प्रयच्छ तन्मे परिचारकौ सुतौ ॥ ५४ ॥

इत्युक्ते बोधिसत्त्वो महासत्त्वः

दानप्रीतौ कृताभ्यासः प्रत्याख्यातुमशिक्षितः ।
ददामीत्यवदद् धृष्टं दयितौ तनयावपि ॥ ५५ ॥

स्वस्त्यस्तु, तत्किमिदानीमास्यत इति च ब्राह्मणेनाभिहितः स महासत्त्वः प्रदानकथाश्रवणोत्पतितविषादविप्लुताक्षयोः सुतयोः स्नेहावेगादवलम्बमानहृदयो बोधिसत्त्व उवाच—

दत्तावेतौ मया तुभ्यं किं तु मातानयोर्गता ।
वनं मूलफलस्यार्थे सायमद्यागमिष्यति ॥ ५६ ॥

तया दृष्टावुपाघ्रातौ मालिनावभ्यलंकृतौ ।
इहैकरात्रं विश्रम्य श्वो नेतासि सुतौ मम ॥ ५७ ॥

ब्राह्मण उवाच—अलमनेनात्रभवतो निर्बन्धेन ।

गौणमेतद्धि नारीणां नाम वामा इति स्थितम् ।
स्याच्चैव दानविघ्नस्ते तेन वासं न रोचये ॥ ५८ ॥

उस तपोवन में अपनी प्रियतमा की सेवाओं का उपभोग करते हुए, अपने बच्चों की अकृत्रिम और मीठी बातें सुनते हुए, राज-उद्यान में रहनेवाले के समान राज्य-चिन्ताओं को भूलकर उन्होंने छः महीने तक कठोर तपस्या की ॥ ५२ ॥

एकबार जब राज-पुत्री (मद्री) फल-मूल लाने के लिए गई और राजपुत्र (विश्वन्तर) बच्चों की रक्षा के लिए आश्रम में रहे तब एक ब्राह्मण वहाँ आया। रास्ते की धूल से भरकर उसके पैर और टाँगें कड़ी हो गई थीं, थकावट से उसके नेत्र और मुख धँस गये थे, उसके कंधेपर काठ की लाठी से एक कमण्डलु लटक रहा था, उसकी पत्नी ने (सेवा-कर्म के लिए) सेवक लाने का दृढ़ आदेश देकर उसे भेजा था। बहुत दिनों के बाद याचक को आया देखकर, हार्दिक प्रसन्नता के कारण बोधिसत्त्व के नेत्र और मुख खिल उठे। वे आगे जाकर स्वागत आदि के मधुर वचनों के साथ उसे आश्रम के भीतर ले आये और अतिथि-सत्कार कर चुकनेपर उससे आने का प्रयोजन पूछा। पत्नी-प्रेम के कारण धैर्य और लज्जा को छोड़कर, केवल याचना के लिए ही उद्यत उस ब्राह्मण ने अपना निश्चित प्रयोजन यों कहा—

"जहाँ प्रकाश और समतल मार्ग होता है वहाँ लोगों के लिए चलना सुगम है (मैं अपनी जीवन-यात्रा सुगम बनाना चाहता हूँ), किन्तु स्वार्थान्धता के कारण इस जगत् में दूसरे लोग मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं कर सकते ॥ ५३ ॥

आपकी दान-वीरता से उत्पन्न आपकी कीर्ति-लक्ष्मी सर्वत्र व्याप्त है; अतः मैंने यह याचना का कष्ट उठाया है, सो इन दोनों बच्चों को आप मेरी परिचर्या (=सेवा-शुश्रूषा) के लिए दें" ॥ ५४ ॥

इतना कहनेपर महासत्त्व बोधिसत्त्व ने,

जिन्होंने अस्वीकार करना सीखा नहीं था और जिन्होंने दान देने में आनन्दित होने का अभ्यास किया था, साहसपूर्वक कहा—"मैं ये दोनों प्यारे बच्चे भी दे दूँगा।" ॥ ५५ ॥

"स्वस्ति हो। तो आप बैठे क्यों हैं ?" इस प्रकार जब उस ब्राह्मण ने महासत्त्व से पूछा, तब दान की बात सुनकर दुःख से अश्रु-प्लावित-नेत्र बच्चों के प्रति स्नेह उमड़ने के कारण विषण्ण हृदय बोधिसत्त्व ने कहा—

"मैंने दोनों बच्चे आपको दे दिये, किन्तु इनकी माता फल-मूल लाने के लिए जंगल गई है, आज शाम को आयेगी। आप यहाँ एक रात ठहर जायँ। (जंगल से आकर) वह मालाओं और आभूषणों से विभूषित बच्चों को देखेगी और सूंघेगी। कल (प्रातःकाल) आप इन्हें ले जाइयेगा।" ॥ ५६-५७ ॥

ब्राह्मण ने कहा—"आप यह हठ न करें।"

स्त्रियों का जो यह 'वामा'[१] नाम पड़ा है वह उनके गुण से ही। आपके दान में विघ्न न हो, इसीलिए यहाँ ठहरना मुझे पसन्द नहीं है।" ॥ ५८ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अलं दानविघ्नशङ्कया। सहधर्मचारिणी मम सा। यथा वात्रभवते रोचते। अपि च महाब्राह्मण,

सुकुमारतया बाल्यात्परिचर्यास्वकौशलात्।
कीदृशीं नाम कुर्यातां दासप्रीतिमिमौ तव॥ ५९॥

दृष्ट्वा त्वित्थंगतावेतौ शिबिराजः पितामहः।
अद्धा दद्याद्यदिष्टं ते धनं निष्क्रयमेतयोः॥ ६०॥

यतस्तद्विषयं साधु त्वमिमौ नेतुमर्हसि।
एवं ह्यर्थेन महता धर्मेण च समेष्यसि॥ ६१॥

(ब्राह्मण उवाच) न शक्ष्याम्यहमाशीविषदुरासदं विप्रियोपायनेन राजानमभिगन्तुम्।

आच्छिन्द्यान्मदिमौ राजा दण्डं वा प्रणयेन्मयि।
यतो नेष्याम्यहमिमौ ब्राह्मण्याः परिचारकौ॥ ६२॥

अथ बोधिसत्त्वो यथेष्टमिदानीमित्यपरिसमाप्तार्थमुक्त्वा सानुनयमनुशिष्य तनयौ परिचर्यानुकूल्ये प्रतिग्रहार्थमभिप्रसारिते ब्राह्मणस्य पाणौ कमण्डलुमावर्जयामास।

तस्य यत्नानुरोधेन पपाताम्बु कमण्डलोः।
पद्मपत्त्राभिताम्राभ्यां नेत्राभ्यां स्वयमेव तु॥ ६३॥

अथ स ब्राह्मणो लाभातिहर्षात् संभ्रमाकुलितमतिर्बोधिसत्त्वतनयापहरणत्वरया संक्षिप्तपदमाशीर्वचनमुक्त्वा निर्गम्यतामित्याज्ञाकर्कशेन वचसा कुमारावाश्रमपदान्निष्क्रामयितुमारेभे॥ अथ कुमारौ वियोगदुःखातिभारव्यथितहृदयौ पितरमभिप्रणम्य बाष्पोपरुध्यमाननयनावूचतुः—

अम्बा च तात निष्क्रान्ता त्वं च नौ दातुमिच्छसि।
यावत्तामपि पश्यावस्ततो दास्यसि नौ भवान्॥ ६४॥

अथ स ब्राह्मणः पुरा मातानयोरागच्छति, अस्य वा पुत्रस्नेहात् पश्चात्तापः संभवतीति विचिन्त्य पद्मकलापमिवानयोर्हस्तानाबद्ध्य लतया संतर्ज्यन्निश्चेष्टमानौ पितरं प्रति व्यावर्तितवदनौ प्रकृतिसुकुमारौ कुमारौ प्रचकर्ष॥

अथ कृष्णाजिना कुमार्यपूर्वदुःखोपनिपातात् सस्वरं रुदती पितरमुवाच—

अयं मां ब्राह्मणस्तात लतया हन्ति निर्दयः।
न चायं ब्राह्मणो व्यक्तं धार्मिका ब्राह्मणाः किल॥ ६५॥

यक्षोऽयं ब्राह्मणच्छद्मा नूनं हरति खादितुम्।
नीयमानौ पिशाचेन तात किं नावुपेक्षसे॥ ६६॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"आप दान में विघ्न होने की आशंका न करें। वह मेरी सहधर्म-चारिणी है। या आपको जो पसन्द हो। और, हे महाब्राह्मण,

सेवा में अकुशल ये सुकुमार बच्चे सेवाद्वारा आपको भला कहाँ तक खुश करेंगे। इस अवस्था में इन्हें देखकर इनके पितामह शिवि-राज (दासता से) इन्हें छुड़ाने के लिए अवश्य ही आपको यथेष्ट धन देंगे। इसलिए आप इन्हें उनके राज्य में ले जाइये, इस प्रकार आपको बहुत धन और धर्म प्राप्त होगा ॥ ५९-६१ ॥

(ब्राह्मण ने कहा—) "मैं यह अप्रिय उपहार लेकर सर्प के समान दुर्गम राजा के पास न जा सकूँगा।

राजा मुझसे इन बच्चों को छीन लेगा या मुझे दण्ड भी देगा। अतः मैं इन परिचारकों को ब्राह्मणी के समीप ही ले जाऊँगा ॥ ६२ ॥

तब बोधिसत्त्व ने "जैसी आपकी इच्छा " यह अधूरा वाक्य कहकर, अपने बच्चों को सेवा में प्रवृत्त होने के लिए अनुनयपूर्वक उपदेश देकर, दान ग्रहण करने के लिए ब्राह्मण के पसारे हुए हाथपर कमण्डलु झुकाया।

उनके प्रयत्न करनेपर कमण्डलु से जल गिरा, किन्तु कमल की पंखुड़ियों के समान ताम्रवर्ण नेत्रों से स्वयं ही अश्रु-जल निकल पड़ा ॥ ६३ ॥

तब वह ब्राह्मण लाभ के आनन्दातिरेक में घबड़ाहट से व्याकुलचित्त होकर बोधिसत्त्व के बच्चों के अपहरण की शीघ्रता में संक्षिप्त आशीर्वाद देकर, "निकलो" यह कठोर आज्ञा देता हुआ, उन्हें आश्रम से निकालने लगा। जुदाई के भारी दुःख से उनके हृदय में बड़ी पीड़ा हुई, आँसुओं से उनकी आँखें भर आईं। पिता को प्रणाम कर उन्होंने कहा—

"हे पिता, माताजी बाहर गई हैं, और आप हमें दान करना चाहते हैं। हम उनका भी दर्शन कर लें, तब आप हमें दान कीजियेगा।" ॥ ६४ ॥

अब उस ब्राह्मण ने सोचा—'कहीं इनकी माता न आ जाय या इसे बच्चों के प्रति स्नेह न उत्पन्न हो जाय।' यह सोचकर वह कमलों के गुच्छे के समान उनके हाथों को लता से बाँधकर, पिता की ओर मुख घुमाकर छटपटाते हुए स्वभावतः सुकुमार बच्चों को डरा-धमका कर खींचने लगा।

इस अपूर्व विपत्ति में पड़ कर कुमारी कृष्णाजिना विलख-विलखकर पिता से कहने लगी—

"पिताजी, यह निर्दय ब्राह्मण मुझे लता से मार रहा है, स्पष्ट ही यह ब्राह्मण नहीं है, ब्राह्मण तो धार्मिक होते हैं। ब्राह्मण के कपट-वेष में यह यक्ष निश्चय ही खाने के लिए हमारा अपहरण कर रहा है। पिशाच हमें लिये जा रहा है; पिताजी, आप क्यों हमारी उपेक्षा कर रहे हैं?" ॥ ६५-६६ ॥

अथ जाली कुमारो मातरमनुशोचन्नुवाच—

नैवेदं मे तथा दुःखं यदयं हन्ति मां द्विजः।
नापश्यमम्बां यत्त्वद्य तद्विदारयतीव माम् ॥ ६७ ॥

रोदिष्यति चिरं नूनमम्बा शून्ये तपोवने।
पुत्रशोकेन कृपणा हतशावेव चातकी ॥ ६८ ॥

अस्मदर्थं समाहृत्य वनान्मूलफलं बहु।
भविष्यति कथं न्वम्बा दृष्ट्वा शून्यं तपोवनम् ॥ ६९ ॥

इमे नावश्वकास्तात हस्तिका रथकाश्च ये।
अतोऽर्धं देयमम्बायै शोकं तेन विनेष्यति ॥ ७० ॥

वन्द्यास्मद्वचनादम्बा वार्या शोकाच्च सर्वथा।
दुर्लभं हि पुनस्तात तव तस्याश्च दर्शनम् ॥ ७१ ॥

एहि कृष्णे मरिष्यावः को न्वर्थो जीवितेन नौ।
दत्तावावां नरेन्द्रेण ब्राह्मणाय धनैषिणे ॥ ७२ ॥

इत्युक्त्वा जग्मतुः ॥ अथ बोधिसत्त्वस्तेनातिकरुणेन तनयप्रलापेनाकम्पितमतिरपि क इदानीं दत्त्वानुतापं करिष्यतीति निष्प्रतीकारेण शोकाग्निना विनिर्दह्यमानहृदयो विषवेगमूर्च्छापरिगत इव समुपरुध्यमानचेतास्तत्रैव निषसाद। शीतलानिलव्यजनप्रतिलब्धसंज्ञश्च निष्कूजमिवाश्रमपदं तनयशून्यमभिवीक्ष्य बाष्पगद्गदसंनिरुद्धकण्ठ इत्यात्मगतमुवाच—

पुत्राभिधाने हृदये समक्ष प्रहरन्मम।
नाशङ्कत कथं नाम धिगलज्जो बत द्विजः ॥ ७३ ॥

पत्तिकावनुपानत्कौ सौकुमार्यात्क्लमासहौ।
यास्यतः कथमध्वानं तस्य च प्रेष्यतां गतौ ॥ ७४ ॥

मार्गश्रमपरिम्लानौ कोऽद्य विश्रामयिष्यति।
क्षुत्तर्षदुःखाभिहतौ याचिष्येते कमेत्य वा ॥ ७५ ॥

मम तावदिदं दुःखं धीरतां कर्तुमिच्छतः।
का त्ववस्था मम तयोः सुतयोः सुखवृद्धयोः ॥ ७६ ॥

अहो पुत्रवियोगाग्निर्निर्दहत्येव मे मनः।
सतां तु धर्मं संस्मृत्य कोऽनुतापं करिष्यति ॥ ७७ ॥

अथ मद्री विप्रियोपनिपातशंसिभिरनिष्टैर्निमित्तैरुपजनितवैमनस्या मूलफलान्यादाय क्षिप्रतरमागन्तुकामापि व्याडमृगोपरुध्यमानमार्गा चिरतरेणाश्रमपदमुपजगाम। उचितायां च प्रत्युद्गमनभूमावाक्रीडास्थाने च तनयावपश्यन्ती भृशतरमरतिवशमगात्।

कुमार जाली ने माता के लिए शोक करते हुए कहा—"यह ब्राह्मण मुझे लता से जो मार रहा है, यह मेरे लिए उतना दुःखदायी नहीं है; किन्तु मैंने आज माता को जो न देखा, इससे मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है ॥ ६७ ॥

माता शून्य तपोवन में, अपने बच्चों के मारे जाने से (शोकाकुल) चातक चिड़िया के समान, हमारे लिए चिरकाल तक रोयेंगी ॥ ६८ ॥

हमारे लिए जंगल से बहुत-सा फलमूल लाकर (माताजी जब लौटेंगी तब) तपोवन को सूना देखकर उनकी क्या अवस्था होगी ? ६९ ॥

हे पिताजी, हमारे खेलने के जो ये घोड़े हाथी और रथ हैं इनमें से आधा माँ को दे देना, इससे वे अपना दुःख दूर करेंगी ॥ ७० ॥

माताजी को हमारा प्रणाम निवेदन कीजियेगा और उन्हें जैसे भी हो शोक से रोकियेगा। पिताजी, अब आपका और माताजी का दर्शन दुर्लभ है ॥ ७१ ॥

कृष्णे, आओ हम मर जावँ। हमारे जीवित रहने से क्या प्रयोजन ? राजा ने हम दोनों को इस धन-लोलुप ब्राह्मण के हाथ दे दिया।" ॥ ७२ ॥

यह कहकर दोनों चले गये। बच्चों के उस करुण प्रलाप को सुनकर यद्यपि बोधिसत्त्व का निश्चय अविचल रहा तथापि 'देकर अब कौन पछताये' यह सोचते हुए भी उनका हृदय असाध्य शोकाग्नि से जलने लगा। विष के वेग से मूर्छित हुए के समान बेहोश होकर वे वहीं बैठ रहे। ठंढी हवारूपी पंखे के चलने से होश में आकर, बच्चों से रहित आश्रम को निःशब्द और नीरव देखकर, उन्होंने आँसुओं से रुँधे स्वर में अपने को ही कहा—

"पुत्रनामक (=सन्तान-रूप) मेरे हृदय पर मेरे समक्ष प्रहार करता हुआ वह क्यों शंकित नहीं हुआ ? धिक्कार है उस निर्लज्ज द्विज को ! ॥ ७३ ॥

सुकुमारता के कारण थकावट सहने में असमर्थ बच्चे उनके दास बनकर जूतों के बिना पैदल कैसे रास्ता चलेंगे ? ॥ ७४ ॥

रास्ते की थकावट से मुरझाये हुए बच्चों को आज कौन विश्राम करायेगा ? या भूख-प्यास की ज्वाला से व्यथित होकर वे किसके पास जाकर माँगेंगे ? ॥ ७५ ॥

मुझ धैर्य चाहनेवाले को जब इतना दुःख है तब सुख में पले हुए मेरे उन बच्चों की क्या अवस्था होगी ? ॥ ७६ ॥

अहो ! पुत्र-वियोग का शोकाग्नि मेरे हृदय को जला रहा है अवश्य; किन्तु सज्जनों के धर्म का अनुस्मरण कर कौन पश्चात्ताप करे ?" ॥ ७७ ॥

मद्री विपत्ति-सूचक दुर्लक्षणों को देखकर उदास हो गई। वह फल-मूल लेकर शीघ्र लौट आना चाहती थी, किन्तु हिंसक पशुओं ने उसका रास्ता रोक रखा; अतः वह (टेढ़े-मेढ़े लम्बे रास्ते से) देर से आई। आगे आकर मिलने के नियत स्थानपर या खेलने के स्थान पर अपने बच्चों को न देखकर वह बहुत बेचैन हो गई।

अनीप्सिताशङ्कितजातसंभ्रमा ततः सुतान्वेषणचञ्चलेक्षणा ।
प्रसक्तमाह्वानमसंपरिग्रहं तयोर्विदित्वा व्यलपच्छुचातुरा ॥ ७८ ॥

समाजवद्यत्प्रतिभाति मे पुरा सुतप्रलापप्रतिनादितं वनम् ।
अदर्शनादद्य तयोस्तदेव मे प्रयाति कान्तारमिवाशरण्यताम् ॥ ७९ ॥

किं नु खलु तौ कुमारौ—

क्रीडाप्रसङ्गश्रमजातनिद्रौ सुप्तौ नु नष्टौ गहने वने वा ।
चिरान्मदभ्यागमनादतुष्टौ स्यातां क्वचिद् बालतया निलीनौ ॥ ८० ॥

रुवन्ति कस्माच्च न पक्षिणोऽप्यमी समाकुलास्तद्वधसाक्षिणो यदि ।
तरंगभङ्गैरविनीतकोपया हृतौ नु किं निम्नगयातिवेगया ॥ ८१ ॥

अपीदानीं मे वितथा मिथ्याविकल्पा भवेयुः । अपि राजपुत्राय सपुत्राय स्वस्ति स्यात् । अप्यनिष्टनिवेदिनां निमित्तानां मच्छरीर एव विपाको भवेत् । किं नु खल्विदमनिमित्तापवृत्तप्रहर्षमरतितमिस्रयावच्छाद्यमानं विद्रवतीव हृदयम् । विस्रस्यन्त इव मे गात्राणि । व्याकुला इव दिग्विभागाः । भ्रमतीव चेदं परिध्वस्तलक्ष्मीकं वनमिति । अथानुप्रविश्याश्रमपदमेकान्ते निक्षिप्य मूलफलं यथोपचारपुरःसरं भर्तारमभिगम्य क्व दारकाविति पप्रच्छ । अथ बोधिसत्त्वो जानानः स्नेहदुर्बलतां मातृहृदयस्य दुर्निवेद्यत्वाच्च विप्रियस्य नैनां किंचिद्वक्तुं शशाक ।

जनस्य हि प्रियार्हस्य विप्रियाख्यानवह्निना ।
उपेत्य मनसस्तापः सघृणेन सुदुष्करः ॥ ८२ ॥

अथ मद्री व्यक्तमकुशलं मे पुत्रयोः यदयमेवं तूष्णींभूतः शोकदैन्यानुवृत्त्यैवेत्यवधार्य समन्ततः क्षिप्तचित्तेव विलोक्याश्रमपदं तनयावपश्यन्ती सबाष्पगद्गदं पुनरुवाच—

दारकौ च न पश्यामि त्वं च मां नाभिभाषसे ।
हता खल्वहं कृपणा विप्रियं हि न कथ्यते ॥ ८३ ॥

इत्युक्त्वा शोकाग्निना परिगतहृदया छिन्नमूलेव लता निपपात । पतन्तीमेव चैनां परिगृह्य बोधिसत्त्वस्तृणशयनमानीय शीताभिरद्भिः परिषिच्य प्रत्यागतप्राणां समाश्वासयन्नुवाच—

सहसैव न ते मद्रि दुःखमाख्यातवानहम् ।
नहि संभाव्यते धैर्यं मनसि स्नेहदुर्बले ॥ ८४ ॥

अनिष्ट (अमङ्गल) की आशंका से वह घबड़ा गई और अपनी चञ्चल आँखों से बच्चों को खोजने लगी। बार बार पुकारनें पर भी वे कुछ उत्तर नहीं दे रहे हैं, यह जानकर वह शोकाकुल होकर विलाप करने लगी ॥ ७८ ॥

"बच्चों की बातों से गूँजता हुआ जो जंगल पहले मुझे समाज के समान जान पड़ता था आज बच्चों को न देखने के कारण वही जंगल बीहड़ वन (या मरुभूमि) के समान मुझे काट रहा है ॥ ७९ ॥

क्या वे बच्चे—

खेलते खेलते थककर नींद से सो तो नहीं गये हैं ? या घने वन में खो तो नहीं गये हैं ? या मैं देर से आई हूँ, इसी लिए रुष्ट होकर बाल-भाव के कारण छिप तो नहीं गये हैं ? ॥८०॥

ये पक्षी बोल क्यों नहीं रहे हैं ? शायद बच्चों की विपत्ति देखकर व्याकुल हों। या नीचे की ओर जोरों से बहनेवाली यह क्रुद्ध नदी अपने तरंगों में उन्हें बहा ले गई हो ॥ ८१ ॥

अब मेरी आशंकाएँ असत्य और मिथ्या हों। बच्चोंसहित राज-कुमार (=आर्यपुत्र) का कुशल हो। अनिष्ट-सूचक लक्षणों का फल मेरे शरीर को ही प्राप्त हो। क्या बात है कि दुर्लक्षणों से आनन्द-रहित और अरतिरूपी अन्धकार से व्याप्त होकर यह हृदय मानो विगलित हो रहा है। मेरे गात्र मानो शिथिल हो रहे हैं। दिशाएँ मानो व्याकुल हो रही हैं। यह जंगल श्री-हीन होकर मानो घूम रहा है।"

आश्रम में पहुँचकर, कन्द-मूल और फल एक ओर फेंककर, शिष्टाचारपूर्वक पति के समीप जाकर उसने पूछा—"कहाँ हैं बच्चे ?" माता का हृदय स्नेह से कितना कोमल होता है तथा अप्रिय समाचार निवेदन करना कितना कठिन है, यह जानकर बोधिसत्त्व उसे कुछ न कह सके।

जो व्यक्ति (स्वजन) प्रिय (संवाद सुनने) के योग्य है उसे अप्रिय संवादरूपी अग्नि से मानसिक संताप पहुँचाना दयालु आदमी के लिए अत्यन्त कठिन काम है ॥ ८२ ॥

अब मद्री ने सोचा—"स्पष्ट ही मेरे बच्चों पर विपत्ति आई है। ये चुप जो हो गये हैं सो शोक के वशीभूत होकर ही।" यह सोचकर विक्षिप्त चित्त से आश्रम में चारों ओर दृष्टिपात करते हुए उसने जब बच्चों को न देखा तब आँसुओं से रुँधे स्वर में फिर से कहा—

"मैं बच्चों को नहीं देखती हूँ और आप मुझसे कुछ कहते नहीं। अप्रिय बात नहीं बताई जाती है। निस्सन्देह मैं अभागिन विपत्ति में हूँ" ॥ ८३ ॥

इतना कहते ही शोकाग्नि ने उसके हृदय को घेर लिया और वह उन्मूलित लता के समान गिर पड़ी। वह गिर ही रही थी कि बोधिसत्त्व उसे पकड़ कर घास के बिछावन पर ले आये। उन्होंने शीतल जल से उसे सिक्त किया और उसके प्राण (=होश) लौटने पर उसे सान्त्वना देते हुए कहा—

"मद्री, मैंने हठात् ही तुमसे यह दुःखद समाचार नहीं कहा, क्योंकि स्नेह के कारण कोमल मन में धैर्य धारण करना संभव नहीं ॥ ८४ ॥

जरादारिद्र्यदुःखार्तो ब्राह्मणो मामुपागमत् ।
तस्मै दत्तौ मया पुत्रौ समाश्वसिहि मा शुचः ॥ ८५ ॥

मां पश्य मद्रि मा पुत्रौ परिदेवीश्च देवि मा ।
पुत्रशोकसशल्ये मे प्रहार्षीरिव मा हृदि ॥ ८६ ॥

याचितेन कथं शक्यं न दातुमपि जीवितम् ।
अनुमोदस्व तद् मद्रे पुत्रदानमिदं मम ॥ ८७ ॥

तच्छ्रुत्वा मद्री पुत्रविनाशशङ्काव्यथितहृदया पुत्रयोर्जीवितप्रवृत्तिश्रवणात् प्रतनूभूतशोकक्लमा भर्तुरधृतिपरिहारार्थं प्रमृज्य नयने सविस्मयमुदीक्षमाणा भर्तारमुवाच—आश्चर्यम् ! किं बहुना ।

नूनं विस्मयवक्तव्यचेतसोऽपि दिवौकसः ।
यदित्यलब्धप्रसरस्तव चेतसि मत्सरः ॥ ८८ ॥

तथा हि दिक्षु प्रसृतप्रतिस्वनैः समन्ततो दैवतदुन्दुभिस्वनैः ।
प्रसक्तविस्पष्टपदाक्षरं नभस्तवैव कीर्तिप्रथनादरादभूत् ॥ ८९ ॥

प्रकम्पिशैलेन्द्रपयोधरा धरा मदादिवाभूदभिवृद्धवेपथुः ।
दिवः पतद्भिः कुसुमैश्च काञ्चनैः सविद्युदुद्योतमिवाभवन्नभः ॥ ९० ॥

तदलं शोकदैन्येन दत्त्वा चित्तं प्रसादय ।
निपानभूतो लोकानां दातैव च पुनर्भव ॥ ९१ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रः क्षितितलचलनादाकम्पिते विविधरत्नप्रमोद्भासिनि सुमेरौ पर्वतराजे किमिदमिति समुत्पन्नविमर्शो विस्मयोत्फुल्लनयनेभ्यो लोकपालेभ्यः पृथिवीकम्पकारणं विश्वंतरपुत्रदानमुपलभ्य प्रहर्षविस्मयाघूर्णितमनाः प्रभातायां तस्यां रजन्यां ब्राह्मणरूपी विश्वंतरमर्थिवदभ्यगच्छत् । कृतातिथिसत्कारश्च बोधिसत्त्वेन केनार्थ इत्युपनिमन्त्रितो भार्यामेनमयाचत—

महाहृदेष्वम्भ इवोपशोषं न दानधर्मः समुपैति सत्सु ।
याचे ततस्त्वां सुरसन्निभा या भार्यामिमामर्हसि तत्प्रदातुम् ॥ ९२ ॥

अविमना एव तु बोधिसत्त्वस्तथेत्यस्मै प्रतिशुश्राव ।

ततः स वामेन करेण मद्रीमादाय सव्येन कमण्डलुं च ।
न्यपातयत्तस्य जलं कराग्रे मनोभुवश्चेतसि शोकवह्निम् ॥ ९३ ॥

बुढ़ापे और गरीबी के दुःख से पीड़ित एक ब्राह्मण मेरे पास आया। मैंने उसे बच्चे दे दिये। शान्त होओ। शोक न करो॥ ८५॥

मद्री, मुझे देखो, बच्चों को मत देखो, रोओ मत। पुत्र-शोकरूपी बाण से विद्ध मेरे हृदय को चोट न पहुँचाओ ॥ ८६ ॥

माँगनेपर मैं प्राण-दानतक क्यों न कर सकूँ? अतः हे मद्री, मेरे इस पुत्र-दान का अनुमोदन करो।" ॥ ८७ ॥

बच्चों की मृत्यु की आशंका से व्यथित-हृदय मद्री ने जब उनके जीवित होने का समाचार सुना तब उसकी शोक-जन्य क्लान्ति (दुःख से होनेवाली थकावट) कम हुई। पति की धैर्य-रक्षा के लिए, उसने अपनी आँखें पोंछकर विस्मयपूर्वक उन्हें देखते हुए, कहा—"आश्चर्य, बहुत कहने से क्या?

आपके मन में द्वेष (=स्वार्थ-भाव) का उदय नहीं हुआ, इससे देवताओं के मन भी विस्मित हैं॥ ८८ ॥

इसी लिए तो दिशाओं में चारों ओर देव-दुन्दुभियों की प्रतिध्वनि फैल रही है, जिससे जान पड़ता है आकाश आपकी ही कीर्ति-रचना के पदों के स्पष्ट अक्षरों से निरन्तर गूँज रहा है॥ ८९ ॥

बड़े बड़े पर्वतरूपी पयोधरों के साथ पृथ्वी मानो आनन्द में आकर प्रकम्पित हो रही है। और, स्वर्ग से गिरते हुए सुवर्णकुसुमों से, जान पड़ता है, जैसे आकाश बिजली के आलोक से चमक रहा हो॥ ९०॥

अतः आप शोक न करें, दान देकर चित्त को प्रसन्न रखें। और, लोगों के लिए कुआँ (के समान उदार) होकर पुनः दान करें।" ॥ ९१ ॥

भूकम्प के कारण विविध रत्नों की प्रभा से भासित गिरि-राज सुमेरु के काँपनेपर देवेन्द्र शक्र ने सोचा 'यह क्या है'। तब विस्मय से विकसित आँखोंवाले लोक-पालों से भूकम्प का कारण 'विश्वन्तर का पुत्र-दान है' यह जानकर आनन्द और आश्चर्य से उसका चित्त चञ्चल हो उठा। रात के बीतनेपर प्रातःकाल में वह ब्राह्मण का रूप धारण कर याचक की तरह विश्वन्तर के समीप गया। बोधिसत्त्व ने उसका अतिथि-सत्कार किया और पूछा—'क्या चाहते हैं?' उसने उनसे पत्नी की याचना की—

"जैसे बड़े-बड़े सरोवरों का जल नहीं सूखता है वैसे ही सज्जनों का दान-धर्म बन्द नहीं होता है। अतः मेरी प्रार्थना है कि आपकी देवतातुल्य जो यह पत्नी है इसे आप मुझे दान कर दें॥ ९२ ॥

उदास हुए बिना ही बोधिसत्त्व ने 'बहुत अच्छा' कहकर उसे वचन दे दिया।

तब उन्होंने बाएँ हाथ से मद्री को पकड़कर और दाहिने से कमण्डलु लेकर उस (ब्राह्मण) के हाथ में जल गिराया और (साथ ही) कामदेव (=मार) के मन में शोकाग्नि (प्रज्वलित किया)॥ ९३ ॥

चुकोप मद्री न तु नो रुरोद विवेद सा तस्य हि त स्वभावम् ।
अपूर्वदुःखातिभरातुरा तु तं प्रेक्षमाणा लिखितेव तस्थौ ।। ९४ ।।

तद् दृष्ट्वा परमविस्मयाक्रान्तहृदयः शक्रो देवानामिन्द्रस्तं महासत्त्वमभिष्टुवन्नुवाच—

अहो विकृष्टान्तरता सदसद्धर्मयोर्यथा ।
श्रद्धातुमपि कर्मेदं का शक्तिरकृतात्मनाम् ।। ९५ ।।

अवीतरागेण सता पुत्रदारमतिप्रियम् ।
निःसङ्गमिति दातव्यं का नामेयमुदात्तता ।। ९६ ।।

असंशयं त्वद्‌गुणरक्तसंकथैः प्रकीर्यमाणेषु यशस्सु दिक्षु ते ।
तिरोभविष्यन्त्यपरा यश.श्रियः पतंगतेजस्सु यथान्यदीप्तयः ।। ९७ ।।

तस्य तेऽभ्यनुमोदन्ते कर्मेदमतिमानुषम् ।
यक्षगन्धर्वभुजगास्त्रिदशाश्च सवासवाः ।। ९८ ।।

इत्युक्त्वा शक्रः स्वमेव वपुरभिज्वलदास्थाय शक्रोऽहमस्मीति च निवेद्यात्मानं बोधिसत्त्वमुवाच—

तुभ्यमेव प्रयच्छामि मद्रीं भार्यामिमामहम् ।
व्यतीत्य नहि शीतांशु चन्द्रिका स्थातुमर्हति ।। ९९ ।।

तन्मा चिन्तां पुत्रयोर्विप्रयोगाद्राज्यभ्रंशान्मा च संतापमागाः ।
सार्धं ताभ्यामभ्युपेतः पिता ते कर्ता राज्यं त्वत्सनाथं सनाथम् ।।१००।।

इत्युक्त्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे । शक्रानुभावाच्च स ब्राह्मणो बोधिसत्त्वतनयौ शिबिविषयमेव संप्रापयामास । अथ शिबयः सजयश्च शिबिराजस्तदतिकरुणमतिदुष्करं च बोधिसत्त्वस्य कर्म श्रुत्वा समाक्लेदितहृदया ब्राह्मणहस्तान्निष्क्रीय बोधिसत्त्वतनयौ प्रसाद्यानीय च विश्वन्तरं राज्य एव प्रतिष्ठापयामासुः ।

तदेवमत्यद्भुता बोधिसत्त्वचर्येति तदुन्मुखेषु सत्त्वविशेषेषु नावज्ञा प्रतीघातो वा करणीयः । तथागतवर्णे सत्कृत्य धर्मश्रवणे चोपनेयम् ।

इति विश्वंतर-जातकं नवमम् ।

मद्री न क्रुद्ध हुई, न रोई; इसलिए कि वह अपने पति के स्वभाव से परिचित थी। किन्तु अभूतपूर्व दुःख के भार से दुःखी होकर, उनकी ओर देखती हुई वह चित्र-लिखित-सी (निश्चल) खड़ी रही ॥ ९४ ॥

यह देखकर देवेन्द्र शक्र के हृदय में बड़ा विस्मय हुआ। उसने उस महासत्त्व की स्तुति करते हुए कहा—

"अहो ! सज्जनों और असज्जनों के धर्म में महान् अन्तर है। जो पुण्यात्मा नहीं हैं उनके लिए इस (दिव्य) कर्म पर विश्वास करना भी अशक्य है ॥ ९५ ॥

(परिवार के प्रति) जिसका अनुराग अभी नष्ट नहीं हुआ है वह अपने प्यारे बच्चों और पत्नी को भी अनासक्त भाव से दान कर दे, यह कितनी बड़ी उदारता है ! ॥ ९६ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि आपके गुणों से अनुराग करनेवाले कथक जब चारों ओर आपकी कीर्ति फैलायेंगे तब दूसरों की उज्ज्वल कीर्ति लुप्त हो जायगी, जैसे सूर्य का प्रकाश होनेपर दूसरे (ग्रह और नक्षत्र) का प्रकाश लुप्त हो जाता है ॥ ९७ ॥

ये यक्ष गन्धर्व नाग तथा इन्द्र-सहित देवगण आपके इस अलौकिक कर्म का अनुमोदन कर रहे हैं" ॥ ९८ ॥

यह कहकर शक्र ने अपना उज्ज्वल रूप धारण किया और 'मैं शक्र हूँ' इस प्रकार अपना परिचय देकर बोधिसत्त्व से कहा—

"मैं आपकी पत्नी इस मद्री को आपको ही वापस दे रहा हूँ। चन्द्रमा को छोड़कर चन्द्रिका और कहाँ रह सकती है ? ॥ ९९ ॥

अतः आप पुत्र-वियोग की चिन्ता न करें और राज्य-च्युत होने का शोक न करें। दोनों बच्चों के साथ आपके पिता यहाँ आयेंगे और आपको राजतिलक देकर राज्य को राजन्वान् (उत्तम राजा से युक्त) करेंगे" ॥ १०० ॥

यह कहकर शक्र वहीं अदृश्य हो गया। और, शक्र के प्रभाव से उस ब्राह्मण ने बोधिसत्त्व के बच्चों को शिवि के राज्य में ही पहुँचाया। जब शिवियों और शिवि-राज संजय ने बोधिसत्त्व के इस अतिकरुण एवं अतिदुष्कर कर्म को सुना तब उनके हृदय पिघल पड़े। उन्होंने ब्राह्मण के हाथ से बोधिसत्त्व के बच्चों को छुड़ाया, (तपोवन में जाकर) विश्वन्तर को मनाया और उन्हें ले आकर राज्यपर बैठाया।

बोधिसत्त्व का चरित इतना अद्भुत है, यह देखकर, उनकी ओर (=उनके रास्ते पर) चलनेवाले प्राणियों का न अपमान करना चाहिए और न उन्हें विघ्न पहुँचाना चाहिए। तथागत का वर्णन करने में और ध्यानपूर्वक धर्मोपदेश सुनने में यह कथा उपस्थित करनी चाहिए।

विश्वन्तर-जातक नवम समाप्त।

---

१०. यज्ञ-जातकम्

न कल्याणाशयाः पापप्रतारणामनुविधीयन्त इत्याशयशुद्धौ प्रयतितव्यम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल स्वपुण्यप्रभावोपनतामानतसर्वसामन्तां प्रशान्तस्वपरचक्राद्युपद्रवत्वादकण्टकामसपत्नामेकातपत्रां दायाद्यक्रमागतां पृथिवीं पालयामास ।

नाथः पृथिव्याः स जितेन्द्रियारिर्भुक्तावगीतेषु फलेष्वसक्तः ।
प्रजाहितेष्वाहितसर्वभावो धर्मैककार्यो मुनिवद् बभूव ॥ १ ॥

विवेद लोकस्य हि स स्वभाव प्रधानचर्यानुकृतिप्रधानम् ।
श्रेयः समाधित्सुरतः प्रजासु विशेषतो धर्मविधौ ससञ्जे ॥ २ ॥

ददौ धनं शीलनिधिं समाददे क्षमां निषेवे जगदर्थमैहत ।
प्रजाहिताध्याशयसौम्यदर्शनः स मूर्तिमान्धर्म इव व्यरोचत ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्तद्भुजाभिगुप्तमपि तं विषयं सत्त्वानां कर्मवैगुण्यात्प्रमादवशगत्वाच्च वर्षकर्माधिकृतानां देवपुत्राणां दुर्वृष्टिपर्याकुलता क्वचित्क्वचिदभिदुद्राव । अथ स राजा व्यक्तमयं मम प्रजानां वा धर्मापचारात्समुपनतोऽनर्थ इति निश्चितमतिः संरूढहिताध्याशयत्वात्प्रजासु तद्दुःखमसृष्यमाणो धर्मतत्त्वज्ञसंमतान्पुरोहितप्रमुखान्ब्राह्मवृद्धान्मतिसचिवांश्च तदुद्धरणोपायं पप्रच्छ । अथ ते वेदविहितमनेकप्राणिशतवधारम्भभीषणं यज्ञविधिं सुवृष्टिहेतु मन्यमानास्तस्मै संवर्णयामासुः । विदितवृत्तान्तस्तु स राजा यज्ञविहितानां प्राणिवैशसानां करुणात्मकत्वान्न तेषां तद्वचनं भावेनाभ्यनन्दत् । विनयानुवृत्त्या चैनान्प्रत्याख्यानरूक्षाक्षरमनुक्त्वा प्रस्तावान्तरेणैषां तां कथां तिरश्चकार । ते पुनरपि तं राजानं धर्मसकथाप्रस्तावलब्धावसरा गाम्भीर्यावगूढं तस्य भावमजानाना यज्ञप्रवृत्तये समनुशशासुः ।

कार्याणि राज्ञां नियतानि यानि लाभे पृथिव्याः परिपालने च ।
नात्येति कालस्तव तानि नित्यं तेषां क्रमो धर्मसुखानि यद्वत् ॥ ४ ॥

त्रिवर्गसेवानिपुणस्य तस्य प्रजाहितार्थं धृतकार्मुकस्य ।
यज्ञाभिधाने सुरलोकसेतौ प्रमादतन्द्रेव कथं मतिस्ते ॥ ५ ॥

१०. यज्ञ-जातक

जिनका आशय शुद्ध है वे पाप-कर्म[1] नहीं करते; अतः आशय की शुद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यह बात इस अनुश्रुति (=कथा) से साबित होगी।

बोधिसत्त्व अपने पुण्य-प्रभाव से वंश-परम्परानुसार प्राप्त एकछत्र पृथिवी का पालन कर रहे थे। उनके सभी सामन्त वशवर्ती थे। स्वराष्ट्र और परराष्ट्र आदि के उपद्रव शान्त हो जाने से उनका राज्य अकण्टक और शत्रुरहित था।

वह जितेन्द्रिय पृथिवी-पति उच्छिष्ट एवं निन्दित भोगों में अनासक्त तथा प्रजाओं के हित के कार्यों में दत्तचित्त थे। धर्माचरण ही उनका एकमात्र कार्य था। उनकी वृत्ति मुनि की जैसी हो गई थी॥ १॥

उन्हें विदित हुआ कि प्रधान पुरुष (=राजा) के आचरण का अनुसरण करना लोगों का स्वभाव-सा हो गया है। अतः प्रजाओं का श्रेय (कल्याण) करने की इच्छा से वह स्वयं विशेष रूप से धर्माचरण में आसक्त हुए॥ २॥

उन्होंने धन का दान किया, शील का आश्रय लिया, क्षमा का सेवन किया, जगत् के कल्याण की कामना की। प्रजाओं के हित-चिन्तन से सौम्यदर्शन राजा मूर्तिमान् धर्म के समान शोभित हुए॥ ३॥

तब एक बार उनके बाहु-बल से रक्षित होनेपर भी उस देश में प्राणियों के दुष्कर्म से और वर्षा के अधिकारी देव-दूतों की असावधानी से कहीं-कहीं अनावृष्टि के कारण बड़ी व्याकुलता फैल गई। "यह स्पष्ट है कि मेरे अथवा मेरी प्रजाओं के अधर्माचरण से यह अनर्थ उपस्थित हुआ है" ऐसा निश्चय कर अपनी हितैषिता के कारण प्रजाओं के उस दुःख को नहीं सह सकते हुए राजा ने धर्म के तत्त्व को जाननेवाले सम्मानित कुल-पुरोहितों वृद्ध ब्राह्मणों और बुद्धिमान् मंत्रियों से इसके निवारण का उपाय पूछा। उन लोगों ने वेद-विहित यज्ञ-विधि को वृष्टि का कारण मानते हुए उन्हें उस (यज्ञ-विधि) का वर्णन सुनाया जो सैकड़ों प्राणियों की हिंसा के कारण भयंकर है। यज्ञ-विहित प्राणि-हिंसा का हाल जानकर अपनी दयालुता के कारण उन्होंने मन में उनके वचन का अनुमोदन नहीं किया। अपनी नम्रता के कारण डाँट-फटकार के लिए कठोर वचन न कहकर उन्होंने बात-चीत के विषय को बदल कर उस (यज्ञवाली) कथा की उपेक्षा कर दी। राजा के गम्भीर और गूढ़ भाव को नहीं समझते हुए उन लोगों ने धर्म-विषयक बातचीत के सिलसिले में अवसर पाकर उन्हें यज्ञ करने के लिए फिर से उपदेश दिया।

"राज्य की प्राप्ति और पालन में राजा के जो आवश्यक कर्तव्य हैं उन्हें आप नित्य समयपर करते हैं, आपका यह कार्य-क्रम धर्मसम्मत है[2]॥ ४॥

आप प्रजा के हित के लिए धनुष धारण करते हैं और त्रिवर्ग (धर्म अर्थ और काम) के सेवन में निपुण हैं, तब फिर यज्ञ नामक स्वर्ग की सीढ़ी के सम्बन्ध में आपका मन इतना उदास और सुस्त क्यों है ?॥ ५॥

भृत्यैरिवाज्ञा बहु मन्यते ते साक्षादियं सिद्धिरिति क्षितीशैः ।
श्रेयांसि कीर्तिज्वलितानि चेतुं यज्ञैरयं ते रिपुकाल कालः ॥ ६ ॥

कामं सदा दीक्षित एव च त्वं दानप्रज्ञान्नियमादराच्च ।
वेदप्रसिद्धैः क्रतुभिस्तथापि युक्तं भवेन्मोक्तुमृणं सुराणाम् ॥ ७ ॥

स्विष्टयाभितुष्टानि हि दैवतानि भूतानि वृष्टया प्रतिमानयन्ति ।
इति प्रजानां हितमात्मनश्च यशस्करं यज्ञविधिं जुषस्व ॥ ८ ॥

तस्य चिन्ता प्रादुरभवत्, अतिदुर्न्यस्तो बतायं परप्रत्ययहार्यपेलवमतिरमीमांसको धर्मप्रियः[1] श्रद्धानो जनो यत्र हि नाम

य एव लोकेषु शरण्यसम्मतास्त एव हिंसामपि धर्मतो गताः ।
विवर्तते कष्टमपायसङ्कटे जनस्तदादेशितकापथानुगः ॥ ९ ॥

को हि नामाभिसम्बन्धो धर्मस्य पशुहिंसया ।
सुरलोकाधिवासस्य दैवतप्रीणनस्य वा ॥ १० ॥

विशस्यमानः किल मन्त्रशक्तिभिः पशुर्दिवं गच्छति तेन तद्वधः ।
उपैति धर्मत्वमितीदमप्यसत्परैः कृतं को हि परत्र लप्स्यते ॥ ११ ॥

असत्प्रवृत्तेरनिवृत्तमानसः शुभेषु कर्मस्वविरूढनिश्चयः ।
पशुर्दिवं यास्यति केन हेतुना हतोऽपि यज्ञे स्वकृताश्रयाद्विना ॥१२॥

हतश्च यज्ञे त्रिदिवं यदि व्रजेन्ननु व्रजेयुः पशुतां स्वयं द्विजाः ।
यतस्तु नायं विधिरीक्ष्यते क्वचिद्वचस्तदेषां क इव ग्रहीष्यति ॥१३॥

अतुल्यगन्धर्द्धिरसौजसं शुभां सुधां किलोत्सृज्य वराप्सरोधृताम् ।
मुदं प्रयास्यन्ति वपादिकारणाद्वधेन शोच्यस्य पशोर्दिवौकसः ॥१४॥

तदिदमत्र प्राप्तकालमिति विनिश्चित्य स राजा यज्ञारम्भसमुत्सुक इव नाम तत्तेषां वचनं प्रतिगृह्यावोचदेनान्—सनाथः खल्वहमनुग्रहवांश्च यदेवं मे हिताहितमनसोऽत्रभवन्तः । तदिच्छामि पुरुषमेधसहस्रेण यष्टुम् । अन्विष्यतां तदुपयोग्यसम्भारसमुदानयनार्थं यथाधिकारममात्यैः । परीक्ष्यतां सत्रागारनिवे-

---

१: पा. "अधर्मप्रियः" ?

राजा लोग भृत्यों की तरह आपकी आज्ञा को साक्षात् सिद्धि समझकर शिरोधार्य करते हैं। हे शत्रु विनाशक, आपका यह समय श्रेय अर्जन करने का है, जिससे उज्ज्वल कीर्ति की प्राप्ति होगी ॥ ६ ॥

अपनी दानशीलता और संयम-प्रियता के कारण आप सदा (यज्ञ-विधि में) दीक्षित तो रहते ही हैं, तथापि वेद-विहित यज्ञों का अनुष्ठान करके देव-ऋण से मुक्त होना आपके लिए उचित होगा ॥ ७ ॥

भलीभाँति सम्पादित निर्दोष यज्ञों से सन्तुष्ट होकर देवगण वृष्टि द्वारा प्राणियों को प्रसन्न करते हैं। इसलिए अपनी और प्रजा की भलाई के लिए यज्ञ-विधि का सेवन कीजिये, जिससे यश मिलेगा" ॥ ८ ॥

उन्होंने सोचा—"जिनकी दुर्बल बुद्धि दूसरोंपर आश्रित है[1], जो स्वयं विचार नहीं कर सकते, जो अधर्म-प्रिय और अन्ध-विश्वासी हैं ऐसे लोगों के बीच यह व्यक्ति (=मैं) असहाय और अरक्षित है।

जनता के बीच जो लोग दूसरों को शरण देनेवाले और सम्मानित हैं वे ही धर्म के नाम पर हिंसा तक करते हैं। उनके आदेशानुसार जो दूसरे लोग कुमार्ग पर चलते हैं वे दुर्गति में पड़ते हैं ॥ ९ ॥

भला पशु-हिंसा से धर्म का, स्वर्ग-प्राप्ति का या देवताओं की प्रसन्नता का क्या सम्बन्ध हो सकता है ? ॥ १० ॥

मंत्र-शक्ति से (=मंत्रोच्चारणपूर्वक) मारा जाता हुआ पशु स्वर्ग जाता है, इसलिए उसकी हिंसा पुण्य कार्य है—यह भी असत्य है। भला दूसरों के कर्म-फल को कौन दूसरा परलोक में प्राप्त करेगा ? ॥ ११ ॥

जिसका चित्त असत् की ओर से विमुख नहीं हुआ है, जिसने शुभ कर्म करने के लिए निश्चय नहीं किया है वह पशु यज्ञ में मारा जाने पर भी अपने कर्मरूप आश्रय के बिना किस कारण से स्वर्ग जायगा ? ॥ १२ ॥

यज्ञ में मारा जानेपर यदि वह स्वर्ग जाता; तो ब्राह्मण स्वयं पशु बन जाते (पशु का स्थान ले लेते); किन्तु ऐसा कहीं देखा नहीं जाता, इसलिए कौन (समझदार आदमी) उनकी बात मानेगा ? ॥ १३ ॥

सुन्दर अप्सराएँ जिनके लिए अनुपम सुगन्धि स्वाद और ओज से युक्त सुन्दर सुधा लिये (खड़ी) रहती हैं, वे देवगण उसे छोड़कर क्या चर्बी आदि के लिए बेचारे पशु की हिंसा से प्रमुदित होंगे ?" ॥ १४ ॥

"इस सम्बन्ध में ऐसा करने का समय हो गया है" यह निश्चय कर, यज्ञ-आरम्भ करने के लिए उत्सुक हो, उनकी बात मानकर राजा ने उन्हें कहा—"मैं सुरक्षित और अनुगृहीत हूँ कि आप लोग मेरे हित-चिन्तन में इस प्रकार दत्तचित्त हैं। मैं सहस्र नर-मेध यज्ञ करना चाहता हूँ। अमात्यगण अपने अपने अधिकार के अनुसार यज्ञ के काम में आनेवाली सामग्रियाँ मँगवायें। यज्ञ-शाला खड़ी करने योग्य भूमि की परीक्षा कीजिये और यज्ञ के उपयुक्त तिथि-

शनयोग्यो भूमिप्रदेशस्तदनुगुणश्च तिथि-करण-मुहूर्त-नक्षत्र-योग इति । अथैनं पुरोहित उवाच—ईप्सितार्थसिद्धये स्नातु तावन्महाराज एकस्य यज्ञस्य समाताववभृथे । अथोत्तरेषामारम्भः करिष्यते क्रमेण । युगपत्पुरुषपशवः सहस्रशो हि परिगृह्यमाणा व्यक्तमुद्वेगदोषाय प्रजानां ते स्युरिति । अस्त्येतदिति ब्राह्मणैरुक्तः स राजा तानुवाच—अलमत्रभवतां प्रकृतिकोपाशङ्कया । तथा हि सविधास्ये यथोद्वेगं मे प्रजा न यास्यन्तीति । अथ स राजा पौरजानपदान्संनिपात्याब्रवीत्—इच्छामि पुरुषमेधसहस्रेण यष्टुम् । न च मयार्हः कश्चिदकामः पुरुषः पशुत्वे नियोक्तुमुद्दिष्टः[1] । तद्यं यमतः प्रभृति वो द्रक्ष्यामि व्यवधूतप्रमादनिद्रेण विमलेन चारचक्षुषा शीलमर्यादातिवर्तिनमस्मदाज्ञां परिभवन्तं तत स्वकुलपांसनं देशकण्टकमहं यज्ञपशुनिमित्तमादास्य इत्येतद्वो विदितमस्त्विति । अथ तेषां मुख्यतमाः प्राञ्जलयो भूत्वैनमूचुः—

सर्वाः क्रियास्तव हितप्रवणाः प्रजानां
तत्रावमाननविधेर्नरदेव कोऽर्थः ।
ब्रह्मापि ते चरितमभ्यनुमन्तुमर्हः
साधुप्रमाण परमत्र भवान्प्रमाणम् ॥ १५ ॥

प्रियं यदेव देवस्य तदस्माकमपि प्रियम् ।
अस्मत्प्रियहितादन्यद् दृश्यते नहि ते प्रियम् ॥ १६ ॥

इति प्रतिगृहीतवचनः पौरजानपदैः स राजा जनप्रकाशेनाडम्बरेण प्रस्थितानमात्यान्पापजनोपग्रहणार्थं जनपदं नगराणि च प्रेषयामास समन्ततश्च प्रत्यहमिति घोषणाः कारयामास ।

अभयमभयदो ददाति राजा स्थिरशुचिशीलधनाय सज्जनाय ।
अविनयनिरतैः प्रजाहितार्थं नरपशुभिस्तु सहस्रशो यियक्षुः ॥ १७ ॥

तद्यः कश्चिदतः प्रभृत्यविनयश्लाघानुवृत्त्युद्धवात्
सामन्तक्षितिपार्चितामपि नृपस्याज्ञामवज्ञास्यति ।
स स्वैरेव विपद्य यज्ञपशुतामापादितः कर्मभि—
र्यूपाबद्धतनुर्विषादकृपणः शुष्यज्जनैर्द्रक्ष्यते ॥ १८ ॥

अथ तद्विषयनिवासिनः पुरुषा यज्ञपशुनिमित्तं दुःशीलपुरुषान्वेषणादरं तमन्ववेक्ष्य राज्ञस्तां च घोषणामतिभीषणां प्रत्यहमुपशृण्वन्तः पापजनोपग्रहावहितांश्च राजपुरुषान्समन्ततः समापततोऽभिवीक्ष्य त्यक्तदौःशील्यानुरागाः शीलसंवरसमादानपरा वैरप्रसङ्गपराङ्मुखाः परस्परप्रेमगौरवसुमुखाः प्रशान्त-

---

१, पा० 'नियोक्तुमदुष्टः ।'

करण-मुहूर्त-नक्षत्र-योग की जाँच कीजिये।" तब पुरोहित ने उन्हें कहा—"अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि के लिए महाराज एक यज्ञ समाप्त कर अवभृथ स्नान करें। फिर दूसरे यज्ञों को क्रम से आरम्भ कीजियेगा। एक साथ सौ नर-पशुओं को पकड़ने से, स्पष्ट है, प्रजाएँ आप से उद्विग्न हो जायँगी।" ब्राह्मणों ने कहा—"हाँ ठीक है।" राजा ने उन्हें उत्तर दिया—"आप लोगों को प्रजाओं के कुपित होने की आशंका न करनी चाहिए। मैं ऐसा प्रबन्ध करूँगा जिससे मेरी प्रजाओं को उद्वेग न हो।"

तब राजा ने पुर-वासियों और ग्राम-वासियों को एकत्र कर कहा—"मैं सहस्र नरमेध यज्ञ करना चाहता हूँ। किन्तु किसी भी निष्काम (=निष्पाप) मनुष्य को पशु के स्थान में नियुक्त करने का मेरा उद्देश्य नहीं है, इसलिए आप लोगों को विदित हो कि प्रमाद और निद्रा से रहित (सतत जागरूक रहनेवाले) निर्मल गुप्तचर रूपी नेत्रों द्वारा आज से आप लोगों के बीच जिस किसी को शील-मर्यादा का उल्लंघन करते, मेरी आज्ञा की अवहेलना करते देखूँगा उस कुलाङ्गार देश-कण्टक को यज्ञ-पशु के निमित्त ग्रहण करूँगा।"

तब उनमें जो प्रधान थे, उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—

"आपके सभी कार्य प्रजाओं के हित के लिए होते हैं। हे नरदेव, आपके कार्यों का तिरस्कार (विरोध) करने से क्या लाभ होगा? ब्रह्मा को भी आपके चरित का अनुमोदन करना उचित है। हे साधु-प्रमाण (साधुओं के लिए प्रमाण-स्वरूप, साधु-श्रेष्ठ), इस विषय में आप स्वयं परम प्रमाण हैं॥ १५॥

श्रीमान् को जो कुछ प्रिय है वही हमें भी प्रिय है। हमारे प्रिय और हित के अतिरिक्त और कुछ भी आपको प्रिय नहीं है"॥ १६॥

जब पुर-वासियों और ग्राम-वासियों ने राजा का वचन स्वीकार कर लिया तब उन्होंने विश्वासी अमात्यों को पापियों के पकड़ने के लिए ग्रामों और नगरों में भेजा और चारों ओर जनता की जानकारी के लिए प्रतिदिन डंके की चोट से[1] यह घोषणा करवाई—

"जिस सज्जन की शीलरूपी सम्पत्ति अचल और पवित्र है उसको अभय-देनेवाले राजा अभय देते हैं; किन्तु जो दुर्विनीत और दुराचारी हैं उन नर-पशुओं को हजारों की संख्या में पकड़कर प्रजाओं के हित के लिए यज्ञ करना चाहते हैं॥ १७॥

इसलिए अब से जो कोई अपनी अविनयशीलता के कारण राज-आज्ञा का, जो सामन्त-नरेशों के लिए भी शिरोधार्य है, उल्लंघन करेगा वह अपने ही कर्मों से यज्ञ-पशु के स्थान में नियुक्त होकर यज्ञ के खम्भे में बाँधा जायगा और दुःख से कातर होकर उस सूखते हुए को लोग देखेंगे"॥ १८॥

दुराचारी पुरुषों की खोज में राजा की रुचि देखकर, उनकी उस अत्यन्त भीषण घोषणा को प्रतिदिन सुनते हुए, और पापियों के पकड़ने में सावधान राजपुरुषों को चारों ओर विचरते देखकर, उस देश के रहनेवाले लोग दुराचार की आसक्ति को छोड़कर शील-संवर (=सदाचार) से युक्त हो गये, वैर-भाव से विमुख होकर परस्पर प्रेम और सम्मान करने में प्रवृत्त हुए,

विग्रहविवादा गुरुजनवचनानुवर्तिनः सविभागविशारदाः प्रियातिथयो विनयनै-भृत्यश्लाघिनः कृत इव युगे बभूवुः ।

भयेन मृत्योः परलोकचिन्तया कुलाभिमानेन यशोऽनुरक्षया ।
सुशुक्लभावाच्च विरूढया ह्रिया जनः स शीलामलभूषणोऽभवत् ॥ १९ ॥

यथा यथा धर्मपरोऽभवज्जनस्तथा तथा रक्षिजनो विशेषतः ।
चकार दुःशीलजनाभिमार्गणामतश्च धर्मान्न चचाल कश्चन ॥ २० ॥

स्वदेशवृत्तान्तमथोपशुश्रुवानिमं नृपः प्रीतिविशेषभूषणः ।
चरान्प्रियाख्यानकदानविस्तरैः सन्तर्पयित्वा सचिवान्समन्वशात् ॥ २१ ॥

परा मनीषा मम रक्षितुं प्रजा गताश्च ताः सम्प्रति दक्षिणीयताम् ।
इदं च यज्ञाय धन प्रतर्कित यियक्षुरस्मीति यथा प्रतर्कितम् ॥ २२ ॥

यदीप्सितं यस्य सुखेन्धनं धनं प्रकाममाप्नोतु स तन्मदन्तिकात् ।
इतीयमस्मद्विषयोपतापिनी दरिद्रता निर्विषया यथा भवेत् ॥ २३ ॥

मयि प्रजारक्षणनिश्चयस्थिते सहायसम्पत्परिवृद्धसाधने ।
इयं जनार्तिर्मदमर्षदीपनी मुहुर्मुहुर्मे ज्वलतीव चेतसि ॥ २४ ॥

अथ ते तस्य राज्ञः सचिवाः परममिति प्रतिगृह्य तद्वचनं सर्वेषु ग्रामनगर-निगमेषु मार्गविश्रामप्रदेशेषु च दानशालाः कारयित्वा यथासन्दिष्टं राज्ञा प्रत्यहमर्थिजनमभिलषितैरर्थविसर्गैः सन्तर्पयामासुः ।

अथ विहाय जनः स दरिद्रतां समवाप्तवसुर्वसुधाधिपात् ।
विविधचित्रपरिच्छदभूषणः प्रविततोत्सवशोभ इवाभवत् ॥ २५ ॥

प्रमुदितार्थिजनस्तुतिसञ्चितं प्रविततान नृपस्य दिशो यशः ।
तनुतरङ्गविवर्धितविस्तरं सर इवाम्बुजकेशरज रजः ॥ २६ ॥

इति नृपस्य सुनीतिगुणाश्रयात्सुचरिताभिमुखे निखिले जने ।
समभिभूतवलाः कुशलोच्छ्रयैर्विलयमीयुरसङ्गसुपद्रवाः ॥ २७ ॥

अविषमत्वसुखा ऋतवोऽभवन्नवनृपा इव धर्मपरायणाः ।
विविधसस्यधरा च वसुन्धरा सकमलामलनीलजलाशया ॥ २८ ॥

न जनमभ्यरुजन्प्रवला रुजः पटुतरं गुणमोषधयो दधुः ।
ऋतुवशेन ववौ नियतोऽनिलः परिययुश्च शुभेन पथा ग्रहाः ॥ २९ ॥

विग्रह-विवाद (= लड़ाई-झगड़ा) छोड़कर गुरुजनों की आज्ञा में रहने लगे। वे उदार, अतिथि-सेवक, विनयी और विनम्र हो गये। जान पड़ता था जैसे वे कृतयुग में रहते हों।

मृत्यु के भय से, परलोक की चिन्ता से, कुल के अभिमान से, यश की रक्षा के ख्याल से, पवित्र भाव और लज्जा उत्पन्न होने से लोग शीलरूपी निर्मल आभूषण से भूषित हुए ॥ १९ ॥

ज्यों ज्यों लोग धर्मपरायण होते गये त्यों त्यों राज-पुरुष विशेष रूप से दुराचारियों की खोज करने लगे, अतः कोई भी व्यक्ति धर्म-पथ से विचलित नहीं हुआ ॥ २० ॥

जब राजा ने अपने देश के इस वृत्तान्त को सुना तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। यह प्रिय संवाद सुनाने के लिए गुप्तचरों को उन्होंने खूब दान देकर तृप्त किया और मंत्रियों को आदेश दिया—॥ २१ ॥

"प्रजाओं की रक्षा करने की मेरी बड़ी अभिलाषा है। वे अब दक्षिणा पाने के योग्य हो गई हैं, और यज्ञ के लिए ही मैंने इस धन का संकल्प किया है। मैं अपने संकल्प के अनुसार यज्ञ करना चाहता हूँ ॥ २२ ॥

जो कोई सुख-प्राप्ति के लिए धन चाहता हो वह मेरी ओर से यथेष्ट धन प्राप्त करे, जिससे मेरे राज्य को संतप्त करनेवाली यह दरिद्रता यहाँ से निर्वासित हो जाय ॥ २३ ॥

यद्यपि मैं प्रजा की रक्षा करने के अपने निश्चय पर दृढ़ हूँ और (आप जैसे) योग्य सहायकों एवं विशाल साधनों से युक्त हूँ, तथापि मेरे अभिमान और क्रोध को उद्दीप्त करने वाली जनता की यह पीड़ा मेरे हृदय में बार-बार प्रज्वलित हो रही हूँ।" ॥ २४ ॥

तब राजा के सचिवों ने "बहुत अच्छा" कह, उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर, सभी ग्रामों, नगरों, निगमों और मार्ग के विश्राम-स्थलों में दान-शालाएँ बनवाई तथा राजा के आदेशानुसार प्रतिदिन याचकों को यथेष्ट धन देकर तृप्त किया।

लोगों ने एक ही साथ (एक ही समय में) राजा से बहुत-सा धन प्राप्त किया। उनकी दरिद्रता दूर हो गई। तरह-तरह के रंग बिरंगे वस्त्र और आभूषण पहनकर उन्होंने मानो महोत्सव की शोभा उपस्थित कर दी ॥ २५ ॥

प्रसन्न होकर याचकों द्वारा की गई स्तुतियों से राजा की यश-राशि[1] चारों ओर फैल गई, जैसे छोटी-छोटी तरंगों द्वारा पद्म पराग सरोवर में अधिकाधिक व्याप्त हो जाता है ॥ २६ ॥

राजा की सुन्दर नीति कार्यान्वित होने से जब सभी लोग सत्कर्मों में लग गये तब कुशल के उत्थान (पुण्य के उदय) से (अनावृष्टि आदि) उपद्रव बलहीन होकर सर्वथा विलीन हो गये ॥ २७ ॥

धर्म-परायण नये राजाओं के समान अपनी-अपनी प्रकृति में रहनेवाली ऋतुएँ विषमता से रहित होने के कारण सबके लिये सुख-दायक हुईं। पृथिवी नाना प्रकार के सस्यों से परिपूर्ण हो गई तथा नीले जलाशय निर्मल जल और कमलों से भर गये ॥ २८ ॥

लोग असाध्य रोगों से पीड़ित नहीं हुए। ओषधियाँ पहले से अधिक गुणकारी हो गईं। ऋतु के अनुसार हवा नियमपूर्वक बहने लगी। और, ग्रहगण शुभ मार्ग पर चलने लगे ॥२९॥

न परचक्रकृतं सभभूद्भयं न च परस्परजं न च दैविकम् ।
नियतधर्मपरे निभृते जने कृतमिवात्र युगं समपद्यत ॥ ३० ॥

अथैवं प्रवृत्तेन धर्मयज्ञेन राज्ञा प्रशमितेष्वर्थिजनदुःखेषु सार्धमुपद्रवैः प्रमुदितजनसम्बाधायामभ्युदयरम्यदर्शनायां वसुन्धरायां नृपतेराशीर्वचनाध्ययनसव्यापारे लोके वितन्यमाने समन्ततो राजयशसि प्रसादावर्जितमतिः कश्चिदमात्यमुख्यो राजानमित्युवाच—सुष्ठु खल्विदमुच्यते

उत्तमाधममध्यानां कार्याणां नित्यदर्शनात् ।
उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः ॥ ३१ ॥

इति । देवेन पशुवैशसवाच्यदोषविरहितेन धर्मयज्ञेन प्रजानामुभयलोकहितं सम्पादितमुपद्रवाश्च प्रशमं नीता दारिद्र्यदुःखानि च शीले प्रतिष्ठापितानाम् । किं बहुना । सभाग्यास्ताः प्रजाः ।

लक्ष्मेव क्षणदाकरस्य विततं गात्रे न कृष्णाजिनं
दीक्षायन्त्रणया निसर्गललिता चेष्टा न मन्दोद्यमा ।
मूर्धश्छत्रनिभस्य केशरचना शोभा तथैवाथ च
त्यागैस्ते शतयज्वनोऽप्यपहृतः कीर्त्याश्रयो विस्मयः ॥ ३२ ॥

हिंसाविषक्तः कृपणः फलेप्सोः प्रायेण लोकस्य नयज्ञ यज्ञः ।
यज्ञस्तु कीर्त्याभरणः समस्ते शीलस्य निर्दोषमनोहरस्य ॥ ३३ ॥

अहो प्रजानां भाग्यानि यासां गोपायिता भवान् ।
प्रजानामपि हि व्यक्तं नैवं स्याद् गोपिता पिता ॥ ३४ ॥

अपर उवाच—

दानं नाम धनोदये सति जनो दत्ते तदाशावशः
स्याच्छीलेऽपि च लोकपंक्त्यभिमुखः स्वर्गे च जातस्पृहः ।
या त्वेषा परकार्यदक्षिणतया तद्वत्प्रवृत्तिस्तयो-
र्नाविद्वत्सु न सत्त्वयोगविधुरेष्वेषा समालक्ष्यते ॥ ३५ ॥

तदेवं कल्याणाशया न पापप्रतारणामनुविधीयन्त इत्याशयशुद्धौ प्रयतितव्यम् ।

इति प्रजाहितोद्योगः श्रेयःकीर्तिसुखावहः ।
यन्नृपस्याभवो नालं तमनादृत्य वर्तितुम् ॥ ३६ ॥

पर-राष्ट्र से कोई भय नहीं रहा। पारस्परिक और दैविक भय चला गया। लोग संयमी धार्मिक और विनम्र हो गये, जान पड़ता था जैसे कृतयुग उपस्थित हुआ हो ॥ ३० ॥

इस प्रकार सम्पादित धर्मयज्ञ के द्वारा राजा ने उपद्रवों के साथ-साथ याचकों का दुःख दूर किया। वसुन्धरा प्रमुदित जनता से परिपूर्ण हो गई। समृद्धिशालिनी पृथ्वी का दृश्य रमणीय हो गया। राजा की कल्याण-कामना में लगे हुए लोगों ने उनका यश चारों ओर फैलाया। तब श्रद्धा से प्रेरित होकर किसी प्रमुख अमात्य ने राजा से निवेदन किया—"यह ठीक ही कहा है—

उत्तम मध्यम और निकृष्ट (मनुष्यों के) कार्यों का नित्य निरीक्षण करने से राजा की बुद्धि दूसरों की बुद्धि से बहुत ऊपर रहती है ॥ ३१ ॥

देव (=श्रीमान्) ने पशु-हिंसा के निन्दनीय दोष से रहित धर्म-यज्ञ द्वारा प्रजा का उभय-लोक (=इहलोक परलोक) में भला करने के लिए उन्हें शील में स्थापित कर, उपद्रवों को शान्त किया और उनके दारिद्र्य-दुःख को दूर किया। अधिक कहने से क्या? आपकी यह प्रजा भाग्यशालिनी है।

चन्द्रमा के चिह्न के समान काले मृगछाले को आपने अपने शरीर में नहीं लपेटा। (यज्ञ) दीक्षा में होने वाला (मौन, उपवास आदि) यन्त्रणाओं के द्वारा आपने अपनी स्वभाव-सुन्दर (सम्भाषण आदि) चेष्टाओं में कोई कमी नहीं की। आप के छत्र-तुल्य मस्तक के केश विन्यास की शोभा ज्यों की त्यों बनी रही। किन्तु आपने त्याग द्वारा सौ यज्ञ करने वाले (इन्द्र) की भी कीर्ति को मात किया और उसके अभिमान को चूर्ण किया।। ३२ ।।

हे नीतिज्ञ, फल चाहने वाले लोगों का यज्ञ हिंसा-युक्त और शोचनीय होता है। किन्तु कीर्ति बढ़ानेवाला आपका यज्ञ आपके निर्दोष और मनोहर शील के अनुरूप है।। ३३ ।।

अहो ! यह प्रजा भाग्यशालिनी है जिसके आप रक्षक हैं। पिता भी अपनी संतानों के ऐसे (सुयोग्य) रक्षक नहीं हो सकते।। ३४।।

धन होनेपर लोग धन-वृद्धि की आशा से दान देते हैं। पंक्ति में बैठने की (=लोगों के बीच सम्मानित होने की) इच्छा से और स्वर्ग-प्राप्ति की अभिलाषा से लोग शील में रहते हैं (=शील का पालन करते हैं)। किन्तु आपकी परोपकारिता के कारण आपकी-जैसी दान और शील की (निस्वार्थ) प्रवृत्ति अज्ञानियों और असात्त्विकों में नहीं देखी जाती है ॥ ३५॥

इस प्रकार जिनका अन्तःकरण शुद्ध है वे पापियों के बहकावे (भुलावे) में नहीं पड़ते। अतः अन्तःकरण की शुद्धि के लिए यत्न करना चाहिए।

प्रजाओं की भलाई के लिए किया जानेवाला उद्योग श्रेयस्कर कीर्ति-प्रद और सुख-दायक होता है। अतः राजाओं को अपने इस कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ॥ ३६ ॥

एवं राजापवादेऽपि वाच्यम् । धर्माभ्यासः प्रजानां भूतिमावहतीति भूतिकामेन धर्मानुवर्तिना भवितव्यमित्येवमप्युन्नेयम् । न पशुहिंसा कदाचिदभ्युदयाय दानदमसंयमादयस्त्वभ्युदयायेति तदर्थिना दानादिपरेण भवितव्यमित्येवमपि वाच्यम् । लोकार्थचर्याप्रवणमतिरेवं पूर्वजन्मस्वपि भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् ॥

इति यज्ञ-जातकं दशमम् ।

---

११. शक्र-जातकम्

आपदपि महात्मनामैश्वर्यसम्पद्वा सत्त्वेष्वनुकम्पां न शिथिलीकरोति । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलानल्पकालस्वभ्यस्तपुण्यकर्मा सात्मीभूतप्रदानदमसंयमकरुणः परहितानियतक्रियातिशयः कदाचिच्छक्रो देवानामिन्द्रो बभूव ।

सुरेन्द्रलक्ष्मीरधिकं रराज तत्संश्रयात्स्फीततरप्रभावा ।
हर्म्ये सुधासेकनवाङ्गरागे निपक्तरूपा शशिनः प्रभेव ॥ १ ॥

यस्याः कृते दितिसुता रभसागतानि
दिङ्नागदन्तमुसलान्युरसाभिजग्मुः ।
सौभाग्यविस्तरसुखोपनतापि तस्य
लक्ष्मीर्न दर्पमलिनं हृदयं चकार ॥ २ ॥

तस्य दिवस्पृथिव्योः सम्यक्परिपालनोपार्जितां सर्वलोकानुव्यापिनीं कीर्तिसम्पदं तां च लक्ष्मीमत्यद्भुतामसृष्यमाणा दैत्यगणाः कल्पनाटोपभीषणतरद्विरदरथतुरगपदातिना क्षुभितसागरघोरनिर्घोषेण जाज्वल्यमानविविधप्रहरणावरणदुर्निरीक्ष्येण महता बलकायेन युद्धायैनमभिजग्मुः ।

धर्मात्मनोऽपि तु स तस्य परावलेपः
क्रीडाविघातविरसं च भयं जनस्य ।
तेजस्विता नयपथोपनतः क्रमश्च
युद्धोद्धवाभिमुखतां हृदयस्य चक्रुः ॥ ३ ॥

अथ स महासत्त्वस्तुरगवरसहस्रयुक्तमभ्युच्छ्रितार्हद्ध्वजचिह्नरुचिरध्वजं विविधमणिरत्नदीप्तिव्यवभासितमतिज्वलद्वपुषं कल्पनाविभागोपनियतनिशितज्वलितविविधायुधविराजितोभयपार्श्वं पाण्डुकम्बलिनं हैमं रथवरमभिरुह्य महता हस्त्यश्वरथपदातिविचित्रेण देवानीकेन परिवृतस्तदसुरसैन्यं समुद्रतीरान्त एव प्रत्युज्जगाम ।

इस प्रकार राजाओं को उपदेश देने में कहना चाहिए। यह भी निष्कर्ष निकालना चाहिए कि धर्माचरण से प्रजाओं का कल्याण होता है, इसलिए कल्याण चाहनेवाले को धर्म का अनुसरण करना चाहिए। यह भी कहना चाहिए कि पशु-हिंसा से कदापि अभ्युदय नहीं हो सकता, किन्तु दान दम संयम आदि से अभ्युदय होता है, इसलिए अभ्युदय चाहनेवाले को दान आदि करना चाहिए। तथागत के वर्णन में कहना चाहिए कि अपने पूर्व-जन्मों में भी भगवान् लोकोपकार में दत्तचित्त रहते थे।

यज्ञ-जातक दशम समाप्त।

---

११. शक्र-जातक

विपत्ति या ऐश्वर्य के कारण प्राणियों के प्रति महात्माओं की दया में कोई कमी नहीं होती। यह बात इस अनुश्रुति (=कथा) से साबित होगी।

बोधिसत्त्व ने जब (अनेक जन्मों में) चिरकाल तक पुण्य कर्मों का आचरण किया, दान दम संयम और करुणा को आत्मसात् कर लिया, दूसरों की भलाई के लिए अच्छा अच्छा काम करने का नियम बना लिया, तब एक बार वह देवों के अधिपति इन्द्र हुए।

उनके आश्रय में रहकर देवेन्द्र की लक्ष्मी और भी तेजस्विनी हो गई तथा हाल में ही चूना पोतकर उज्ज्वल किये गये महल पर चमकती हुई चाँदनी के समान अत्यन्त शोभित हुई ॥ १ ॥

जिस (लक्ष्मी) के लिए दैत्यों ने वेगपूर्वक आते हुए दिग्गजों के दाँतों (दाँतरूपी मुसलों) के सामने जाकर सीना तान दिया, वह लक्ष्मी (शक्र के) सौभाग्य से अनायास ही उन्हें प्राप्त हुई और तो भी वह उनके हृदय को अभिमान से मलिन न कर सकी ॥ २ ॥

उन्होंने स्वर्ग और पृथ्वी का सम्यक् (अच्छी तरह) परिपालन किया, जिससे उन्हें त्रिभुवन-व्यापिनी कीर्ति प्राप्त हुई। दैत्य लोग उनकी उस कीर्ति और अद्भुत लक्ष्मी को न सह सके। अतः वे हाथियों रथों घोड़ों और पैदलों की विशाल सेना लेकर उनसे युद्ध करने के लिये चल पड़े। वह सेना व्यूह-रचना के कारण भयंकर लगती थी, क्षुब्ध सागर के समान घोर गर्जन कर रही थी और भाँति-भाँति के चमकीले अस्त्र-शस्त्रों के कारण कठिनाई से देखी जा सकती थी।

यद्यपि वह धर्मात्मा थे, तथापि शत्रुओं के अभिमान ने, जनता के सुख में विघ्न होने की आशंका ने, उनकी तेजस्विता ने तथा राजनीति के नियम ने उनके हृदय को युद्ध की अशान्ति की ओर प्रेरित कर दिया ॥ ३ ॥

तब वह महाप्राणी (बोधिसत्त्व) हजार उत्तम घोड़ों से जुते हुए, चिह्नविशेष से विभूषित[1] ऊँची पताका से युक्त, नाना प्रकार के रत्नों और मणियों की चमक से उज्ज्वल, दोनों पार्श्वों (बगल और) में सजाकर रखे गए तरह-तरह के तेज और चमकीले हथियारों से सुशोभित, सफेद वस्त्र से मण्डित, सुवर्ण-निर्मित, उज्ज्वल और उत्तम रथपर चढ़कर, हाथियों घोड़ों रथों और पैदल चलने वालों से चित्र-विचित्र विशाल देव-सेना के साथ समुद्र-तटपर उस असुर-सेना से जा भिड़े।

अथ प्रववृते तत्र भीरूणां धृतिदारुणः ।
अन्योन्यायुधनिष्पेषजर्जरावरणो रणः ॥ ४ ॥

तिष्ठ नैवमितः पश्य क्वेदानीं मम मोक्ष्यसे ।
प्रहरायं न भवसीत्येवं तेऽन्योन्यमार्दयन् ॥ ५ ॥

ततः प्रवृत्ते तुमुले स्फूर्जत्प्रहरणे रणे ।
पटहध्वनिनोत्कुष्टैः स्फुटतीव नभस्तलम् ॥ ६ ॥

दानगन्धोद्धतामर्षेष्वापतत्सु परस्परम् ।
युगान्तवाताकलितशैलभीमेषु दन्तिषु ॥ ७ ॥

विद्युल्लोलपताकेषु प्रसृतेषु समन्ततः ।
रथेषु पटुनिर्घोषेषूत्पाताम्बुधरेष्विव ॥ ८ ॥

पात्यमानध्वजच्छत्रशरावरणमौलिषु ।
देवदानववीरेषु शितैरन्योन्यसायकैः ॥ ९ ॥

अथ प्रतप्तासुरशस्त्रसायकैर्भयात्प्रदुद्राव सुरेन्द्रवाहिनी ।
रथेन विष्टभ्य बलं तु विद्विषां सुरेन्द्र एकः समरे व्यतिष्ठत ॥१०॥

अभ्युदीर्णं त्वासुरं बलमतिहर्षात्पटुतरोत्कुष्टक्ष्वेडितसिंहनादमभिपतितमभिसमीक्ष्य मातलिर्देवेन्द्रसारथिः स्वं च बलं पलायनपरमवेत्यापयानमत्र प्राप्तकालमिति मत्वा देवाधिपतेः स्यन्दनमावर्तयामास । अथ शक्रो देवेन्द्रः समुत्पततो रथस्याग्राभिमुखान्य[1]भिघातपथागतानि शाल्मलीवृक्षे गरुडनीडान्यपश्यत् । दृष्ट्वैव च करुणया समालम्ब्यमानहृदयो मातलिं संग्राहकमित्युवाच—

अजातपक्षद्विजपोतसङ्कुला द्विजालयाः शाल्मलिपादपाश्रयाः ।
अमी पतेयुर्न यथा रथेषया विचूर्णिता वाहय मे रथं तथा ॥ ११ ॥

मातलिरुवाच—अमी तावन्मार्ष समभियान्ति नो दैत्यसघा इति । शक्र उवाच—ततः किम्, परिहरैतानि सम्यग्गरुडनीडानीति । अथैनं मातलिः पुनरुवाच—

निवर्तनादस्य रथस्य केवलं शिवं भवेदम्बुरुहाक्ष पक्षिणाम् ।
चिरस्य लब्धप्रसरा सुरेष्वसावभिद्रवत्येव तु नो द्विषच्चमूः ॥ १२ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रः स्वमध्याशयातिशयं सत्त्वविशेषं च कारुण्यविशेषात् प्रकाशयन्नुवाच—

---

१ पा० 'रथेषाग्राभिमुखान्य०'।

तब वहाँ कायरों का धैर्य विदीर्ण करनेवाला संग्राम शुरू हुआ, जिसमें एक-दूसरे के शस्त्रों की चोट से (योद्धाओं के) कवच (आदि) चूर हो रहे थे ॥ ४ ॥

'खड़ा' रह, ऐसा न कर, इधर देख, अब कहाँ, मुझ से तू छूट नहीं सकता, मार, यह तू मर रहा है, इस प्रकार (कोलाहल करते हुवे) वे एक दूसरे को मार रहे थे ॥ ५ ॥

तब तुमुल युद्ध आरम्भ होनेपर शस्त्रों के (सञ्चालन) से शब्द उठने लगा और नगाड़ों की प्रतिध्वनि से आकाश मानों फटने लगा ॥ ६ ॥

कल्पान्त काल के वायु-द्वारा चलायमान किये गये पर्वतों के समान भयंकर दन्तार हाथी मद जल की गन्ध से अत्यन्त क्रुद्ध होकर एक-दूसरे पर टूट पड़े ॥ ७ ॥

बिजली के समान चञ्चल पताकाओं वाले रथ उपद्रव-कारी बादलों के समान घोर गर्जन करते हुए चारों ओर फैल गये ॥ ८ ॥

देवों और दानवों के वीर सैनिक अपने अपने तेज तीरों से एक दूसरे की पताकाएँ छत्र शस्त्र कवच और मस्तक (काट काटकर) गिराने लगे ॥ ९ ॥

तब राक्षसों की प्रज्वलित तलवारों और तीरों से डरकर देवेन्द्र की सेना भाग चली । किंतु (स्वयं) देवेन्द्र अकेले ही शत्रुओं की सेना को रोककर समर में स्थिर रहे ॥ १० ॥

हर्षोल्लास से घोर गर्जन करती हुई तथा सिंहनाद छोड़ती हुई राक्षसों की विशाल सेना को समीप आते देखकर, और अपनी सेना को भागने में तत्पर जानकर, 'अब यहाँ से हट जाने का समय आ पहुँचा है', ऐसा निश्चय कर, देवेन्द्र के सारथि मातलिने उनके रथ को घुमाया । तब शक्रने उड़ते हुये रथके आगे शाल्मली-वृक्षपर गरुड़ नामक पक्षियों के घोंसले देखे, जो रथ से टकराने के रास्ते में आ गये थे । देखते ही दयार्द्र-चित्त होकर उन्होंने अपने सारथि मातलि से कहा—

"जिनके अभी पंख भी उत्पन्न नहीं हुए हैं उन पक्षि-शावकों से खचाखच भरे हुये घोंसले इस शाल्मलि-तरुपर आश्रित है । इसलिए रथ को इस प्रकार चलाओ कि ये घोंसले रथ (के डंडे) से टकराकर नीचे न गिरने पायें" ॥ ११ ॥

मातलि ने कहा—"स्वामिन्, इतनी देर में तो दैत्य-समूह हमारे पास पहुँच जायँगे ।" शक्र ने उत्तर दिया—"इससे क्या ? इन घोसलों को अच्छी तरह बचा लो ।" तब मातलि ने फिर उससे कहा—

"हे कमलनयन, इस रथ के घुमाने से तो केवल पक्षियों का ही कल्याण होगा । बहुत देर के बाद देवताओं पर विजय प्राप्त करने वाली यह शत्रु-सेना हमारा पीछा करती हुई समीप आ रही है" ॥ १२ ॥

तब देवों के अधिपति शक्र ने अतिशय करुणा के कारण अपना उत्तम आशय और उत्कृष्ट धैर्य प्रकट करते हुए कहा—

तस्मान्निवर्तय रथं वरमेव मृत्यु-
दैत्याधिपप्रहितभीमगदाभिघातैः ।
धिग्वाददग्धयशसो न तु जीवितं मे
सत्त्वान्यमूनि भयदीनमुखानि हत्वा ॥ १३ ॥

अथ मातलिस्तथेति प्रतिश्रुत्य तुरगसहस्रयुक्तं स्यन्दनमस्य निवर्तयामास ।

दृष्टावदाना रिपवस्तु तस्य युद्धे समालोक्य रथं निवृत्तम् ।
भयद्रुताः प्रस्खलिताः प्रणेशुर्वाताभिनुन्ना इव कालमेघाः ॥ १४ ॥

भग्ने स्वसैन्ये विनिवर्तमानः पन्थानमावृत्य रिपुध्वजिन्याः ।
सङ्कोचयत्येव मदावलेपमेकोऽप्यसम्भाव्यपराक्रमत्वात् ॥ १५ ॥

निरीक्ष्य भग्नं तु तदासुरं बलं सुरेन्द्रसेनाप्यथ सा न्यवर्तत ।
बभूव नैव प्रणयः सुरद्विषां भयद्रुतानां विनिवर्तितुं यतः ॥ १६ ॥

सहर्षलज्जैस्त्रिदशः सुराधिपः सभाज्यमानोऽथ रणाजिराच्छनैः ।
अभिज्वलच्चारुवपुर्जयश्रिया समुत्सुकान्तःपुरमागमत् पुरम् ॥ १७ ॥

एवं स एव तस्य सङ्ग्रामस्य विजयो बभूव । तस्मादुच्यते—

पापं समाचरति वीतघृणो जघन्यः
प्राप्यापदं सघृण एव तु मध्यबुद्धिः ।
प्राणात्ययेऽपि तु न साधुजनः स्ववृत्तिं
वेलां समुद्र इव लङ्घयितुं समर्थः ॥ १८ ॥

तदेवं देवराज्यं प्राणानपि परित्यज्य दीर्घरात्रं परिपालितानि भगवता सत्त्वानि । तेष्विह प्राज्ञस्याघातो न युक्तरूपः प्रागेव विप्रतिपत्तिरिति प्राणिषु दयायत्तेनार्येण भवितव्यम् । तथा हि धर्मो ह वै रक्षति धर्मचारिणमित्यत्राप्युपनेयम् । तथागतवर्णे सत्कृत्य धर्मश्रवणे चेति ॥

इति शक्र-जातकमेकादशम् ।

"अब रथ को लौटाओ। बड़े बड़े दैत्यों[1] द्वारा फेंकी जानेवाली भयंकर गदाओं के प्रहारों से मृत्यु को प्राप्त होना श्रेयस्कर है, न कि भय से कातर मुखवाले इन प्राणियों को मारकर अपकीर्ति से कलंकित होकर जीवित रहना" ॥ १३ ॥

तब वैसा ही करने का वचन देकर मातलि ने हजार घोड़ों से जुते हुए उनके रथ को लौटाया।

जिन्होंने युद्ध में इन्द्र का पराक्रम देख लिया था उन देव-शत्रुओं ने जब उनका रथ लौटा हुआ देखा तो वे हवा द्वारा सञ्चालित काले बादलों के समान भय से भागते हुए गिरने पड़ने लगे ॥ १४ ॥

अपनी सेना के तितर-बितर होने पर यदि एक भी योद्धा लौटकर शत्रुसेना का रास्ता रोक ले तो अपने असंभावित (अप्रत्याशित) पराक्रम के कारण वह अकेला ही उस (सेना) का अभिमान चूर्ण करेगा ॥ १५ ॥

उस आसुरी सेना को अस्त-व्यस्त देखकर देवेन्द्र की सेना भी लौट आई। भय से भागते हुए देव-शत्रुओं को अब लौटने की इच्छा (हिम्मत) नहीं हुई ॥ १६ ॥

प्रसन्न और लज्जित देवों से सम्मानित होते हुए देवेन्द्र, जिनका सुन्दर शरीर विजय-लक्ष्मी से शोभित हो रहा था, धीरे धीरे अपने नगर और उत्सुक अन्तःपुर में आये ॥ १७ ॥

इस प्रकार उस संग्राम में विजय प्राप्त हुई। इसलिए कहा जाता है—

नीच मनुष्य अपनी क्रूरता के कारण (सर्वदा) पापाचरण (=प्राणि-वध) करता है; किन्तु मध्यम बुद्धिवाला दयालु व्यक्ति विपत्ति में पड़कर (कदाचित् ही) पाप-कर्म करता है, और साधु पुरुष तो प्राण जानेपर भी अपनी सद्वृत्ति का उल्लंघन करने में समर्थ नहीं होता जैसे कि समुद्र अपनी सीमा को पार नहीं कर सकता ॥ १८ ॥

इस प्रकार बहुत दिन हुए कि देव-राज्य और प्राणों का भी मोह छोड़कर भगवान् ने उन जीवों को बचाया। तब इस युग में बुद्धिमान् मनुष्य के लिए उन्हें चोट पहुँचाना उचित नहीं, उनके प्रति पापाचरण करना तो और भी अनुचित है। ऐसा सोचकर आर्य पुरुष को प्राणियों के प्रति दयालु होना चाहिए। धर्म धार्मिकों की रक्षा करता है—यह निष्कर्ष यहाँ भी निकालना चाहिए। तथागत का वर्णन करने में और सावधान होकर धर्मश्रवण करने में (यह कथा कहनी चाहिए)।

शक्र-जातक एकादश समाप्त।

---

१२. ब्राह्मण-जातकम्

आत्मलज्जयैव सत्पुरुषा नाचारवेलां लंघयन्ति । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिदनुपक्रुष्टगोत्रचारित्रे स्वधर्मानुवृत्तिप्रकाशयशसि विनयाचारश्लाघिनि महति ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार। स यथाक्रमं गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मादिभिः कृतसंस्कारक्रमो वेदाध्ययननिमित्तं श्रुताभिजनाचारसम्पन्ने गुरौ प्रतिवसति स्म।

तस्य श्रुतग्रहणधारणपाटवं च
भक्त्यन्वयश्च सततं स्वकुलप्रसिद्धः।
पूर्वे वयस्यपि शमाभरणा स्थितिश्च
प्रेमप्रसादसुमुखं गुरुमस्य चक्रुः ॥ १ ॥

वशीकरणमन्त्रा हि नित्यमव्याहता गुणाः।
अपि द्वेषाग्नितप्तानां किं पुनः स्वस्थचेतसाम् ॥ २ ॥

अथ तस्याध्यापकः सर्वेषामेव शिष्याणां शीलपरीक्षानिमित्तं स्वाध्यायविश्रामकालेष्वात्मनो दारिद्र्यदुःखान्यभीक्ष्णमुपवर्णयामास।

स्वजनेऽपि निराक्रन्दमुत्सवेऽपि हतानन्दम्।
धिक्प्रदानकथामन्दं दारिद्र्यमफलच्छन्दम् ॥ ३ ॥

परिभवभवनं श्रमास्पदं सुखपरिवर्जितमत्यनूर्जितम्।
व्यसनमिव सदैव शोचनं धनविकलत्वमतीव दारुणम् ॥ ४ ॥

अथ ते तस्य शिष्याः प्रतोदसंचोदिता इव सदश्वा गुरुस्नेहात्समुपजातसंवेगाः सम्पन्नतरं प्रभूततरं च भैक्षमुपसहरन्ति स्म। स तानुवाच—

अलमनेनात्र भवतां परिश्रमेण। न भैक्षोपहाराः कस्यचिद्दारिद्र्यक्षामतां क्षपयन्ति। अस्मत्परिक्लेशामर्षिभिस्तु भवद्भिरयमेव यत्नो धनाहरणं प्रति युक्तः कर्तुं स्यात्। कुतः ?

क्षुधमन्नं जलं तर्षं मन्त्रवाक्सागदा गदान्।
हन्ति दारिद्र्यदुःखं तु सन्तत्याराधनं धनम् ॥ ५ ॥

शिष्या ऊचुः—किं करिष्यामो मन्दभाग्या वयं यदेतावान्नः शक्तिप्रयामः। अपि च

भैक्षवद्यदि लभ्येरन्नुपाध्याय धनान्यपि।
नेदं दारिद्र्यदुःखं ते वयमेवं सहेमहि ॥ ६ ॥

प्रतिग्रहकृशोपायं विप्राणां हि धनार्जनम्।
अप्रदाता जनश्चायमित्यगत्या हता वयम् ॥ ७ ॥

१२. ब्राह्मण-जातक

आत्म-लज्जा (=आत्म-सम्मान) के ही कारण सत्पुरुष सदाचार की सीमा का उल्लंघन नहीं करते। यह बात इस अनुश्रुति (=कथा) से साबित होगी—

(एकबार) बोधिसत्त्व ने उत्तम गोत्र और चरित्र से युक्त, स्वधर्म के पालन से प्रकाशित यशवाले, विनयवान् और आचारवान् किसी महान् ब्राह्मण-कुल में जन्म लिया। उनके गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म आदि संस्कार क्रम से किये जाने पर वे वेदाध्ययन के निमित्त विद्वान् कुलीन और सदाचारी गुरु के समीप रहने लगे।

सुने हुए शास्त्र को समझने और याद रखने की उनकी योग्यता ने, वंश-परंपरागत उनकी स्थिर गुरु-भक्ति ने, प्रथम वयस (=बाल्यावस्था) में भी उनके शान्त स्वभाव ने उनके गुरु को प्रेम और प्रसन्नता से पुलकित कर दिया ॥ १ ॥

नित्य अखण्ड सद्गुण (सदाचरण) द्वेषाग्नि से जलनेवालों के लिए भी वशीकरण-मंत्र हैं, फिर शान्त चित्तवालों के लिए क्या कहना ? ॥ २ ॥

उनके अध्यापक सभी शिष्यों के शील की परीक्षा करने के लिए स्वाध्यायकार्य से विश्राम मिलनेपर बार बार अपने दारिद्र्य-दुःख का वर्णन करने लगे।

"धिक्कार है दरिद्रता को जो स्वजन के प्रति भी सहानुभूति-शून्य (उदासीन), उत्सव में भी आनन्द-रहित, दान देने की बात करने में सुस्त और इच्छा पूरी करने में असफल होती है ॥ ३ ॥

निर्धनता अत्यन्त दारुण है। वह अपमान का घर, थकावट का स्थान, सुख-विहीन और शक्ति-हीन है; विपत्ति के समान सदैव दुःखदायी है" ॥ ४ ॥

चाबुक मारकर उत्तेजित किये गये अच्छे घोड़ों के समान उनके शिष्य गुरु-स्नेह के कारण संविग्न (विचलित) हो गये और उत्तमोत्तम एवं अधिकाधिक भिक्षा माँगकर लाने लगे। गुरु ने उनसे कहा—

"आपलोगों का यह परिश्रम निष्प्रयोजन (बेकार) है। भिक्षा के अन्न से किसी की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि आप मेरे दुःख को सहने में असमर्थ हैं तो धन ले आने के विषय में आप इतना ही (अधिक) उद्योग करें, यही उचित होगा। क्यों ? (इसलिए कि)

अन्न भूख को, पानी प्यास को, औषध-सहित मंत्र व्याधि को तथा संतानों (के उद्योग) द्वारा प्राप्त होनेवाला[1] धन दारिद्र्य-दुःख को दूर करता है" ॥ ५ ॥

शिष्यों ने उत्तर दिया—"हम भाग्य-हीन क्या करें ? हमारी शक्ति की दौड़ (पहुँच) तो इतनी ही है। और भी—

हे उपाध्याय, यदि भिक्षा की तरह धन भी प्राप्त होता तो हम आपके इस दारिद्र्य-दुःख को इस प्रकार (कदापि) नहीं सहते ॥ ६ ॥

ब्राह्मणों के लिए धनोपार्जन करने का रास्ता संकीर्ण है और ये लोग दानशील नहीं हैं। इस उपाय-हीनता के कारण हम दुःखी हैं" ॥ ७ ॥

अध्यापक उवाच—सन्त्यन्येऽपि शास्त्रपरिदृष्टा धनार्जनोपायाः। जरानिष्पीतसामर्थ्यास्तु वयमयोग्यरूपास्तत्प्रतिपत्तौ। शिष्या ऊचुः—वयमुपाध्याय जरयानुपहतपराक्रमाः। तद्यदि नस्तेषां शास्त्रविहितानामुपायानां प्रतिपत्तिसहतां मन्यसे तदुच्यताम्। यावदध्यापनपरिश्रमस्यानृण्यं ते गच्छाम इति। अध्यापक उवाच—तरुणैरपि व्यवसायशिथिलहृदयैर्दुरभिसम्भवाः खल्वेवंविधा धनार्जनोपायाः। यदि त्वयमत्र भवतां निर्बन्धः। तच्छ्रूयतां साधुः कतम एको धनोपार्जनक्रमः।

आपद्धर्मः स्तेयमिष्टं द्विजानामापच्चान्त्या निःस्वता नाम लोके।
तस्माद् भोज्यं स्वं परेषामदुष्टैः सर्वं चैतद् ब्राह्मणानां स्वमेव ॥ ८ ॥

कामं प्रसह्यापि धनानि हर्तुं शक्तिर्भवेदेव भवद्विधानाम्।
न त्वेष योगः स्वयशो हि रक्ष्यं शून्येषु तस्माद्व्यवलेयमेत्र ॥ ९ ॥

इति मुक्तप्रग्रहास्तेन ते छात्राः परममिति तत्तस्य वचनमयुक्तमपि युक्तमिव प्रत्यश्रौषुरन्यत्र बोधिसत्त्वात्।

स हि प्रकृतिभद्रत्वात्तन्नोत्सेहेऽनुमोदितुम्।
कृत्यवत्प्रतिपन्नं तैर्व्याहन्तुं सहसैव तु ॥ १० ॥

व्रीडावनतवदनस्तु बोधिसत्त्वो मृदु विनिश्वस्य तूष्णीमभूत्। अथ स तेषामध्यापको बोधिसत्त्वमवेक्ष्य तं विधिमनभिनन्दन्तमप्रतिक्रोशन्तं निविष्टगुणसम्भावनस्तस्मिन्महासत्त्वे किं न खल्वयमव्यवसितत्वान्निःस्नेहतया वा मयि स्तेयं न प्रतिपद्यते, उताधर्मसंज्ञयेति समुत्पन्नविमर्शस्तत्स्वभावव्यक्तीकरणार्थं बोधिसत्त्वमुवाच—भो महाब्राह्मण !

अमी द्विजा मद्व्यसनासहिष्णवः समाश्रिता वीरमनुष्यपद्धतिम्।
भवाननुत्साहजडस्तु लक्ष्यते[1] न नूनमस्मद्व्यसनेन तप्यते ॥ ११ ॥

परिप्रकाशेऽप्यनिगूढविस्तरे मयात्मदुःखे वचसा विदर्शिते।
कथं नु निःसम्भ्रमदीनमानसो भवानिति स्वस्थवदेव तिष्ठति ॥ १२ ॥

अथ बोधिसत्त्वः ससम्भ्रमोऽभिवाद्योपाध्यायमुवाच—शान्तं पापम्। न खल्वहं निःस्नेहकठिनहृदयत्वादपरितप्यमानो गुरुदुःखैरेवमवस्थितः किन्त्व-

१ पा० 'लभ्यते'।

अध्यापक ने उत्तर दिया—"धनोपार्जन के लिए शास्त्र-विहित दूसरे उपाय भी तो हैं। किन्तु बुढ़ापे ने हमारी शक्ति चूस ली है और हम उन्हें करने के योग्य नहीं हैं।" शिष्यों ने उत्तर दिया—"हे उपाध्याय, बुढ़ापे से हमारी शक्ति तो क्षीण नहीं हुई है। तब यदि आप हमें उन शास्त्र-विहित उपायों के करने में समर्थ समझते हैं तो कहिये, ताकि हम आपके अध्यापन परिश्रम से उऋण हों।" अध्यापक ने उत्तर दिया—"उद्योग करने में शिथिल-हृदय तरुणों के लिए भी धनार्जन के ये उपाय अशक्य हैं। किन्तु इसके लिए यदि आपका आग्रह है तो धनार्जन का कोई एक अच्छा[1] उपाय सुनिये।

द्विजों के लिए चोरी को आपद्धर्म कहा गया है और संसार में निर्धनता अन्तिम विपत्ति है। इसलिए दूसरों की सम्पत्ति का उपयोग करने में हम दोषी नहीं हो सकते और यह सब कुछ तो ब्राह्मणों की ही सम्पत्ति है ॥ ८ ॥

आप-सरीखों को बलात् धन हरण करने की शक्ति तो होगी ही। किन्तु ऐसा करना उचित नहीं होगा, क्योंकि अपने यश की भी तो रक्षा करनी है। इसलिए सूने में ही उद्योग करना चाहिए" ॥ ९ ॥

इस प्रकार जब उन्होंने अपने शिष्यों का बन्धन खोल दिया तब बोधिसत्त्व को छोड़कर उन छात्रों ने उनके उस अनुचित वचन को भी ऐसे स्वीकार किया जैसे उचित ही हो।

यद्यपि उन्होंने इसे अपना कर्तव्य समझकर स्वीकार कर लिया, किन्तु बोधिसत्त्व अपनी भद्र (उत्तम) प्रकृति के कारण इसका न अनुमोदन ही कर सके और न हठात् विरोध ही कर सके[2] ॥ १० ॥

उन्होंने लज्जा से अपना मुख झुका लिया और ठंढी साँस लेकर चुप हो गये। जब अध्यापक ने देखा कि बोधिसत्त्व उस उपाय का न अनुमोदन ही कर रहे हैं और न निन्दा ही, तब उस महासत्त्व में सद्गुणों का समावेश होने की सम्भावना से उन्होंने सोचा—"क्यों यह चोरी करना नहीं स्वीकार रहे हैं? क्या इनमें साहस ही नहीं है (या अब तक निश्चय नही कर सके हैं या ये उद्योगी ही नहीं हैं), या मेरे प्रति इन्हें स्नेह ही नहीं है, या इसे यह अधर्म समझ रहे हैं?" इस प्रकार विचार-विमर्श करते हुए उनका अपना भाव प्रकट करवाने के लिए उन्होंने बोधिसत्त्व से पूछा—"हे महा-ब्राह्मण,

मेरे दुःख को नहीं सह सकनेवाले इन द्विजों ने वीरोचित मार्ग का अवलम्बन किया है। आप तो अनुत्साही और अचेतन जान पड़ते हैं। अवश्य ही मेरी विपत्ति से आपको संताप नहीं हो रहा है ॥ ११ ॥

यद्यपि मेरा दुःख प्रकट है, कुछ भी छिपा हुआ नहीं है, मैंने वाणी द्वारा सब बतला दिया है, तो भी कैसे आप चुपचाप (शान्त) बैठे हुए हैं, क्यों आपका मन दुःख से कातर नहीं हो रहा है?" ॥ १२ ॥

तब बोधिसत्त्व ने शीघ्रता से आचार्य का अभिवादन कर उत्तर दिया—"शान्तं पापम् (ऐसा न कहें)। मैं जो इस प्रकार स्थिर हूँ, सो क्यों? इसलिए नहीं कि अपनी स्नेह-हीनता और कठोर-हृदयता के कारण मैं गुरु के दुःख से दुःखी नहीं हो रहा हूँ, किन्तु

सम्मवादुपाध्यायप्रदर्शितस्य क्रमस्य । नहि शक्यमदृश्यमानेन क्वचित्पापमा-
चरितुम् । कुतः ? रहोऽनुपपत्तेः ।

नास्ति लोके रहो नाम पापं कर्म प्रकुर्वतः ।
अदृश्यानि हि पश्यन्ति ननु भूतानि मानुषान् ॥ १३ ॥

कृतात्मानश्च मुनयो दिव्योन्मिषितचक्षुषः ।
तानपश्यन्रहोमानी बालः पापे प्रवर्तते ॥ १४ ॥

अहं पुनर्न पश्यामि शून्यं क्वचन किञ्चन ।
यत्राप्यन्यं न पश्यामि नन्वशून्यं मयैव तत् ॥ १५ ॥

परेण यच्च दृश्येत दुष्कृतं स्वयमेव वा ।
सुदृष्टतरमेतत्स्याद् दृश्यते स्वयमेव यत् ॥ १६ ॥

स्वकार्यपर्याकुलमानसत्वात्पश्येन्न वान्यश्चरितं परस्य ।
रागार्पितैकाग्रमतिः स्वयं तु पापं प्रकुर्वन्नियमेन वेत्ति ॥ १७ ॥

तदनेन कारणेनाहमेवं व्यवस्थित इति । अथ बोधिसत्त्वः समभिप्रसादित-
मनसमुपाध्यायमवेत्य पुनरुवाच—

न चात्र मे निश्चयमेति मानसं धनार्थमेवं प्रतरेद्भवानपि ।
अवेत्य को नाम गुणागुणान्तरं गुणोपमर्दं धनमूल्यतां नयेत् ॥ १८ ॥

स्वाभिप्रायं खलु निवेदयामि—

कपालमादाय विवर्णवाससा वरं द्विषद्वेश्मसमृद्धिरीक्षिता ।
व्यतीत्य लज्जां न तु धर्मवैशसे सुरेन्द्रतार्थेऽप्युपसंहृतं मनः ॥ १९ ॥

अथ तस्योपाध्यायः प्रहर्षविस्मयाक्षिप्तहृदय उत्थायासनात्सम्परिष्वज्यैन-
मुवाच—साधु साधु पुत्रक ! साधु साधु महाब्राह्मण ! प्रतिरूपमेतत्ते प्रशमा-
लङ्कृतस्यास्य मेधाविकस्य ।

निमित्तमासाद्य यदेव किञ्चन
स्वधर्ममार्गं विसृजन्ति बालिशाः ।
तपःश्रुतज्ञानधनास्तु साधवो
न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम् ॥ २० ॥

त्वया कुलं सममलमभ्यलङ्कृतं
समुद्यता नभ इव शारदेन्दुना ।
तवार्थवत्सुचरितविश्रुतं श्रुतं
सुखोदयः सफलतया श्रमश्च मे ॥ २१ ॥

इसलिए कि आचार्य का दिखलाया हुआ उपाय संभव नहीं है। क्योंकि किसी के लिए कहीं भी छिपकर पाप का आचरण करना शक्य नहीं है। क्यों? इसलिए कि एकान्त (=शून्य) का अस्तित्व ही नहीं है।

पापकर्म करनेवाले के लिए संसार में शून्य है ही नहीं। क्योंकि अदृश्य (=नहीं देखे जा सकनेवाले) प्राणी तथा वे पुण्यात्मा मुनि, जिनके दिव्य नेत्र विकसित हुए हैं, मनुष्यों (के शुभाशुभ कर्मों) को देखते रहते हैं। उन्हें नहीं देख सकने के कारण एकान्त की कल्पना करनेवाला मूर्ख मनुष्य पापकर्म में प्रवृत्त होता है॥ १३-१४॥

मैं तो कहीं थोड़ा सा भी एकान्त नहीं देखता हूँ। जहाँ दूसरे को नहीं भी देखता हूँ वह स्थान मेरे से ही अशून्य है॥ १५॥

(मनुष्य के) कुकर्म को दूसरा कोई देखे या वह स्वयं देखे। जो स्वयं देखा जाता है वह अच्छी तरह देखा जाता है॥ १६॥

अपने कार्य में व्यस्त रहने के कारण दूसरा दूसरे के कर्म को देखे या न देखे। किन्तु आसक्तिपूर्वक एकाग्रचित्त होकर स्वयं पापकर्म को करता हुआ निश्चित रूप से जानता है (कि मैं पापकर्म कर रहा हूँ)॥ १७॥

तब इसी कारण से मैं इस प्रकार स्थिर हूँ।" बोधिसत्त्व ने अध्यापक को प्रसन्नचित्त जानकर पुनः कहा—

"यहाँ मेरे मन में यह विश्वास नहीं हो रहा है कि आप भी धन के लिए इस प्रकार हमें बहका सकते हैं। सद्गुण और दुर्गुण का अन्तर जानकर भला कौन मनुष्य सद्गुण खोकर बदले में धन चाहेगा?॥ १८॥

अब मैं अपना अभिप्राय निवेदन करता हूँ—काषायवस्त्र पहनकर, भिक्षा-पात्र लेकर पर-गृहों की समृद्धि देखना अच्छा है, किन्तु निर्लज्ज होकर धर्म की हत्या करके इन्द्र-पद की भी इच्छा करना अच्छा नहीं है"॥ १९॥

(यह सुनकर) उनके आचार्य के हृदय में बड़ा आनन्द और विस्मय हुआ। अपने आसन से उठ कर उन्होंने शिष्य को आलिंगन करके कहा—"साधु पुत्र, साधु ब्राह्मण, साधु! यह शान्तिरूपी अलंकार से युक्त आप मेधावी के ही अनुरूप है।

जो कुछ भी कारण (=बहाना) पाकर मूर्ख अपने धर्म-मार्ग को छोड़ देते हैं। किन्तु तपस्या विद्या और ज्ञान के धनी सत्पुरुष अत्यन्त कष्ट में भी विचलित नहीं होते हैं॥ २०॥

जैसे शरद् ऋतु में उगता हुआ चन्द्रमा आकाश को अलंकृत करता है वैसे ही आपने अपने सम्पूर्ण वंश को अलंकृत (=उज्ज्वल) कर दिया। आपकी विद्या सफल हुई यह बात आपके सुन्दर आचरण से प्रकट है, और इस सफलता के कारण मेरा परिश्रम सुख-दायक हुआ"॥ २१॥

तदेवमात्मलज्जयैव सत्पुरुषा नाचारवेलां लङ्घयन्तीति ह्रीबलेनार्येण भवितव्यम्। एवं ह्रीपरिखासम्पन्न आर्यश्रावकोऽकुशलं प्रजहाति कुशलं च भावयतीत्येवमादिषु सूत्रेषूपनेयम्। ह्रीवर्णप्रतिसंयुक्तेषु लोकाधिपतेयेषु चेति।

इति ब्राह्मण-जातकं द्वादशम्।

★

१३. उन्मादयन्ती-जातकम्

तीव्रदुःखातुराणामपि सतां नीचमार्गानिष्प्रणयता भवति स्वधैर्यावष्टम्भात्॥ तद्यथानुश्रूयते—

सत्यत्यागोपशमप्रज्ञादिभिर्गुणातिशयैर्लोकहितार्थमुद्यच्छमानः किल बोधिसत्त्वः कदाचिच्छिबीनां राजा बभूव साक्षाद्धर्म इव विनय इव पितेव प्रजानामुपकारप्रवृत्तः।

दोषप्रवृत्तेर्विनियम्यमानो निवेश्यमानश्च गुणाभिजात्ये।
पित्रेव पुत्रः क्षितिपेन तेन ननन्द लोकद्वितयेऽपि लोकः॥ १॥

समप्रभावा स्वजने जने च धर्मानुगा तस्य हि दण्डनीतिः।
अधर्म्यमावृत्य जनस्य मार्गं सोपानमालेव दिवो बभूव॥ २॥

धर्मान्वयं लोकहितं स पश्यंस्तदेककार्यो नरलोकपालः।
सर्वात्मना धर्मपथेऽभिरेमे तस्योपमर्दं च परैर्न सेहे॥ ३॥

अथ तस्य राज्ञः पौरमुख्यस्य दुहिता श्रीरिव विग्रहवती साक्षाद्रतिरिवाप्सरसामन्यतमेव परया रूपलावण्यसंपदोपेता परमदर्शनीया स्त्रीरत्नसंमता बभूव।

अवीतरागस्य जनस्य यावत्सा लोचनप्राप्यवपुर्बभूव।
तावत्स तद्रूपगुणावबद्धां न दृष्टिमुत्कम्पयितुं शशाक॥ ४॥

अतश्च तस्य उन्मादयन्तीत्येव बान्धवा नाम चक्रुः॥ अथ तस्याः पिता राज्ञः संविदितं कारयामास—स्त्रीरत्नं ते देव विषये प्रादुर्भूतम्। यतस्तत्प्रतिग्रहं विसर्जनं वा प्रति देवः प्रमाणमिति॥ अथ स राजा स्त्रीलक्षणविदो ब्राह्मणान् समादिदेश—पश्यन्त्वेनां तत्रभवन्तः किमसावस्मद्योग्या न वेति॥

इस प्रकार आत्म-लज्जा के ही कारण सत्पुरुष सदाचार की सीमा का उल्लंघन नहीं करते। इसलिए आर्य पुरुष को लज्जा से युक्त होना चाहिए। 'इस प्रकार लज्जारूपी खाई (रक्षा) से सम्पन्न आर्यश्रावक अकुशल को छोड़ता है और कुशल की भावना करता है' ऐसे सूत्रों (की व्याख्या) में, लज्जा का वर्णन करने में और तथागत का सम्मान करने में यह दृष्टान्त (=कथा) उपस्थित करना चाहिए।

ब्राह्मण जातक द्वादश समाप्त।

१३. उन्मादयन्ती-जातक

तीव्र पीड़ा से पीड़ित होकर भी सत्पुरुष अपने धैर्य की दृढ़ता के कारण नीच मनुष्यों के मार्ग पर नहीं चलते। तब जैसी कि अनुश्रुति है--

जब बोधिसत्त्व सत्य त्याग शान्ति प्रज्ञा आदि उत्कृष्ट गुणों से लोकहित के लिए उद्यम कर रहे थे तब एक बार वे शिबियों के राजा हुए। वे साक्षात् धर्म के समान और विनय (=अनुशासन) के समान जान पड़ते थे। वे पिता के समान प्रजाओं के उपकार में प्रवृत्त हुए।

पिता के द्वारा पुत्र की तरह उस राजा के द्वारा पापाचार से रोक कर सद्गुणों में लगाया जाता हुआ जन-समूह दोनों लोकों में आनन्दित हुआ ॥ १ ॥

धर्म का अनुसरण करने वाली, प्रजा और स्वजन के लिए समान फल देने वाली उनकी दण्ड-नीति[1] अधर्म-मार्ग को रोक कर प्रजा के लिए स्वर्ग की सीढ़ी के समान सिद्ध हुई ॥ २ ॥

धर्म में लोक-हित निहित है यह देख कर वह राजा केवल धर्म में ही व्यस्त रहते थे। वे सर्व-भाव से धर्मपथ में निरत थे और दूसरों के द्वारा धर्मपथ का अतिक्रमण नहीं सह सकते थे ॥ ३ ॥

उस राजा के एक प्रधान नागरिक की कन्या मूर्तिमती लक्ष्मी के समान, साक्षात् रति के समान, किसी अप्सरा के समान अत्यन्त रूपवती और परम दर्शनीय थी। वह श्रेष्ठ स्त्री-रत्न थी।

जिनकी काम-वासना क्षीण नहीं हुई, ऐसे (अवीतराग) व्यक्तियों के दृष्टि-पथपर जब वह आती थी तब उसके रूप-पाश में आबद्ध दृष्टि को छुड़ाना उनके लिए अशक्य था ॥ ४ ॥

इसी लिए भाई-बन्धुओं ने उस लड़की का नाम उन्मादयन्ती[2] रखा। उसके पिता ने राजा से निवेदन किया—"हे देव, आपके राज्य में स्त्री-रत्न प्रकट हुआ है। अतः उसे स्वीकार या अस्वीकार करने के सम्बन्ध में देव प्रमाण हैं (जैसा निश्चय करें)।" तब राजा ने स्त्रियों के लक्षण जानने वाले ब्राह्मणों को आदेश दिया—"आप जाकर देखें कि वह कन्या मेरे योग्य है

अथ तस्याः पिता तान्ब्राह्मणान् स्वभवनमभिनीयोन्मादयन्तीमुवाच—भद्रे स्वयमेव ब्राह्मणान् परिवेषयेति । सा तथेति प्रतिश्रुत्य यथाक्रमं ब्राह्मणान् परिवेषयितुमुपचक्रमे ॥ अथ ते ब्राह्मणाः

तदाननोद्वीक्षणनिश्चलाक्षा मनोभुवा संह्रियमाणधैर्याः ।
अनीश्वरा लोचनमानसानामासुर्मदेनेव विलुप्तसंज्ञाः ॥ ५ ॥

यदा च नैव शक्नुवन्ति स्म प्रतिसंख्यानधीरनिभृतमवस्थातुं, कुत एव भोक्तुम् । अथैषां चक्षुष्पथादुत्सार्य स्वां दुहितरं स गृहपतिः स्वयमेव ब्राह्मणान् परिवेष्य विसर्जयामास ॥ अथ तेषां बुद्धिरभवत् कृत्यारूपमिदं खल्विदमतिमनोहरमस्या दारिकाया रूपचातुर्यम् । यतो नैनां राजा द्रष्टुमप्यर्हति कुतः पुनः पत्नीत्वं गमयितुम् । अनया हि रूपशोभया नियतमस्योन्मादितहृदयस्य धर्मार्थकार्यप्रवृत्तेर्विस्रस्यमानोत्साहस्य राजकार्यकालातिक्रमाः प्रजानां हितसुखोदयपथमुपपीडयन्तः पराभवाय स्युः ।

इयं हि संदर्शनमात्रकेण कुर्यान्मुनीनामपि सिद्धिविघ्नम् ।
प्रागेव भावार्पितदृष्टिवृष्टेर्यूनः क्षितीशस्य सुखे स्थितस्य ॥ ६ ॥

तस्मादिदमत्र प्राप्तकालमिति यथाप्रस्तावमुपेत्य राज्ञे निवेदयामासुः—दृष्टास्माभिर्महाराज सा कन्यका । अस्ति तस्या रूपचातुर्यमात्रकमपलक्षणोपघातनिःश्रीकं तु । यतो नैनां द्रष्टुमप्यर्हति देवः किं पुनः पत्नीत्वं गमयितुम् ।

कुलद्वयस्यापि हि निन्दिता स्त्री यशो विभूतिं च तिरस्करोति ।
निमग्नचन्द्रेव निशा समेघा शोभां विभागं च दिवस्पृथिव्योः ॥ ७ ॥

इति श्रुतार्थः स राजा अपलक्षणा किलासौ न च मे कुलानुरूपेति तस्यां विनिवृत्ताभिलाषो बभूव । अनर्थितां तु विज्ञाय राज्ञः स गृहपतिस्तां दारिकां तस्यैव राज्ञोऽमात्यायाभिपारगाय प्रायच्छत् । अथ कदाचित्स राजा क्रमागतां कौमुदीं स्वस्मिन्पुरवरे निपक्तशोभां द्रष्टुमुत्सुकमना रथवरगतः सिक्तसंमृष्टरथ्यान्तरापणमुच्छ्रितविचित्रध्वजपताकं समन्ततः पुष्पोपहारशबलभूमिभागधवलं प्रवृत्तनृत्तगीतहास्यलास्यवादित्रं पुष्पधूपचूर्णवासमाल्यासवस्नानानुलेपनामोदप्रसृतसुरभिगन्धि प्रसारितविविधरुचिरपण्य तुष्टपुष्टोज्ज्वलतरवेषपौरजानपदसंबाधराजमार्गं पुरवरमनुविचरंस्तस्यामात्यस्य भवनसमीपमुपजगाम । अथोन्मादय-

या नहीं।" उसके पिता ने उन ब्राह्मणों को अपने घर ले आकर उन्मादयन्ती से कहा—"भद्रे, तू स्वयं ब्राह्मणों को (भोजन) परोस।" वह "बहुत अच्छा" कह कर ब्राह्मणों के आगे परोसने लगी। जब उन ब्राह्मणों ने उसके मुख को ओर देखा तो उनकी आँखें वहीं स्थिर हो गईं। कामदेव ने उनका धैर्य हरण कर लिया। उनकी आँखों और मन पर उनका वश न रहा। वे बेहोश हो गये, जैसे नशे में चूर (=मद-मत्त) हों ॥ ५ ॥

जब वे ज्ञान-बल से धैर्य और शान्ति की रक्षा न कर सके तब फिर भोजन कहाँ से कर सकते थे ? तब उनके दृष्टि-पथ से अपनी बेटी को हटाकर उस गृह-पति ने स्वयं ही ब्राह्मणों को परोसकर खिलाया और विदा किया। उन ब्राह्मणों ने सोचा "इस लड़की का यह अत्यन्त मनोहर रूप अवश्य ही कृत्या (=माया) के रूप के समान है। यह तो राजा के देखने योग्य भी नहीं है, फिर पत्नी बनाने के योग्य कहाँ से होगी ? निश्चित है कि इस रूपशोभा से उनके हृदय में उन्माद पैदा होगा, धार्मिक और आर्थिक कार्यों में उनका उत्साह शिथिल होगा, राज-कार्य समयपर सम्पादित न होंगे, जिससे प्रजा के हित-सुख के उदय में बाधा होगी और उसका अनिष्ट होगा।

यह अपने दर्शन-मात्र से मुनियों की सिद्धि में भी विघ्न डाल सकती है, फिर सुख में रहनेवाले जवान राजा जब चाव से उसकी ओर देखेंगे तब उनका क्या हाल होगा (उनके कार्य में कितना विघ्न होगा) ?" ॥ ६ ॥

इसलिए अब इसका समय हो गया, यह सोचकर अपने निश्चय के अनुसार राजा के समीप जाकर उन्होंने निवेदन किया—"हे महाराज, हमने वह कन्या देखी। उसमें केवल रूप है, अलक्षणों के कारण वह रूप श्रीहीन (अशुभ) है। इसलिए वह देव के देखने योग्य भी नहीं है, फिर पत्नी बनाने योग्य कहाँ से होगी ?

निन्दनीय स्त्री दोनों कुलों की कीर्ति और सम्पत्ति को बोरती है, जैसे चन्द्रमा के डूबनेपर बादलोंवाली रात आकाश और पृथ्वी की शोभा और विभाग को छिपाती है" ॥ ७ ॥

यह सुनकर राजा ने सोचा—'वह अलक्षणा है और मेरे कुल के अनुरूप नहीं है।' इसलिए उसके प्रति उनकी चाह जाती रही। राजा नहीं चाहते हैं, यह जानकर उस गृह-पति ने उसी राजा के अमात्य अभिपारग को अपनी कन्या दान कर दी।

एकबार वह राजा क्रमागत कौमुदी-महोत्सव की शोभा अपनी राजधानी में देखने की उत्सुकता से उत्तम रथपर चढ़कर नगर में घूमने लगे। वहाँ जल छिड़ककर गलियाँ और दूकानें साफ की गई थीं, चित्र-विचित्र ध्वजाएँ और पताकाएँ ऊपर फहरा रही थीं, चारों ओर फूलों के उपहार से सफेद जमीन रंग-बिरंगी हो गई था, नृत्य गीत हास्य-लास्य और वाद्य वादन हो रहा था, फूल धूप चूर्ण सुगन्धित द्रव्य माला मदिरा और स्नानोपयुक्त अनुलेप से सुगंधि निकलकर फैल रही थी, नाना प्रकार के मनोहर पण्य (=सौदे) पसारे हुए थे, उज्ज्वल-वेप विभूषित हृष्ट-पुष्ट नागरिकों और ग्रामवासियों से राज-मार्ग भरे हुए थे। उस नगर में घूमते हुए वे उस अमात्य के घर के समीप पहुँचे। अलक्षणा जानकर राजा ने मुझे तिरस्कृत कर दिया, यह

न्त्यपलक्षणा किलाहमित्यनेन राज्ञावधूतेति समुत्पन्नामर्षा राजदर्शनकुतूहलेव नाम संदृश्यमानरूपशोभा विद्युदिव घनशिखरं हर्म्यतलमवभासयन्ती व्यतिष्ठत। शक्तिरस्येदानीमस्त्वपलक्षणादर्शनादविचलितधृतिस्मृतिमात्मानं धारयितुमिति ॥ अथ तस्य राज्ञः पुरवरविभूतिदर्शनकुतूहलप्रसृता दृष्टिरभिमुखस्थितायां सहसैव तस्यामपतत् । अथ स राजा--

प्रक्रममन्तःपुरसुन्दरीणां वपुर्विलासैः कलितेक्षणोऽपि ।
अनुद्धतो धर्मपथानुरागादुद्योगवानिन्द्रियनिर्जयेऽपि ॥ ८ ॥

विपुलधृतिगुणोऽप्यपत्रपिष्णुः परयुवतीक्षणविक्लवेक्षणोऽपि ।
उदितमदनविस्मयः स्त्रियं तां चिरमनिमेषविलोचनो ददर्श ॥ ९ ॥

कौमुदी किं न्वियं साक्षाद्भवनस्यास्य देवता ।
स्वर्गस्त्री दैत्ययोषिद्वा न ह्येतन्मानुषं वपुः ॥ १० ॥

इति विचारयत एव तस्य राज्ञस्तद्दर्शनावितृप्तनयनस्य स रथस्तं देशमतिवर्तमानो न मनोरथानुकूलो बभूव । अथ स राजा शून्यहृदय इव तद्गतैकाग्रमनाः स्वभवनमुपेत्य मन्मथाक्षिप्तधृतिः सुनन्दं सारथिं रहसि पर्यपृच्छत्--

सितप्राकारसंवीतं वेत्सि कस्य नु तद्गृहम् ।
का सा तत्र व्यरोचिष्ट विद्युत्सित इवाम्बुदे ॥ ११ ॥

सारथिरुवाच--अस्ति देवस्याभिपारगो नामामात्यमुख्यः । तस्य तद्गृहं तस्यैव च सा भार्या किरीटवत्सस्य दुहिता उन्मादयन्ती नामेति । तदुपश्रुत्य स राजा परभार्येति वितानीभूतहृदयश्चिन्तास्तिमितनयनो दीर्घमुष्णमभिनिश्वस्य तदर्पितमनाः शनैरात्मगतमुवाच--

अन्वर्थरम्याक्षरसौकुमार्यमहो कृतं नाम यथेदमस्याः ।
उन्मादयन्तीति शुचिस्मितायास्तथा हि सोन्मादमिवाकरोन्माम् ॥ १२ ॥

विस्मर्तुमेनामिच्छामि पश्यामीव च चेतसा ।
स्थितं तस्यां हि मे चेतः सा प्रभुत्वेन तत्र वा ॥ १३ ॥

परस्य नाम भार्यायां ममाप्येवमधीरता ।
तदुन्मत्तोऽस्मि संत्यक्तो लज्जयेवाद्य निद्रया ॥ १४ ॥

तस्या वपुर्विलसितस्मितवीक्षितेषु
संरागनिश्चलमतेः सहसा स्वनन्ती ।
कार्यान्तरक्रमनिवेदनधृष्टशब्दा
विद्वेषमुत्तुदति चेतसि नालिका मे ॥ १५ ॥

सोचकर उन्मादयन्ती क्रुद्ध हो गई और राजा को देखने के कुतूहल के बहाने से अपनी रूप-शोभा के साथ महल के ऊपर जाकर खड़ी हुई, जैसे बादल की चोटी पर बिजली चमक रही हो। (वहाँ खड़ी होकर उसने सोचा) अब ये इस अलक्षणा को देखकर अपने धैर्य और स्मृति की रक्षा करें। कुतूहलवश उस नगर की शोभा देखते देखते राजा की दृष्टि हठात् ही सामने खड़ी उन्मादयन्ती पर पड़ी। वह राजा

यद्यपि अपने अन्तःपुर की सुन्दरियों के रूप को इच्छानुसार बार-बार देखकर भी शान्त रहते थे, धर्म-मार्ग से अनुराग होने के कारण उन्होंने इन्द्रियों को जीतने का उद्योग किया था, वे बड़े धैर्यशाली और लज्जाशील थे, दूसरों की युवती स्त्रियों को देखकर उनको आँखों में कष्ट होता था, तथापि काम के वशीभूत होकर उन्होंने उस स्त्री को देर तक निर्निमेष आँखों से देखा ॥ ८–९ ॥

"क्या यह साक्षात् कौमुदी है या इस घर की देवता है, अप्सरा है या असुराङ्गना है ? यह मनुष्य की आकृति नहीं है।" ॥ १० ॥

जब राजा इस प्रकार विचार-विमर्श कर ही रहे थे और उसे देखकर उनकी आँखें तृप्त भी नहीं हुई थीं कि उनका रथ उनकी इच्छा के प्रतिकूल उस स्थान से आगे बढ़ा। राजा शून्य हृदय से उसी में एकाग्रचित्त होकर घर लौटे। कामदेव ने उनका धैर्य विचलित कर दिया। उन्होंने एकान्त में सारथि सुनन्द से पूछा—

"सफेद महलों से घिरा हुआ, जानते हो, वह किसका घर है ? सफेद बादल पर बिजली के समान वहाँ वह कौन चमकती थी ?" ॥ ११ ॥

सारथिने उत्तर दिया—"देव का अभिपारग नामक मुख्य मन्त्री है। उसका वह घर है और उसी की वह पत्नी है। वह किरीटवत्स की बेटी है, उसका नाम है उन्मादयन्ती।" जब राजा ने यह सुना तब 'दूसरे की स्त्री है' यह सोचकर उनका हृदय भारी हो गया, चिन्ता से उनकी आँखें स्थिर हो गई। उन्होंने लम्बी और गर्म साँसें लेकर उसी का ध्यान करते हुये धीरे-धीरे मन में कहा—

"इस शुभ्र मुसकानवाली का जो यह उन्मादयन्ती नाम है वह यथार्थ में मधुर और कोमल है, इसने मुझे मानों पागल बना दिया है ॥ १२ ॥

मैं इसे भूलना चाहता हूँ, किन्तु इसे चित्त से देख रहा हूँ। उसमें मेरा मन समा गया है या उसने मेरे मनपर अधिकार कर लिया है ॥ १३ ॥

दूसरे की स्त्री के लिए मैं इतना अधीर हूँ ? आज लज्जा और निद्रा से परित्यक्त होकर मैं पागल हो गया हूँ ॥ १४ ॥

उसके रूप हाव-भाव मुसकान और चितवन में मैं ध्यान-मग्न रहता हूँ तब अन्य कार्य-क्रम की सूचना देने में प्रगल्भ यह काल-नालिका[1] (=घण्टी) हठात् ही बजकर मेरे मन में क्रोध उत्पन्न करती है।" ॥ १५ ॥

इति स राजा मदबलविचलितधृतिर्व्यवस्थापयन्नप्यात्मानमापाण्डुकृशतनुः प्रध्यानविनिश्वसितविजृम्भणपरः प्रव्यक्तमदनाकारो बभूव ।

धृत्या महत्यापि निगुह्यमानः स भूपतेस्तस्य मनोविकारः ।
मुखेन चिन्तास्तिमितेक्षणेन कार्श्येन च व्यक्तिमुपाजगाम ॥ १६ ॥

अथेङ्गिताकारग्रहणनिपुणमतिरभिपारगोऽमात्यस्तं राज्ञो वृत्तान्तं सकारणमुपलभ्य स्नेहात्तदत्ययाशङ्की जानानश्चातिबलतां मदनस्य रहसि राजानं संविदितं समुपेत्य कृताभ्यनुज्ञो विज्ञापयामास—

अद्यार्चयन्तं नरदेव देवान्साक्षादुपेत्याम्बुरुहाक्ष यक्षः ।
मामाह नावैषि नृपस्य कस्मादुन्मादयन्त्यां हृदयं निविष्टम् ॥ १७ ॥

इत्येवमुक्त्वा सहसा तिरोऽभूद्विमर्शवानित्यहमभ्युपेतः ।
तच्चेत्तथा देव किमेतदेवमस्मासु ते निष्प्रणयत्वमौनम् ॥ १८ ॥

तत्प्रतिग्रहीतुमेनामर्हति मदनुग्रहार्थं देव इति । अथ राजा प्रत्यादेशाल्लज्जावनतवदनो मदनवशगतोऽपि स्वभ्यस्तधर्मसंज्ञत्वादविक्लवीभूतधैर्यः प्रत्याख्यानविशदाक्षरमेनमुवाच—नैतदस्ति । कुतः ?

पुण्याच्च्युतः स्याममरो न चास्मि विद्याच्च नः पापमिदं जनोऽपि ।
तद्विप्रयोगाच्च मनो ज्वलंस्त्वां वह्निः पुरा कक्षमिव क्षिणोति ॥ १९ ॥

यच्चोभयोरित्यहितावहं[1] स्याल्लोके परस्मिन्निह चैव कर्म ।
तद्यस्य हेतोरबुधा भजन्ते तस्यैव हेतोर्न बुधा भजन्ते ॥ २० ॥

अभिपारग उवाच—अलमत्र देवस्य धर्मातिक्रमाशङ्कया ।

दाने साहाय्यदानेन धर्म एव भवेत्तव ।
दानविघ्नात्त्वधर्मः स्यात्तां मत्तोऽप्रतिगृह्णतः ॥ २१ ॥

कीर्त्युपरोधावकाशमपि चात्र देवस्य न पश्यामि । कुतः ?

आवाभ्यामिदमन्यश्च क एव ज्ञातुमर्हति ।
जनापवादादाशङ्कामतो मनसि मा कृथाः ॥ २२ ॥

अनुग्रहश्चैष मम स्यान्न पीडा । कुतः ?

---

१ पा० 'यच्चोभयोरत्यहितावहं' ।

जब काम की शक्ति ने राजा के धैर्य को विचलित कर दिया तब अपने को स्थिर (रखने की कोशिश) करते हुए भी उनका शरीर दुबला-पतला और पीला हो गया, वे ध्यान-मग्न (चिन्तित) रहने लगे, लम्बी सांसें और जँभाइयाँ लेने लगे, उनमें काम के चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़े।

बड़े धैर्य (=यत्न) से छिपाने पर भी राजा का मानसिक विकार चिन्ताओं के कारण निश्चल आँखोंवाले चेहरे से और शारीरिक कृशता से प्रकट हो गया ॥ १६ ॥

अभिपारग नामक अमात्य बाहरी चिह्नों से भीतरी अभिप्राय[२] जानने में निपुण था। जब उसने कारण-सहित राजा का वृत्तान्त जान लिया तब स्नेहवश उसे राजा के अनिष्ट की आशंका हुई। काम की शक्ति कितनी अधिक होती है, यह जानते हुए उसने राजा को सूचित कर, एकान्त में उनके समीप पहुँचकर, उनसे आज्ञा लेकर निवेदन किया—

"हे राजन्, हे कमलनयन, आज जब मैं देव-पूजन कर रहा था तब साक्षात् यक्ष ने मेरे समीप आकर मुझ से कहा—'राजा का हृदय उन्मादयन्ती में प्रविष्ट हो चुका है, यह तुम्हें विदित नहीं सो क्यों?' ॥ १७ ॥

इतना कहकर वह तुरन्त अदृश्य हो गया। यही सोचता विचारता मैं यहाँ आया हूँ। यदि यह सच है तो आप मुझ से रुष्ट होकर इस प्रकार चुप क्यों हैं? ॥ १८ ॥

अतः मुझ पर अनुग्रह करने के लिए देव उसे ग्रहण करें।" यह अपमान सुनकर राजा ने लज्जा से अपना मुख नीचे कर लिया। काम के वशीभूत होकर भी धर्माभ्यास के कारण उनका धैर्य नष्ट नहीं हुआ। उन्होंने अस्वीकार-सूचक स्पष्ट शब्दों में कहा—"यह हो नहीं सकता। क्यों? इसलिये कि—

मेरा पुण्य क्षीण होगा, (मैं जानता हूँ कि) मैं अमर नहीं हूँ, लोगों को भी मेरा यह पाप विदित होगा। उसके वियोग से होनेवाला संताप तुम्हारे चित्त को जलाकर तुम्हें तुरत नष्ट कर डालेगा, जैसे अग्नि सूखे तृण को जलाकर भस्म कर देता है ॥ १९ ॥

जो कर्म उभयलोक—इहलोक और परलोक—में अत्यन्त अनिष्टकर है उस कर्म को जिस (काम-सुख के) हेतु से मूर्ख करते हैं उस कर्म को उसी (काम-सुख के) हेतु से विद्वान् नहीं करते।" ॥ २० ॥

अभिपारग ने कहा—"इसमें धर्म का अतिक्रमण (उल्लंघन) होगा, देव यह आशंका न करें।

(स्त्री-) दान में सहायता करने से आपको धर्म ही होगा। किन्तु यदि आप मुझसे उसे ग्रहण नहीं करते तो इस प्रकार दान में विघ्न डालने से आपको अधर्म होगा ॥ २१ ॥

इसमें आपकी अपकीर्ति होगी, इसकी भी कोई संभावना मैं नहीं देखता हूँ। इसलिये कि हम दोनों को छोड़कर दूसरा कौन इसे जानेगा ही? अतः आप अपने मन में लोक-निन्दा की आशंका न करें ॥ २२ ॥

और, यह तो मेरे ऊपर अनुग्रह ही होगा। पीड़ा कहाँ से होगी? क्यों? इसलिए कि—

स्वाम्यर्थचर्यार्जितया हि तुष्ट्या निरन्तरे चेतसि को विघातः ।
यतः सुकामं[1] कुरु देव काममलं मदुत्पीडनशङ्कया ते ॥ २३ ॥

राजोवाच--शान्तं पापम् ।

व्यक्तमस्मदतिस्नेहान्न त्वयैतदपेक्षितम् ।
यथा दाने न सर्वस्मिन्साचिव्यं धर्मसाधनम् ॥ २४ ॥

यो मदर्थमतिस्नेहात्स्वान् प्राणानपि नेक्षते ।
तस्य बन्धुविशिष्टस्य सख्युर्भार्या सखी मम ॥ २५ ॥

तदयुक्तं मामतीर्थे प्रतारयितुम् । यदपि चेष्टं नैतदन्यः कश्चिज्ज्ञास्यतीति, किमेवमिदमपापं स्यात् ।

अदृश्यमानोऽपि हि पापमाचरन्विषं निषेव्येव कथं समृध्नुयात् ।
न तं न पश्यन्ति विशुद्धचक्षुषो दिवौकसश्चैव नराश्च योगिनः ॥ २६ ॥

किं च भूयः

श्रद्दधीत क एतच्च यथासौ तव न प्रिया ।
तां परित्यज्य सद्यो वा विघातं न समाप्नुयाः ॥ २७ ॥

अभिपारग उवाच--

सपुत्रदारो दासोऽहं स्वामी त्वं दैवतं च मे ।
दास्यामस्यां यतो देव कस्ते धर्मव्यतिक्रमः ॥ २८ ॥

यदपि चेष्टं प्रिया ममेयमिति किम् ।

मम प्रिया कामद काममेषा तेनैव दित्सामि च तुभ्यमेनाम् ।
प्रियं हि दत्त्वा लभते परत्र प्रकर्षरम्याणि जनः प्रियाणि ॥ २९ ॥

यतः प्रतिगृह्णात्वेवैनां देव इति ॥ राजोवाच--मा मैवम् । अक्रम एषः । कुतः ?

अहं हि शस्त्रं निशितं विशेय हुताशनं विस्फुरदर्चिषं वा ।
न त्वेव धर्मादधिगम्य लक्ष्मीं शक्ष्यामि तत्रैव पुनः प्रहर्तुम् ॥ ३० ॥

अभिपारग उवाच--यद्येनां मद्भार्येति देवो न प्रतिग्रहीतुमिच्छत्ययमहमस्याः सर्वजनप्रार्थनाविरुद्धवेश्याव्रतमादिशामि । तत एनां देवः प्रतिगृह्णीयादिति ।

राजोवाच--किमुन्मत्तोऽसि !

---

१. पा० 'सकामं' ।

स्वामी की सेवा से उपार्जित संतोष से परिपूर्ण हृदय में पीड़ा के लिए स्थान ही कहाँ है ? अतः देव काम को सफल करें। मुझे पीड़ा होगी, यह आशंका आप न करें" ॥ २३ ॥

राजा ने कहा—"पाप का नाश हो। कुविचार का अन्त हो।

स्पष्ट ही मेरे प्रति अत्यन्त स्नेह के कारण तुमने यह नहीं सोचा कि सब प्रकार के दान में सहायता करना धर्मोदयिक (श्रेयस्कर) नहीं है ॥ २४ ॥

जो अति स्नेह के कारण मेरे लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता उस बन्धु से भी बढ़े हुए मित्र की पत्नी मेरी मित्र ही है ॥ २५ ॥

अतः मुझे पाप-कर्म में फँसाना अनुचित है। और, यह सोचना कि दूसरा कोई इसे न जानेगा तो क्या यह इस प्रकार पाप न होगा ?

जैसे विष पीकर कोई आदमी मोटा-ताजा नहीं हो सकता उसी प्रकार छिपकर भी पाप करनेवाला मनुष्य समृद्धिशाली नहीं हो सकता। उस (पाप करनेवाले) को दिव्य-चक्षु देवगण और निर्मलदृष्टि योगिगण न देख पावें, यह हो नहीं सकता।। २६ ॥

और यह कि

कौन यह विश्वास करेगा कि वह तुम्हारी प्रियतमा (प्रेमास्पद) नहीं है या उसका परित्याग कर तुम सद्यः पीड़ा (या विनाश) को न प्राप्त होगे ?" ॥ २७ ॥

अभिपारगने कहा—"अपने बच्चों और स्त्री के साथ मैं आपका दास हूँ, आप मेरे स्वामी और देवता हैं। अतः इस दासी (को ग्रहण करने) में आपके द्वारा क्या धर्म-अतिक्रमण (धर्मोल्लंघन) होगा ? ॥ २८ ॥

यह सोचना कि वह मेरी प्रियतमा है तो इससे क्या ? हे कामनाओं की पूर्ति करनेवाले, अवश्य ही वह मेरी प्रियतमा है, इसी से तो मैं उसे आपको देना चाहता हूँ। क्योंकि प्रिय वस्तु देकर मनुष्य परलोक में अत्यन्त रमणीय प्रिय वस्तु प्राप्त करता है ॥ २९ ॥

अतः देव उसे स्वीकार करें ही।"

राजा ने कहा—"नहीं, यह नहीं होगा। यह अनुचित है। क्यों ?

मैं तीक्ष्ण शस्त्र पर भले ही गिर पड़ूं (और मृत्यु का आलिङ्गन करूँ) या प्रज्वलित ज्वालाओंवाले अग्नि में प्रवेश करूँ, किंतु मैंने जिस धर्म से (जिस धर्म-मार्ग पर चल कर) लक्ष्मी को प्राप्त किया है उसी पर पुनः प्रहार न कर सकूँगा।" ॥ ३० ॥

अभिपारग ने कहा—"यदि देव इसे मेरी पत्नी समझकर ग्रहण नहीं करना चाहते, तो मैं इसे वेश्या-वृत्ति ग्रहण करने के लिए आदेश दूँगा, जब सब लोग उसे पाने की इच्छा कर सकेंगे। अतः देव उसे ग्रहण करें।"

राजा ने कहा—"क्या पागल हो गये हो ?"

अदुष्टां संत्यजन्भार्यां मत्तो दण्डमवाप्नुयाः ।
स धिग्वादास्पदीभूतः परत्रेह च धक्ष्यसे ॥ ३१ ॥

तदलमकार्यनिर्बन्धितया । न्यायाभिनिवेशी भवेति ॥

अभिपारग उवाच—

धर्मात्ययो मे यदि कश्चिदेवं जनापवादः सुखविप्लवो वा ।
प्रत्युद्गमिष्याम्युरसा तु तत्तत्त्वत्सौख्यलब्धेन मनःसुखेन ॥ ३२ ॥

त्वत्तः परं चाहवनीयमन्यं लोके न पश्यामि महीमहेन्द्र ।
उन्मादयन्ती मम पुण्यवृद्ध्यै तां दक्षिणामृत्विगिव प्रतीच्छ ॥ ३३ ॥

राजोवाच—काममस्मदतिस्नेहादनवेक्षितात्महिताहितक्रमो मदर्थचर्यासमुद्योगस्तवायम् । अत एव तु त्वां विशेषतो नोपेक्षितुमर्हामि । न च खलु लोकापवादनिःशङ्केन भवितव्यम् । पश्य

लोकस्य यो नाद्रियतेऽपवादं धर्मानपेक्षः परतः फलं वा ।
जनो न विश्वासमुपैति तस्मिन्ध्रुवं च लक्ष्म्यापि विवर्ज्यते सः ॥ ३४ ॥

यतस्त्वां ब्रवीमि

मा ते रोचिष्ट धर्मस्य जीवितार्थे व्यतिक्रमः ।
निःसंदिग्धमहादोषः ससन्देहकृशोदयः ॥ ३५ ॥

किं च भूयः

निन्दादिदुःखेषु परान्निपात्य नेष्टा सतामात्मसुखप्रवृत्तिः ।
एकोऽप्यनुत्पीड्य परानतोऽहं धर्मे स्थितः स्वार्थधुरं प्रपत्स्ये ॥ ३६ ॥

अभिपारग उवाच—स्वाम्यर्थं भक्तिवशेन चरतो मम तावदत्र क एवाधर्मावकाशः स्याद्देवस्य वा दीयमानामेनां प्रतिगृह्णतः । यतः सनैगमजानपदाः शिबयः किमत्राधर्म इति ब्रूयुः । तत् प्रतिगृह्णात्वेवैनां देव इति ॥

राजोवाच—अद्धा मदर्थचर्याप्रणयिमतिर्भवान् । इदं त्वत्र चिन्तयितव्यम्—सनैगमजानपदानां वा शिबीनां तव मम वा कोऽस्माकं धर्मवित्तम इति ॥

अथाभिपारगःससंभ्रमो राजानमुवाच—

वृद्धोपसेवासु कृतश्रमत्वाच्छ्रुताधिकारान्मतिपाटवाच्च ।
त्रिवर्गविद्यातिशयार्थतत्त्वं त्वयि स्थितं देव बृहस्पतौ च ॥ ३७ ॥

निर्दोष पत्नी का परित्याग करने पर मुझ से दण्ड पाओगे और निन्दा का पात्र होकर इह-लोक और परलोक में जलोगे (संताप पाओगे) ॥ ३१ ॥

अतः अकार्य के लिए आग्रह मत करो। न्याय के लिए आग्रह करो।"

अभिपारग ने कहा—

"यदि ऐसा करने में मेरे द्वारा धर्म का अतिक्रमण हो, मेरी लोक-निन्दा हो, या मेरे सुख में बाधा हो, तो मैं इन सबका हृदय से स्वागत करूँगा इसलिए कि आपको होनेवाले सुख से मुझे मानसिक शान्ति मिलेगी ॥ ३२ ॥

हे पृथ्वीपति, मेरे लिए आप से बढ़कर दूसरा कोई पूज्य[1] नहीं है। मेरी पुण्य-वृद्धि के लिए आप पुरोहित की तरह दक्षिणा में उस उन्मादयन्ती को ग्रहण करें ॥ ३३ ॥

राजा ने कहा—"निस्सन्देह मेरे प्रति अति स्नेह के कारण अपने हित अहित का विचार न कर तुम मेरे उपकार के लिए यह उद्योग कर रहे हो। इसीलिए किसी प्रकार भी मैं तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर सकता। तुम्हें लोकनिन्दा से लापरवाह नहीं होना चाहिए। देखो—

जो धर्म की उपेक्षा कर लोक-निन्दा या पारलौकिक फल की परवाह नहीं करता लोग उस पर विश्वास नहीं करते और निश्चित है कि वह लक्ष्मी से[2] भी परित्यक्त (वञ्चित) होगा ॥ ३४ ॥

अतः मैं तुम्हें कहता हूँ—

तुम्हें जीवन के लिए धर्म का अतिक्रमण न रुचे। निस्सन्देह उसमें महादोष है, उससे थोड़ा-सा भी लाभ होना संदिग्ध है ॥ ३५ ॥

और यह कि—

दूसरों को (लोक-) निन्दा आदि के दुःख में डाल कर सज्जन अपने लिए सुख नहीं चाहते। अतः मैं दूसरों को उत्पीड़ित न कर, अकेला भी धर्म में स्थिर रह कर अपना कार्य-भार वहन करूँगा (अपना लक्ष्य सिद्ध करूँगा)" ॥ ३६ ॥

अभिपारगने कहा—"यदि स्वामी के लिए भक्ति-भाव से मैं ऐसा आचरण करूँ या मेरे देने पर स्वामी उसे स्वीकार करें तो इसमें अधर्म के लिए स्थान ही कहाँ है ? नगरों और ग्रामों में रहने वाले शिवि ही बतलायें कि इसमें क्या अधर्म है। अतः देव इसे स्वीकार करें ही।"

राजा ने कहा—"सच है कि आप मेरे उपकार में दत्तचित्त हैं। किन्तु इसमें यह सोचिये कि नगरों और ग्रामों में रहने वाले शिवियों, आपके और मेरे बीच सबसे बड़ा धर्मज्ञ कौन है ?"

अभिपारग ने शीघ्र ही राजा से कहा—

"आपने परिश्रमपूर्वक वृद्धों की उपासना की है, आपकी बुद्धि सूक्ष्म है, आप शास्त्र के अधिकारी हैं, अतः हे देव, तीनों[3] विद्याओं का सम्यक् ज्ञान या तो आप में है या बृहस्पति में" ॥ ३७ ॥

राजोवाच—तेन हि न मामत्र प्रतारयितुमर्हसि । कुतः ?

नराधिपानां चरितेष्वधीनं लोकस्य यस्मादहितं हितं च ।
भक्तिं प्रजानामनुचिन्त्य तस्मात्कीर्तिक्षमे सत्पथ एव रंस्ये ॥ ३८ ॥

जिह्मं शुभं वा वृषभप्रचारं गावोऽनुगा यद्वदनुप्रयान्ति ।
उत्क्षिप्तशङ्काङ्कुशनिर्विघट्टं प्रजास्तथैव क्षितिपस्य वृत्तिम् ॥ ३९ ॥

अपि पश्यतु तावद्भवान् ।

आत्मानमपि चेच्छक्तिर्न स्यात्पालयितुं मम ।
का न्ववस्था जनस्यास्य मत्तो रक्षामिकाङ्क्षिणः ॥ ४० ॥

इति प्रजानां हितमीक्षमाणः स्वं चैव धर्मं विमलं यशश्च ।
नेच्छामि चित्तस्य वशेन गन्तुमहं हि नेता वृषवत्प्रजानाम् ॥ ४१ ॥

अथाभिपारगोऽमात्यस्तेन राज्ञोऽवस्थानेन प्रसादितमनाः प्रणम्य राजानं प्राञ्जलिरित्युवाच—

अहो प्रजानामतिभाग्यसम्पद्यासां त्वमेवं नरदेव गोप्ता ।
धर्मानुरागो हि सुखानपेक्षस्तपोवनस्थेष्वपि मृग्य एव ॥ ४२ ॥

महच्छब्दो महाराज त्वय्येवायं विराजते ।
विगुणेषु गुणोक्तिर्हि क्षेपरूक्षतराक्षरा ॥ ४३ ॥

विस्मयोऽनिभृतत्वं वा किं ममैतावता त्वयि ।
समुद्र इव रत्नानां गुणानां यस्त्वमाकरः ॥ ४४ ॥

तदेवं तीव्रदुःखातुराणामपि सतां नीचमार्गनिष्प्रणयता भवति स्वधैर्यावष्टम्भात् स्वभ्यस्तधर्मसंज्ञत्वाच्चेति धैर्यधर्माभ्यासे च योगः कार्य इति ॥

इत्युन्मादयन्ती-जातकं त्रयोदशम् ।

राजा ने कहा—"अतः इस विषय में आप मुझे पथभ्रष्ट नहीं कर सकते । क्योंकि—

प्रजाओं का हित-अहित राजाओं के चरित्र पर निर्भर है। अतः प्रजा की राज-भक्ति का विचार करते हुए मैं कीर्ति-दायक सन्मार्ग में ही रमूँगा ॥ ३८ ॥

साँड़ सीधा चले या टेढ़ा (सुमार्ग से चले या कुमार्ग से), उसकी अनुगामिनी गाएँ उसी के पीछे पीछे चलती हैं, उसी प्रकार प्रजाएँ निश्शंक और अविचल होकर राजा के आचरण का अनुकरण करती हैं ॥ ३९ ॥

आप यह भी देखें कि—

यदि अपनी भी रक्षा करने की शक्ति मुझ में न हो तो मुझ से रक्षा चाहने वाली मेरी प्रजा की क्या अवस्था होगी ? ॥ ४० ॥

अतः प्रजा-हित, स्वधर्म और अपनी विमल कीर्ति को देखते हुए मैं अपने चित्त के वश में होकर नहीं चलना चाहता हूँ (स्वेच्छाचारी नहीं बनना चाहता हूँ), क्योंकि मैं (गवांपति) साँड़ के समान लोक-नेता हूँ" ॥ ४१ ॥

राजा के इस प्रकार स्थिर होने पर अमात्य अभिपारग ने प्रसन्न चित्त से राजा को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा—

"अहो, इन प्रजाओं का बड़ा सौभाग्य है, जिनके कि, हे राजन्, आप-ऐसे रक्षक हैं। सुख की उपेक्षा कर धर्म से अनुराग करना, यह तो तपोवन के रहने वालों में भी खोजना ही पड़ेगा ॥ ४२ ॥

हे महाराज, यह 'महा' शब्द आप में ही शोभित हो रहा है; क्योंकि जो गुण-हीन हैं उनमें यदि गुण का होना कहा जाय तो यह निन्दा का कठोर वचन होगा ॥ ४३ ॥

आपके इस कार्य से मैं क्यों विस्मित और चकित होऊँ ? आप तो गुणों के निधि हैं, जैसे कि समुद्र रत्नों का आकर है।" ॥ ४४ ॥

तब इस प्रकार तीव्र पीड़ा से पीड़ित होकर भी सत्पुरुष अपने धैर्य की स्थिरता और धर्माभ्यास के कारण नीच मनुष्यों के मार्ग पर चलना पसन्द नहीं करते, यह जानकर धैर्य और धर्म के अभ्यास में उद्योग करना उचित है।

उन्मादयन्ती–जातक त्रयोदश समाप्त ।

१४. सुपारग-जातकम्

धर्माश्रयं सत्यवचनमप्यापदं नुदति प्रागेव तत्फलमिति धर्मानुवर्तिना भवितव्यम्। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किल महासत्त्वः परमनिपुणमतिर्नौसारथिर्बभूव। धर्मता ह्येषा बोधिसत्त्वानां प्रकृतिमेधावित्वाद्यदुत यं यं शास्त्रातिशयं जिज्ञासन्ते कलाविशेषं वा तस्मिंस्तस्मिन्नधिकतरा भवन्ति मेधाविनो जगतः। अथ स महात्मा विदितज्योतिर्गतित्वाद्दिक्षु विमागेष्वसम्मूढमतिः परिचिदितनियतागन्तुकौत्पातिकनिमित्तः कालाकालक्रमकुशलो मीनतोयवर्णभौमप्रकारशकुनिपर्वतादिभिश्चिह्नैः सूपलक्षितसमुद्रदेशः स्मृतिमान्विजिततन्द्रीनिन्द्रः शीतोष्णवर्षादिपरिखेदसहिष्णुरप्रमादी धृतिमानाहरणापहरणकुशलत्वादीप्सितं देशं प्रापयिता वणिजामासीत्। तस्य परमसिद्धयात्रत्वात्सुपारग इत्येव नाम बभूव। तदध्युषितं च पत्तनं सुपारगमित्येवाख्यातमासीत्। यदेतर्हि सूपारगमिति ज्ञायते। सोऽपि मङ्गलसम्मतत्वाद् वृद्धत्वेऽपि सांयात्रिकैर्यात्रासिद्धिकामैर्वहनमभ्यर्थनसत्कारपुरःसरमारोप्यते स्म।

अथ कदाचिद्भरुकच्छादभिप्रयाताः सुवर्णभूमिवणिजो यात्रासिद्धिकामाः सुपारगं पत्तनमुपेत्य तं महासत्त्वं वहनारोहणार्थमभ्यर्थयामासुः। स तानुवाच—

जराज्ञया संह्रियमाणदर्शने श्रमाभिपातैः प्रतनूकृतस्मृतौ।
स्वदेहकृत्येऽप्यवसन्नविक्रमे सहायता का परिशङ्क्यते मयि ॥ १ ॥

वणिज ऊचुः—विदितेयमस्माकं युष्मच्छरीरावस्था। सत्यपि च वः पराक्रमासहत्वे नैवं वयं कर्मविनियोगेन युष्मानायासयितुमिच्छामः। किं तर्हि ?

त्वत्पादपङ्कजसमाश्रयसत्कृतेन
मङ्गल्यतामुपगता रजसा त्वियं नौः।
दुर्गे महत्यपि च तोयनिधावमुष्मिन्
स्वस्ति व्रजेदिति भवन्तमुपागताः स्मः ॥ २ ॥

१४. सुपारग-जातक

धर्म का आश्रय लेकर[1] कहा गया सत्य वचन भी विपत्ति को टालता है, फिर धर्माचरण के फल का क्या कहना? इसलिए धर्माचरण करना ही चाहिए। यह बात इस अनुश्रुति (=कथा) से प्रमाणित होगी—

एक बार बोधिसत्त्व महापुरुष अत्यन्त निपुण नौ-सारथि (=नाविक) हुए। प्रकृति से मेधावी होने के कारण बोधिसत्त्वों का यह स्वभाव है कि वे जिस किसी शास्त्र या कला का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उसमें दूसरे लोगों से अधिक प्रवीण हो जाते हैं। वह महात्मा ग्रहों और नक्षत्रों की गति को जानते थे, इसलिए उन्हें दिग्भ्रम नहीं होता था। अवश्य आनेवाले उत्पातों के लक्षणों को अच्छी तरह जानते थे, इसलिए सुकाल और दुष्काल की पहचान करने में कुशल थे। मछली पानी का रंग भूमि-प्रकार पक्षी पर्वत आदि चिह्नों से समुद्र-प्रदेश (की अच्छाई या बुराई) का पता लगा लेते थे। जागरूक रहते थे। आलस्य और नींद को जीत लिया था। सर्दी गर्मी वर्षा आदि से होने वाले कष्ट को सह सकते थे। प्रमाद-रहित (=सावधान) और धीर थे। आहरण और अपहरण में[2] कुशल होने के कारण व्यापारियों को उनके अभीष्ट देश में पहुँचा देते थे। (समुद्र-) यात्रा में उन्हें परम सिद्धि प्राप्त होने के कारण उनका नाम सुपारग हुआ। और, वह जिस नगर में रहते थे वह भी सुपारग ही कहलाता था, जो आज 'सूपारग' के नाम से विख्यात है। (समुद्र-) यात्रा में सफलता चाहने वाले सामुद्रिक व्यापारी[3] मङ्गलमय होने के कारण बुढ़ापे में भी सुपारग को अनुनय और आदर के साथ अपने अपने जल-यान में चढ़ा लेते थे।

एक बार सुवर्ण-भूमि के बनियों ने भरुकच्छ से प्रस्थान किया और यात्रा को सफल करने की इच्छा से सुपारग-नगर में पहुँचकर उस महापुरुष से जहाज पर चढ़ने के लिए अनुरोध किया। उसने उन्हें कहा—

"बुढ़ापे के कारण मेरी दृष्टि हरण हो रही है, थकावट के कारण मेरी स्मृति क्षीण हो गई है। अपने शरीर से किये जाने वाले कार्यों को करने में भी मैं असमर्थ हूँ। मुझ से किस सहायता की आप आशा करते हैं?" ॥ १ ॥

बनियों ने कहा—"आपकी यह शारीरिक अवस्था हमें विदित है। आप पराक्रम (शारीरिक कार्य) करने में असमर्थ हैं। हम आपको ऐसा कोई कार्य सौंपकर कष्ट नहीं देना चाहते हैं"।

तो क्या?

"(यही कि) आपके चरण-कमलों के सम्पर्क से पवित्र हुई धूल से मङ्गलमय होकर हमारी यह नाव इस दुर्गम महासमुद्र में भी[4] सकुशल चले, इसीलिए हम आपके समीप आये हैं" ॥ २ ॥

अथ स महात्मा तेषामनुकम्पया जराशिथिलशरीरोऽपि तद्वहनमारुरोह । तदधिरोहणाच्च प्रमुदितमनसः सर्वं एव ते वणिजो बभूवुर्नियतमस्माकमुत्तमा यात्रासिद्धिरिति । क्रमेण चावजगाहिरे विविधमीनकुलविचरितमनिभृतजलकलकलारावमनिलबलविलासप्रविचलिततरङ्गं बहुविधरत्नैर्भूमिविशेषैरर्पितरङ्गं फेनावलीकुसुमदामविचित्रमसुरवलभुजगभवनं दुरापपातालमप्रमेयतोयं महासमुद्रम् ।

अथेन्द्रनीलप्रकराभिनीलं सूर्यांशुतापादिव खं विलीनम् ।
समन्ततोऽन्तर्हिततीरलेखमगाधमम्भोनिधिमध्यमीयुः ॥ ३ ॥

तेषां तत्रानुप्राप्तानां सायाह्नसमये मृदूभूतकिरणचक्रप्रभावे सवितरि महदौत्पातिकं परमभीषणं प्रादुरभूत् ।

विभिद्यमानोर्मिविकीर्णफेनश्चण्डानिलास्फालनभीमनादः ।
नैभृत्यनिर्मुक्तसमग्रतोयः क्षणेन रौद्रः समभूत् समुद्रः ॥ ४ ॥

उत्पातवाताकलितैर्महद्भिस्तोयस्थलैर्भीमरयैर्भ्रमद्भिः ।
युगान्तकालप्रचलाचलेव भूमिर्बभूवोग्रवपुः समुद्रः ॥ ५ ॥

विद्युल्लतोद्भासुरलोलजिह्वा नीला भुजङ्गा इव नैकशीर्षाः ।
आवव्रुरादित्यपथं पयोदाः प्रसक्तभीमस्तनितानुनादाः ॥ ६ ॥

घनैर्घनैरावृतरश्मिजालः सूर्यः क्रमेणास्तमुपारुरोह ।
दिनान्तलब्धप्रसरं समन्तात्तमो घनीभावमिवाजगाम ॥ ७ ॥

धाराशरैराच्छुरितोर्मिचक्रे महोदधावुत्पततीव रोषात् ।
भीतेव नौरभ्यधिकं चकम्पे विषादयन्ती हृदयानि तेषाम् ॥ ८ ॥

ते त्रासदीनाश्च विषादमूका धीराः प्रतीकारससम्भ्रमाश्च ।
स्वदेवतायाचनतत्पराश्च भावान्यथा सत्त्वगुणं विवव्रुः ॥ ९ ॥

अथ ते सांयात्रिकाः पवनबलचलितसलिलवेगवशगया नावा परिभ्रम्यमाणा बहुभिरप्यहोभिर्नैव कुतश्चित्तीरं ददृशुर्न च यथेप्सितानि समुद्रचिह्नानि । अपूर्वैरेव तु समुद्रचिह्नैरभिवर्धमानवैमनस्या भयविषादव्याकुलतामुपजग्मुः । अथैतान् सुपारगो बोधिसत्त्वो व्यवस्थापयन्नुवाच—अनाश्चर्यं खलु महासमुद्रमध्यमवगाढानामौत्पातिकक्षोभपरिक्लेशः । तदलमत्रभवतां विषादानुवृत्त्या । कुतः ?

तब वह महात्मा बुढ़ापे के कारण शिथिल शरीर होने पर भी उन व्यापारियों पर अनुग्रह करते हुए उनके जल-पोतपर चढ़ गये। उनके चढ़ने से वे सभी व्यापारी अत्यन्त प्रसन्न हुए और मन में सोचने लगे कि इस यात्रा में हमें अच्छी सफलता मिलेगी। वे क्रम से असुरों की नाग-सेना के निवास-स्थान, अतल-स्पर्श और असीम-जल-राशि महा-समुद्र में पहुँचे, जहाँ अनेक प्रकार की मछलियाँ विचरण कर रही थीं, अशान्त जल-कलकल हो रहा था और वायु के वेग से तरंगें चञ्चल हो रही थीं। वह समुद्र अनेक प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण स्थलों से रंग गया था और फेनावली रूपी फूलों की मालाओं से सुशोभित हो रहा था।

तब वे समुद्र के अथाह मध्यभाग में पहुँचे। चारों ओर कहीं किनारा दिखाई नहीं पड़ता था। वह मध्यभाग इन्द्रनीलनामक मणियों के समान नीले रंग का था; जान पड़ता था जैसे सूर्य की किरणों से पिघला हुआ आकाश हो ॥ ३ ॥

जब वे वहाँ पहुँचे हुए थे तब सायंकाल में सूर्य की किरणों के कोमल होने पर किसी भारी उत्पात का लक्षण उत्पन्न हुआ।

(उत्ताल) तरंगों के टूटने से (चारों ओर) फेन फैल गया। प्रचण्ड वायु के चलने से भयंकर शब्द होने लगा। (नीचे से ऊपर तक) सारा जल आन्दोलित हो उठा। एक ही क्षण में समुद्र ने रौद्र रूप धारण कर लिया ॥ ४ ॥

तूफान द्वारा सञ्चालित बड़ी बड़ी जल-राशियाँ भयंकर वेग से चक्कर काटने लगीं। प्रलय-काल में काँपते हुए पर्वतों से युक्त पृथ्वी के समान समुद्रने उग्र रूप धारण कर लिया ॥ ५ ॥

बिजली के समान चमकीली और चञ्चल जिह्वाओं वाले, अनेक मस्तकों से युक्त, कृष्ण सर्पों के समान बिजली से युक्त काले बादलों ने सूर्य-मार्ग (=आकाश) को आच्छादित कर लिया और लगातार घोर गर्जन किया ॥ ६ ॥

घने बादलों में जिसकी किरणें छिप गईं वह सूर्य धीरे धीरे अस्त हुआ। दिवस के अन्त में चारों ओर फैला हुआ अन्धकार अत्यन्त गाढ़ा हो गया (या मेघ में ही मिल गया) ॥ ७ ॥

जल-धारा रूपी तीरों से तरंगों के विद्ध होने पर समुद्र मानों क्रोध से ऊपर उठने लगा। जहाज मानो भय-भीत होकर काँपने लगा और उन यात्रियों के हृदयों को शोकाकुल कर दिया ॥ ८ ॥

वे धीर पुरुष भय से कातर, शोक से चुप, और (विपत्ति का) प्रतीकार करने में घबड़ाये हुये थे। अपने देवताओं को मनाते हुए उन्होंने अपने अपने सत्त्वगुण (=स्वभाव) के अनुसार आन्तरिक भाव प्रकट किये ॥ ९ ॥

तब हवा के जोर से वेगपूर्वक चलते हुए जल के वशीभूत जहाज से चक्कर काटते हुए उन व्यापारियों ने न कहीं तीर देखा और न समुद्र में इच्छित (=शुभ) चिह्न ही देखे। इन अभूत-पूर्व (अशुभ) चिह्नों से उनकी उदासी बढ़ती ही गई। वे भय और विषाद से व्याकुल हो गये। तब बोधिसत्त्व सुपारग ने उन्हें स्थिर करते हुए कहा—"महासमुद्र के मध्य में पहुँचने-वालों को उत्पात-जन्य (समुद्र-) क्षोभ से कष्ट होता ही है, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। यहाँ आप लोगों का विषाद करना व्यर्थ है। क्योंकि—

नापत्प्रतीकारविधिर्विषादस्तस्मादलं दैन्यपरिग्रहेण ।
धैर्यात्तु कार्यप्रतिपत्तिदक्षाः कृच्छ्राण्यकृच्छ्रेण समुत्तरन्ति ॥ १० ॥

विषाददैन्यं व्यवधूय तस्मात्कार्यावकाशं क्रियया भजध्वम् ।
प्राज्ञस्य धैर्यज्वलितं हि तेजः सर्वार्थसिद्धिग्रहणाग्रहस्तः ॥ ११ ॥

तद्यथाधिकारावहिता भवन्तु भवन्तः । इति ते सांयात्रिकास्तेन महात्मना धीरीकृतमनसः कूलदर्शनोत्सुकमतयः समुद्रमवलोकयन्तो ददृशुः पुरुषविग्रहानामुक्तरूप्यकवचानिवोन्मज्जतो निमज्जतश्च । सम्यक् चैषामाकृतिनिमित्तमुपधार्य सविस्मयाः सुपारगाय न्यवेदयन्त—अपूर्वं खल्विदमिह महासमुद्रे चिह्नमुपलभ्यते । एते खलु

आमुक्तरूप्यकवचा इव दैत्ययोधा
घोरेक्षणाः खुरनिकाशविरूपघोणाः ।
उन्मज्जनावतरणस्फुरणप्रसंगात्
क्रीडामिवार्णवजलेऽनुभवन्ति केऽपि ॥ १२ ॥

सुपारग उवाच—नैते मानुषा अमानुषा वा, मीना खल्वेते । यतो न भेतव्यमेभ्यः । किन्तु—

सुदूरपमकृष्टाः स्मः पत्तनद्वितयादपि ।
खुरमाली समुद्रोऽयं तद्यतध्वं निवर्तितुम् ॥ १३ ॥

चण्डवेगवाहिना सलिलनिवहेनैकान्तहरेण च पाश्चात्येन वायुना समाक्षिप्तया नावा न ते सांयात्रिकाः शेकुर्विनिवर्तितुम् । अथावगाहमानाः क्रमेण रूप्यप्रभाभासितमनीलफेननिचयपाण्डुरमपरं समुद्रमालोक्य सविस्मयाः सुपारगमूचुः—

स्वफेनभग्नैरिव कोऽयमम्बुभिर्महार्णवः शुक्लदुकूलवानिव ।
द्रवानिवेन्दोः किरणान्समुद्वहन्समन्ततो हास इव प्रसर्पति ॥ १४ ॥

सुपारग उवाच—कष्टम् । अतिदूरं खल्ववगाह्यते ।

क्षीरार्णव इति ख्यात उदधिर्दधिमाल्यसौ ।
क्षमं नातः परं गन्तुं शक्यते चेन्निवर्तितुम् ॥ १५ ॥

वणिज ऊचुः—न खलु शक्यते विलम्बयितुमपि वहनं कुत एव सन्निवर्तयितुमतिशीघ्रवाहित्वाद्वहनस्य प्रतिकूलत्वाच्च मारुतस्येति ।

अथ व्यतीत्य तमपि समुद्रं सुवर्णप्रभानुरञ्जितप्रचलोर्मिमालमग्निज्वालकपिलसलिलमपरं समुद्रमालोक्य विस्मयकौतूहलास्ते वणिजः सुपारगं पप्रच्छुः—

विपत्ति का प्रतीकार करने का उपाय विषाद करना नहीं है। इसलिए उदास होना बेकार है। जो कार्य करने में दक्ष हैं वे धैर्य धारण कर विपत्तियों (के सागर) को अनायास ही पार करते हैं ॥ १० ॥

अतः विषाद और उदासी को छोड़कर आप कार्य करने के अवसरपर कार्य करें; क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य का धैर्य-प्रज्वलित तेज (=पराक्रम) समस्त सिद्धियों को ग्रहण करने के लिए हाथ का अग्रभाग है ॥ ११ ॥

'इसलिए आप लोग अपने अपने कार्य में सावधान हो जायँ।" इस प्रकार उस महात्मा के द्वारा शान्तचित्त किये जानेपर, तीर देखने के लिए उत्सुक होकर, समुद्र की ओर देखते हुए, उन्होंने देखा कि पुरुष-आकृति के प्राणी जैसे चाँदी के कवच पहने हुए हों और (पानी में) उब-डुब कर रहे हों (गोते लगा रहे हों)। उनकी आकृति और लक्षण का ठीक ठीक निरूपण कर उन्होंने आश्चर्य के साथ यह (समाचार) सुपारग से निवेदन किया—"अवश्य ही इस महासमुद्र में यह अपूर्व लक्षण दिखाई पड़ रहा है। निश्चय ही ये

चाँदी के कवच पहने हुए दैत्य-योद्धाओं के समान विकराल दृष्टिवाले, (चौपाये जानवर के) खुर के समान कुरूप नासिकावाले प्राणी लगातार डुबकी लगाते हुए और ऊपर उठते हुए, समुद्र-जल में मानो क्रीड़ा कर रहे हैं" ॥ १२ ॥

सुपारगने कहा—'ये मनुष्य या दैत्य नहीं हैं। ये हैं मछलियाँ, जिनसे डरना नहीं चाहिए। किन्तु

हमलोग (बहाव में पड़कर) दोनों ही नगरों से बहुत आगे आ गये हैं। यह खुरमाली[1] नामक समुद्र है। अतः लौटने की कोशिश करें ॥ १३ ॥

प्रचण्ड वेग से बहनेवाली जल-राशि और भसानेवाली पाश्चात्त्य[2] वायु के वशीभूत था उनका जहाज। अतः वे यात्री नहीं लौट सके। तब क्रम से भीतर प्रवेश करते हुए उन्होंने चाँदी की चमक से चमकते हुए तथा श्वेत फेन-पुञ्ज से उज्ज्वल दूसरे समुद्र को देखा और आश्चर्य के साथ सुपारग से कहा—

"यह कौन महासमुद्र है ? इसका जल अपने ही फेनों से ढका हुआ है; मानो जान पड़ता है जैसे यह सफेद वस्त्र पहने हुए हो। चन्द्रमा की द्रवीभूत किरणों को धारण करता हुआ यह हास्य की तरह चारों ओर फैल रहा है" ॥ १४ ॥

सुपारग ने कहा—"हा कष्ट ! हम बहुत दूर आ गये हैं।

यह क्षीरसागर नामक दधिमाली (=दही की माला धारण करनेवाला) समुद्र है। यदि लौट सकें तो यहाँ से आगे जाना उचित नहीं है" ॥ १५ ॥

वनियों ने कहा—"जहाज तेजी से बहता जा रहा है और हवा प्रतिकूल है। अतः जहाज को लौटाने की बात तो दूर रही, इसे रोकना भी शक्य नहीं है।"

तब उस समुद्र को भी पार कर, उन वनियों ने दूसरे समुद्र को देखा, जिसकी चञ्चल तरंगें सुनहले रंग से रँगी हुई थीं और जिसका जल अग्निशिखाओं की तरह भूरा था। उस समुद्र को देखकर उन्होंने विस्मय और कौतूहल के साथ सुपारग से पूछा—

वालार्कलक्ष्म्येव कृताङ्गरागैः समुन्नमद्भिः सलिलैरनीलैः ।
ज्वलन्महानग्निरिवावभाति को नाम तस्माच्च महार्णवोऽयम् ॥ १६ ॥

सुपारग उवाच—

अग्निमालीति विख्यातः समुद्रोऽयं प्रकाशते ।
अतीव खलु साधु स्यान्निवर्तेमहि यद्यतः ॥ १७ ॥

इति स महात्मा नाममात्रमकथयत्तस्य सरित्पतेर्न तोयवैवर्ण्यकारणं दीर्घदर्शित्वात् । अथ ते सांयात्रिकास्तमपि समुद्रमतीत्य पुष्परागेन्द्रनीलप्रभोद्योतितसलिलं परिपक्वकुशवननिकाशवर्णं समुद्रमालोक्य कौतूहलजाताः सुपारगं पप्रच्छुः—

परिणतकुशपर्णवर्णतोयः सलिलनिधिः कतमो न्वयं विभाति ।
सकुसुम इव फेनभक्तिचित्रैरनिलजवाकलितैस्तरङ्गभङ्गैः ॥ १८ ॥

सुपारग उवाच—भोः सार्थवाहा निवर्तनं प्रति यत्नः क्रियताम् । न खल्वतः क्षमते परं गन्तुम् ।

कुशमाली समुद्रोऽयमत्यङ्कुश इव द्विपः ।
प्रसह्यासह्यसलिलो हरन्हरति नो रतिम् ॥ १९ ॥

अथ ते वाणिजकाः परेणापि यत्नेन निवर्तयितुमशक्नुवन्तस्तमपि समुद्रमतीत्य वंशरागवैडूर्यप्रभाव्यतिकरहरितसलिलमपरं समुद्रमालोक्य सुपारगमपृच्छन्—

मरकतहरितप्रभैर्जलैर्वहति नवामिव शाद्वलश्रियम् ।
कुमुदरुचिरफेनभूषणः सलिलनिधिः कतमोऽयमीक्ष्यते ॥ २० ॥

अथ स महात्मा तेन वणिग्जनस्य व्यसनोपनिपातेन दह्यमानहृदयो दीर्घमुष्णमभिनिश्वस्य शनैरुवाच—

अतिदूरमुपेताः स्थ दुःखमस्मान्निवर्तितुम् ।
पर्यन्त इव लोकस्य नलमाल्येष सागरः ॥ २१ ॥

तच्छ्रुत्वा ते वाणिजका विषादोपरुध्यमानमनसो विस्रस्यमानगात्रोत्साहा निश्वसितमात्रपरायणास्तत्रैव निषेदुः । व्यतीत्य च तमपि समुद्रं सायाह्नसमये विलम्बमानरश्मिमण्डले सलिलनिधिमिव प्रवेष्टुकामे दिवसकरे समुद्धूतमानस्येव सलिलनिधेरशनीनामिव च सम्पततां वेणुवनानामिव चाग्निपरिगतानां विस्फुटतां तुमुलमतिभीषणं श्रुतिहृदयविदारणं समुद्रध्वनिमश्रौषुः । श्रुत्वा च सन्त्रास-

"बाल सूर्य की आभा से मानो रँगा गया इसका नीलिमा-रहित जल बहुत ऊँचा उठ रहा है। महा-अग्नि के समान प्रज्वलित हो रहा यह कौन महासमुद्र है ?" ॥ १६ ॥

सुपारग ने कहा—

"अग्निमाली नामक यह समुद्र दिखाई पड़ रहा है। बहुत अच्छा हो यदि हम यहाँ से लौट जायँ" ॥ १७ ॥

उस महात्मा ने उस समुद्र का केवल नाम ही बतलाया, किन्तु उस दीर्घदर्शी ने पानी के बदले हुए रंग का कारण नहीं बतलाया। तब उस समुद्र को भी पार कर उन पोत-वणिकों ने दूसरा समुद्र देखा, जिसका जल पुष्पराग और इन्द्रनील की जैसी प्रभा से भासित था और जिसका रंग पके हुए कुशों के जंगलों का-सा था। तब कौतूहल के वशीभूत होकर उन्होंने सुपारग से पूछा—

"यह कौन समुद्र है, जिसके पानी का रंग वैसा ही है जैसा कि पके हुए कुशों (के पत्तों) का और जो (समुद्र) वायु-वेग से उठती हुई फेनिल चित्र-विचित्र तरंग रूपी फूलों से सुशोभित है ?" ॥ १८ ॥

सुपारग ने कहा—"हे व्यापारियो, लौटने की कोशिश कीजिए। इससे आगे जाना उचित नहीं।

यह कुशमाली नामक समुद्र है। अंकुश की परवाह नहीं करनेवाले (अनियंत्रित, मतवाले) हाथी के समान यह अपने प्रचण्ड जल-वेग से हमें बहाता हुआ हमारा आनन्द अपहरण कर रहा है" ॥ १९ ॥

जब बहुत कोशिश करके भी वे व्यापारी नहीं लौट सके, तब उस समुद्र को भी पार कर उन्होंने दूसरे समुद्र को देखा, जिसका जल वंशराग और वैदूर्य की सम्मिलित प्रभा के समान हरे रंग का था। उसे देखकर उन्होंने सुपारग से पूछा—

"यह कौन समुद्र दिखाई पड़ रहा है ? इसका जल मरकतमणि की तरह हरे रंग का है। यह अभिनव तृणों की (श्यामल) शोभा धारण कर रहा है और कुमुद की तरह सुन्दर फेन से विभूषित है" ॥ २० ॥

उन व्यापारियों के विपत्ति में पड़ने से उस महात्मा का हृदय जलने लगा। देर तक गर्म साँस लेते, और छोड़ते हुए उसने धीरे धीरे कहा—

"आप लोग बहुत दूर आ गये हैं। यहाँ से लौटना कठिन है। यह नलमाली नामक सागर, संसार की मानो अन्तिम सीमा है" ॥ २१ ॥

यह सुनकर उन व्यापारियों के चित्त विषाद से भर गये और उनके शरीर की स्फूर्ति नष्ट हो गई। केवल साँसें लेते और छोड़ते हुए वे वहीं बैठ गये। उस समुद्र को भी पार कर सायंकाल में जब लटकती हुई किरणों के साथ सूर्य मानो समुद्र में प्रवेश करना चाहता था तब जैसे समुद्र के क्षुब्ध होने (या उलटने) का, जैसे वज्र-पातों का, जैसे अग्नि की लपेट में पड़कर फटते हुए बाँस के जंगलों का श्रुति-हृदय-विदारक अतिभीषण तुमुल समुद्र-गर्जन सुनाई पड़ा।

वशगाः स्फुरन्मनसः सहसैवोत्थाय समन्ततोऽनुविलोकयन्तो ददृशुः प्रपात इव श्वभ्र इव च महति तमुदकौघं निपतन्तं दृष्ट्वा च परमभयविषादविह्वलाः सुपारगमुपेत्योचुः—

निर्भिन्दन्निव नः श्रुतीः प्रतिभयश्चेतांसि मथ्नन्निव
क्रुद्धस्येव सरित्पतेर्ध्वनिरयं दूरादपि श्रूयते ।
भीमे श्वभ्र इवार्णवस्य निपतत्येतत्समग्रं जलं
तत्कोऽसावुदधिः किमत्र च परं कृत्य भवान्मन्यते ॥ २२ ॥

अथ स महात्मा ससम्भ्रमः कष्टं कष्टमित्युक्त्वा समुद्रमालोकयन्नुवाच—

यत्प्राप्य न निवर्तन्ते मृत्योर्मुखमिवासुखम् ।
अशिवं समुपेताः स्थ तदेतद्वडवामुखम् ॥ २३ ॥

तदुपश्रुत्य ते वाणिजका वडवामुखमुपेता वयमिति त्यक्तजीविताशा मरणभयविक्लवीभूतमनसः

सस्वरं रुरुदुः केचिद्विलेपुरथ चुक्रुशुः ।
न किञ्चित्प्रत्यपद्यन्त केचित्त्रासविचेतसः ॥ २४ ॥

विशेषतः केचिदभिप्रणेमुर्देवेन्द्रमार्तिप्रहतैर्मनोभिः ।
आदित्यरुद्रांश्च मरुद्वसूंश्च प्रपेदिरे सागरमेव चान्ये ॥ २५ ॥

जेपुश्च मन्त्रानपरे विचित्रानन्ये तु देवीं विधिवत्प्रणेमुः ।
सुपारगं केचिदुपेत्य तत्तद्विचेष्टमानाः करुणं विलेपुः ॥ २६ ॥

आपद्गतत्रासहरस्य नित्यं परानुकम्पागुणसम्भृतस्य ।
अयं प्रभावातिशयस्य तस्य तवाभ्युपेतो विनियोगकालः ॥ २७ ॥

आर्ताननाथञ्छरणागतान्नस्त्वं त्रातुमावर्जय धीरचेतः ।
अयं हि कोपाद्वडवामुखेन चिकीर्षति ग्रासमिवार्णवोऽस्मान् ॥ २८ ॥

नोपेक्षितुं युक्तमयं जनस्ते विपद्यमानः सलिलौघमध्ये ।
नाज्ञां तवात्येति महासमुद्रस्तद्वार्यतामप्रशमोऽयमस्य ॥ २९ ॥

अथ स महात्मा महत्या करुणया समापीड्यमानहृदयस्तान्वाणिजकान्व्यवस्थापयन्नुवाच—अस्त्यत्रापि नः कश्चित्प्रतीकारविधिः प्रतिभाति । तत्तावत्प्रयोक्ष्ये । यतो मुहूर्तं धीरास्तावद् भवन्तु भवन्त इति । अथ ते वाणिजका अस्त्यत्रापि किल प्रतीकारविधिरित्याशया समुपस्तम्भितधैर्यास्तदवहितमनसस्तूष्णीं बभूवुः । अथ सुपारगो बोधिसत्त्व एकांसमुत्तरासङ्गं कृत्वा दक्षिणेन जानुमण्डले-

उसे सुनकर वे भयभीत हो गये, उनके चित्त विचलित हो उठे। हठात् उठकर चारों ओर दृष्टि-पात करते हुए उन्होंने देखा कि विशाल जल-राशि जैसे (पर्वत के) प्रपात में या जैसे बड़े खन्दक में गिर रही थी। यह देखकर वे अत्यन्त भय एवं विषाद से विह्वल हो गये और सुपारग के समीप जाकर बोले—

"हमारे कानों को मानो फाड़ता हुआ, हमारे हृदयों को मानो विदीर्ण करता हुआ क्षुब्ध सागर का यह घोर गर्जन दूर से ही सुनाई पड़ रहा है। समुद्र का यह सारा जल महागर्त में मानो गिर रहा है। (आप बतलायें कि) यह कौन समुद्र है और आपकी समझ से यहाँ हमारा क्या परम कर्त्तव्य है।" ॥ २२ ॥

तब वह महात्मा घबड़ाहट में आकर बोल उठे—"हा कष्ट, हा कष्ट।" फिर समुद्र की ओर देखते हुए कहा—

आपलोग इस अमङ्गलमय वडवा-मुख में पहुँच गये हैं, जो मृत्यु-मुख का मानो प्रवेश-द्वार है। यहाँ पहुँचने पर कोई (बचकर) नहीं निकलता।" ॥ २३ ॥

यह सुनकर कि "हम बडवा-मुख में आ गये हैं" उन बनियों ने जीने की आशा छोड़ दी और वे मरण-भय से व्याकुल हो उठे।

कुछ लोग जोरों से रोये विलपे और चिल्लाये। कुछ लोग डर के मारे बेहोश होकर कुछ नहीं कर सके ॥ २४ ॥

कुछ ने आर्त चित्त से देवेन्द्र को खूब प्रणाम किया (पूजा), और कुछ ने आदित्यों रुद्रों मरुतों और सागर की ही शरण ली ॥ २५ ॥

कइयों ने नाना प्रकार के मंत्रों का जप किया, दूसरों ने देवी की विधिवत् पूजा की। कुछ लोगों ने सुपारग के समीप जाकर, तरह तरह की (शारीरिक) चेष्टाएँ करते हुए, करुणापूर्वक विलाप किया— ॥ २६ ॥

"आप विपत्ति में पड़े हुओं का भय हरण करनेवाले और दूसरों पर सदा अनुकम्पा करने वाले हैं। आपके लोकोत्तर प्रभाव का उपयोग करने का यह समय आ गया है ॥ २७ ॥

हे धीर, हम दुःखियों अनाथों और शरणागतों की रक्षा करने का आप निश्चय करें। यह क्रुद्ध समुद्र अपने वड़वा-मुख से हमें हमें निगलना चाहता है ॥ २८ ॥

इस जल-राशि के बीच मृत्यु को प्राप्त हो रहे हमलोगों की उपेक्षा करना आपके लिए उचित नहीं है। यह महासमुद्र आपकी आज्ञा का उलंघन नहीं कर सकता। अतः आप इसके इस क्रोध को शान्त करें ॥ २९ ॥

उस महात्मा का हृदय करुणा से भर आया। उन बनियों को सान्त्वना देते हुए उसने कहा—"मुझे जान पड़ता है कि अब भी हमारी रक्षा का कोई उपाय है। मैं इसका प्रयोग करूँगा। किन्तु आपलोग मुहूर्त भर के लिए धैर्य धारण करें।" 'अब भी हमारी रक्षा का कोई उपाय है' इस आशा से उन बनियों ने धैर्य धारण किया और उसकी ओर ध्यान लगाकर वे चुप हो गये। तब बोधिसत्त्व सुपारग ने एक कंधे पर चादर रखकर और दाहिने घुटने को

नाधिष्ठाय नावं समावर्जितसर्वभावः प्रणम्य तथागतेभ्यस्तान्सांयात्रिकानामन्त्रयते स्म । शृण्वन्त्वत्र भवन्तः सांयात्रिकाः सलिलनिधिव्योमाश्रयाश्च देवविशेषाः

स्मरामि यत आत्मानं यतः प्राप्तोऽस्मि विज्ञताम् ।
नाभिजानामि सञ्चिन्त्य प्राणिनं हिंसितुं क्वचित् ॥ ३० ॥

अनेन सत्यवाक्येन मम पुण्यबलेन च ।
वडवामुखमप्राप्य स्वस्ति नौर्विनिवर्तताम् ॥ ३१ ॥

अथ तस्य महात्मनः सत्याधिष्ठानबलात्पुण्यतेजसा सह सलिलजवेन स मारुतो व्यावर्तमानस्तां नावं निवर्तयामास । निवृत्तां तु तां नावमभिसमीक्ष्य ते वाणिजकाः परमविस्मयप्रहर्षोद्धतमानसा निवृत्ता नौरिति प्रणामसभाजनपुरःसरं सुपारगाय न्यवेदयन्त । अथ स महात्मा तान्वाणिजकानुवाच—स्थिरीभवन्तु भवन्तः शीघ्रमारोप्यन्तां शीतानि । इति च तेन समादिष्टाः प्रमोदादुद्भूतबलोत्साहास्ते तदधिकृतास्तथा चक्रुः ।

अथ मुदितजनप्रहासनादा प्रविततपाण्डुरशीतचारुपक्षा ।
सलिलनिधिगता रराज सा नौर्गतजलदे नभसीव राजहंसी ॥ ३२ ॥

निवृत्तायां तु तस्यां नाव्यनुकूलसलिलमारुतायां विमानलीलया स्वेच्छयैव चाभिप्रयातायां नातिश्यामीभूतसन्ध्याङ्गरागासु प्रवितन्यमानतमोवितानास्वालक्षितनक्षत्रभूषणासु दिक्षु किञ्चिदवशेषप्रभे दिवसकरमार्गे प्रवृत्तक्षणदाधिकारे सुपारगस्तान्वाणिजकानुवाच—भोः सार्थवाहा नलमालिप्रभृतिभ्यो यथादृष्टेभ्यः समुद्रेभ्यो बालुकाः पाषाणाश्च वहनमारोप्यन्तां यावत्सहते । एवमिदं यानपात्रं निर्घातभराक्रान्तं न च पार्श्वानि दास्यति, मङ्गलसम्मताश्चैते बालुकापाषाणा नियतं लाभसिद्धये वो भविष्यन्तीति । अथ ते सांयात्रिकाः सुपारगप्रेमबहुमानावर्जितमतिभिर्देवताभिरनुप्रदर्शितेभ्यः स्थलेभ्य आदाय बालुकापाषाणबुद्ध्या वैडूर्यादीनि रत्नानि वहनमारोपयामासुः । तेनैव चैकरात्रेण सा नौर्भरुकच्छमुपजगाम ।

अथ प्रभाते रजतेन्द्रनीलवैडूर्यहेमप्रतिपूर्णनौकाः ।
स्वदेशतीरान्तमुपागतास्ते प्रीत्या तमानर्चुरुदीर्णहर्षाः ॥ ३३ ॥

तदेवं धर्माश्रयं सत्यवचनमप्यापदं नुदति प्रागेव तत्फलमिति धर्मानुवर्तिना भवितव्यम् । कल्याणमित्राश्रयवर्णेऽपि वाच्यमेवं कल्याणमित्राश्रिताः श्रेयः प्राप्नुवन्तीति ॥

इति सुपारग-जातकं चतुर्दशम् ।

जहाज पर टेककर सर्वभाव से तथागतों को प्रणाम किया। फिर व्यापारियों को सम्बोधित करते हुए कहा—

"आप मान्य व्यापारियों तथा समुद्र के ऊपर आकाश में रहने वाले पूज्य देवगण, सुनिये।

जब से मैं अपने को याद करता हूँ, जब से मुझे ज्ञान (=होश) हुआ है, ध्यान करने पर भी मुझे स्मरण नहीं हो रहा है कि मैंने कदाचित् किसी प्राणी की हिंसा की है ॥ ३० ॥

इस सत्य-वचन से और मेरे पुण्य बल से जहाज बड़वा-मुख में प्रविष्ट हुए बिना ही सकुशल लौट जाय" ॥ ३१ ॥

तब उस महात्मा के सत्य-बल और पुण्य-प्रताप से जल-प्रवाह के साथ साथ बदलती हुई हवा ने जहाज को मोड़ दिया। जहाज को मुड़ा हुआ देखकर व्यापारियों के मन में अत्यन्त आश्चर्य और प्रसन्नता हुई और उन्होंने सुपारग को प्रणाम कर सम्मानपूर्वक निवेदन किया—"जहाज लौट चला।" तब उस महात्मा ने उनसे कहा—"आपलोग स्थिर हो जायें और शीघ्र ही पाल चढ़ायें।" यह आज्ञा पाकर, उस कार्य के अधिकारियों ने, जिनके शरीर में आनन्द से शक्ति और उत्साह का सञ्चार हो गया, आज्ञा पालन की।

तब सफेद पाल के सुन्दर पंख फैल गये। प्रमुदित यात्रियों के हास्य से जहाज गूँज उठा। समुद्र में चलता हुआ जहाज ऐसे शोभित हुआ जैसे मेघमुक्त (निर्मल) आकाश में (उड़ता हुआ) राज-हंस ॥ ३२ ॥

जहाज लौट चला। अनुकूल प्रवाह और हवा में वह विमान की तरह स्वेच्छा से उड़ रहा था। संध्याकाल की लाली मिटी नहीं थी। अन्धकार का चन्दोवा चारों ओर फैल रहा था। दिशाओं के नक्षत्ररूपी आभूषण दिखाई पड़ने लगे थे। सूर्य-मार्ग की प्रभा कुछ कुछ बची हुई थी। रात्रि का आरम्भ हो ही रहा था कि सुपारग ने उन बनियों से कहा—"हे व्यापारियो, नलमाली आदि जिन समुद्रों को आपने क्रमशः देखा था उनसे बालू और पत्थर उचित परिमाण में लेकर जहाज पर चढ़ा लें। इस प्रकार जहाज के पार्श्व, भारी तूफान आने पर भी, स्थिर रहेंगे। ये बालू और पत्थर मंगलमय हैं, इनसे अवश्य आपको लाभ होगा।" तब सुपारग के प्रति प्रेम और सम्मान-भाव होने के कारण देवताओं ने उन स्थानों को बतला दिया जहाँ से उन यात्रियों ने वैदूर्य आदि रत्नों को बालू और पत्थर समझकर जहाज पर चढ़ा लिया। उस एक ही रात में जहाज भरुकच्छ पहुँच गया।

प्रातःकाल होने पर सोना-चाँदी इन्द्रनील और वैदूर्य से भरे हुए जहाज को लेकर वे अपने देश के समुद्र-तट पर पहुँच गये और अत्यन्त आनन्दित होकर प्रेमपूर्वक सुपारग की पूजा की ॥ ३३ ॥

इस प्रकार धर्माश्रित सत्य-वचन भी विपत्ति को टालता है, फिर धर्माचरण के फल का क्या कहना? इसलिए धार्मिक होना ही चाहिए। कल्याण (-कारी) मित्र के आश्रय का वर्णन करने में भी यों कहना चाहिए—"कल्याणमित्र (सन्मित्र, धार्मिक मित्र) के आश्रय में रह-कर मनुष्य कल्याण प्राप्त करते हैं"।

सुपारग-जातक चतुर्दश समाप्त।

१५. मत्स्य-जातकम्

शीलवतामिहैवाभिप्रायाः कल्याणाः समृध्यन्ति प्रागेव परत्रेति शीलविशुद्धौ प्रयतितव्यम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिन्नातिमहति कह्लार-तामरस-कमल-कुवलय विभूषितरुचिरसलिले हंस-कारण्डव चक्रवाक-मिथुनोपशोभिते तीरान्तरुहतरु-कुसुमावकीर्णे सरसि मत्स्याधिपतिर्बभूव । स्वभ्यस्तभावाच्च बहुषु जन्मान्तरेषु परार्थचर्यायास्तत्रस्थोऽपि परहितसुखप्रतिपादनव्यापारो बभूव ।

अभ्यासयोगाद्धि शुभाशुभानि कर्माणि सात्म्येन भवन्ति पुंसाम् ।
तथाविधान्येव यदप्रयत्नाज्जन्मान्तरे स्वप्न इवाचरन्ति ॥ १ ॥

इष्टानामिव च स्वेषामपत्यानामुपरि निविष्टहार्दो महासत्त्वस्तेषां मीनानां दानप्रियवचनार्थचर्यादिक्रमैः परमनुग्रहं चकार ।

अन्योन्यहिंसाप्रणयं नियच्छन्परस्परप्रेम विवर्धयंश्च ।
योगादुपायज्ञतया च तेषां विस्मारयामास स मत्स्यवृत्तम् ॥ २ ॥

तत्तेन सम्यक्परिपाल्यमानं वृद्धिं परां मीनकुलं जगाम ।
पुरं विनिर्मुक्तमिवोपसर्गैर्न्यायप्रवृत्तेन नराधिपेन ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्सत्त्वानां भाग्यसम्पद्वैकल्यात्प्रमादाच्च वर्षाधिकृतानां देवपुत्राणां न सम्यग्देवो ववर्ष । अथासम्यग्वर्षिणि देवे तत्सरः फुल्लकदम्बकुसुम-गौरेण नवसलिलेन न यथापूर्वमापुपूरे । क्रमेण चोपगते निदाघकालसमये पटुतरदीप्तिभिः खेदालसगतिभिरिव च दिनकरकिरणैस्तदभितप्तया च धरण्या ज्वालानुगतेनेव च ह्लादाभिलाषिणा मारुतेन तर्षवशादिव प्रत्यहमापीयमानं तत्सरः पल्वलीबभूव ।

निदाघकाले ज्वलितो विवस्वञ्ज्वालाभिवर्षीव पटुश्च वायुः ।
ज्वरातुरेवाशिशिरा च भूमिस्तोयानि रोषादिव शोषयन्ति ॥ ४ ॥

अथ बोधिसत्त्वो वायसगणैरपि परितर्क्यमाणं प्रागेव सलिलतीरान्तचारिभिः पक्षिगणैर्विषाददैन्यवशगं विस्पन्दितमात्रपरायणं मीनकुलमवेक्ष्य करुणायमाणश्चिन्तामापेदे । कष्टा बतेयमापदापतिता मीनानाम् ।

प्रत्यहं क्षीयते तोयं स्पर्धमानमिवायुषा ।
अद्यापि च चिरेणैव लक्ष्यते जलदागमः ॥ ५ ॥

अपयानक्रमो नास्ति नेताप्यन्यत्र को भवेत् ।
अस्मद्व्यसनसंकृष्टाः समायान्ति च नो द्विषः ॥ ६ ॥

१५. मत्स्य-जातक

शीलवान् (=सदाचारी) व्यक्तियों के उत्तम अभिप्राय इहलोक में ही सिद्ध होते हैं, फिर परलोक का क्या कहना ? अतः शील (=आचरण) की विशुद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिये। जैसी कि यह अनुश्रुति है—

एकबार बोधिसत्त्व किसी सरोवर में, जिसे बहुत बड़ा नहीं कहा जा सकता, मछलियों के स्वामी हुए। उस सरोवर का सुन्दर जल कह्लार[1] तामरस[2] कमल और कुवलय[3]से विभूषित, हंस कारण्डव और चक्रवाक के जोड़ों से सुशोभित तथा तीर-वर्ती वृक्षों के फूलों से व्याप्त था। अपने अनेक जन्मान्तरों (=पूर्व-जन्मों) में परोपकार का अभ्यास होने के कारण उस मत्स्य-जन्म में भी (वहाँ रहते हुए) वह दूसरों के हित-सुख के कार्यों में लगे रहते थे।

अभ्यास-बल से भले-बुरे कर्म मनुष्यों की आत्मा के गुण (=सहज स्वभाव) बन जाते हैं। इसीलिए वे उन कर्मों को दूसरे जन्म में भी अनायास ही करते रहते हैं, जैसे स्वप्न में कर रहे हों ॥ १ ॥

वह महासत्त्व (=महाप्राणी) अपनी प्रिय सन्तानों की तरह उन मछलियों से स्नेह करते थे और दान मधुर वचन उपकार आदि से उनपर अत्यन्त अनुग्रह करते थे।

उनके आपसी हिंसा-भाव को रोकते हुए तथा पारस्परिक प्रेम-भाव को बढ़ाते हुए उसने अपने उद्योग और नीति-कुशलता के कारण उनसे मत्स्यभाव भुलवा दिया ॥ २ ॥

उसके द्वारा सम्यक् रूप से परिपालित होते हुए मत्स्य-कुल की खूब वृद्धि हुई, जैसे न्याय-मार्ग पर चलनेवाले राजा का नगर उपद्रवों से मुक्त होकर उन्नति के शिखर पर चढ़ जाता है ॥ ३ ॥

तब एक बार प्राणियों के दुर्भाग्य से तथा वर्षा के अधिकारी देव-पुत्रों के प्रमाद से वृष्टि पर्याप्त नहीं हुई। वृष्टि पर्याप्त नहीं होने से वह सरोवर पुष्पित कदम्ब वृक्षों के फूलों से रंगे हुए पीत-वर्ण अभिनव जल से पहले की तरह परिपूर्ण नहीं हुआ। क्रम से ग्रीष्मऋतु आनेपर तीक्ष्ण श्रान्त मन्थरगति सूर्यकिरणों द्वारा, किरणों से संतप्त धरती द्वारा तथा तृप्ति चाहनेवाली गर्म हवा द्वारा प्यास से प्रतिदिन पिया जाता हुआ वह सरोवर (सूखकर) तलैया हो गया।

ग्रीष्मकाल में प्रज्वलित सूर्य, आग की लपटें बरसानेवाला वायु, तथा ज्वर से पीड़ित व्यक्ति के समान तपी हुई पृथिवी मानो क्रोध से जल सोखते हैं ॥ ४ ॥

तब विषाद और दीनता के वशीभूत होकर (सूखे सरोवर में) मछलियाँ छटपटाने लगीं। कौए और तीरवर्ती पक्षी तो पहले ही उन्हें (अपना आहार बनाने को) सोचने लगे। यह देखकर मत्स्य कुलपर करुणा करते हुए बोधिसत्त्व ने चिन्तन किया—"हा, मछलियोंपर यह तब कैसी दारुण विपत्ति आई !

(प्राणियों की) आयु से मानो होड़ करता हुआ पानी प्रतिदिन क्षीण हो रहा है। अब भी देखते हैं कि बादल के आने में बहुत देर है ॥ ५ ॥

यहाँ से निकल भागने का उपाय नहीं है। और हमें दूसरी जगह ले जाये भी तो कौन (ले जाये) ? हमारी विपत्ति से आकृष्ट होकर हमारे शत्रु समीप आ रहे हैं ॥ ६ ॥

अस्य निःसंशयमिमे तोयशेषस्य संक्षयात् ।
स्फुरन्तो भक्षयिष्यन्ते शत्रुभिर्मम पश्यतः ॥ ७ ॥

तत्किमत्र प्राप्तकालं स्यादिति विमृशन्स महात्मा सत्याधिष्ठानमेकमार्तायनं ददर्श । करुणया च समापीड्यमानहृदयो दीर्घमुष्णमभिनिश्वस्य नभः समुल्लोकयन्नुवाच—

स्मरामि न प्राणिवधं यथाहं सञ्चिन्त्य कृच्छ्रे परमेऽपि कर्तुम् ।
अनेन सत्येन सरांसि तोयैरापूरयन्वर्षतु देवराजः ॥ ८ ॥

अथ तस्य महात्मनः पुण्योपचयगुणात्सत्याधिष्ठानबलात्तदभिप्रसादितदेवनागयक्षानुभावाच्च समन्ततस्तोयावलम्बिबिम्बा गम्भीरमधुरनिर्घोषा विद्युल्लतालङ्कृतनीलविपुलशिखरा विजृम्भमाणा इव प्रविसर्पिभिः शिखरभुजैः परिष्वजमाना इव चान्योन्यमकालमेघाः कालमेघाः प्रादुरभवन् ।

दिशां प्रभिण्वन्त इव प्रयामं शृङ्गैर्वितन्वन्त इवान्धकारम् ।
नभस्तलादर्शगता विरेजुश्छाया गिरीणामिव कालमेघाः ॥ ९ ॥

संसक्तकेकैः शिखिभिः प्रहृष्टैः संस्तूयमाना इव नृत्तचित्रैः ।
प्रसक्तमन्द्रस्तनिता विरेजुर्धीरप्रहासादिव ते घनौघाः ॥ १० ॥

मुक्ता विमुक्ता इव तैर्विमुक्ता धारा निपेतुः प्रशशाम रेणुः ।
गन्धश्चचारानिभृतो धरण्यां विकीर्यमाणो जलदानिलेन ॥ ११ ॥

निदाघसम्पर्कविवर्धितोऽपि तिरोबभूवार्ककरप्रभावः ।
फेनावलीव्याकुलमेखलानि तोयानि निम्नाभिमुखानि सस्रुः ॥ १२ ॥

मुहुर्मुहुः काञ्चनपिञ्जराभिर्भाभिर्दिगन्ताननुरञ्जयन्ती ।
पयोदतूर्यस्वनलब्धहर्षा विद्युल्लता नृत्तमिवाचचार ॥ १३ ॥

अथ बोधिसत्त्वः समन्ततोऽभिप्रसृतैरापाण्डुभिः सलिलप्रवाहैरापूर्यमाणे सरसि धारानिपातसमकालमेव विद्रुते वायसाद्ये पक्षिगणे प्रतिलब्धजीविताशे च प्रमुदिते मीनगणे प्रीत्याभिसार्यमाणहृदयो वर्षनिवृत्तिसाशङ्कः पुनः पुनः पर्जन्यमाबभाषे—

उद्गर्ज पर्जन्य गभीरधीरं प्रमोदमुद्वासय वायसानाम् ।
रत्नायमानानि पयांसि वर्षन्संसक्तविद्युज्ज्वलितद्युतीनि ॥ १४ ॥

इस बने हुए जल के सूखने पर निश्चय है कि शत्रु आकर तड़पती हुई मछलियों को मेरे देखते ही खा जायँगे" ॥ ७ ॥

'इस समय क्या करना उचित है' यह सोचते हुए उस महात्मा ने देखा कि सत्य का प्रभाव पीड़ित प्राणियों का एक सहारा है। उसका हृदय करुणा से भर आया। गर्म और लम्बी साँस लेकर आकाश की ओर देखते हुए उसने कहा—

"चिन्तन करनेपर मुझे स्मरण नहीं हो रहा है कि घोर संकट में भी मैंने कभी किसी प्राणी की हिंसा की है। मेरे इस सत्य (के प्रभाव) से देवराज जल बरसाकर जलाशयों को भर दें" ॥ ८ ॥

तब उस महात्मा की पुण्य राशि के प्रताप से, सत्य के प्रभाव से उसके द्वारा प्रसन्न किये गये देवों नागों और यक्षों के अनुभाव से असमय के काले बादल[1] चारों ओर प्रकट हो गये। जल के भार से लटकते हुए वे गम्भीर और मधुर गर्जन कर रहे थे। उनके विशाल शिखर विद्युल्लताओं (=बिजली) से अलंकृत थे। अपने पसरते हुए शिखरों और भुजाओं से वे मानो अंगड़ाई ले रहे थे या मानो एक दूसरे का आलिङ्गन कर रहे थे।

आकाशरूपी आइने में पर्वतों की परछाहीं के समान विराजमान काले बादल अपने शृङ्गों द्वारा मानो दिशाओं के विस्तार को माप (बता) रहे थे और अन्धकार फैला रहे थे ॥ ९ ॥

(बिजली की चमक से) हँसते हुए बादलों ने बार बार गम्भीर गर्जन किया और मोरों ने प्रसन्न होकर अनेक प्रकार से नाचते हुए एवं अनवरत बोलते हुए मानो उन बादलों की स्तुति की ॥ १० ॥

(अपने सम्पुटों से) गिरते हुए मोतियों (की पाँतियों) के समान मेघों से जल-धाराएँ गिरीं। धूल शान्त हो गई। पृथिवी से तेज गन्ध निकली, जिसे बादलों के साथ बहनेवाली हवा ने (चारों ओर) बिखेर दिया ॥ ११ ॥

यद्यपि ग्रीष्म-ऋतु के सम्पर्क से धूप बहुत बढ़ गई थी, किन्तु अब वह (बादलों में) अदृश्य हो गई। अपने फेन-पुञ्ज से पहाड़[2] के तटों को व्याप्त करते हुए जल-प्रवाह नीचे की ओर दौड़ने लगे ॥ १२ ॥

मेघ-मृदङ्ग[3] के शब्द से आनन्दित होकर विद्युल्लता (=बिजली) ने सुवर्ण की-सी पीली आभाओं से दिगन्तों को बार बार रञ्जित (=प्रकाशित) करते हुए मानो नृत्य किया ॥ १३ ॥

चारों ओर फैले हुए पीले जल-प्रवाह से सरोवर भरने लगा। (पृथ्वी पर) जलधारा के गिरते ही कौए आदि पक्षी भाग गये। मछलियाँ आनन्दित हुईं और उन्हें जीवन-रक्षा की आशा हुई। बोधिसत्त्व का हृदय आनन्द से भर गया। वर्षा बन्द होने की आशंका से उसने बार बार पर्जन्य-देव से कहा—

"हे पर्जन्य, गम्भीर गर्जन कीजिये। लगातार चमकती हुई बिजली के प्रकाश से युक्त होने के कारण रत्नों के समान दिखाई पड़नेवाले जल बरसाते हुए आप कौओं का आनन्द विलीन कीजिये" ॥ १४ ॥

तदुपश्रुत्य शक्रो देवानामिन्द्रः परमविस्मितमनाः साक्षादभिगम्यैनमभिसंराधयन्नुवाच—

तवैव खल्वेष महानुभाव मत्स्येन्द्र सत्यातिशयप्रभावः।
आवर्जिता यत्कलशा इवेमे क्षरन्ति रम्यस्तनिताः पयोदाः॥ १५॥

महत्प्रमादस्खलितं त्विदं मे यन्नाम कृत्येषु भवद्विधानाम्।
लोकार्थमभ्युद्यतमानसानां व्यापारयोगं न समभ्युपैमि॥ १६॥

चिन्तां कृथा मा तदतः परं त्वं सतां हि कृत्योद्वहनेऽस्मि धुर्यः।
देशोऽप्ययं त्वद्गुणसंश्रयेण भूयश्च नैवं भवितार्तिवश्यः॥ १७॥

इत्येवं प्रियवचनैः संराध्य तत्रैवान्तर्दधे। तच्च सरः परां तोयसमृद्धिमवाप॥

तदेवं शीलवतामिहैवाभिप्रायाः कल्याणाः समृध्यन्ति प्रागेव परत्रेति शीलविशुद्धौ प्रयतितव्यम्॥

इति मत्स्य-जातकं पञ्चदशम्।

---

१६. वर्तका-पोतक-जातकम्

सत्यपरिभाविता वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुमिति सत्यवचनेऽभियोगः करणीयः। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन्नरण्यायतने वर्तकापोतको भवति स्म। स कतिपयरात्रोद्भिन्नाण्डकोशः प्रविरोक्ष्यमाणतरुणपक्षः परिदुर्बलत्वादलक्ष्यमाणाङ्गप्रत्यङ्गप्रदेशः स्वमातापितृप्रयत्नरचिते तृणगहनोपगूढे गुल्मलतासंनिश्रिते नीडे संबहुलैर्भ्रातृभिः सार्धं प्रतिवसति स्म। तदवस्थोऽपि चापरिलुप्तधर्मसंज्ञत्वान्मातापितृभ्यामुपहृतान्प्राणिनो नेच्छति स्माभ्यवहर्तुम्। यदेव त्वस्य तृणबीजन्यग्रोधफलाद्युपजहतुर्मातापितरौ तेनैव वर्तयामास। तस्य तया रूक्षाल्पाहारतया न कायः पुष्टिमुपययौ। नापि पक्षौ सम्यक्प्रविरुरोहतुः। इतरे तु वर्तकापोतका यथोपनीतमाहारमभ्यवहरन्तो बलवन्तः सञ्जातपक्षाश्च बभूवुः। धर्मता ह्येषा यदुत—

धर्माधर्मनिराशङ्कः सर्वाशी सुखमेधते।
धर्म्यां तु वृत्तिमन्विच्छन्विचिताशीह दुःखितः॥ १॥

यह सुनकर देवेन्द्र शक्र के मन में बड़ा विस्मय हुआ। वह स्वयं उसके समीप गये और स्तुति करते हुए कहा—

"हे महानुभाव, हे मत्स्येन्द्र, आपके ही अलौकिक सत्य का यह प्रभाव है कि मधुरता-पूर्वक गर्जते हुए ये बादल झुकाये गये कलशों के समान जल बरसा रहे हैं ॥ १५ ॥

असावधानी के कारण मैंने यह भारी भूल की है कि लोकोपकार में दत्तचित्त आप-सरीखों के कार्यों में सहायता न की ॥ १६ ॥

अब आगे आप चिन्ता न करें। मैं सज्जनों का कार्य-भार वहन करूँगा। और, आपके सद्गुणों के सम्पर्क से यह देश फिर कभी इस प्रकार पीड़ित न होगा" ॥ १७ ॥

इस प्रकार मधुर वचनों से उसकी स्तुति कर वह वहीं अन्तर्धान हो गये। और, वह सरोवर जल से परिपूर्ण हो गया।

इस प्रकार, शीलवान् (=सदाचारी) व्यक्तियों के उत्तम अभिप्राय इहलोक में ही सिद्ध होते हैं, फिर परलोक का क्या कहना! अतः शील (=आचरण) की विशुद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

मत्स्य जातक पञ्चदश समाप्त।

---

१६. वर्तका-पोतक-जातक

सत्य पूत[1] वाणी का उल्लंघन अग्नि भी नहीं कर सकता, इसलिए सत्यवचन का अभ्यास करना चाहिए। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

एक बार बोधिसत्त्व किसी जंगल के भीतर वर्तका पोतक (=बटेर-बच्चा) हुए। अभी कुछ ही दिन बीते थे कि वह अण्डे को फोड़कर बाहर आये थे। उसके नन्हें पंख बाहर निकल ही रहे थे। दुर्बलता के कारण उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग (अच्छी तरह) नहीं पहचाने जाते थे। अपने माता-पिता के द्वारा प्रयत्नपूर्वक बनाये गये तृणों के दुष्प्रवेश घोंसले में, जो झाड़ी की लता के सहारे स्थित था, अपने अनेक भाइयों के साथ रहते थे। उस अवस्था में भी उसका धर्म-ज्ञान लुप्त नहीं हुआ था। वह अपने माता पिता के द्वारा लाये गये जीव-जन्तुओं को नहीं खाना चाहते थे। किन्तु उसके माता-पिता जो कुछ (जंगली) तृणों के बीज, वट-वृक्ष के फल आदि ले आते थे उन्हें ही खाकर वह अपना जीवन-धारण करते थे। उस रूखे सूखे अल्प आहार के कारण उसका शरीर पुष्ट नहीं हुआ और न उसके पंख ही अच्छी तरह उत्पन्न हुए। किन्तु दूसरे बटेर के बच्चे जो कुछ लाये गये सभी प्रकार के आहार को खाकर बलवान् हो गये और उनके पंख भी उत्पन्न (विकसित) हुए। यह तो स्वाभाविक ही है कि—

धर्म-अधर्म का विचार नहीं करनेवाला सर्वभक्षी (प्राणी) सुख से रहता है (अनायास ही फूलता-फलता है); किन्तु धर्मोचित वृत्ति (आजीविका) की खोज करनेवाला और चुन चुनकर (निर्दोष चीजें) खानेवाला दुःखी रहता है ॥ १ ॥

[अपि चोक्तं भगवता सुजीवितमह्रीकेणेति गाथाद्वयम् ।

सुजीवितमह्रीकेण ध्वाङ्क्षेणाशुचिकर्मणा ।
प्रस्कन्दिना प्रगल्भेन सुसंक्लिष्टं तु जीवितम् ॥ २ ॥

ह्रीमता त्विह दुर्जीवं नित्यं शुचिगवेषिणा ।
संलीनेनाप्रगल्भेन शुद्धाजीवेन जीवता ॥ ३ ॥

इति गाथाद्वयमेतदार्यस्थाविरीयकनिकाये पठ्यते ।] तेषामेवमवस्थानां नातिदूरे महान्वनदावः प्रतिभयप्रसक्तनिनदो विजृम्भमाणधूमराशिर्विकीर्यमाणज्वालावलीलोलविस्फुलिङ्गः संत्रासनो वनचराणामनयो वनगहनानां प्रादुरभवत् ।

स मारुताघूर्णितविप्रकीर्णैर्ज्वालाभुजैर्नृत्तविशेषचित्रैः ।
वल्गन्निव व्याकुलधूमकेशः सस्वान तेषां धृतिमाददानः ॥ ४ ॥

चण्डानिलास्फालनचञ्चलानि भयद्रुतानीव वने तृणानि ।
सोऽग्निः ससंरम्भ इवाभिपत्य स्फुरत्स्फुलिङ्गप्रकरो ददाह ॥ ५ ॥

भयद्रुतोद्भ्रान्तविहङ्गसार्थं परिभ्रमद्भीतमृगं समन्तात् ।
धूमौघमग्नं पटुवह्निशब्दं वनं तदार्त्येव भृशं रराम ॥ ६ ॥

क्रमेण चोत्पीड्यमान इव स वह्निः पटुना मारुतेन तृणगहनानुसारी तेषां नीडसमीपमुपजगाम । अथ ते वर्तकापोतका भयविरसव्याकुलविरावाः परस्परनिरपेक्षाः सहसा समुत्पेतुः । परिदुर्बलत्वादसञ्जातपक्षत्वाच्च बोधिसत्त्वस्तु नोत्पतितुं प्रयत्नं चकार । विदितात्मप्रभावस्त्वसम्भ्रान्त एव स महासत्त्वः सरभसमिवोपसर्पन्तमग्निं सानुनयमित्युवाच—

व्यर्थाभिधानचरणोऽस्म्यविरूढपक्ष—
स्त्वत्सम्भ्रमाच्च पितरावपि मे प्रडीनौ ।
त्वद्योग्यमस्ति न च किञ्चिदिहातिथेय—
मस्मान्निवर्तितुमतस्तव युक्तमग्ने ॥ ७ ॥

इत्युक्ते सत्यपरिभावितवचसा तेन महासत्त्वेन—

उदीर्यमाणोऽप्यनिलेन सोऽग्निर्विशुष्कसंसक्ततृणेऽपि कक्षे ।
नदीमिव प्राप्य विवृद्धतोयां तद्वाचमासाद्य शशाम सद्यः ॥ ८ ॥

अद्यापि तं हिमवति प्रथितं प्रदेशं
दावाग्निरुद्धतशिखोऽपि समीरणेन ।
मन्त्राभिशप्त इव नैकशिरा भुजङ्गः
सङ्कोचमन्दलुलितार्चिरुपैति शान्तिम् ॥ ९ ॥

[भगवान् ने भी 'सुजीवितमह्रीकेण' इत्यादि गाथा-युगल कहा है—

अपवित्र कर्म करनेवाला निर्लज्ज पतित और प्रगल्भ कौआ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है, किन्तु ऐसा जीवन पापपूर्ण है[1] ॥ २ ॥

किन्तु नित्य पवित्रता की खोज करनेवाला शुद्ध आजीविकावाला सलज्ज सावधान (या शान्त) और अप्रगल्भ व्यक्ति दुःखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है ॥ ३ ॥

इस गाथा-युगल[2] का पाठ आर्यस्थाविरीयकनिकाय में मिलता है[3]]

जब उन (बटेर-बच्चों) की ऐसी अवस्था थी तब कुछ ही दूरपर महान् दावाग्नि प्रकट हुआ, जिससे निरन्तर भयंकर शब्द हो रहा था, धुआँ निकल रहा था, ज्वालाएँ फैल रही थीं और चिनगारियाँ छिटक रही थीं। इससे वन में रहनेवाले जीव-जन्तुओं को बहुत भय हुआ और जंगल के वनस्पतियों के ऊपर विपत्ति आ गई।

वह दावाग्नि वायु द्वारा सञ्चालित ज्वालारूपी भुजाओं को फैलाता हुआ, बिखरे हुए धुआँरूपी बालों को हिलाता हुआ, विशेष प्रकार का नृत्य करता हुआ, उछल उछलकर आगे बढ़ता हुआ, उन (पशु पक्षियों और वनस्पतियों) का धैर्य हरण कर रहा था ॥ ४ ॥

प्रचण्ड वायु के स्पर्श से काँपते हुए (या उड़ते हुए), मानो भय से भागते हुए, तृणों को क्रोध से पकड़कर वह अग्नि अपनी चमकती हुई चिनगारियों से जला रहा था ॥ ५ ॥

डर से घबराकर भागते हुए पक्षियों से युक्त, भय-भीत होकर चारों ओर दौड़ते हुए जानवरों से भरा हुआ, धूम-राशि में डूबा हुआ तथा अग्नि के तीक्ष्ण शब्द से युक्त वह जंगल मानो पीड़ा से कराह रहा था ॥ ६ ॥

तेज हवा से मानो उत्पीड़ित होता हुआ वह अग्नि तृणों की खोज करता हुआ उन (बटेरों) के घोसलों के समीप पहुँच गया। तब वे बटेर-बच्चे भय से व्याकुल हो फूट फूट कर रोते हुए एक दूसरे का खयाल न कर सहसा ही उड़ गये। किन्तु अपनी दुर्बलता और पंख उत्पन्न नहीं होने के कारण बोधिसत्त्व ने उड़ने का प्रयत्न नहीं किया। अपना प्रभाव जानकर वह महासत्त्व विचलित नहीं हुए और तेजी से समीप आते हुए अग्नि से अनुनयपूर्वक कहा—

"मेरे (छोटे छोटे अशक्त) पैरों को पैर कहना व्यर्थ है, मेरे पंख भी (अच्छी तरह) नहीं उत्पन्न हुए हैं। आपके डर से मेरे माता-पिता भी उड़ गये। हे अग्नि, आपके अतिथि-सत्कार के योग्य यहाँ कुछ भी नहीं है, अतः यहाँ से आपका लौटना ही उचित है" ॥ ७ ॥

उस महासत्त्व के द्वारा इस सत्य-पूत वाणी के कहे जाने पर—

वह अग्नि यद्यपि हवा से प्रेरित होता हुआ सूखे और घने तृणों से युक्त सूखी लकड़ियों के बीच प्रज्वलित हो रहा था, तो भी वह उसके वचन को सुनकर तत्क्षण शान्त हो गया, मानो जल की अधिकता से बढ़ी हुई किसी नदी में पहुँच गया हो ॥ ८ ॥

आज भी हिमवान् के उस विख्यात स्थान पर हवा के कारण ऊँची उठती लपटोंवाला दावाग्नि भी पहुँचकर संकोच में पड़ जाता है, उसकी ज्वालाएँ ठण्ढी हो जाती हैं और वह बुझ जाता है, जैसे कि अनेक शिरवाला सर्प मन्त्रों के प्रभाव से शान्त हो जाता है ॥ ९ ॥

तत्किमिदमुपनीतमिति ? उच्यते—

वेलामिव प्रचलितोर्मिफणः समुद्रः
शिक्षां मुनीन्द्रविहितामिव सत्यकामः ।
सत्यात्मनामिति न लङ्घयितुं यदाज्ञां
शक्तः कृशानुरपि सत्यमतो न जह्यात् ॥ १० ॥

तदेवं सत्यवचनपरिभावितां वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुमिति सत्यवचनेऽभियोगः करणीयः । तथागतवर्णेऽपि वाच्यमिति ॥

इति वर्तकापोतक-जातकं षोडशम् ।

---

१७ कुम्भ-जातकम्

अनेकदोषोपसृष्टमतिकष्टं मद्यपानमिति साधवः परमप्यस्माद्वारयन्ति प्रागेवात्मानमिति ॥ तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल करुणातिशयपरिभावितमतिः परहितसुखोपपादनपरः पुण्यां प्रतिपदमुद्भावयन्दानदमसंयमादिभिः कदाचिच्छक्रो देवानामिन्द्रो बभूव । स प्रकर्षिणामपि दिव्यानां विषयसुखानां निकामलाभी सन्नपि करुणावशगत्वान्नैव लोकार्थचर्यासमुद्योगशिथिलं मनश्चकार ।

प्रायेण लक्ष्मीमदिरोपयोगाज्जागर्ति नैवात्महितेऽपि लोकः ।
सुरेन्द्रलक्ष्म्यापि तु निर्मदोऽसावभूत्परार्थेष्वपि जागरूकः ॥ १ ॥

अनेकतीव्रव्यसनातुरेषु सत्त्वेषु बन्धुष्विव जातहार्दः ।
धैर्यात्स्वभावज्ञतयाश्रितश्च नासौ विसस्मार परार्थचर्याम् ॥ २ ॥

अथ कदाचित्स महात्मा मनुष्यलोकमवलोकयन्ननुकम्पासमावर्जितेन मैत्रस्निग्धेन स्वभावमहता चक्षुषा ददर्श सर्वमित्रं नाम राजानमकल्याणमित्रसंपर्कदोषात् सपौरजानपदं मद्यपानप्रसङ्गाभिमुखम् । तत्र चास्यादोषदर्शितामवेक्ष्य महादोषतां च मद्यपानस्य स महात्मा महत्या करुणया समापीड्यमानहृदयश्चिन्तामापेदे । कष्टा बतेयमपदापतिता लोकस्य ।

प्रमुखस्वादु पानं हि दोषदर्शनविक्लवान् ।
श्रेयसोऽपहरत्येव रमणीयमिवापथम् ॥

तत्किमत्र प्राप्तकालं स्यात् । भवतु दृष्टम् ।

प्रधानभूतस्य विचेष्टितानि जनोऽनुकर्तुं नियतस्वभावः ।
इत्यत्र राजैव चिकित्सनीयः शुभाशुभं तत्प्रभवं हि लोके ॥ ४ ॥

यह दृष्टान्त (=कथा) क्यों उपस्थित किया गया ? कहता हूँ।

जैसे चञ्चल तरंगरूपी फणवाला समुद्र अपने तीर का या सत्यकाम[1] पुरुष मुनीन्द्र की शिक्षा का अतिक्रमण नहीं कर सकता, वैसे ही अग्नि भी सत्यात्माओं की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता; अतः सत्य को नहीं छोड़ना चाहिए ॥ १० ॥

तब इसी प्रकार सत्य पूत वाणी का उल्लंघन अग्नि भी नहीं कर सकता। इसलिए सत्य वचन का अभ्यास करना चाहिए। तथागत का वर्णन करने में भी यह कथा कहनी चाहिए।

वर्तका-पोतक-जातक षोडश समाप्त।

---

१७ कुम्भ-जातक

मद्य पान अनेक दोषों का घर और अत्यन्त कष्ट-प्रद है, यह देखकर साधु पुरुष दूसरों को भी इससे रोकते हैं अपने को तो पहले ही। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

जब बोधिसत्त्व अतिशय अनुकम्पा के कारण शुद्धचित्त (पवित्रात्मा) होकर, दूसरों का हित-सुख सम्पादन करने में तत्पर होकर, दान दम संयम आदि से अपना पवित्र आचरण प्रकट कर रहे थे तब वे एक बार देवों के इन्द्र शक्र हुए। यद्यपि उत्कृष्ट दिव्य विषय-सुख उन्हें इच्छानुसार सुलभ थे तथापि करुणा के वशीभूत होकर उन्होंने लोकोपकार के उद्योग में अपने मन को ढीला नहीं किया।

प्रायः धन-मद के कारण लोग अपने हित में भी तत्पर नहीं रहते, किन्तु वे देवेन्द्र की लक्ष्मी पाकर भी मद से निर्लिप्त और परोपकार में भी जागरूक रहे ॥ १ ॥

दारुण विपत्तियों से पीड़ित प्राणियों के प्रति, जैसे अपने बन्धुओं के प्रति, दयार्द्र होकर वे अपने धैर्य और स्वभाव के कारण परोपकार को नहीं भूले ॥ २ ॥

एक बार जब वह महात्मा मनुष्य-लोक का निरीक्षण कर रहे थे तो उन्होंने अनुकम्पा से विनम्र और मैत्री से स्निग्ध अपनी स्वभावतः विशाल आँखों से देखा कि सर्वमित्र नामक राजा अकल्याण (बुरे) मित्रों के कुसङ्ग में पड़कर नगर और ग्राम की जनता के साथ मद्य-पान में आसक्त है। मद्य-पान में महादोष है और वह इस दोष को नहीं देख रहा है, यह जानकर उस महात्मा का हृदय करुणा से भर आया। वे सोचने लगे—"हा कष्ट ! मनुष्यों के ऊपर यह विपत्ति आई है।

जो दोष देखने में असमर्थ हैं उन्हें यह मद्य-पान—जो आरम्भ में स्वादिष्ठ लगता है—रमणीय कुमार्ग की भाँति कल्याण से दूर ले जाता है ॥ ३ ॥

इस विषय में अब क्या किया जाय। देखता हूँ—

जो (मनुष्यों के बीच) प्रधान है उसके कार्यों का अनुकरण करना जनता का निश्चित स्वभाव है। अतः इस विषय में राजा की ही चिकित्सा करना उचित है; क्योंकि लोगों का जो कुछ भला-बुरा होता है वह राजा के गुण-दोष से ही" ॥ ४ ॥

इति विनिश्चित्य स महासत्त्वस्तप्तकाञ्चनवर्णमापुरःपोद्ग्रथितजटाविटपधरं वल्कलाजिनसंवीतमोजस्वि ब्राह्मं वपुरभिनिर्माय सुरापूर्णं च वामपार्श्वस्थं नातिबृहन्तं कुम्भं सर्वमित्रस्य राज्ञः परिषदि संनिषण्णस्य प्रस्तावोपनतासु प्रवृत्तासु सुरासवशीधुमैरेयमधुकथासु पुरतोऽन्तरिक्षे प्रादुरभूत्। विस्मयबहुमानावर्जितेन च प्राञ्जलिना तेन जनेनाभ्युत्थाय प्रत्यर्च्यमानः सजल इव जलधरो गम्भीरमभिनदन्नुच्चैरुवाच—

पुष्पमालाहसत्कण्ठमिमं भरितम कण्ठम्।
अवतंसकृताकुम्भं क्रेतुमिच्छति कः कुम्भम् ॥ ५ ॥

सवलयमिव पुष्पमालया प्रविततयानिलकम्पलीलया।
किसलयरचनासमुत्कटं घटमिममिच्छति कः क्रयेण वः ॥ ६ ॥

अथैनं स राजा विस्मयावर्जितकौतूहलः सबहुमानमीक्षमाणः कृताञ्जलिरुवाच—

दीप्त्या नवार्क इव चारुतया शशीव
संलक्ष्यसे च वपुषान्यतमो मुनीनाम्।
तद्वक्तुमर्हसि यथा विदितोऽसि लोके
संभावना हि गुणतस्त्वयि नो विचित्रा ॥ ७ ॥

शक्र उवाच—

पश्चादपि ज्ञास्यसि योऽहमस्मि घटं त्विदं क्रेतुमितो घटस्व।
न चेद् भयं ते परलोकदुःखादिहैव तीव्रव्यसनागमाद्वा ॥ ८ ॥

राजोवाच—अपूर्वः खल्वयमत्रभवतः पण्यविक्रयारम्भः।

गुणसंवर्णनं नाम दोषाणां च निगूहनम्।
प्रसिद्ध इति लोकस्य पण्यानां विक्रयक्रमः ॥ ९ ॥

युक्तो वानृतभीरूणां त्वद्विधानामयं विधिः।
न हि कृच्छ्रेऽपि संत्यक्तुं सत्यमिच्छन्ति साधवः ॥ १० ॥

तदाचक्ष्व महाभाग पूर्णः कस्य घटो न्वयम्।
किं वा विनिमये प्राप्यमस्मत्तस्त्वादृशैरपि ॥ ११ ॥

शक्र उवाच—श्रूयतां महाराज !

नायं तोयदविच्युतस्य पयसः पूर्णो न तीर्थाम्भसः
कैञ्जल्कस्य सुगन्धिनो न मधुनः सर्पिर्विशेषस्य वा।
न क्षीरस्य विजृम्भमाणकुमुदव्यभ्रेन्दुपादच्छवेः
पूर्णः पापमयस्य यस्य तु घटस्तस्य प्रभावं शृणु ॥ १२ ॥

यह निश्चय कर उस महात्मा ने तपे हुए सोने के रंग का तेजस्वी ब्राह्मणरूप बनाया। पुरुष की लम्बाई की जटा धारण की। वल्कल और मृग-चर्म से अपने को ढक लिया। वाम पार्श्व में मदिरा से भरा हुआ मँझोले आकार का घड़ा ले लिया। राजा सर्वमित्र अपनी सभा में बैठा था, वहाँ सुरा आसव शीधु (शराब) मैरेय (मदिरा) और मधु (मद्य) की कथा आरम्भ हो चुकी थी। उसी समय वे राजा के समक्ष अन्तरिक्ष में प्रकट हुए। विस्मय और सम्मान भाव से प्रेरित होकर सभासद्‌गण उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर उनकी पूजा करने लगे। तब सजल बादल के समान गम्भीर गर्जन करते हुए उन्होंने उच्च स्वर से कहा—

"फूलों की माला से इस घड़े का कण्ठ उज्ज्वल है और यह कण्ठ तक भरा हुआ है। इस अलंकृत घड़े को कौन खरीदना चाहता है ?॥ ५॥

हवा में हिलती हुई फूलों की बड़ी माला से, जैसे कंकण से, परिवेष्टित तथा किसलयों से विभूषित इस घड़े को आप लोगों में से कौन खरीदना चाहता है ?"॥ ६॥

तब विस्मय और कुतूहल के वशीभूत होकर राजा ने उनकी ओर देखते हुए कहा—

"आप बाल सूर्य के समान दीप्तिमान् और चन्द्रमा के समान सुन्दर हैं। आपके रूप से जान पड़ता है कि आप मुनियों में से कोई हैं। अतः आप बतलायें कि लोग क्या कहकर आपको जानते हैं। हम आप में तरह तरह के सद्‌गुणों की संभावना करते हैं"॥ ७॥

शक्र ने कहा—

"मैं जो हूँ वह आप पीछे भी जानेंगे। यदि आप परलोक में होनेवाले दुःख और इहलोक में ही आनेवाली भारी विपत्ति से भय-भीत नहीं हैं तो इस घड़े को खरीदने का यत्न करें॥८॥

राजा ने कहा—"आपका बेचने का यह उपक्रम अपूर्व है।

गुणों का वर्णन करना और दोषों का छिपाना—संसार में सौदा बेचने की यही प्रसिद्ध पद्धति है॥ ९॥

या असत्य से डरनेवाले आप-सरीखों का यही तरीका उचित है। कष्ट में पड़कर भी सज्जन सत्य को नहीं छोड़ना चाहते॥ १०॥

अतः, हे महाभाग, बतलाइये कि किस चीज से यह घड़ा भरा हुआ है और इसके विनिमय (=बदले) में आप सरीखे (महापुरुष) हमसे क्या लेंगे"॥ ११॥

शक्र ने कहा—"सुनिये, हे महाराज,

यह बादल से गिरे हुए (वृष्टि-) जल से या तीर्थ-जल से भरा हुआ नहीं है, न पुष्प-पराग के सुगन्धित मधु से और न उत्तम घृत से ही भरा हुआ है, खिलते हुए कुमुद और मेघोन्मुक्त चन्द्र-किरण के समान उज्ज्वल दूध से भी भरा हुआ नहीं है। जिस पाप वस्तु से यह घड़ा परिपूर्ण है उसका प्रभाव सुनिये॥ १२॥

यत्पीत्वा मददोषविह्वलतयास्वतन्त्रश्चरन्[1]
देशेष्वप्रपतेष्वपि प्रपतितो मन्दप्रभावस्मृतिः ।
भक्ष्याभक्ष्यविचारणाविरहितस्तत्तत्समास्वादयेत्
तत्संपूर्णमिमं गतं क्रयपथं क्रीणीत कुम्भाधमम् ॥ १३ ॥

अनीशः स्वे चित्ते विचरति यया संहृतमति-
द्विषां हासायासं समुपजनयन्गौरिव जडः ।
सदोमध्ये नृत्येत्स्वमुखपटहेनापि च यया
क्रयार्हा सेयं वः शुभविरहिता कुम्भनिहिता ॥ १४ ॥

पीत्वोचितामपि जहाति ययात्मलज्जां
निर्ग्रन्थवद्वसन-संयम खेद-मुक्तः ।
धीरं चरेत्पथिषु पौरजनाकुलेषु
सा पश्यतामुपगता[2] निहितात्र कुम्भे ॥ १५ ॥

यत्पीत्वा वमथुसमुद्गतान्नलिप्ता
निःशङ्कः श्वभिरवलिह्यमानवक्त्राः ।
निःसंज्ञा नृपतिपथिष्वपि स्वपन्ति
प्रक्षिप्तं क्रयसुभगं तदत्र कुम्भे ॥ १६ ॥

उपयुज्य यन्मदबलादबला विनिबन्धयेदपि तरौ पितरौ ।
गणयेच्च सा धनपतिं न पतिं तदिदं घटे विनिहितं निहितम् ॥ १७ ॥

यां पीतवन्तो मदलुप्तसंज्ञा वृष्ण्यन्धका विस्मृतबन्धुभावाः ।
परस्परं निष्पिपिषुर्गदाभिरुन्मादनी सा निहितेह कुम्भे ॥ १८ ॥

यत्र प्रसक्तानि कुलानि नेशुर्लक्ष्मीनिकेतान्युदितोदितानि ।
उच्छेदनी वित्तवतां कुलानां सेयं घटे क्रय्यतयाधिरूढा ॥ १९ ॥

अनियतरुदितस्थितविहसितवा-
ग्जडगुरुनयनो ग्रहवशन इव ।
परिभवभवनं भवति च नियतं
यदुपहतमतिस्तदिदमिह घटे ॥ २० ॥

प्रवयसोऽपि यदाकुलचेतनाः स्वहितमार्गसमाश्रयकातराः ।
बहु वदन्त्यसमीक्षितनिश्चयं क्रयपथेन गतं तदिदं घटे ॥ २१ ॥

यस्या दोषात्पूर्वदेवाः प्रमत्ता लक्ष्मीमोषं देवराजादवाप्य ।
त्राणापेक्षास्तोयराशौ ममज्जुस्तस्याः पूर्णं कुम्भमेतं वृणीत ॥ २२ ॥

---

१ पा० 'यत्पीत्वा मददोषविह्वलतया लोकोऽस्वतन्त्रश्चरन्' ?
२ पा० 'पण्यतामुपगता'—स्पेयर ।

जिसको पीकर नशे की व्याकुलता में अस्वतंत्र होकर चलता हुआ आदमी बेहोश होकर समतल भूमिपर भी फिसलता है, भक्ष्य अभक्ष्य के विचार से रहित होकर सब चीजों को खा सकता है, उसी पेय वस्तु से भरा हुआ यह अधम घड़ा विक्री के लिए आया है, इसे खरीदो ॥ १३ ॥

जिसके पीने से मनुष्य हतबुद्धि होकर अपने चित्तपर अधिकार खो बैठता है और मूर्ख बैल के समान शत्रुओं का हास्यास्पद होता है, जिसके पीने से सभा में जाकर अपने मुखरूपी ढोल को बजाता हुआ नृत्य कर सकता है यह वही अशुभ वस्तु इस घड़े में रखी हुई है, आप इसे खरीद सकते हैं ॥ १४ ॥

जिसको पीकर मनुष्य उचित आत्म-लज्जा भी खो देता है और नग्न व्यक्ति (या दिगम्बर जैन भिक्षु) के समान कपड़ा पहनने (संभालने) के परिश्रम से मुक्त होकर नागरिकों से भरे हुए रास्तों पर धीरे-धीरे चलता है, वही सौदा इस घड़े में रखा हुआ है ॥ १५ ॥

जिसके पीने से बेहोश होकर लोग राज-मार्गपर सोते हैं और वमन से निकले हुए अन्न से लिप्त उनके मुखों को कुत्ते निर्भय होकर चाटते रहते हैं, वही सुन्दर सौदा इस घड़े में रखा हुआ है ॥ १६ ॥

जिसके उपयोग से मत्त होकर अबला नारी भी अपने माता-पिता को वृक्ष पर बाँध सकती है या अपने धनवान् पति का भी अनादर कर सकती है, वही वस्तु इस घड़े में रखी हुई है ॥ १७ ॥

जिसके पीने से नशे में बेहोश होकर वृष्णि-अन्धकों ने बन्धु-भाव को भूलकर गदा के प्रहारों से एक-दूसरे को पीस डाला, वही उन्मादनी (पागलपन पैदा करने वाली सुरा) इस घड़े में रखी हुई है ॥ १८ ॥

जिसमें आसक्त होकर कितने ही ऐश्वर्यशाली कुल नष्ट हुए, धनवानों के कुलों का नाश करनेवाली यह वही चीज इस घड़े में विक्री के लिए रखी हुई है ॥ १९ ॥

जिसके सेवन से रोने हँसने बैठने (खड़ा होने) या बोलने का नियम टूट जाता है, ग्रहाविष्ट (ग्रह के वशीभूत) व्यक्ति के समान आँखें भारी और निश्चल हो जाती हैं। जिससे हतबुद्धि होकर मनुष्य अवश्य ही अपमान का पात्र बन जाता है, वही है इस घड़े में ॥ २० ॥

जिससे आकुल-चित्त होकर वयस्क भी अपनी भलाई के रास्ते पर चलने में असमर्थ होते हैं, बिना विचारे बहुत बोलते हैं, यह वही चीज विक्री के लिए इस घड़े में है ॥ २१ ॥

जिसके दोष से पूर्वकाल के देवों ने प्रमाद (असावधानी) किया, देव-राज के द्वारा लक्ष्मी से च्युत हुए, और रक्षा के लिए जाकर समुद्र में डूब गये (या छिप गये), उसी से भरा है यह घड़ा, इसे ग्रहण करो ॥ २२ ॥

ब्रूयादसत्यमपि सत्यमिव प्रतीतः
कुर्यादकार्यमपि कार्यमिव प्रहृष्टः ।
यस्या गुणेन सदसत्सदसच्च विद्या-
च्छापस्य मूर्तिरिव सा निहितेह कुम्भे ॥ २३ ॥

उन्मादविद्यां व्यसनप्रतिष्ठां साक्षादलक्ष्मीं जननीमघानाम् ।
अद्वैतसिद्धां कलिपद्धतिं तां क्रीणीत घोरां मनसस्तमिस्राम् ॥ २४ ॥

परिमुषितमतिर्यया निहन्यादपि पितरं जननीमनागसं वा ।
अविगणितसुखायतिर्यतिं वा क्रयविधिना नृप तामितो गृहाण ॥ २५ ॥

एवंविधं मद्यमिदं नरेन्द्र सुरेति लोके प्रथितं सुराभ ।
न पक्षपातोऽस्ति गुणेषु यस्य स क्रेतुमुद्योगमिदं करोतु ॥ २६ ॥

निषेव्य यद्दुश्चरितप्रसक्ताः पतन्ति भीमान्नरकप्रपातान् ।
तिर्यग्गतिं प्रेतदरिद्रतां च को नाम तद्द्रष्टुमपि व्यवस्येत् ॥ २७ ॥

लघुरपि च विपाको मद्यपानस्य यः स्या-
न्मनुजगतिगतानां शीलदृष्टीः स हन्ति ।
ज्वलितदहनरौद्रे येन भूयोऽप्यवीचौ
निवसति पितृलोके हीनतिर्यक्षु चैव ॥ २८ ॥

शीलं निमीलयति हन्ति यशः असह्य
लज्जां निरस्यति मतिं मलिनीकरोति ।
यन्नाम पीतमुपहन्ति गुणांश्च तांस्तां-
स्तत्पातुमर्हसि कथं नृप मद्यमद्य ॥ २९ ॥

अथ स राजा तैस्तस्य हृदयग्राहकैर्हेतुमद्भिर्वचोभिरवगमितमद्यपानदोषो मद्यप्रसङ्गादपवृत्ताभिलाषः शक्रमित्युवाच—

स्निग्धः पिता विनयभक्तिगुणाद् गुरुर्वा
यद्वक्तुमर्हति नयानयविन्मुनिर्वा ।
तावत्त्वया स्वभिहितं हितकाम्यया मे
तत्कर्मणा विधिवदर्चयितुं यतिष्ये ॥ ३० ॥

इदं च तावत्सुभाषितप्रतिपूजनमर्हति नोऽत्रभवान् प्रतिग्रहीतुम् ।
ददामि ते ग्रामवरांश्च पञ्च दासीशतं पञ्च गवां शतानि ।
सदश्वयुक्तांश्च रथान्दशेमान्हितस्य वक्ता हि गुरुर्ममासि ॥ ३१ ॥

यद्वा मयान्यत्करणीयं तत्संदेशादर्हत्यत्रभवान्भूयोऽपि मामनुग्रहीतुम् ॥

शक्र उवाच—

अर्थोऽस्ति न ग्रामवरादिना मे सुराधिपं मामभिगच्छ राजन् ।
संपूजनीयस्तु हितस्य वक्ता वाक्प्रग्रहेण प्रतिपन्नयेन ॥ ३२ ॥

जिसके प्रभाव से असत्य को भी विश्वासपूर्वक सत्य समझकर कहे, अकार्य को भी कार्य समझकर प्रसन्नतापूर्वक करे, सत् (भला) को असत् (बुरा) और असत् को सत् समझे, मूर्त अभिशाप के समान वही चीज इस घड़े में रखी हुई है ॥ २३ ॥

यह उन्माद पैदा करनेवाली विद्या, विपत्ति का घर, साक्षात् अलक्ष्मी, पापों की जननी, और कलि का निश्चित मार्ग है, इस घोर मानसिक अन्धकार को खरीदो ॥ २४ ॥

जिससे बुद्धि-विहीन होकर भावी सुख की उपेक्षा करता हुआ मनुष्य निष्पाप माता-पिता या मुनि की हत्यातक कर सकता है, हे राजन्, उसे खरीदकर आप इस घड़े से ग्रहण करें ॥ २५ ॥

हे देवोपम नरेन्द्र, इस प्रकार का है यह मद्य। संसार में सुरा नाम से यह विख्यात है। जो सद्‌गुणों का पक्षपाती (प्रेमी) नहीं है वह इसे खरीदने का उद्योग करे ॥ २६ ॥

जिसके सेवन से कुकर्मों में फँसकर लोग भयंकर नरकों में पशु-पक्षियों की योनि में और कष्ट-प्रद प्रेत योनि में गिरते हैं उसे क्या कोई देखने का भी विचार कर सकता है ? ॥ २७ ॥

जिस मद्य-पान का थोड़ा-सा भी परिणाम मनुष्य-योनि में रहनेवालों के आचार-विचार की हत्या करता है, और जिसके कारण पुनः (परलोक में) प्रज्वलित अग्नि से भयंकर अवीचि नरक में, पितृ-लोक (= प्रेत-लोक) में, और पशु-पक्षियों की निकृष्ट योनि में निवास करना पड़ता है, ॥ २८ ॥

जो मद्य-पान शील का नाश करता है, कीर्ति की बलात् हत्या करता है, लज्जा को दूर करता है, बुद्धि को मलिन करता है, नाना प्रकार के सद्‌गुणों को नष्ट करता है, वह मद्य-पान, हे राजन्, क्या आपके लिए अब उचित है ?" ॥ २९ ॥

राजा ने जब उनके उन हृदयाकर्षक युक्तियुक्त वचनों को सुनकर मद्य-पान के दोष जान लिये तब मद्य-पान की ओर से निरभिलाष (विमुख) होकर शक्र से कहा—

"स्नेही पिता या (शिष्य की) विनय-भक्ति के कारण गुरु या नीति-अनीति के जाननेवाले मुनि जो कुछ कह सकते हैं वह सब आपने मेरी भलाई की इच्छा से अच्छा ही कहा। मैं आचरण द्वारा आपके वचनों की विधिवत् पूजा करने की चेष्टा करूँगा ॥ ३० ॥

और तबतक इन सुभाषितों (= सदुक्तियों) के पुरस्कार में आप मुझसे यह पूजा स्वीकार करें—

मैं आपको पाँच उत्तम ग्राम, एक सौ दासियाँ, पाँच सौ गायें और अच्छे घोड़ों से युक्त ये दश रथ देता हूँ, क्योंकि आप हित-वक्ता मेरे गुरु हैं ॥ ३१ ॥

या मेरे करने योग्य और कुछ हो तो उसके लिए आदेश देकर आप मुझे पुनः अनुगृहीत करें।" शक्र ने कहा—

"मुझे उत्तम ग्राम आदि से प्रयोजन नहीं है। हे राजन्, आप मुझे देवताओं का अधिपति (इन्द्र) समझें। आचरण के रूप में वचन को ग्रहण कर (वचन को आचरण में लाकर) हित-वक्ता की पूजा करनी चाहिए ॥ ३२ ॥

अयं हि पन्था यशसः श्रियश्च परत्र सौख्यस्य च तस्य तस्य ।
अपास्य तस्मान्मदिराप्रसङ्गं धर्माश्रयान्मद्विषयं भजस्व ॥ ३२ ॥

इत्युक्त्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे। स च राजा सपौरजानपदो मद्यपानाद्विरराम। तदेवमनेकदोषोपसृष्टमतिकष्टं मद्यपानमिति साधवः परमस्माद्वारयन्ति प्रागेवात्मानमिति ॥ एवं लोकहितः पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् ॥

इति कुम्भ-जातकं सप्तदशम् ।

१८. अपुत्र-जातकम्

शीलप्रशमप्रतिपक्षसंबाधं गार्हस्थ्यमित्येवमात्मकामा न रोचयन्ते । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिदिभ्यकुले श्लाघनीयवृत्तचारित्रसंपन्ने प्रार्थनीयसंबन्धे कुलोद्भवानां निपानभूते श्रमणब्राह्मणानां कोशकोष्ठागारनिर्विशेषे मित्रस्वजनानामभिगमनीये कृपणवनीपकानामुपजीव्ये शिल्पिजनस्यास्पदभूते लक्ष्म्या दत्तानुग्रहसत्कारे राज्ञो लोकाभिसंमते जन्म प्रतिलेभे । स कालानामत्ययेनाभिवृद्धः कृतश्रमो लोकाभिमतेषु विद्यास्थानेष्वपरोक्षबुद्धिर्विविधविकल्पाश्रयासु कलासु जननयनकान्तेन च वपुषा धर्माविरोधिन्या च लोकज्ञतया स्वजन इव लोकस्य हृदयेषु पर्यवर्तत ।

नहि स्वजन इत्येव स्वजनो बहु मन्यते ।
जनो वा जन इत्येव स्वजनाद् दृश्यतेऽन्यथा ॥ १ ॥

गुणदोषाभिमर्शात्तु बहुमानावमानयोः ।
व्रजत्यास्पदतां लोकः स्वजनस्य जनस्य वा ॥ २ ॥

कृतप्रव्रज्यापरिचयत्वात्तु तस्य महासत्त्वस्य

पर्येष्टिदुःखानुगतां विदित्वा गृहस्थतां धर्मविरोधिनीं च ।
सुखोदयत्वं च तपोवनानां न गेहसौख्येषु मनः ससञ्ज ॥ ३ ॥

स मातापित्रोः कालक्रियया संविग्नहृदयस्तमनेकशतसहस्रसंख्यं गृहविभवसारं मित्रस्वजनकृपणश्रमणब्राह्मणेभ्यो यथार्हमतिसृज्य प्रवव्राज ॥ सोऽनु-

इस मार्गपर चलने से (इहलोक में) कीर्ति और लक्ष्मी प्राप्त होगी तथा परलोक में नाना प्रकार के सुख मिलेंगे। अतः मद्य-पान की आदत छोड़कर धर्म की शरण में रहते हुए स्वर्ग प्राप्त करो" ॥ ३३ ॥

यह कहकर शक्र वहीं अन्तर्धान हो गये। वह राजा ग्राम-वासियों और नगर-निवासियों के साथ मद्य-पान से विरत हुआ।

इस प्रकार मद्य-पान अनेक दोषों से युक्त और अत्यन्त कष्टप्रद है, यह देखकर सज्जन दूसरे को भी इससे रोकते हैं, अपने को तो पहले ही। इस प्रकार अपने पूर्वजन्मों में भी वह भगवान् लोकोपकारी थे, यह तथागत के वर्णन में भी कहना चाहिए।

कुम्भ-जातक सप्तदश समाप्त।

---

१८. अपुत्र-जातक

शील और शान्ति में बाधक होने के कारण गृहस्थ-जीवन आत्म-संयम (आत्म-कल्याण) चाहनेवालों को पसन्द नहीं होता है। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

एक बार बोधिसत्त्व ने किसी धनी और सदाचारी कुल में जन्म लिया। कुलीन व्यक्ति उस कुल से सम्बन्ध के लिए इच्छुक रहते थे। वह परिवार श्रमणों और ब्राह्मणों के लिए कूएँ के समान था। मित्रों और स्वजनों के लिए उसके कोश और भण्डार समान रूप से खुले रहते थे। वहाँ दरिद्रों और याचकों की पहुँच थी। वह परिवार शिल्पियों की आजीविका का अवलम्ब और लक्ष्मी का निवास-स्थान था। राजा के अनुग्रह-सत्कार का पात्र और लोक-सम्मानित था। ऐसे कुल में जन्म पाकर जब बोधिसत्त्व काल-क्रम से बड़े हुए तब उन्होंने लोक-विख्यात विद्याओं के अभ्यास में परिश्रम किया और नाना प्रकार की कलाओं से परिचय प्राप्त किया। अपनी दर्शनीय आकृति और धर्म-संगत लोक-व्यवहार की अभिज्ञता (जानकारी) से वे लोगों के हृदय में स्वजन के समान विराजमान हुए।

स्वजन होने के कारण ही स्वजन का सम्मान नहीं किया जाता; और न पराया होने के कारण ही किसी को स्वजन से भिन्न समझा जाता है ॥ १ ॥

अपने गुण-दोषों के अनुसार ही मनुष्य स्वजन या पराये के योग्य सम्मान या अपमान का पात्र होता है ॥ २ ॥

वह महात्मा प्रव्रज्या से परिचित थे।

उन्होंने देखा कि गार्हस्थ्य एषणा (भोगों की चाह व खोज) के दुःख से युक्त और धर्म का बाधक है, जब कि तपोवन सुख-प्राप्ति का स्थान है। यह देखकर घर के सुखों में उनका मन नहीं लगा ॥ ३ ॥

माता-पिता के काल करने से (=मरने से) उनके हृदय में वैराग्य हो गया। उन्होंने अपने घर की वह लाखों की सम्पत्ति मित्रों स्वजनों दीन-दुखियों श्रमणों (=संन्यासियों) और ब्राह्मणों को यथायोग्य दान कर दी और वे (घर छोड़कर) प्रव्रजित हो गये। वे क्रम

पूर्वेण ग्रामनगरनिगमराष्ट्रराजधानीष्वनुविचरन्नन्यतमनगरमुपश्रित्य कस्मिंश्चिद्वन-प्रस्थे निवसति स्म । स ध्यानगुणाभ्यासात् सात्मीभूतेनाकृतकेनेन्द्रियप्रसादेन श्रुतिहृदयह्लादिना च विद्वत्तासूचकेनानुत्सिक्तेन विगतलाभाशाकार्पण्यदैन्येन विनयौजस्विना यथार्हमधुरोपचारसौष्ठवेन धर्माधर्मविभागनिपुणेन च वचसा प्रव्रजिताचारशोभया (च) सज्जनेष्टया चेष्टया तत्राभिलक्षितो बभूव । कौतूह-लिना च जनेन समुपलब्धकुलप्रव्रज्याक्रमः सुष्ठुतर लोकसंमतस्तत्राभूत् ।

आदेयतरतां यान्ति कुलरूपगुणाद् गुणाः ।
आश्रयातिशयेनेव चन्द्रस्य किरणाङ्कुराः ॥ ४ ॥

अथास्य तत्राभिगमनमुपलभ्य पितृवयस्यः समभिगम्य चैनं गुणबहुमानात् कुशलपरिप्रश्नपूर्वकं चास्मै निवेद्यात्मानं पितृवयस्यतां च संकथाप्रस्तावागतमेनं स्नेहादुवाच—चापलमिव खल्विदमनुवर्तितं भदन्तेनानपेक्ष्य कुलवंशमस्मिन् वयसि प्रव्रजता ।

आराध्यते सत्पतिपत्तिमद्भिर्धर्मो यदायं भवने वने वा ।
श्रीमन्ति हित्वा भवनान्यतस्त्वं कस्मादरण्येषु मतिं करोषि ॥ ५ ॥

परप्रसादार्जितभैक्षवृत्तिरगण्यमानः खलवज्जनेन ।
कुचेलभृद्बन्धुसुहृद्विहीनो वनान्तभूमावपविद्धकायः ॥ ६ ॥

मूर्तं दरिद्रत्वमिवोपगुह्य कथं नु शोकस्य वशं प्रयासि ।
इमामवस्थां हि तवेक्षमाणा द्विषोऽपि बाष्पापिहितेक्षणाः स्युः ॥ ७ ॥

तदेहि पित्र्यं भवनं तवेदं श्रुतार्थसारं भवतापि नूनम् ।
संपादयेथा निवसंस्त्वमत्र धर्मं च सत्पुत्रमनोरथं च ॥ ८ ॥

लोकप्रवादः खल्वपि चैषः—

परकर्मकरस्यापि स्वे निपानसुखा गृहाः ।
किं पुनः सुखसंप्राप्ताः समृद्धिज्वलितश्रियः ॥ ९ ॥

अथ बोधिसत्त्वः प्रविवेकसुखामृतरसपरिभावितमतिस्तच्छ्रवणहृदयः समुप-लब्धविशेषो गृहवनवासयोः कामोपभोगनिमन्त्रणायां तृप्त इव भोजनकथायाम-सुखायमान उवाच—

इदं स्नेहोद्गतत्वात्ते काममल्पात्ययं वचः ।
सुखसंज्ञां तु मा कार्षीः कदाचिद्गृहचारके ॥ १० ॥

से ग्रामों नगरों निगमों राज्यों और राजधानियों में विचरण करते हुए किसी नगर के निकट एक वन में रहने लगे। ध्यान का अभ्यास होने से उनकी इन्द्रियों में स्वाभाविक शान्ति थी। उनकी वाणी कान और हृदय को आनन्द देनेवाली, विद्वत्तासूचक, अभिमान-रहित, लाभ की आशा से होनेवाले दुःख-दैन्य से रहित, विनयपूर्ण एवं ओजस्विनी, यथायोग्य मधुर व्यवहार के कारण मनोहर, तथा धर्म और अधर्म का विवेचन करने में निपुण थी। उनका आचरण प्रव्रज्या और सज्जनता के अनुरूप था। उन्होंने घर छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण की है, यह समाचार पाकर कौतूहलपूर्ण जनता ने उनका बड़ा सम्मान किया—

कुल और रूप को पाकर सद्‌गुण अधिक उपादेय हो जाते हैं, जैसे उत्तम आश्रय को पाकर चन्द्रमा की किरणें चमकती हैं[1] ॥ ४ ॥

उनका वहाँ पहुँचना जानकर उनके पिता के मित्र ने उनके गुणों के प्रति आदर-भाव के कारण उनके समीप जाकर कुशल-प्रश्न पूछा। और, अपना तथा पिता की मित्रता का परिचय देकर वार्तालाप के प्रसङ्ग में उनसे स्नेहपूर्वक कहा—"इस (नयी) अवस्था में कुल और वंश की उपेक्षा कर आप प्रव्रजित हुए हैं, यह आपकी चपलता (लड़कपन) है।

जब कि सदाचारियों के द्वारा यह धर्म वन में या घर में प्राप्त किया जा सकता है तब अपने श्री-सम्पन्न (धन-धान्य-पूर्ण) घर को छोड़कर आप क्यों जंगल में रहना पसन्द करते हैं? ॥ ५ ॥

आप दूसरों की कृपा से प्राप्त भिक्षा पर रहते हैं, लोग आपको दुष्ट (बदमाश) समझकर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। आप फटा-पुराना कपड़ा पहनते हैं। बन्धुओं और मित्रों को छोड़कर वन भूमि में एकान्त वास करते हैं (अपने शरीर को कष्ट देते हैं)॥ ६ ॥

साक्षात् दरिद्रता का आलिङ्गन कर आप क्यों कष्ट उठा रहे हैं? यदि आपके शत्रु भी आपकी इस अवस्था को देख पायें तो उनकी भी आँखें आँसुओं (के प्रवाह) से बन्द हो जायँ॥ ७ ॥

अतः आप अपने पिता के घर, जिसकी उत्तम सम्पत्ति आपको भी अवश्य विदित है, लौट चलिये। वहाँ रहकर आप धर्म और सत्पुत्र[2] प्राप्त कीजिये ॥ ८ ॥

यह लोकोक्ति भी तो है—

दूसरों के काम करनेवाले (मजदूर या नौकर) के लिए भी अपना घर जलाशय के समान सुख-दायक होता है। फिर अनायास-प्राप्त समृद्धिशाली श्री-सम्पन्न घर (के सुख) का क्या कहना!" ॥ ९ ॥

बोधिसत्त्व की बुद्धि वैराग्य-सुख के अमृत-रस से पवित्र हो गई थी। उनका हृदय उसी में डूबा हुआ था। उन्हें गृहस्थ-जीवन और वन-वासका अन्तर विदित था। कामोपभोग के निमन्त्रण से उन्हें उतना ही कष्ट हुआ जितना कि (भोजन से) परितृप्त व्यक्ति को भोजन की बात सुनकर होता है। उन्होंने कहा—

"अवश्य ही स्नेह के वशीभूत होकर आपने यह वचन कहा है, अतः इससे बहुत दुःख नहीं हुआ। किन्तु गृहस्थी में सुख होने का भान कभी नहीं करना चाहिए ॥ १० ॥

गार्हस्थ्यं महदस्वास्थ्यं सधनस्याधनस्य वा ।
एकस्य रक्षणायासादितरस्यार्जनश्रमात् ॥ ११ ॥

यत्र नाम सुखं नैव सधनस्याधनस्य वा ।
तत्राभिरतिसंमोहः पापस्यैव फलोदयः ॥ १२ ॥

यदपि चेष्टं गृहस्थेनापि शक्यमयमाराधयितुं धर्म इति काममेवमेतत् । अतिदुष्करं तु मे प्रतिभाति धर्मप्रतिपक्षसंबाधत्वाच्छ्रमबाहुल्याच्च गृहस्य । पश्यतु भवान् ।

गृहा नानीहमानस्य न चैवावदतो मृषा ।
न चानिक्षिप्तदण्डस्य परेषामनिकुर्वतः ॥ १३ ॥

तदयं गृहसुखाववद्धहृदयस्तत्साधनोद्यतमतिर्जनः

यदि धर्ममुपैति नास्ति गेहमथ गेहाभिमुखः कुतोऽस्य धर्मः ।
प्रशमैकरसो हि धर्ममार्गो गृहसिद्धिश्च पराक्रमक्रमेण ॥ १४ ॥

इति धर्मविरोधदूषितत्वाद् गृहवासं क इवात्मवान् भजेत ।
परिभूय सुखाशया हि धर्मं नियमो नास्ति सुखोदयप्रसिद्धौ ॥ १५ ॥

नियतं च यशःपराभवः स्यादनुतापो मनसश्च दुर्गतिश्च ।
इति धर्मविरोधिनं भजन्ते न सुखोपायमपायवन्नयज्ञाः ॥ १६ ॥

अपि च, सुखो गृहवास इति श्रद्धागम्यमिदं मे प्रतिभाति ।

नियतार्जनरक्षणादिदुःखे वधबन्धव्यसनैकलक्ष्यभूते ।
नृपतेरपि यत्र नास्ति तृप्तिर्विभवैस्तोयनिधेरिवाम्बुवर्षैः ॥ १७ ॥

सुखमत्र कुतः कथं कदा वा परिकल्पप्रणयं न चेदुपैति ।
विषयोपनिवेशनेऽपि मोहाद् व्रणकण्डूयनवत्सुखाभिमानः ॥ १८ ॥

बाहुल्येन च खलु ब्रवीमि—

प्रायः समृद्धया मदमेति गेहे मानं कुलेनापि बलेन दर्पम् ।
दुःखेन रोषं व्यसनेन दैन्यं तस्मिन्कदा स्यात्प्रशमावकाशः ॥ १९ ॥

अतश्च खल्वहमत्रभवन्तमनुनयामि—

मदमानमोहभुजगोपलयं प्रशमाभिरामसुखविप्रलयम् ।
क इवाश्रयेदभिमुखं विलयं बहुतीव्रदुःखनिलयं निलयम् ॥ २० ॥

धनी हो या निर्धन, दोनों के लिए ही गृहस्थ-जीवन बड़ा कष्ट-दायक है। एक को (धन की) रक्षा में कष्ट होता है और दूसरे को उपार्जन में परिश्रम करना पड़ता है ॥ ११ ॥

जिस गृहस्थ-जीवन में धनी या निर्धन दोनों को ही कष्ट होता है उसमें यदि आनन्द-प्राप्ति का भ्रम हो तो यह पाप का ही फलोदय है ॥ १२ ॥

यह कहना कि घर में रहकर भी यह धर्म प्राप्त किया जा सकता है, सत्य है। किन्तु मुझे तो यह अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है; इसलिए कि गृहस्थ-जीवन धर्म के प्रतिपक्षों (धर्म की विरोधी चीजों) से भरा हुआ है और उसमें थकावट (अशान्ति) भी बहुत है। आप देखें—

घर (गृहस्थी) उसके लिए नहीं है जो इच्छा से रहित है, जो झूठ नहीं बोलता है, जो (कभी किसी को) दण्ड नहीं देता है[1] और जो दूसरों को कष्ट नहीं पहुँचाता है ॥ १३ ॥

जिसका मन घर के सुखों में आबद्ध है वह उन्हें प्राप्त करने के लिए उद्यम करेगा (उन सुखों की प्राप्ति के साधनों में अपना मन लगायेगा)।

यदि मनुष्य धर्म प्राप्त करता है तो उसे घर (का सुख) नहीं मिलेगा या यदि वह घर की ओर उन्मुख होता है तो उसे धर्म कहाँ से मिलेगा ? क्योंकि धर्म का मार्ग केवल शान्ति-रस से ओत-प्रोत (आप्लावित) है और गृहस्थ-जीवन को सफलता पराक्रम से होती है ॥१४॥

जो गृहस्थ जीवन धर्म-विरोधी होने के कारण दूषित है उसे कौन संयतात्मा स्वीकार करेगा ? यदि सुख की आशा से धर्म का अतिक्रमण किया जाय तो सुख का मिलना निश्चित नहीं है ॥ १५ ॥

निश्चित है कि इससे कीर्ति नष्ट होगी, मानसिक अनुताप होगा और दुर्गति होगी। इसी लिए नीतिज्ञ मनुष्य धर्म-विरोधी सुख-मार्ग को विपत्ति-प्रद समझकर नहीं अपनाते ॥ १६ ॥

और भी। 'गृहस्थ जीवन सुख-दायक है' यह, मैं समझता हूँ, विश्वास की बात है।

गृहस्थी में उपार्जन-रक्षा आदि का दुःख होना निश्चित है, वध-बन्धन (मारे जाने और बाँधे जाने) का भय बना रहता है। जैसे जल-वृष्टि से समुद्र को, वैसे ही सम्पत्ति से राजा को भी तृप्ति नहीं होती है ॥ १७ ॥

यदि मनुष्य (सुख की) कल्पना न करे तो (गृहस्थी में) कब कैसे और कहाँ से सुख होगा ? जैसे घाव के खुजलाने में वैसे ही विषयासक्ति में भ्रम से ही सुख का भान होता है ॥ १८ ॥

मैं साधारण तौर पर कहता हूँ—

प्रायः देखा जाता है कि गृहस्थी में सम्पत्ति पाकर मद होता है, कुल (की उन्नति) से अभिमान होता है, शक्ति से दर्प होता है, दुःख (अपमान) से क्रोध होता है, और विपत्ति से दीनता होती है। उसमें शान्ति का मौका ही कब मिलता है ? ॥ १९ ॥

अतः मैं आप पूज्य से अनुनय करता हूँ—

घर दारुण विपत्तियों का स्थान, मद अभिमान और मोहरूप सर्पों का निवास, शान्ति-सुख का विनाशक तथा सामने में उपस्थित सर्वनाश है। अतः घर का आश्रय कौन ले ? ॥२०॥

संतुष्टजनगेहे तु प्रविविक्तसुखे वने ।
प्रसीदति यथा चेतस्त्रिदिवेऽपि तथा कुतः ॥ २१ ॥

परप्रसादार्जितवृत्तिरप्यतो रमे वनान्तेषु कुचेलसंवृतः ।
अधर्ममिश्रं तु सुखं न कामये विषेण संपृक्तमिवान्नमात्मवान् ॥२२॥

इत्यपगमितमतिः स तेन पितृवयस्यौ हृदयग्राहकेण वचसा बहुमानमेव तस्मिन्महासत्त्वे सत्कारप्रयोगविशेषेण प्रवेदयामास ॥

तदेवं शीलप्रशमप्रतिपक्षसंबाधं गार्हस्थ्यमित्येवमात्मकामाः परित्यजन्तीति ॥ लब्धास्वादाः प्रविवेके न कामेष्वावर्तन्त इति प्रविवेकगुणकथायामप्युपनेयम् ॥

इत्ययोगृह-जातकमष्टादशम् ।

---

१९. बिस-जातकम्

प्रविवेकसुखरसज्ञानां विडम्बनेव विहिंसेव च कामाः प्रतिकूला भवन्ति ॥ तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिन्महति गुणप्रकाशयशसि वाच्यदोषविरहिते ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार । तस्य यत्र कनीयांसः षडपरे भ्रातरस्तदनुरूपगुणाः स्नेहबहुमानगुणाभिल्यानुगुणा बभूवुः, सप्तमी च भगिनी । स कृतश्रमः साङ्गेषु सोपवेदेषु वेदेषु समधिगतविद्यायशाः संमतो जगति दैवतवन्मातापितरौ परया भक्त्या परिचरन्नाचार्य इव पितेव तान्भ्रातॄन्विद्यासु विनयन्नयविनयकुशलो गृहमावसति स्म । स कालक्रमान्मातापित्रोः कालक्रियया संविग्नहृदयः कृत्वा तयोः प्रेतकृत्यानि व्यतीतेषु शोकमयेष्विव केषुचिदेव दिवसेषु तान्भ्रातॄन् संनिपात्योवाच—

एष लोकस्य नियतः शोकातिविरसः क्रमः ।
सह स्थित्वापि सुचिरं मृत्युना यद्वियोज्यते ॥ १ ॥

तस्मात्प्रव्रजितुमिच्छामि श्रेयःश्लाघ्येन वर्त्मना ।
पुरा मृत्युरिपुर्हन्ति गृहसंरक्तमेव माम् ॥ २ ॥

यतः सर्वानेव भवतः सम्बोधयामि । अस्त्यत्र ब्राह्मणकुले धर्मेण यथाधिगता विभवमात्रा । शक्यमनया वर्तितुम् । तत्सर्वैरेव भवद्भिः परस्परं स्नेहगौरवाभिमुखैः शीलसमुदाचारेष्वशिथिलादरैर्वेदाध्ययनपरैर्मित्रातिथिस्वजनप्रणयवत्सलधर्मपरायणैर्भूत्वा सम्यग्गृहमध्यावस्तव्यम् ।

(तृष्णा-रहित) सन्तुष्ट प्राणियों के निवास-स्थान, वैराग्य सुख से परिपूर्ण तपोवन में मन जितना आनन्दित होता है उतना आनन्दित स्वर्ग में भी कहाँ से होगा ? ॥ २१ ॥

दूसरों की कृपा से प्राप्त (भिक्षा-) वृत्तिपर रहकर और जीर्ण-शीर्ण वस्त्र से अपने को ढककर भी मैं जंगल में प्रसन्न हूँ । मैं अधर्म-मिश्रित सुख की कामना नहीं करता, जैसे स्वस्थ-चित्त व्यक्ति विष-मिश्रित अन्न की कामना नहीं करता" ॥ २२ ॥

जब उन्होंने इन हृदय-ग्राही शब्दों में अपने पिता के साथी को इस तरह समझाया तब उसने विशेष सत्कार-द्वारा उस महाप्राणी के प्रति अत्यन्त सम्मान ही प्रकट किया ।

तब 'गृहस्थ-जीवन शील और शान्ति के प्रतिपक्षों (विरोधी चीजों) से भरा हुआ है', यह समझकर आत्म संयम (आत्म-कल्याण) की कामना करनेवाले लोग गृहस्थ-जीवन का परित्याग करते हैं । जिन्होंने वैराग्य-रस का आस्वादन कर लिया है वे फिर काम भोगों में नहीं भटकते, इस प्रकार वैराग्य के गुण-वर्णन करने में भी यह उपदेश देना चाहिए ।

अपुत्र-जातक अष्टादश समाप्त ।

---

१९. बिस-जातक

जिन्होंने वैराग्य[1]-सुख के रस को जान लिया है उनके लिए काम-भोग, विडम्बना[2] और हिंसा की तरह, प्रतिकूल होते हैं । यह बात इस अनुश्रुति (दृष्टान्त, कथा) से प्रमाणित होगी—

बोधिसत्त्व ने एक बार किसी महान् ब्राह्मण-कुल में जन्म लिया, जो सद्गुणों से प्रकाशित विख्यात अनिन्द्य और निर्दोष था । वहाँ उसके छः छोटे भाई, उसीके अनुरूप गुणवान् तथा स्नेह और सम्मानभाव के कारण सदा उसके अनुवर्ती थे । सातवीं एक बहिन थी । बोधिसत्त्व ने अङ्गों और उपवेदों[3] सहित वेदों का अध्ययन किया । विद्यायें और कीर्ति अर्जन की । संसार में सम्मान प्राप्त किया । देवता तुल्य माता-पिता की अत्यन्त भक्तिपूर्वक सेवा करते हुए तथा आचार्य और पिता के समान उन भाइयों को विद्याएँ सिखाते हुए वह नीतिज्ञ और विनयी घर में रहने लगे । काल-क्रम से माता-पिता की मृत्यु हुई, जिससे उसके हृदय में संवेग हो गया । उसने उनका प्रेत-कर्म (=श्राद्ध संस्कार) किया । शोक के कतिपय दिवसों के बीतने पर उसने अपने भाइयों को एकत्र करके कहा—

"संसार का यह अटल और दुःखदायी नियम है कि चिरकालतक साथ साथ रहकर भी मृत्यु के कारण (हमें एक-दूसरे से) अलग होना पड़ता है ॥ १ ॥

अतः मृत्युरूपी शत्रु घर-गृहस्थी में अनुरक्त रहते ही मुझे आकर मार डाले, इसके पहले ही मैं प्रशंसनीय कल्याण-मार्ग पर प्रव्रजित होना चाहता हूँ ॥ २ ॥

अतः मैं आप लोगों को समझाता हूँ । इस ब्राह्मण-कुल में धर्म-पूर्वक उपार्जित कुछ सम्पत्ति है, जिससे निर्वाह किया जा सकता है । सो आपलोग परस्पर स्नेह और सम्मानभाव रखते हुए, शील और सदाचार की रक्षा करते हुए, वेदों के अध्ययन में लीन रहते हुए, मित्रों अतिथियों और स्वजनों का आदर-सत्कार करते हुए, धर्म-परायण रहते हुए सम्यक् रूप से घर में रहिये ।

विनयश्लाघिभिर्नित्यं स्वाध्यायाध्ययनोद्यतैः ।
प्रदानाभिरतैः सम्यक्परिपाल्यो गृहाश्रमः ॥ ३ ॥

एवं हि वः स्याद्यशसः समृद्धिर्धर्मस्य चार्थस्य सुखास्पदस्य ।
सुखावगाहश्च परोऽपि लोकस्तदप्रमत्ता गृहमावसेत ॥ ४ ॥

अथास्य भ्रातरः प्रव्रज्यासङ्कीर्तनाद्वियोगाशङ्काव्यथितमनसः शोकाश्रुदुर्दिनमुखाः प्रणम्यैनमूचुः—नार्हत्यत्रभवान्पितृवियोगशोकशल्यव्रणमसंरूढमेव नो घट्टयितुमपरेण दुःखाभिनिपातक्षारेण ।

अद्यापि तावत्पितृशोकशल्यक्षतानि रोहन्ति न नो मनांसि ।
तत्साध्विमां संहर धीर बुद्धिं मा नः क्षते क्षारमिहोपहार्षीः ॥ ५ ॥

अथाक्षमं वेत्सि गृहानुरागं श्रेयः पयं वा वनवाससौख्यम् ।
अस्माननाथानपहाय गेहे कस्माद्वनं वाञ्छसि गन्तुमेकः ॥ ६ ॥

तद्यात्रभवतो गतिः सास्माकम् । वयमपि प्रव्रजाम इति ॥
बोधिसत्त्व उवाच—

अनभ्यासाद्विवेकस्य कामरागानुवर्तिनः ।
प्रपातमिव मन्यन्ते प्रव्रज्यां प्रायशो जनाः ॥ ७ ॥

इति मया निगृह्य नाभिहिताः स्थ प्रव्रज्याश्रयं प्रति जानतापि गृहवनवासविशेषम् । तदेतच्चेदभिरुचितं भवतामेव प्रव्रजाम इति । ते सप्तापि भ्रातरो भगिन्यष्टमाः स्फीतं गृहविभवासारमश्रुमुखं च मित्रस्वजनबन्धुवर्गं विहाय तापसप्रव्रज्यया प्रव्रजिताः तदनुरक्तहृदयश्चैनान्सहाय एको दासी दासश्चानुप्रव्रजिताः ।

तेऽन्यतरस्मिन्महत्यरण्यायतने ज्वलितमिव विकसितकमलवनशोभया विहसदिव च फुल्लकुमुदवनैरनिभृतमधुकरगणममलनीलसलिलं महत्सरः सनिश्रित्य प्रविविक्तमनःज्ञासु च्छायाद्रुमसमुपगूढास्वसंनिकृष्टविनिविष्टासु पृथक्पृथक्पर्णशालासु व्रतनियमपरा ध्यानानुयुक्तमनसो विजह्रुः । पञ्चमे पञ्चमे दिवसे बोधिसत्त्वसमीपं धर्मश्रवणार्थमुपजग्मुः । स चैषां ध्यानोपदेशप्रवृत्तां कामादीनवदर्शनीं सवेजनीयां प्रविवेकसन्तोषवर्णबहुलां कुहनलपनकौसीद्यादिदोषविगर्हणीमुपशमप्रसादपद्धतिं तां तां धर्म्यां कथां चकार ।

सा चैनान् दासी बहुमानानुरागवशा तथैव परिचचार । सा तस्मात्सरसो बिसान्युद्धृत्य महत्सु पद्मिनीपर्णेषु शुचौ तीरप्रदेशे समान्विन्यस्य च भागान्काष्ठ-

सदा विनयी वेदाभ्यासी और दानशील रहकर गृहस्थाश्रम-धर्म का सम्यक् पालन कीजिये ॥ ३ ॥

इस प्रकार आपकी कीर्ति धर्म और सुख-दायक सम्पत्ति की वृद्धि होगी। और, परलोक भी सुलभ हो जायगा। इसलिए सावधान होकर घर में रहिये" ॥ ४ ॥

जब उसके भाइयों ने प्रव्रज्या की बात सुनी तब वियोग की आशंका से उनके मन में बड़ी व्यथा हुई। दुःख के आँसुओं से उनके मुख भर गये। उन्होंने प्रणाम करके कहा—

"पितृ-वियोग के शोक-शल्य का घाव अभी भरा नहीं है। यह दूसरा दुःखरूपी नमक देकर उसे ताजा करना आप पूज्य के लिए उचित नहीं है।

पितृ-शोकरूपी शल्य से जो घाव हमारे मन में हुआ था वह अबतक नहीं भरा है, इसलिए, हे धीर, अपने इस विचार को रोकिये। हमारे घाव में नमक न छिड़किये ॥ ५ ॥

या यदि आप गृहानुराग को अनुचित और वनवास के सुख को कल्याण का मार्ग समझते हैं, तो हम अनाथों को घर में छोड़कर आप क्यों अकेले ही वन जाना चाहते हैं ? ॥ ६ ॥

तब जो गति आपकी होगी वह हमारी भी। हम भी प्रव्रजित होंगे।"

बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया—

"वैराग्य का अभ्यास नहीं होने के कारण जो लोग काम राग के वशीभूत होते हैं वे प्रायः प्रव्रज्या को प्रपात (=पहाड़ के खड़े किनारे से गिरने) के समान समझते हैं ॥ ७ ॥

इसलिए गृहस्थी और वनवास के अन्तर को जानते हुए भी, अपने को रोककर मैंने आपलोगों को प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए नहीं कहा। अब यदि आपलोगों को भी यही पसन्द है तो हम सब प्रव्रजित होवें।" वे सातों भाई, बहिन लेकर आठों, विशाल घर-द्वार और बहुमूल्य सम्पत्ति तथा रोते हुए मित्रों स्वजनों और बन्धुओं को छोड़कर तापसोचित प्रव्रज्या से प्रव्रजित हुए। उनके अत्यन्त अनुरक्त एक सहायक, एक दासी और एक दास भी उनके साथ प्रव्रजित हुए।

वे किसी बड़े जंगल के भीतर पहुँचे। वहाँ गूँजते भौंरों से युक्त, तथा निर्मल नीले जल से परिपूर्ण एक सरोवर था, जो (दिन में) फूले हुए कमलों की आभा से मानो प्रज्वलित होता था और (चाँदनी रात में) खिले हुए कुमदों की शोभा से हँसता था। उस सरोवर के किनारे उन्होंने पृथक् पृथक् पर्णशालाएँ बनाईं, जो कुछ दूर दूर पर स्थित, छाया वृक्षों से आलिङ्गित, एकान्त और मनोहर थीं। उनमें व्रत-नियमों का पालन करते हुए वे ध्यानावस्थित चित्त से विहार करने लगे। वे प्रति पाँचवें दिन बोधिसत्त्व के समीप धर्मोपदेश सुनने के लिए जाया करते थे। वह उन्हें ध्यानोपदेश करनेवाली, काम-भोग के दोष दिखलानेवाली, संवेग उत्पन्न करनेवाली, वैराग्य और संतोष (या वैराग्य-जन्य संतोष) के अक्षरों से भरपूर, कपट वाचालता आलस्य आदि दोषों की निन्दा करनेवाली धार्मिक कथाएँ कहा करते थे।

वह दासी स्नेह और सम्मान-भाव के कारण पूर्ववत् उनकी सेवा करती रही। वह उस सरोवर से कमल-नाल निकालकर किनारे के पवित्र स्थानपर कमल के बड़े-बड़े पत्तोंपर बराबर

संघट्टनशब्देन कालं निवेद्यापक्रामति स्म । ततस्तेषामृषीणां कृतजपहोमविधीनां यथावृद्धमेकैकोऽभिगम्य ततो बिसभागमेकैकं यथाक्रममादाय स्वस्यां स्वस्यां पर्णशालायां विधिवत्परिभुज्य ध्यानाभियुक्तमतिर्विजहार । त एवं प्रवृत्ता नैव परस्परं ददृशुरन्यत्र धर्मश्रवणकालात् ।

तेषामेवंविधेन निरवद्येन शीलवृत्तसमुदाचारेण प्रविवेकाभिरत्या ध्यानप्रवणमानसतया च सर्वत्र यशः समुपश्रुत्य शक्रो देवानामिन्द्रस्तत्परीक्षानिमित्तं तत्राभिजगाम । तच्चैषां ध्यानाभिमुखत्वं कुकार्येष्वप्रसङ्गमनुत्कण्ठां प्रशमाभिरामं चावस्थानमवेक्ष्य स्थिरतरगुणसम्भावनस्तत्परीक्षानिमित्तमवहितमना बभूव ।

अनुत्सुको वनान्तेषु वसञ्छमपरायणः ।
आरोपयति साधूनां गुणसम्भावनां हृदि ॥ ८ ॥

अथ द्विपकलभदशनपाण्डुकोमलानि समुद्धृत्य प्रक्षाल्य च बिसानि मरकतहरितप्रभेषु पद्मिनीपत्रेषु कमलदलकेशरोपहारालंकृतान्विरचय्य समान्भागान्काष्ठसंघट्टनशब्देन निवेद्य कालं तेषामृषीणामपसृतायां तस्यां दार्व्यां बोधिसत्त्वपरीक्षार्थं शक्रो देवानामिन्द्रः प्रथममेव बिसभागमन्तर्धापयामास ।

प्रवर्तने हि दुःखस्य तिरस्कारे सुखस्य च ।
धैर्यप्रयासः साधूनां विस्फुरन्निव गृह्यते ॥ ९ ॥

अथ बोधिसत्त्वोऽभिगतः प्रथमे बिसभागस्थाने बिसभागविरहितं पद्मिनीपत्रं परिव्याकुलीकृतोपहारमभिसमीक्ष्य गृहीतः केनापि मे बिसप्रत्यंश इत्यवधृतमतिरपेतचेतःसंक्षोभसंरम्भस्तत एव प्रतिनिवृत्य प्रविश्य पर्णशालायां यथोचितं ध्यानविधिमारेभे । वैमनस्यपरिहारार्थं चेतरेषामृषीणां तमर्थं न निवेदयामास । इतरे स्वस्य भ्रातरो नूनमनेन गृहीतः प्रत्यंश इति मन्यमाना यथोचितानेव स्वान्स्वाननुक्रमेण बिसभागानादाय यथास्वं पर्णशालासु परिभुज्य ध्यायन्ति स्म । एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमे च दिवसे शक्रस्तस्य तं बिसप्रत्यंशमुपनिदधे । बोधिसत्त्वोऽपि च महासत्त्वस्तथैव निःसंक्षोभप्रशान्तचित्तो बभूव ।

मनःसंक्षोभ एवेष्टो मृत्युर्नायुःक्षयः सताम् ।
जीवितार्थेऽपि नायान्ति मनःक्षोभमतो बुधाः ॥ १० ॥

अथापराह्णसमये धर्मश्रवणार्थमृषयस्ते यथोचितं बोधिसत्त्वस्य पर्णशालां समभिगता ददृशुंस्तश्चैनं कृशतरशरीरं परिक्षामकपोलनयनं परिम्लानवदनशोभम-

बराबर हिस्सा लगाकर रखती थी और काठों की चोट के शब्द[1] से (आहार-) काल निवेदन कर वहाँ से हट जाती थीं। तब होम-जप की क्रियाएँ करके वे ऋषि (उम्र) की बड़ाई के अनुसार एक-एक कर वहाँ आते थे और क्रम से कमल-नाल का एक-एक हिस्सा लेकर अपनी अपनी पर्णशाला में चले जाते थे। वहाँ विधिवत् उसे खाकर ध्यानावस्थित चित्त से विहार करते थे। इस प्रकार (साधना में) लगे हुए वे धर्मोपदेश सुनने के समय को छोड़कर और किसी समय एक दूसरे को न देखते थे।

उनके इस निर्दोष शील-सदाचार, वैराग्य-रति एवं ध्यान में दत्तचित्तता के कारण उनका यश चारों ओर फैल गया, जिसे सुनकर देवताओं के स्वामी शक्र उनकी परीक्षा लेने के लिए वहाँ आए। उनकी ध्यान-अभिमुखता कुकार्य-पराङ्मुखता स्थिरता शान्ति और धीरता देखकर उनके सद्गुणों के स्थायित्व की संभावना से[2] वह उनकी परीक्षा लेने के लिए सावधान हो गये :

जो जंगल के भीतर उत्सुकता-रहित (=विषय-विमुख) और शान्तिपरायण होकर रहता है वह साधुओं के हृदय में अपने गुणों के प्रति आदर-भाव उत्पन्न करता है ॥ ८ ॥

तब हस्ति-शावक के दाँतों के समान सफेद और कोमल कमल नाल निकालकर और (जल में) धोकर, मरकत के समान हरे कमल के पत्तोंपर रखकर, कमल की पंखुड़ियों और केसरों के उपहार से अलंकृत कर, बराबर बराबर हिस्सा लगाकर, काठ की चोट से उन ऋषियों का (आहार-) काल निवेदन कर, उस दासी के हटनेपर, बोधिसत्त्व की परीक्षा के लिए देवताओं के स्वामी इन्द्र ने कमल नाल के पहले ही हिस्से को अन्तर्धान कर दिया।

दुःख का उदय होनेपर और सुख का नाश होनेपर साधुजनों के उज्ज्वल धैर्य-विस्तार का परिचय मिलता है ॥ ९ ॥

जब बोधिसत्त्व कमल-नाल के पहले हिस्से के स्थानपर आये तो उसने देखा कि कमल के पत्ते पर कमल-नाल का हिस्सा नहीं है और (पंखुड़ियों एवं केसरों का) उपहार तितर-बितर कर दिया गया है। यह देखकर उसने निश्चय किया—"किसी ने मेरा अंश ले लिया है।" मन में सक्षोभ और क्रोध किये बिना ही वह वहाँ से लौटकर पर्णशाला में पहुँच गये और यथोचित ध्यानविधि में लग गये। वैमनस्य (=उदासी) को रोकने के लिए दूसरे ऋषियों से यह समाचार नहीं कहा। उन्होंने अपना अंश लिया ही होगा यह मानकर उसके दूसरे भाई अपने अपने यथोचित कमल-नाल के हिस्सों को क्रम से लेकर अपनी अपनी पर्णशाला में चले गये और भोजन कर ध्यान करने लगे। इसी प्रकार दूसरे तीसरे चौथे और पाँचवें दिन भी शक्र ने उसके कमल-नाल के हिस्से को छिपा दिया। महापुरुष बोधिसत्त्व भी उसी प्रकार क्षोभ-रहित और शान्तचित्त रहे।

सज्जन पुरुष मानसिक क्षोभ को ही, न कि आयु के क्षय को, मृत्यु मानते हैं। इसी लिए बुद्धिमान् मनुष्य प्राण-संकट में भी मन में क्षोभ नहीं करते ॥ १० ॥

जब अपराह्न-काल में धर्मोपदेश सुनने के लिए वे ऋषि पूर्ववत् बोधिसत्त्व की पर्णशाला में गये तो देखा कि उसका शरीर दुबला-पतला हो गया है, गाल और आँखें धँस गई हैं, मुख

सम्पूर्णस्वरगाम्भीर्यं परिक्षीणमप्यपरिक्षीणधैर्यंप्रशमगुणमभिनवेन्दुप्रियदर्शन-मुपेत्योपचारपुरःसरं ससम्भ्रमाः किमिदमिति कार्श्यंनिमित्तमेनमपृच्छन्। तेभ्यो बोधिसत्त्वस्तमर्थं यथानुभूतं निवेदयामास। अथ ते तापसाः परस्परमीदृशमनाचारमसम्भावयन्तस्तत्पीडया च समुपजातसंवेगाः कष्टं कष्टमित्युक्त्वा व्रीडावनतवदनाः समतिष्ठन्त शक्रप्रभावाच्च समावृतज्ञानगतिविषयाः कुत इदमिति न निश्चयमुपजग्मुः। अथ बोधिसत्त्वस्यानुजो भ्राता स्वभावेगमात्मविशुद्धिं च प्रदर्शयञ्छपथातिशयमिमं चकार—

सम्‍ृद्धिचिह्नाभरणं स गेहं प्राप्नोतु भार्यां च मनोऽभिरामाम्।
समग्रतामेतु च पुत्रपौत्रैर्बिसानि ते ब्राह्मण यो ह्यहार्षीत्॥ ११॥

अपर उवाच—

मालाः स्रजश्चन्दनमंशुकानि बिभ्रद्भिभूषाश्च सुताभिमृष्टाः।
कामेषु तीव्रां स करोत्वपेक्षां बिसान्यहार्षीद्द्विजमुख्य यस्ते॥ १२॥

अपर उवाच—

कृष्याश्रयावाप्तधनः कुटुम्बी प्रमोदमानस्तनयप्रलापैः।
वयोऽप्यपश्यन्रमतां स गेहे बिसानि यस्ते सकृदप्यहार्षीत्॥ १३॥

अपर उवाच—

नराधिपैर्भृत्यविनीतचेष्टैरभ्यर्च्यमानो नतलोलचूडैः।
कृत्स्नां महीं पातु स राजवृत्त्या लोभादहार्षीत्तव यो बिसानि॥ १४॥

अपर उवाच—

पुरोहितः सोऽस्तु नराधिपस्य मन्त्रादिना स्वस्त्ययनेन युक्तः।
सत्कारमाप्नोतु तथा च राज्ञस्तवापि यो नाम बिसान्यहार्षीत्॥ १५॥

अपर उवाच—

अध्यापकं सम्यगधीतवेदं तपस्विसम्भावनया महत्या।
अर्चन्तु तं जानपदाः समेत्य बिसेषु लुब्धो न गुणेषु यस्ते॥ १६॥

सहाय उवाच—

चतुःशतं ग्रामवरं समृद्धं लब्ध्वा नरेन्द्रादुपयातु भोक्तुम्।
अवीतरागो मरणं स चैतु लोभं बिसेष्वप्यजयन्न यस्ते॥ १७॥

दास उवाच—

स ग्रामणीरस्तु सहायमध्ये स्त्रीनृत्तगीतैरुपलाप्यमानः।
मा राजतश्च व्यसनानि लब्ध बिसार्थमात्मार्थमशीशमद्यः॥ १८॥

की शोभा मुरझा गई है, वाणी की गम्भीरता खण्डित है, (शरीर) क्षीण होनेपर भी शान्ति और धैर्य क्षीण नहीं हुआ है, और वह अभिनव चन्द्रमा के समान देखने में सुन्दर हैं। शिष्टाचारपूर्वक समीप पहुँचने पर घबराहट में आकर उन्होंने 'यह क्यों' इस प्रकार दुबलेपन का कारण पूछा। बोधिसत्त्व ने उनसे वह बात सच सच बतला दी। उन तापसों को आपस में इस प्रकार के अनाचार की आशंका नहीं हुई। उसकी पीड़ा से वे भय-भीत हुए और 'हा कष्ट, हा कष्ट' कहते हुए लज्जा से मुख झुकाकर खड़े रहे। शक्र के प्रभाव से उनके ज्ञान की गति कुण्ठित हो जाने के कारण 'यह (अनाचार) क्यों हुआ' इसका निश्चय न कर सके। तब बोधिसत्त्व के छोटे भाई ने अपना आवेग और अपनी पवित्रता (= निर्दोषता) प्रकट करते हुए यह कठोर शपथ लेकर कहा—

"हे ब्राह्मण, जिसने आपके कमल नाल चुराये हैं वह समृद्धि के चिह्नस्वरूप आभरणों से युक्त घर एवं मनोरम पत्नी तथा पुत्रों और पौत्रों के साथ परिपूर्णता प्राप्त करे" ॥ ११ ॥

दूसरे ने कहा—"हे द्विज-वर, जिसने आपके कमल-नाल चुराये हैं वह मालाएँ हार चन्दन सुन्दर वस्त्र तथा पुत्रों द्वारा स्पर्श किये गये आभूषण पहनता हुआ काम भोगों में अत्यन्त आसक्त हो" ॥ १२ ॥

तीसरे ने कहा—"जिसने एक बार भी आपके कमल-नाल चुराये हों वह खेती के सहारे धनोपार्जन करता हुआ, परिवार में रहता हुआ, बच्चों की (मीठी तुतली) बोली से आनन्दित होता हुआ और अवस्था (बुढ़ापे या मृत्यु-काल) की उपेक्षा करता हुआ घर में रमण करे" ॥ १३ ॥

चौथे ने कहा—"जिसने लालच में पड़कर आपके कमल-नाल चुराये हैं वह भृत्यों की तरह विनम्र आचरण करनेवाले राजाओं के द्वारा चञ्चल चूड़ाओं (= हिलते हुए मस्तकों) को झुकाकर पूजित होता हुआ, सम्राट् के समान सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करे" ॥ १४ ॥

पाँचवें ने कहा—"जिसने आपके कमल नाल चुराये हैं वह स्वस्ति-प्रद (= मङ्गल कारक) मन्त्र-आदि से युक्त होकर राजा का पुरोहित हो और उससे सत्कार प्राप्त करे" ॥ १५ ॥

छठे ने कहा—"जिसने आपके कमल-नालों का, न कि आपके गुणों का, लोभ किया, वह वेदों का सम्यक् अध्ययन कर अध्यापक हो और जनता एकत्र होकर तपस्विजनोचित महासम्मान के साथ उसकी पूजा करे" ॥ १६ ॥

साथी ने कहा—"जो आपके कमल-नालों का लोभ-संवरण न कर सका वह राजा से चार सौ[1] समृद्धिशाली उत्तम ग्राम लेकर भोगे और राग के रहते ही मृत्यु को प्राप्त हो" ॥ १७ ॥

दास ने कहा—"जिसने कमल के डण्ठलों के लिए स्वार्थ (= अपना श्रेय) नष्ट कर दिया वह अपने साथियों के साथ स्त्रियों के नृत्य-गीत आदि से आनन्दित होता हुआ ग्राम का स्वामी बने और राजा से भय (= विपत्ति या कष्ट) न प्राप्त करे" ॥ १८ ॥

भगिन्युवाच—

विद्योतमानां वपुषा श्रिया च पत्नीत्वमानीय नराधिपस्ताम् ।
योषित्सहस्राग्रसरीं करोतु यस्त्वद्विधस्यापि[1] बिसान्यहार्षीत् ॥ १९ ॥

दास्युवाच—

एकाकिनी सा समतीत्य साधून्स्वादूपभोगे प्रणयं करोतु ।
सत्कारलब्धां मुदमुद्वहन्ती बिसान्यपश्यत्तव या न धर्मम् ॥ २० ॥

अथ तत्र धर्मश्रवणार्थं समागतास्तद्वनाध्युषिता यक्षद्विरदवानरास्तां कथामुपश्रुत्य परां व्रीडां संवेगं चोपजग्मुः । अथ यक्ष आत्मविशुद्धिप्रदर्शनार्थमिति शपथमेषां पुरतश्चकार—

आवासिकः सोऽस्तु महाविहारे कचङ्गलायां नवकर्मिकश्च ।
आलोकसन्धिं दिवसैः करोतु यस्त्वय्यपि प्रस्खलितो बिसार्थम् ॥ २१ ॥

हस्त्युवाच—

षड्भिर्दृढैः पाशशतैः स बन्धं प्राप्नोतु रम्याच्च वनाज्जनान्तम् ।
तीक्ष्णाङ्कुशाकर्षणजा रुजश्च यस्ते मुनिश्रेष्ठ बिसान्यहार्षीत् ॥ २२ ॥

वानर उवाच—

स पुष्पमाली त्रपुघृष्टकण्ठो यष्ट्या हतः सर्पमुखं परैतु ।
वैकक्ष्यबद्धश्च वसेद् गृहेषु लौल्यादहार्षीत्तव यो बिसानि ॥ २३ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तान्सर्वानेवानुनयविनीताक्षरं शान्तिगाम्भीर्यसूचकमित्युवाच—

यो नष्टमित्याह न चास्य नष्टमिष्टान्स कामानधिगम्य कामम् ।
उपैतु गेहाश्रित एव मृत्युं भवत्सु यः शङ्कत ईदृशं वा ॥ २४ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रस्तेन तेषां कामोपभोगप्रातिकूल्यसूचकेन शपथातिशयेन समुत्पादितविस्मयबहुमानः स्वेनैव वपुषाभिज्वलता तानृषीनभिगम्य सामर्षमुवाच—मा तावद्भोः !

यत्प्राप्तिपर्युत्सुकमानसानां सुखार्थिनां नैति मनांसि निद्रा ।
यान्प्राप्तुमिच्छन्ति तपःश्रमैश्च तान्केन कामानिति कुत्सयध्वे ॥ २५ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अनन्तादीनवा मार्ष कामाः । संक्षेपतस्तु श्रूयतां यदभिसमीक्ष्य कामान्न प्रशंसन्ति मुनयः ।

---

१ पा० 'या त्वद्विधस्यापि' ?

बहिन ने कहा—"जिसने आप-जैसे (तपस्वी) के भी कमल-नाल चुराये उस अत्यन्त रूपवती को राजा अपनी पत्नी बनाकर हजार स्त्रियों में प्रधान (पटरानी) बनावे" ॥ १९ ॥

दासी ने कहा—"जिस (स्त्री) ने आपके कमल-नालों को देखा और आपके धर्म को नहीं, वह साधुओं की उपेक्षा कर एकान्त में स्वादिष्ठ पदार्थों को भोगना चाहे और सत्कार पाकर आनन्द अनुभव करे" ॥ २० ॥

वहाँ धर्मोपदेश सुनने के लिए आये हुए उस वन के निवासी यक्ष हाथी और वानर उस कथा को सुनकर अत्यन्त लज्जित और संविग्न हुए। यक्ष ने अपनी पवित्रता (=निर्दोषता) बतलाते हुए उनके आगे शपथ लेकर कहा—

"जो कमल के डण्ठलों के लिए आपके प्रति भी (धर्म-) च्युत हुआ वह कचङ्गला के महाविहार में निवास करे और (भवन-) निर्माण-कार्य का अध्यक्ष होकर दिन में गवाक्ष[1] बनाया करे" ॥ २१ ॥

हाथी ने कहा—"हे मुनि-श्रेष्ठ, जिसने आपके कमल-नाल चुराये हैं वह रम्य जंगल से मनुष्यों के समीप जाय, छः सौ[2] दृढ़ बन्धनों से बाँधा जाय और तीक्ष्ण अंकुशों के प्रहारों से पीड़ित हो" ॥ २२ ॥

वानर ने कहा—"अपनी चञ्चलता के कारण जिसने आपके कमल-नाल चुराये हैं वह फूलों की माला पहने, रांगे की कण्ठी से उसका गला घिसता रहे, लाठी से ताड़ित होकर वह सर्प[3] के मुख में जा पड़े और सिकरी से बाँधा जाकर घर में पड़ा रहे" ॥ २३ ॥

तब बोधिसत्त्व ने उन सबसे, अनुनय और नम्रता के शब्दों में, अपनी शान्ति और गम्भीरता प्रकट करते हुए कहा—

"(कमल-नाल का हिस्सा) नष्ट नहीं होने पर भी जिसने (झूठ ही) कहा—'नष्ट हो गया' या जो आप लोगों में इस (अनाचार) की आशंका करता है वह अभिलषित काम-भोगों को खूब भोगे और घर में रहते ही मृत्यु प्राप्त करे" ॥ २४ ॥

काम-भोगों की प्रतिकूलता (विरोध, निन्दा)-सूचक उनके इस घोर शपथ से जब देवों के अधिपति इन्द्र के मन में विस्मय और सम्मान-भाव उत्पन्न हुआ तब वह अपना उज्ज्वल रूप लेकर प्रकट हुए और उन ऋषियों के समीप जाकर क्रोध दिखलाते हुए कहा—"ऐसा न कहें।

जिनकी प्राप्ति के लिए उत्सुक रहनवाले सुखाभिलाषियों को नींद तक नहीं आती है और जिन्हें प्राप्त करने के लिए लोग कठोर तपस्या भी करना चाहते हैं उन काम-भोगों की आप क्यों निन्दा करते हैं ?" ॥ २५ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"महाशय, काम-भोगों में अनन्त क्लेश हैं। संक्षेप से सुनिये, (उन क्लेशों को) जिन्हें देखकर मुनि काम-भोगों की प्रशंसा नहीं करते।

कामेषु बन्धमुपयाति वधं च लोकः
शोकं क्लमं भयमनेकविधं च दुःखम् ।
कामार्थमेव च महीपतयः पतन्ति
धर्मोपमर्दरमसा नरकं परत्र ॥ २६ ॥

यत्सौहृदानि सहसा विरसीभवन्ति
यन्नीतिशाठ्यमलिनेन पथा प्रयान्ति ।
कीर्त्या वियोगमसुखैः परतश्च योगं
यत्प्राप्नुवन्ति ननु कारणमत्र कामाः ॥ २७ ॥

इति हीनविमध्यमोत्तमानामिह चामुत्र च यद्वधाय कामाः ।
कुपितान्भुजगानिवात्मकामा मुनयस्तानिति शक्र नाश्रयन्ते ॥ २८ ॥

अथ शक्रो देवानामिन्द्रस्तस्य तद्वचनं युक्तमित्यभिनन्द्य तेन चैतेषामृषीणां माहात्म्येनाभिप्रसादितमनास्तेभ्यः स्वमपराधमाविश्चकार ।

गुणसम्भावनाव्यक्तिर्यत्परीक्ष्योपलभ्यते ।
मया विनिहितान्यस्मात्परीक्षार्थं बिसानि वः ॥ २९ ॥

तत्सनाथं जगद्दिष्ट्या मुनिभिस्तथ्यकीर्तिभिः ।
विशुद्धिः स्थिरचारित्रे तदेतानि बिसानि ते ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वा तानि बिसानि बोधिसत्त्वस्य समुपजहार । अथ बोधिसत्त्वस्तदस्यासमुदाचारधाष्टर्यं तेजस्विनिभृतेन वचसा प्रत्यादिदेश—

न बान्धवा नैव वयं सहाया न ते नटा नापि विडम्बकाः स्मः ।
कस्मिन्नवष्टभ्य नु देवराज क्रीडापथेनैवमृषीनुपैषि ॥ ३१ ॥

इत्युक्ते शक्रो देवेन्द्रः ससम्भ्रमापास्तकुण्डलकिरीटविद्युदुद्भासुरवदनः सबहुमानमभिप्रणम्यैनं क्षमयामास—

उक्तप्रयोजनमिदं चापलं मम निर्मम ।
पितेवाचार्य इव च क्षन्तुमर्हति तद्भवान् ॥ ३२ ॥

निमीलितज्ञानविलोचनानां स्वभाव एष स्खलितुं समेऽपि ।
क्षमां च तत्रात्मवतां प्रपन्नुमतोऽप्यदश्चेतसि मा स्म कार्षीः ॥ ३३ ॥

इति क्षमयित्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे ।

तदेवं प्रविवेकसुखरसज्ञानां विडम्बनेव विहिंसेव च कामाः प्रतिकूला भवन्ति ।

काम भोगों के लिए मनुष्य वध-बन्धन शोक थकावट विपत्ति और अनेक प्रकार का दुःख प्राप्त करता है। काम-भोगों के लिए ही राजा लोग धर्म का उत्पीडन करते हैं और पीछे नरक में पड़ते हैं ॥ २६ ॥

मित्रता के बन्धन हठात् ढीले पड़ जाते हैं, कुटिल नीति के गन्दे रास्ते से चलते हैं, कीर्ति से वञ्चित होते हैं और परलोक में दुःख पाते हैं—इसका क़ारण कामभोग ही है ॥ २७ ॥

जिन कामभोगों के कारण उत्तम मध्यम और हीन (श्रेणी के) मनुष्यों का इहलोक और परलोक में विनाश होता है, क्रुद्ध सर्पों के समान उन कामभोगों से, हे शक्र, आत्म-काम[1] मुनि दूर रहते हैं" ॥ २८ ॥

तब देवों के अधिपति इन्द्र ने उसके वचन को उचित समझकर उसका अभिनन्दन किया और उन ऋषियों के उस माहात्म्य से प्रसन्न होकर उनके आगे अपना अपराध प्रकट किया—

"परीक्षा करने पर गुणों के प्रति आदर-भाव प्रकट होता है। अतः परीक्षा के लिए मैंने आपके कमल-नाल छिपाये हैं। सो सौभाग्य से यह पृथ्वी इन सत्यकीर्ति ऋषियों से सनाथा है। ये कमल-नाल आपके स्थिर चरित्र के प्रमाण-स्वरूप हैं" ॥ २९-३० ॥

यह कहकर वह बोधिसत्त्व के कमल-नाल ले आये। तब बोधिसत्त्व ने उसे इस असभ्य और धृष्ट आचरण के लिए तेजस्वि-जनोचित शब्दों में फटकारा—

"हम न आपके बन्धु-बान्धव (=दायाद) हैं, न साथी, न नर्तक और न विडम्बक[1] ही, तब किस सम्बन्ध के बलपर, हे देवराज, आप हम ऋषियों के साथ इस प्रकार खेल कर रहे हैं ?" ॥ ३१ ॥

इस प्रकार कहे जानेपर देवेन्द्र शक्र ने शीघ्रता से (अपने शिर से) कुण्डल और किरीट (=मुकुट) हटा लिये, जिनके प्रकाश से उसका मुख चमकने लगा और प्रणाम करके उससे क्षमा माँगते हुए कहा—

"हे मोह-ममता-रहित, मैंने अपनी इस चपलता का प्रयोजन बतला दिया; पिता के समान, आचार्य के समान आप इसे क्षमा करें ॥ ३२ ॥

जिनकी ज्ञान-दृष्टि बन्द है उनका स्वभाव है साधुओं के प्रति अपराध करना, और आत्मवान् (=संयतात्मा, साधु) पुरुषों का स्वभाव है क्षमा करना। अतः आप इस (अपराध) को अपने मन में स्थान न दें" ॥ ३३ ॥

इस प्रकार क्षमा कराकर शक्र वहीं अन्तर्धान हो गये।

इस प्रकार, जिन्होंने वैराग्य-सुख के रस को जान लिया है, उनके लिए काम-भोग, हिंसा और विडम्बना के समान, अनिष्ट होते हैं।

[तस्येदं जातकं भगवान्व्याकार्षीत्—

अहं शारद्वतीपुत्रो मौद्गल्यायनकाश्यपौ ।
पूर्णानिरुद्धावानन्द इत्यासुर्भ्रातरस्तदा ॥ ३४ ॥

भगिन्युत्पलावर्णासीद्दासी कुब्जोत्तराभवत् ।
चित्रो गृहपतिर्दासो यक्षः सातागिरिस्तदा ॥ ३५ ॥

पारिलेयोऽभवन्नागो मधुदातैव वानरः ।
कालोदायी च शक्रोऽभूद्धार्यतामिति जातकम् ॥ ३६ ॥]

इति बिस-जातकमेकोनविंशतितमम् ।

२०. श्रेष्ठि-जातकम्

अभूतगुणसंभावना प्रतोदसंचोदनेव भवति साधूनामिति गुणसंपादने प्रयतितव्यम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल श्रुतकुलविनयमहानक्षुद्रनिपुणमतिरविषमव्यवहाररतिरनेकशास्त्राभ्यासादालक्षितवचनसौष्ठवः करुणानुवृत्त्या समन्ततो विस्यन्दमानधनसमृद्धिर्महाप्रदानैर्महाधनत्वाद् गृहपतिरत्नसंमतोऽन्यतमस्य राज्ञः श्रेष्ठी बभूव ।

स प्रकृत्यैव धर्मात्मा श्रुतादिगुणभूषणः ।
अभूत्प्रायेण लोकस्य बहुमानैकभाजनम् ॥ १ ॥

अथ कदाचित्तस्मिन्महासत्त्वे राजकुलमभिगते केनचिदेव करणीयेन तस्य श्वश्रूर्दुहितरमवलोकयितुं तद्गृहमभिजगाम । कृताभ्यागमनसत्कारा च संकथाप्रस्तावागतं स्वां दुहितरं बोधिसत्त्वभार्यां रहसि कुशलपरिप्रश्नपूर्वकं पर्यपृच्छत् । कच्चित्त्वां तात भर्ता नावमन्यते । कच्चिद्वा वेत्ति परिचर्यागुणम् । न वा दुःशीलतया प्रबाधत इति । सा व्रीडावनतवदना लज्जाऽप्रगल्भं शनकैरुवाच—यादृशोऽयं शीलगुणसमुदाचारेण, प्रव्रजितोऽपि दुर्लभः । क इदानीं तादृशः ॥ अथ सा तस्या माता जरोपहतश्रुतिस्मृतित्वाल्लज्जासंकुचिताक्षरं तनयया तद्वचनमभिधीयमानं न सम्यगुपधारयामास । प्रव्रजितसंकीर्तनात्तु प्रव्रजितो मे जामातेति निश्चयमुपजगाम । सा सस्वरमभिरुदिता स्वां दुहितरमनुशोचन्ती दुःखावेगवशात्परिदेवनपरा बभूव । कीदृशस्तस्य शीलगुणसमुदाचारो य एवमनुरक्तं स्वं जनमपहाय प्रव्रजितः । किं वा तस्य प्रव्रज्यया !

तरुणस्य वपुष्मतः सतः सुकुमारस्य सुखोचितात्मनः ।
क्षितिपाभिमतस्य तस्य वै वनवासे प्रणता मतिः कथम् ॥ २ ॥

[और भगवान् ने इस जातक की इस प्रकार व्याख्या की—

"उस समय मैं, शारद्वती-पुत्र (=सारिपुत्र), मौद्गल्यायन, काश्यप, पूर्ण, अनिरुद्ध और आनन्द (सातों) भाई थे। तब उत्पलावर्णा बहिन और कुब्जोत्तरा दासी थी, चित्र गृहपति दास और सातागिरि यक्ष था। पारिलेय हाथी, मधुदाता वानर और कालोदायी शक्र था, इस प्रकार इस जातक को (मन में) धारण करो" ॥ ३४-३६ ॥][1]

बिस-जातक उन्नीसवाँ समाप्त।

---

२०. श्रेष्ठि-जातक

गुण नहीं होनेपर भी यदि उसकी कल्पना (प्रशंसा, प्रसिद्धि) की जाय तो इससे साधु-जनों को अंकुश की-सी प्रेरणा मिलती है; अतः गुण-अर्जन करने का प्रयत्न करना चाहिए। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

एकबार बोधिसत्त्व किसी राजा के कोषाध्यक्ष हुए। वह अपनी विद्या, वंश और विनय (विनम्रता) के लिए विख्यात थे। उनका विचार ऊँचा था और उनकी बुद्धि निपुण थी। वह सबके साथ समान व्यवहार करते थे[2]। अनेक शास्त्रों के अभ्यास से उनका वचन सौष्ठव (वाणी-सौन्दर्य) प्रकट होता था। दयालु होने के कारण वह चारों ओर धन-सम्पत्ति की धारा बहाते थे। महादानी और महाधनी होने के कारण वह बड़े बड़े गृहपतियों (=वैश्यों) से पूजित थे[3]।

वह स्वभाव से ही धर्मात्मा और विद्या आदि गुणों से विभूषित थे। अतः प्रायः सभी लोगों के एकमात्र आदर के पात्र हो गये थे ॥ १ ॥

एक बार किसी कार्य से उस महापुरुष के राजकुल में जानेपर उसकी सास अपनी बेटी को देखने के लिए उसके घर आई। स्वागत-सत्कार होनेपर बातचीत के प्रसंग में उसने अपनी पुत्री बोधिसत्त्व की भार्या से एकान्त में कुशल-प्रश्न करते हुए पूछा—"हे तात, क्या स्वामी तेरा अपमान तो नहीं करते हैं? वे तेरी सेवा-शुश्रूषा का आदर तो करते हैं[4]? या दुःशील (=दुराचारी) होकर तुझे दुःख तो नहीं देते हैं?" (यह सुनकर) उसने लज्जा से शिर झुका लिया और शालीनतापूर्वक धीरे-धीरे कहा—"इनके-जैसा शीलवान् और सदाचारी तो प्रव्रजित (भिक्षु) भी दुर्लभ है। अब (दूसरा) कौन है उनके समान?" बुढ़ापे के कारण उसकी माता की सुनने और समझने की शक्ति क्षीण हो गई थी; अतः अपनी बेटी के द्वारा लज्जा से संक्षेप में कहे गये (अस्पष्ट) वचन को ठीक ठीक न समझ सकी। "प्रव्रजित" शब्द सुनकर उसने निश्चय कर लिया कि "मेरा जामाता प्रव्रजित हो गया।" अपनी बेटी के लिए शोक करती हुई वह जोर जोर से रोने लगी, दुःख के आवेग से विलाप करने लगी—"कैसा है उसका शील और सदाचार जो इतने अनुरक्त अपने परिवार को छोड़कर प्रव्रजित हो गया? या उसकी इस प्रव्रज्या से क्या? सुख में पले हुए, राजा के प्रिय उस रूपवान् सुकुमार तरुण की रुचि वन-वास (=संन्यास) में क्यों हुई? ॥ २ ॥

स्वजनादनवाप्य विप्रियं जरया वोपहृतां विरूपताम् ।
कथमेकपदे रुजं विना विभवोद्गारि गृहं स मुक्तवान् ॥ ३ ॥

विनयाभरणेन धीमता प्रियधर्मेण परानुकम्पिना ।
कथमभ्युपपन्नमीदृशं स्वजने निष्करुणत्वचापलम् ॥ ४ ॥

श्रमणद्विजमित्रसंश्रितान्स्वजनं दीनजनं च मानयन् ।
शुचिशीलधनः किमाप्नुयान्न स गेहेषु वने यदीप्सति ॥ ५ ॥

अपराधविवर्जितां त्यजन्ननुकूलां सहधर्मचारिणीम् ।
अतिधर्मपरः स नेक्षते किमिमं धर्मपथव्यतिक्रमम् ॥ ६ ॥

धिगहो बत दैवदुर्नयाद्यदि भक्तं जनमेवमुज्झताम् ।
न घृणापथमेति मानसं यदि वा धर्मलवोऽपि सिध्यति ॥ ७ ॥

अथ सा बोधिसत्त्वस्य पत्नी तेन मातुः करुणेनाकृतकेन परिदेवितेन पतिप्रव्रज्याभिसंबन्धेन स्त्रीस्वभावाद् व्यथितहृदया ससंभ्रमा विषादविक्लवमुखी शोकदुःखाभिनिपातसंक्षोभाद्विस्मृतकथाप्रस्तावसंबन्धा प्रव्रजितो मे भर्तेति मद्व्यवस्थापनार्थमम्बा गृहमिदमभिगता विप्रियश्रवणाद्विति निश्चयमुपेत्य सपरिदेवितं सस्वरं रुदती मोहमुपजगाम बाला ॥ तदुपश्रुत्य गृहजनः परिजनवर्गश्च शोकदुःखावेगादाक्रन्दनं चकार । तच्छ्रुत्वा प्रातिवेश्यमित्रस्वजनबन्धुवर्गः संश्रितजनो ब्राह्मणगृहपतयश्च तस्य गृहपतेरनुरागवशानुगाः प्रायशश्च पौरास्तद्गृहमभिजग्मुः ।

प्रायेण लोकस्य बभूव यस्मात्तुल्यक्रमोऽसौ सुखदुःखयोगे ।
अतोऽस्य लोकोऽप्यनुशिक्षयेव तुल्यक्रमोऽभूत्सुखदुःखयोगे ॥ ८ ॥

अथ बोधिसत्त्वो राजकुलात् स्वभवनसमीपमुपगतः साक्रन्दशब्दं स्वभवनमवेत्य महतश्च जनकायस्य संनिपातं स्वं पुरुषमन्वादिदेश ज्ञायतां किमेतदिति । स तं वृत्तान्तमुपलभ्य समुपेत्यास्मै निवेदयामास—

उत्सृज्य भवनं स्फीतमार्यः प्रव्रजितः किल ।
इति श्रुत्वा कुतोऽप्येष स्नेहादेवंगतो जनः ॥ ९ ॥

अथ स महासत्त्वः प्रकृत्या शुद्धाशयः प्रत्यादिष्ट इव तेन वचसा समुपजातव्रीडसंवेगश्चिन्तामापेदे । भद्रा बत मयि जनस्य संभावना ।

श्लाघनीयामवाप्यैतां गुणसंभावनां जनात् ।
गृहाभिमुख एव स्यां यदि किं मम पौरुषम् ॥ १० ॥

स्वजन से कोई कष्ट या बुढ़ापे की कुरूपता पाये बिना ही, एकाएक अनायास[1] ही उसने अपने वैभवपूर्ण घर को क्यों छोड़ दिया ? ॥ ३ ॥

विनय से विभूषित बुद्धिमान् धर्म-प्रिय और दूसरोंपर दया करनेवाले उसने अपने स्वजन के प्रति ऐसी निर्दयतारूपी चपलता (=ऐसा कठोर आचरण) क्यों की ? ॥ ४ ॥

साधुओं ब्राह्मणों मित्रों आश्रितों स्वजनों और दीन-दुःखियों का आदर करनेवाले एवं पवित्र शील को ही धन समझनेवाले उसके लिए ऐसी कौन-सी चीज है, जिसे वह जंगल में खोजे और घर में न पाये ? ॥ ५ ॥

अपनी निरपराध और अनुकूल धर्म-पत्नी का परित्याग करने में क्या वह धर्मात्मा इस धर्म-उल्लंघन को नहीं देख रहा है ? ॥ ६ ॥

अहो, धिक्कार है ! दैव-दुर्नीति के कारण यदि ऐसे अनुरक्त परिवार को छोड़नेवालों के मन में दया नहीं होती है या यदि उन्हें थोड़ा-सा भी धर्म प्राप्त होता है" ॥ ७ ॥

अपने पति की प्रव्रज्या के सम्बन्ध में अपनी माता के उस करुण और अकृत्रिम विलाप को सुनकर स्त्री-स्वभाव के कारण बोधिसत्त्व की पत्नी के हृदय में व्यथा और घबड़ाहट हुई। विषाद से उसका मुख विकल था। शोक और दुःख के क्षोभ से वह बातचीत के प्रसंग को भूल गई। "मेरे पति प्रव्रजित हो गये, इस अप्रिय समाचार को सुनकर मेरी माता मुझे सात्वना देने के लिए यहाँ आई हैं" यह निश्चय कर वह लड़की उच्च स्वर से रोती-विलपती मूर्छित हो गई। यह जानकर घर के दूसरे लोग तथा नौकर-चाकर शोक और दुःख के आवेग से रोने लगे। यह सुनकर उस गृहपति (=बोधिसत्त्व) के प्रेम के वशीभूत पड़ोसी मित्र स्वजन बन्धु-बान्धव आश्रित ब्राह्मण और गृहपति—प्रायः समस्त पुर-वासी—उस घर में आ गये।

वह प्रायः लोगों के सुख-दुःख में समान रूप से सुखी और दुःखी होते थे; इसलिए लोग भी, मानो उनसे यह शिक्षा पाकर, उनके सुख-दुःख में सहानुभूति रखते थे ॥ ८ ॥

जब बोधिसत्त्व राज-कुल से लौटकर अपने घर के समीप पहुँचे तो अपने घर में रोने-पीटने का शब्द और लोगों की बड़ी भीड़ एकत्रित जानकर उन्होंने अपने अनुचर को आदेश दिया—"पता लगाओ कि क्या बात है"। वह उस वृत्तान्त को जानकर और उनके समीप लौटकर बोला—

"आर्य अपने विशाल (वैभवपूर्ण) घर को छोड़कर प्रव्रजित हो गये हैं, कहीं से यह (किंवदन्ती) सुनकर स्नेह-वश लोगों की ऐसी अवस्था हो गई है[2]" ॥ ९ ॥

स्वभाव से ही शुद्धचित्त उस महापुरुष ने इस वचन को सुनकर अपमान जैसा अनुभव किया। लज्जित और विरक्त होकर वे सोचने लगे—"मेरे प्रति लोगों की उत्तम श्रद्धा है।

अपने गुणों के सम्बन्ध में लोगों की इस उत्तम श्रद्धा (प्रशंसा, सम्मति) को प्राप्त कर यदि मैं घर की ओर ही जाऊँ तो इसमें मेरा क्या पौरुष होगा ? ॥ १० ॥

स्याद्दोषभक्तिः प्रथिता मयैवं गुणेष्ववज्ञाविरसा च वृत्तिः।
यायामतः साधुजने लघुत्वं किं जीवितं स्याच्च तथाविधस्य ॥ ११ ॥

संभावनाभस्य जनस्य तस्मात्क्रियागुणेन प्रतिपूजयामि।
असत्परिक्लेशमयं विमुञ्चँस्तपोवनप्रेमगुणेन गेहम् ॥ १२ ॥

इति विचिन्त्य स महात्मा तत एव प्रतिनिवृत्य राज्ञः प्रतिहारयामास श्रेष्ठी पुनर्द्रष्टुमिच्छति देवमिति। कृताभ्यनुज्ञश्च प्रविश्य यथोपचारं राजसमीपमुपजगाम। किमिदमिति च राज्ञा पर्यनुयुक्तोऽब्रवीत्—इच्छामि प्रव्रजितुं तदभ्यनुज्ञातुमर्हति मां देव इति ॥

अथैनं स राजा ससंभ्रमावेगः स्नेहादित्युवाच—

मयि स्थिते बन्धुसुहृद्विशिष्टे त्वं केन दुःखेन वनं प्रयासि।
यन्नापहर्तुं प्रभुता मम स्याद्धनेन नीत्या बलसंपदा वा ॥ १३ ॥

अर्थो धनैर्यदि गृहाण धनानि मत्तः
पीडा कुतश्चिदथ तां प्रतिषेधयामि।
मां याचमानमिति बन्धुजनं च हित्वा
किं वा त्वमन्यदभिवीक्ष्य वनं प्रयासि ॥ १४ ॥

इति स महात्मा सस्नेहबहुमानमभिहितो राज्ञा सानुनयमेनमुवाच—

पीडा कुतस्त्वद्भुजसंश्रितानां धनोदयावेक्षणदीनता वा।
अतो न दुःखेन वनं प्रयामि यमर्थमुद्दिश्य तु तं निबोध ॥ १५ ॥

दीक्षामुपाश्रित इति प्रथितोऽस्मि देव
शोकाश्रुदुर्दिनमुखेन महाजनेन।
इच्छामि तेन विजनेषु वनेषु वस्तुं
श्रद्धेयतामुपगतोऽस्मि गुणाभिपत्तौ ॥ १६ ॥

राजोवाच—नार्हति भवाञ्जनप्रवादमात्रकेणास्मान् परित्यक्तुम्। नहि भवद्विधानां जनप्रवादसंपादनाभिराध्या गुणविभूतिस्तदसंपादनविराध्या वा।

स्वेच्छाविकल्पप्रथिताश्च तास्ता निरङ्कुशा लोककथा भ्रमन्ति।
कुर्वीत यस्ता हृदयेऽपि तावत्स्यात्सोऽपहास्यः किमुत प्रपत्ता ॥ १७ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—मा मैवं महाराज। नहि कल्याणो जनप्रवादो नानुविधेयः। पश्यतु देवः,

इससे तो दोषों के प्रति मेरी आसक्ति समझी जायगी और गुणों की अवहेलना से मेरा आचरण नीरस (बुरा) समझा जायगा। इससे सज्जनों के बीच मेरा लाघव होगा। उस अवस्था में क्या मैं जीवित भी रह सकूँगा ? ॥ ११ ॥

इसलिए लोगों की इस उत्तम श्रद्धा (=प्रशंसा, सम्मति) को कार्य में परिणत कर सम्मानित करूँगा। तपोवन की अभिलाषा से बुराइयों और क्लेशों से परिपूर्ण घर को छोड़ूँगा" ॥ १२ ॥

ऐसा सोचकर वह महात्मा वहीं से लौट गये और राजा को कहलवाया—"श्रेष्ठी (=कोषाध्यक्ष) पुनः देव का दर्शन करना चाहते हैं।" आज्ञा पाकर उन्होंने भीतर प्रवेश किया और शिष्टाचार के साथ राजा के समीप पहुँचे। "यह क्या ?" इस प्रकार राजा द्वारा पूछे जाने पर वे बोले—"मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ। देव मुझे इसकी आज्ञा दें।" तब राजा ने घबराहट और आवेग में आकर उनसे स्नेहपूर्वक कहा—

"मुझ विशिष्ट बन्धु और मित्र के रहते आप किस दुःख से जंगल में जा रहे हैं, जिस (दुःख) को मेरी प्रभुता धन, नीति या बल द्वारा दूर नहीं कर सकती ? ॥ १३ ॥

यदि धन से प्रयोजन है तो मुझसे धन लें। यदि आपको कोई पीड़ा है, तो मैं इसका निवारण करूँगा। प्रार्थना करते हुए स्वजन और मुझको छोड़ आप किस दूसरी चीज को देख जंगल में जा रहे हैं ?" ॥ १४ ॥

इस प्रकार राजा द्वारा सस्नेह और सादर पूछे जानेपर उस महात्मा ने अनुनयपूर्वक उत्तर दिया—

"आपकी भुजाओं के आश्रय में रहनेवालों को कोई पीड़ा या निर्धनता का कष्ट कहाँ से हो सकता है ? अतः मैं दुःख से वन नहीं जा रहा हूँ, किन्तु जिस उद्देश्य से जा रहा हूँ उसे सुनिये ॥ १५ ॥

मैंने दीक्षा ले ली है, ऐसी प्रसिद्धि हो गई है, जिस कारण जन-समूह दुःख से आँसू बहा रहा है। अतः मैं विजन वन में निवास करना चाहता हूँ; मैंने गुण प्राप्त किया है (=धर्म का आश्रय लिया है), मेरे प्रति लोगों की ऐसी श्रद्धा हो गई है" ॥ १६ ॥

राजा ने कहा—"आप केवल जन-प्रवाद (=किंवदन्ती) को सुनकर हमें नहीं छोड़ सकते। आपके-से व्यक्ति जन-प्रवाद को संपादन करके (=कार्य में परिणत कर) गुण-विभूति प्राप्त कर सकते हैं, या उसे संपादन नहीं करके गुण-सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं—ऐसा नहीं हो सकता।

स्वेच्छा से कल्पित (मन-गढन्त) लोक-कथाओं (=किंवदन्तियों) का अनियन्त्रित प्रचार होता है। जो कोई उन्हें हृदय में भी स्थान देगा वह उपहास का पात्र है, फिर उन्हें कार्य में परिणत करनेवालों का क्या कहना ?" ॥ १७ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"नहीं, महाराज, ऐसा नहीं। कल्याणकारी जनप्रवाद का अनुसरण करना ही चाहिए। देव, देखें।

कल्याणधर्मेति यदा नरेन्द्र संभावनामेति मनुष्यधर्मा।
तस्या न हीयेत नरः सधर्मा ह्रियापि तावद्धुरमुद्वहेत्ताम् ॥ १८ ॥

संभावनायां गुणभावनायां संदृश्यमानो हि यथा तथा वा।
विशेषतो भाति यशःप्रसिद्ध्या स्यात्त्वन्यथा शुष्क इवोदपानः ॥ १९ ॥

गुणप्रवादैरयथार्थवृद्धैर्विमर्शपाताकुलितैः पतद्भिः।
विचूर्णिता कीर्तितनुर्नराणां दुःखेन शक्नोति पुनः प्रसर्तुम् ॥ २० ॥

तद्वर्जनीयान्परिवर्जयन्तं परिग्रहान्विग्रहहेतुभूतान्।
क्रोधोच्छिरस्कानिव कृष्णसर्पान्युक्तोऽसि मां देव न संनिपेद्धुम् ॥ २१ ॥

स्नेहेन भक्तिज्ञतया च कामं युक्तो विधिर्भृत्यजने तवायम्।
वित्तेन तु प्रव्रजितस्य किं मे परिग्रहक्लेशपरिग्रहेण ॥ २२ ॥

इत्यनुनीय स महात्मा तं राजानं कृताभ्यनुज्ञस्तेन तत एव वनाय प्रतस्थे ॥ अथैनं सुहृदो ज्ञातयः संश्रिताश्चाभिगम्य शोकाश्रुपरिप्लुतनयनाः पादयोः संपरिष्वज्य निवारयितुमीषुः। केचिदञ्जलिप्रग्रहपुरःसरं मार्गमस्यावृत्य समवातिष्ठन्त। सपरिष्वङ्गसंगतानुनयमपरे गृहाभिमुखमेनं नेतुमीषुः। यत्किञ्चनकारिताक्षेपकर्कशाक्षरमन्ये प्रणयादेनमूचुः। मित्रस्वजनापेक्षाकारुण्यप्रदर्शनमपरेऽस्य प्रचक्रुः। गृहाश्रम एव पुण्यतम इत्येवमन्ये श्रुतियुक्तिसंग्रथितं ग्राहयितुमीहांचक्रिरे। तपोवनवासदुःखतासंकीर्तनैः कार्यशेषपरिसमाप्त्यायाच्ञया परलोकफलसंदेहकथाभिस्तैस्तैश्च वार्त्ताविशेषैर्निवर्तयितुमेनं व्यायच्छन्त ॥ तस्य तान् प्रव्रज्याश्रयविमुखान् वनगमननिवारणधीरमुखान् नयनजलार्द्रमुखान् सुहृदोऽभिवीक्ष्य व्यक्तमिति चिन्ता बभूव।

सुहृत्प्रतिज्ञैः सुहृदि प्रमत्ते न्याय्यं हितं रूक्षमपि प्रयोक्तुम्।
रूढः सतामेष हि धर्ममार्गः प्रागेव रुच्यं च हितं च यत्स्यात् ॥ २३ ॥

वनाद् गृहं श्रेय इदं त्वमीषां स्वस्थेषु चित्तेषु कथं नु रूढम्।
यन्निर्विशङ्का वनसंश्रयान्मां पापप्रसङ्गादिव वारयन्ति ॥ २४ ॥

मृतो मरिष्यन्नपि वा मनुष्यश्च्युतश्च धर्मादिति रोदितव्यम्।
कया नु बुद्ध्या वनवासकामं मामेव जीवन्तममी रुदन्ति ॥ २५ ॥

"हे राजन्, जब मनुष्य कल्याणधर्मा (=उत्तम धर्म वाला) कहकर सम्मानित किया जाय तो वह उस (धर्म) से वञ्चित न हो। लज्जा से भी वह उस भार को सँभाले ॥ १८ ॥

गुणों की प्रशंसा से सम्मानित होने पर जो कोई वैसा आचरण करता हुआ देखा जाता है वह अपनी कीर्ति के फैलने से खूब शोभित होता है; किन्तु अन्यथा (आचरण करने वाला) वह सूखे कुएँ के समान है ॥ १९ ॥

जब गुणों के अयथार्थ जन-प्रवाद बढ़ते हैं और वे विचार के प्रहारों से आकुल होकर गिर पड़ते हैं (बढ़ने नहीं पाते हैं) तब मनुष्यों की कीर्ति चूर्ण हो जाती है और वह (कीर्ति) फिर कठिनाई से ही फैल सकती है ॥ २० ॥

विग्रह (=कलह और अमङ्गल) के हेतुरूप परिग्रह (=धन-जन) क्रोध से शिर उठाये हुए कृष्ण सर्पों के समान त्याज्य हैं। उन्हें त्यागने में, हे देव, आपको मुझे रोकना उचित नहीं है ॥ २१ ॥

स्वामि-भक्त भृत्यों के प्रति स्नेह और कृतज्ञता प्रकट करने का आपका यह तरीका उचित ही है; किन्तु बन्धन के दुःख से युक्त धन से मुझ प्रव्रजित को क्या प्रयोजन" ? ॥ २२ ॥

इस प्रकार अनुनय-विनय कर उस महात्मा ने राजा से आज्ञा प्राप्त की और वहीं से जंगल के लिए प्रस्थान कर दिया। तब उनके मित्रों बन्धु-बान्धवों और आश्रितों ने समीप जाकर शोक के आँसू बहाते हुए, उनके पैर पकड़कर उन्हें रोकना चाहा। कुछ लोग हाथ जोड़े उनका रास्ता रोककर खड़े रहे। दूसरों ने आलिङ्गन के साथ साथ अनुनय करते हुए उन्हें घर की ओर ले जाना चाहा। दूसरों ने जिस किसी कारण से उन्हें फटकारते हुए प्रेमपूर्वक कठोर वचन कहे। मित्रों और स्वजन-वर्गपर दया दिखलावें, इसके लिए दूसरों ने चेष्टा की। गृहस्थाश्रम ही सबसे पवित्र है, इस प्रकार दूसरों ने शास्त्र और युक्ति द्वारा उन्हें समझाना चाहा। वन-वास के दुःखों का वर्णन करते हुए, कार्य-शेष समाप्त करनेके लिए प्रार्थना करते हुए, परलोक-फल (के संबन्ध) में सन्देह प्रकट करते हुए और भाँति-भाँति की बातें कहकर उन्हें लौटाने की कोशिश की। अपने उन मित्रों को संन्यास ग्रहण करने (के विषय) में असहमत, तपोवन की यात्रा से रोकने में दृढ़संकल्प तथा अश्रु-जल से आर्द्रमुख देखकर उन्हें अवश्य ही यह चिन्ता हुई—

"मित्र के उन्मत्त (=पथ-भ्रष्ट) होनेपर (मित्रता का दावा करनेवाले) मित्रों को न्यायोचित और हित की बात, रूखी होनेपर भी, कहनी ही चाहिए, यही तो सज्जनों का प्रचलित धर्म-मार्ग (=कर्तव्य) है, फिर जो (उपदेश) हितकर भी हो और प्रिय भी उसका क्या कहना ? ॥ २३ ॥

जंगल से घर ही श्रेयस्कर है, यह भाव इनके स्वस्थ चित्तों में कैसे उत्पन्न हुआ, जो ये निर्भय होकर मुझे जंगल में जाने से ऐसे रोक रहे हैं जैसे पाप में पड़ने से ? ॥ २४ ॥

जो मनुष्य मर चुका हो या मर रहा हो या धर्म से च्युत हुआ हो उसके लिए रोना उचित है; किन्तु ये किस बुद्धि (=दृष्टिकोण) से तपोवन के अभिलाषी मुझ जीवित व्यक्ति के लिए रो रहे हैं ? ॥ २५ ॥

मद्विप्रयोगस्त्वथ शोकहेतुर्मया समं किं न वने वसन्ति ।
गेहानि चेत्कान्ततराणि मत्तः को न्वादरो बाष्पपरिव्ययेन ॥ २६ ॥

अथ त्विदानीं स्वजनानुरागः करोति नैषां तपसेऽभ्यनुज्ञाम् ।
सामर्थ्यमासीत्कथमस्य नैव व्यूढेष्वनीकेष्वपि तत्र तत्र ॥ २७ ॥

दृष्टावदानो व्यसनोदयेषु बाष्पोद्गमान्मूर्त इवोपलब्धः ।
संरूढमूलोऽपि सुहृत्स्वभावः शाठ्यं प्रयात्यत्र विनानुवृत्त्या ॥ २८ ॥

निवारणार्थानि सगद्गदानि वाक्यानि साश्रूणि च लोचनानि ।
प्रणामलोलानि शिरांसि चैषां मानं समानस्य यथा करोति ॥ २९ ॥

स्नेहस्तथैवार्हति कर्तुमेषां श्लाघ्यामनुप्रव्रजनेऽपि बुद्धिम् ।
मा भून्नटानामिव वृत्तमेतद् व्रीडाकरं सज्जनमानसानाम् ॥ ३० ॥

द्वित्राणि मित्राणि भवन्त्यवश्यमापद्गतस्यापि सुनिर्गुणस्य ।
सहाय एकोऽप्यतिदुर्लभस्तु गुणोदितस्यापि वनप्रयाणे ॥ ३१ ॥

ये मे हरन्ति स्म पुरःसरत्वं रणेषु मत्तद्विपसंकटेषु ।
नानुव्रजन्त्यद्य वनाय ते मां किंस्वित्स एवास्मि त एव चेमे ॥ ३२ ॥

स्मरामि नैषां विगुणं प्रयातुं स्नेहस्य यत्संक्षयकारणं स्यात् ।
सुहृज्जनस्यैवमियं स्थितिर्मे कच्चिद्भवेत्स्वस्तिनिमित्ततोऽस्मात् ॥ ३३ ॥

ममैव वा निर्गुणभाव एष नानुव्रजन्त्यद्य वनाय यन्माम् ।
गुणावबद्धानि हि मानसानि कस्यास्ति विश्लेषयितुं प्रभुत्वम् ॥ ३४ ॥

ये वा प्रकाशानपि गेहदोषान्गुणान्न पश्यन्ति तपोवने वा ।
निमीलितज्ञानविलोचनांस्तान्किमन्यथाहं परितर्कयामि ॥ ३५ ॥

परत्र चैवेह च दुःखहेतून्कामान्विहातुं न समुत्सहन्ते ।
तपोवनं तद्विपरीतमेते त्यजन्ति मां चाद्य धिगस्तु मोहम् ॥ ३६ ॥

यैर्विप्रलब्धाः सुहृदो ममैते न यान्ति शान्तिं निखिलाश्च लोकाः ।
तपोवनोपार्जितसत्प्रभावस्तानेव दोषान्प्रसमं निहन्मि ॥ ३७ ॥

इति स परिगणय्य निश्चितात्मा प्रणयमयानि सुहृद्विचेष्टितानि ।
अनुनयमधुराक्षरैर्वचोभिर्विशदमपास्य तपोवनं जगाम ॥ ३८ ॥

यदि मेरा वियोग शोक का कारण है तो ये मेरे साथ ही जंगल में जाकर क्यों नहीं रहते हैं ? यदि इन्हें मुझसे बढ़कर घर ही अच्छे लगते हैं तो आँसू बहाकर यह कैसा आदर करना है ? ॥ २६ ॥

यदि स्वजन-अनुराग (=परिवार की आसक्ति) इन्हें तपस्या से रोक रहा है तो वह (स्वजन-अनुराग) उन सैन्य-व्यूहों (में प्रवेश करने) से इन्हें रोकने में समर्थ क्यों नहीं हुआ ? ॥ २७ ॥

विपत्तियों के आनेपर जिस मित्रता का पराक्रम मैंने देखा है वह इनके आँसुओं में मानों साकार खड़ी है, किन्तु वह (बहुत दिनों की) बद्धमूल मित्रता (आज) अनुकूल (सहायक) नहीं होने के कारण शठता (में परिणत) हो रही है ॥ २८ ॥

जिस प्रकार स्वजन के प्रति सम्मान-भाव के कारण ये मुझे रोकने के लिए गद्‌गद् वचन कह रहे हैं, आँखों से आँसू बहा रहे हैं और शिर झुकाकर प्रणाम कर रहे हैं; उसी प्रकार स्नेह-भाव के कारण इन्हें मेरे पीछे प्रव्रजित होने की सद्‌बुद्धि प्राप्त हो, जिससे इनका यह आचरण नाटक के पात्रों का सा (बनावटी साबित होकर) सज्जनों के लिए लज्जा-जनक न हो ॥ २९-३० ॥

विपत्ति में पड़नेपर गुण-हीन व्यक्ति के भी दो-तीन मित्र हो ही जाते हैं; किन्तु तपोवन (में जाने) के लिए गुणवान् व्यक्ति को भी एक भी साथी मिलना कठिन है ॥ ३१ ॥

मतवाले हाथियों से भरी हुई युद्ध-भूमियों में जो (निर्भय होकर) मेरे आगे आगे चलते थे वे आज वन (में जाने) के लिए मेरे पीछे पीछे नहीं चल रहे हैं। क्या मैं वही हूँ और ये वही हैं ? ॥ ३२ ॥

मुझे स्मरण नहीं हो रहा है कि मैंने इनकी कोई बुराई की है, जिससे कि इनका स्नेह क्षीण हो। अतः शायद किसी शुभ उद्देश्य से मेरे मित्रों की यह स्थिति हुई है ॥ ३३ ॥

या यह मेरी ही गुण-हीनता है कि ये आज वन (में जाने) के लिए मेरा साथ नहीं दे रहे हैं; क्योंकि गुणों से बँधे हुए चित्त को भला कौन बिलगा सकता है ? ॥ ३४ ॥

जो घर के प्रत्यक्ष दोषों को या तपोवन के गुणों को नहीं देख सकते हैं उनके ज्ञान-नेत्र बन्द हैं। उनके बारे में मैं और क्या सोचूँ ? ॥ ३५ ॥

ये परलोक और इहलोक में दुःख के हेतु-रूप काम-भोगों को नहीं छोड़ सकते हैं और उसके विपरीत (=सुख के हेतुरूप) तपोवन को तथा मुझे छोड़ रहे हैं। अहो, धिक्कार है इस मूढ़ता को ॥ ३६ ॥

जिन दोषों के वशीभूत मेरे इन मित्रों तथा समस्त संसार को शान्ति नहीं मिल रही है, तपोवन में रहकर मैं वह उत्कृष्ट शक्ति प्राप्त करूँगा, जिससे उन दोषों का बलात् विनाश कर सकूँ" ॥ ३७ ॥

इस प्रकार सोचकर वह दृढनिश्चयी अनुनयपूर्वक मधुर वचन कहकर अपने मित्रों की स्नेहपूर्ण चेष्टाओं की उपेक्षा कर तपोवन चले गये ॥ ३८ ॥

तदेवमभूतगुणसंभावना प्रतोदसंचोदनेव भवति साधूनामिति गुणसंपादने प्रयतितव्यम् । यतो भिक्षुरित्युपासक इति गुणतः संभाव्यमानेन साधुना तद्भाव-साधुभिर्गुणैरभ्यलंकर्तव्य एवात्मा ॥ एवं दुर्लभा धर्मप्रतिपत्तिसहाया इत्येव-मप्युन्नेयम् ॥

इति श्रेष्ठि-जातकं विंशतितमम् ।

---

२१. चुड्डबोधि-जातकम्

क्रोधविनयाच्छत्रूनुपशमयति, वर्धयत्येव त्वन्यथा । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल महासत्त्वः कस्मिंश्चिन्महति ब्राह्मणकुले गुणाभ्यासमाहात्म्यादतिवृद्धयशसि प्रतिनियतसमृद्धिगुणे राजसत्कृते दैवतसंमते लोकस्य जन्म प्रतिलेभे । कालानामत्ययेनाभिवृद्धः कृतसंस्कारकर्मा श्रुतगुणाभ्यासादचिरेणैव विद्वत्सदस्सु प्रकाशनामा बभूव ।

कीर्तिर्विद्वत्सदस्स्वेव विदुषां प्रविजृम्भते ।
रत्नज्ञेष्विव रत्नानां शूराणां समरेष्विव ॥ १ ॥

अथ स महात्मा प्रव्रज्याकृतपरिचयत्वात्पूर्वजन्मसु स्वभ्यस्तधर्मसंज्ञत्वात्प्रज्ञा-वदातमतित्वाच्च न गेहे रतिमुपलेभे । स कामान् विग्रहविवादमदवैरस्यप्राचुर्या-द्राजचौरोदकदहनविप्रियदायादसाधारणत्वादतृप्तिजनकत्वादनेकदोषायतनत्वाच्च सविषमिवान्नमात्मकामः परित्यज्य संहृतकेशश्मश्रुशोभः काषायविवर्णवासाः परित्यक्तगृहवेषविभ्रमः प्रव्रज्याविनयनियमश्रियमशिश्रियत् । तदनुरागवशगा चास्य पत्नी केशानवतार्याहार्यविभूषणोद्वहननिर्व्यापारशरीरा स्वरूपगुणशोभा-विभूषिता काषायवस्त्रसंवीततनुरनुप्रवव्राज । अथ बोधिसत्त्वस्तपोवनानुगमन-व्यवसायमस्या विदित्वा तपोवनाध्यासनायोग्यतां च स्त्रीसौकुमार्यस्यावोचदे-नाम्—भद्रे दर्शितस्त्वयायमस्मदनुरागस्वभावः । तदलमस्मदनुगमनं प्रत्यनेन व्यवसायेन ते । यत्रैव त्वन्याः प्रव्रजिताः प्रतिवसन्ति तत्रभवत्यास्ताभिरेव सार्धं प्रतिरूपं वस्तुं स्यात् । दुरभिसंभवानि ह्यरण्यायतनानि । पश्य—

तब इस प्रकार (देखते हैं कि) गुण नहीं होनेपर भी यदि उसकी सम्भावना (प्रशंसा, प्रसिद्धि, श्रद्धा) की जाय तो इससे साधु-जनों को अंकुशकी सी प्रेरणा मिलती है। अतः गुण प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि "ये भिक्षु हैं, ये उपासक हैं" यह कहकर प्रशंसित और सम्मानित होनेपर सज्जन पुरुष को उस अवस्था (भिक्षु-भाव, उपासकपन) के योग्य गुणों से अपने को अलंकृत करना ही चाहिए। और धर्म का आश्रय लेने में साथियों का मिलना कठिन है, यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिए।

श्रेष्ठि-जातक बीसवाँ समाप्त।

---

२१. चुड्डबोधि-जातक

क्रोध को शान्त कर मनुष्य शत्रुओं को शान्त करता है, अन्यथा उन्हें बढ़ाता ही है। तब जैसी अनुश्रुति है--

एक बार बोधिसत्त्व महासत्त्व ने पृथ्वी के किसी महान् ब्राह्मण-वंश में जन्म लिया। वह वंश सद्गुणों के अभ्यास से अत्यन्त यशस्वी, समृद्धिशाली, राजा द्वारा सत्कृत तथा देवताओं का प्रिय था। काल-क्रम से बोधिसत्त्व बढ़ने लगे। उनके संस्कार किये गये। विद्या के अभ्यास से विद्वानों की सभाओं में उनका नाम विख्यात हुआ।

जैसे रत्न-परीक्षकों के द्वारा रत्नों की और युद्धों में वीरों की कीर्त्ति फैलती है, उसी प्रकार विद्वानों की सभाओं में ही विद्वानों की कीर्ति बढ़ती है ॥ १ ॥

उस महात्मा ने प्रव्रज्या (संन्यास) से परिचय प्राप्त कर लिया था, पूर्व-जन्मों में धर्माचरण किया था, प्रज्ञा से उनकी बुद्धि निर्मल हो गई थी; अतः घर में आनन्द नहीं पाया। जहाँ काम-भोग (धन-सम्पत्ति) रहते हैं, वहाँ लड़ाई-झगड़ा अभिमान और कटुता प्रायः होती ही रहती है, राजा चोर जल अग्नि और अप्रिय दायाद का डर रहता है। वे (भोग) अतृप्तिकर और अनेक दोषों के घर हैं। यह समझकर, जैसे अपनी रक्षा चाहने वाला आदमी विष-मिश्रित अन्न को छोड़ देता है, वैसे ही उन्होंने काम-भोगों को छोड़ दिया। बालों और दाढ़ी-मूँछ की शोभा हटाकर गेरुआ रंग का मटमैला कपड़ा पहना, तथा सुन्दर गृहस्थ-वेष छोड़कर प्रव्रज्या (संन्यास) के विनय-नियम से होनेवाली शोभा को धारण किया। उनसे अनुराग करने वाली उनकी पत्नी अपने केशों को उतारकर, कृत्रिम आभूषणों के ढोने के भार से अपने शरीर को मुक्तकर, अपने स्वाभाविक सौन्दर्य और सद्गुणों की शोभा से विभूषित होकर काषाय वस्त्र से शरीर को ढक कर उनके पीछे प्रव्रजित हुई।

उसने मेरे पीछे तपोवन चलने का निश्चय किया है और सुकुमारी स्त्री तपोवन में रहने के योग्य नहीं है, यह जानकर बोधिसत्त्व ने उससे कहा—

"भद्रे, तुमने मेरे प्रति यह सच्चा प्रेम प्रकट किया है। किन्तु मेरे पीछे चलने का निश्चय छोड़ो। जहाँ दूसरी प्रव्रजित स्त्रियाँ रहती हैं वहाँ उन्हीं के साथ तुम्हारा रहना उचित होगा। जंगल के स्थान रहने के योग्य नहीं हैं। देखो—

श्मशानशून्यालयपर्वतेषु वनेषु च व्यालमृगाकुलेषु ।
निकेतहीना यतयो वसन्ति यत्रैव चास्तं रविरभ्युपैति ॥ २ ॥

ध्यानोद्यमादेकचराश्च नित्यं स्त्रीदर्शनादप्यपवृत्तभावाः ।
निवर्तितुं तेन मतिं कुरुष्व कोऽर्थस्तवानेन परिश्रमेण ॥ ३ ॥

सा नियतमेनमनुगमनकृतनिश्चया बाष्पोपरुध्यमाननयना किंचिदीदृशं प्रत्युवाच—

यदि मे श्रमबुद्धिः स्यात्तवानुगमनोत्सवे ।
किमित्येवं प्रपद्येय दुःखं तव च विप्रियम् ॥ ४ ॥

यत्तु नैव समर्थास्मि वर्तितुं रहिता त्वया ।
इत्याज्ञातिक्रममिमं त्वं मम क्षन्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

इति सा द्विस्त्रिरप्युच्यमाना यदा नेच्छति स्म निवर्तितुम्, ततो बोधिसत्त्व उपेक्षानिभृतमतिरस्यां बभूव ॥

स तयानुगम्यमानश्चक्रवाक इव चक्रवाक्या ग्रामनगरनिगमाननुविचरन् कदाचित्कृतभक्तकृत्यः कस्मिंश्चित्प्रविविक्ते श्रीमति नानातरुगहनोपशोभिते घनप्रच्छाये कृतोपकार इव क्वचित्क्वचिद्दिनकरकिरणचन्द्रकैर्नानाकुसुमरजोऽवकीर्णधरणीतले शुचौ वनोद्देशे ध्यानविधिमनुष्ठाय सायाह्नसमये व्युत्थाय समाधेः पांसुकूलानि सीव्यति स्म । सापि प्रव्रजिता तस्यैव नातिदूरे वृक्षमूलमुपशोभयमाना देवतेव स्वेन वपुषः प्रभावेण विराजमाना तदुपदिष्टेन मनस्कारविधिना ध्यायति स्म ॥

अथ तत्रत्यो राजा वसन्तकालजनिताभ्यधिककिसलयशोभानि भ्रमद्भ्रमरमधुकरीगणोपकूजितानि प्रमत्तकोकिलकुलकिलकिलानि प्रहसितकमलकुवलयालंकृताभिलषणीयजलाशयानि विविधकुसुमसंमोदगन्धाधिवासितसुखपवनान्युपवनानि समनुविचरंस्तं देशमुपजगाम ।

विचित्रपुष्पस्तबकोज्ज्वलानि कृतच्छदानीव वसन्तलक्ष्म्या ।
वाचालपुंस्कोकिलबर्हिणानि सरोरुहाकीर्णजलाशयानि ॥ ६ ॥

समुद्भवत्कोमलशाद्वलानि वनानि मत्तभ्रमरारुतानि ।
आक्रीडभूतानि मनोभवस्य द्रष्टुं भवत्येव मनःप्रहर्षः ॥ ७ ॥

अथ स राजा सविनयमभिगम्य बोधिसत्त्वं कृतप्रतिसंमोदनकथस्तत्रैकान्ते न्यषीदत् । स तां प्रव्रजितामतिमनोहरदर्शनामभिवीक्ष्य तस्या रूपशोभया समाक्षिप्यमाणहृदयो नूनमस्येयं सहधर्मचारिणीत्यवेत्य लोलस्वभावत्वात्तदपहरणोपायं विममर्श ।

श्मशान शून्य गृह पर्वत और हिंसक पशुओं से भरे हुए वन में गृह-विहीन तपस्वी रहते हैं, वहीं उन्हें सूर्यास्त होता है ॥ २ ॥

वे ध्यान-परायण सर्वदा एकांतसेवी होते हैं, स्त्रियों को देखना भी नहीं चाहते । अतः (इस निश्चय से) लौटने का विचार करो। तुम्हारे इस प्रकार भटकने से क्या प्रयोजन" ? ॥३॥

उसने उनके पीछे चलने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। अतः आँसुओं से रुँधती आँखों से उसने यह उत्तर दिया—

"यदि आपके पीछे चलने में मैं थकावट का विचार करती, तो मैं यह कष्ट क्यों उठाती और आपका अप्रिय क्यों करती ? ॥ ४ ॥

किन्तु मैं आपके विना नहीं रह सकती हूँ, इसलिए आप मेरे इस आज्ञा-उल्लंघन को क्षमा करें" ॥ ५ ॥

इस प्रकार दो-तीन बार कहे जाने पर भी जब उसने नहीं लौटना चाहा तब बोधिसत्त्व ने उपेक्षापूर्वक मौन सम्मति दी।

तब जैसे चक्रवाकी चक्रवाक के पीछे चलती है, वैसे ही वह उनके पीछे-पीछे चलने लगी। उसके साथ ग्रामों नगरों और निगमों में विचरण करते हुए, वह एक बार भोजन समाप्त कर किसी एकान्त, सुन्दर, विविध वृक्षों से सुशोभित, शीतल छाया से युक्त वनस्थली में, जो कहीं-कहीं सूर्य-किरण रूपी चन्द्रिका से सेवित हो रही थी और जिसकी भूमि विविध फूलों के पराग से व्याप्त थी, ध्यान करने लगे। अपराह्न-काल में ध्यान से उठकर चिथड़े सीने लगे। वह प्रव्रजिता भी उनसे कुछ ही दूर पर देवता के समान वृक्ष-मूल को सुशोभित करती हुई, अपने शरीर के तेज से चमकती हुई, उन्हीं के द्वारा बतलाई गई ध्यान-विधि से ध्यान करने लगी।

तब उस देश का राजा वसंतकाल में उत्पन्न अत्यधिक किसलयों से सुशोभित, भ्रमणशील मधुकर-मधुकरियों से कूजित, मत्त कोकिलों से मुखरित, खिले हुए कमलों और कुवलयों से अलंकृत मनोहर जलाशयों वाले, विविध फूलों की सुगन्धि से सुवासित सुखद पवन से सेवित उपवनों में विचरण करता हुआ उस स्थानपर पहुँचा।

चित्र-विचित्र फूलों के गुच्छों से उज्ज्वल, वसन्त ऋतु की शोभा से आवृत, मुखर कोकिलों और मयूरों से सुशोभित, कमलों से भरे हुए जलाशयों से युक्त, उत्पन्न होते हुए कोमल तृणों से आच्छादित, मत्त भ्रमरों से गुंजायमान, कामदेव के क्रीडा-स्थल स्वरूप उपवनों को देखकर मन में आनन्द होता ही है ॥ ६–७ ॥

तब राजा सविनय बोधिसत्त्व के पास जाकर, शिष्टाचार और कुशल-प्रश्न समाप्त कर, वहीं एक ओर बैठ गया। जब उसने उस अत्यन्त मनोहर रूप वाली प्रव्रजिता (संन्यासिनी) को देखा तो उसकी रूप-शोभा से उसका हृदय आकृष्ट हो गया। अवश्य ही यह इनकी सह-धर्मचारिणी है, यह समझ कर भी वह अपने चञ्चल स्वभाव के कारण उसे अपहरण करने का उपाय सोचने लगा।

श्रुतप्रभावः स तपोधनानां शापार्चिषः क्रोधहुताशनस्य ।
संक्षिप्तधैर्योऽपि मनोभवेन नास्मिन्नवज्ञारभसो बभूव ॥ ८ ॥

तस्य बुद्धिरभवत्—तपःप्रभावमस्य ज्ञात्वा शक्यमत्र तद्युक्तं प्रवर्तितुं नान्यथा । यद्ययमस्यां संरागवक्तव्यमतिर्व्यक्तमस्मिन्न तपःप्रभावोऽस्ति । अथ वीतरागः स्यान्मन्दापेक्षो वा, ततोऽस्मिन् संभाव्यं तपःप्रभावमाहात्म्यम् । इति विचिन्त्य स राजा तपःप्रभावजिज्ञासया बोधिसत्त्वं हितैषिवदुवाच—भोः प्रव्रजित, प्रचुरधूर्तसाहसिकपुरुषेऽस्मिंल्लोके न युक्तमत्रभवतो निराक्रन्देषु वनेष्वेवं प्रतिरूपयानया सहधर्मचारिण्या सह विचरितुम् । अस्यां हि ते कश्चिदपराध्यमानो नियतमस्मानप्युपक्रोशभाजनीकुर्यात् । पश्य

एवं विविक्तेषु तपःकृशं त्वां धर्मेण सार्धं परिभूय कश्चित् ।
इमां प्रसह्यापहरेद्यदा ते शोकात्परं किं बत तत्र कुर्याः ॥ ९ ॥

रोषप्रसङ्गो हि मनःप्रमाथी धर्मोपमर्दाद्यशसश्च हन्ता ।
वसत्वियं तेन जनान्त एव स्त्रीसंनिकर्षेण च किं यतीनाम् ॥ १० ॥

बोधिसत्त्व उवाच—युक्तमाह महाराजः । अपि तु श्रूयतां यदेवंगतेऽर्थे प्रपद्येय—

स्यादत्र मे यः प्रतिकूलवर्ती दर्पोद्भवादप्रतिसंख्यया वा ।
व्यक्तं न मुच्येत स जीवतो मे धाराघनस्येव घनस्य रेणुः ॥ ११ ॥

अथ स राजा तीव्रापेक्षोऽयमस्यां तपःप्रभावहीन इत्यवज्ञाय तं महासत्त्वं तदपायनिराशङ्कः कामरागवशगः स्त्रीसंदर्शनाधिकृतान् पुरुषान् समादिदेश—गच्छतैतां प्रव्रजितामन्तःपुरं प्रवेशयतेति । तदुपश्रुत्य सा प्रव्रजिता व्यालमृगाभिद्रुतेव वनमृगी भयविषादविक्लवमुखी बाष्पोपरुध्यमाननयना गद्गदायमानकण्ठी तत्तदार्तिवशाद्विललाप—

लोकस्य नामार्तिपराजितस्य परायणं भूमिपतिः पितेव ।
स एव यस्य त्वनयावहः स्यादाक्रन्दनं कस्य नु तेन कार्यम् ॥ १२ ॥

भ्रष्टाधिकारा बत लोकपाला न सन्ति वा मृत्युवशं गता वा ।
न त्रातुमार्तानिति ये सयत्ना धर्मोऽपि मन्ये श्रुतिमात्रमेव ॥ १३ ॥

किं वा सुरैर्मे भगवान् यदेवं मद्भागधेयैर्धृतमौन एव ।
परोऽपि तावन्ननु रक्षणीयः पापात्मभिर्विप्रतिकृष्यमाणः ॥ १४ ॥

नश्येति शापाशनिनाभिमृष्टः स्याद्यस्य शैलः स्मरणीयमूर्तिः ।
इत्थंगतायामपि तस्य मौनं तथापि जीवामि च मन्दभाग्या ॥ १५ ॥

उसने तपस्वियों की क्रोधाग्नि से उत्पन्न होने वाली शाप रूपी ज्वाला का प्रभाव सुना था; अतः कामदेव के द्वारा विचलितधैर्य होकर भी उसने उनकी अवज्ञा में शीघ्रता नहीं की ॥ ८ ॥

उसने सोचा—"इसकी तपस्या के प्रभाव को जानकर इस विषय में जो उचित होगा किया जायगा, अन्यथा नहीं। यदि इसके प्रति इसके मन में अनुराग होगा तो स्पष्ट है कि इसमें तपस्या का प्रभाव नहीं है। या यदि इसकी ओर से यह विरक्त या उदासीन होगा तो इसमें तपस्या का महान् प्रभाव है।" यह सोचकर, तप के प्रभाव को जानने की इच्छा से उस राजा ने बोधिसत्त्व से हितैषी के समान कहा—"हे परिव्राजक, धूर्तों और चोरों से भरे हुए इस संसार में इस इतनी रूपवती धर्मचारिणी के साथ नीरव वन में रहना आपके लिए उचित नहीं है। यदि इसके प्रति कोई धृष्टता करे तो इससे हमारी भी निन्दा होगी। देखिये—

यदि इस निर्जन स्थान में तपस्या से दुर्बल आपकी तथा धर्म की उपेक्षा कर कोई इसे बलात् अपहरण करे तो आप शोक के अतिरिक्त और क्या कीजियेगा? ॥ ९ ॥

क्रोध मन को क्षुब्ध करता है और धर्म में बाधा डालकर यश का विनाश करता है। अतः यह वहीं रहे जहाँ लोग रहते हैं। और स्त्रियों के सान्निध्य से संन्यासियों को क्या प्रयोजन?" ॥ १० ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"महाराज ने ठीक कहा। इस अवस्था में मैं जो करूँगा उसे सुनिये।

अभिमान या अज्ञान से जो यहाँ मेरे प्रतिकूल आचरण करेगा उसे मैं जीवित रहकर नहीं छोड़ूँगा, जैसे जल-धारा-वर्षी मेघ धूल को नहीं छोड़ता है" ॥ ११ ॥

यह इसमें अत्यन्त आसक्त है, तपस्या के प्रभाव से हीन है, इस प्रकार उस महासत्त्व की अवज्ञा कर, उसके (शाप आदि) अनिष्ट से निश्शङ्क होकर तथा काम-वासना के वशीभूत होकर, उस राजा ने स्त्रियों के अधिकारी पुरुषों को आदेश दिया—"जाओ, इस परिव्राजिका को अन्तःपुर के भीतर ले आओ।" यह सुनकर, हिंसक पशु से आक्रान्त (पकड़ी गई) जंगल की हरिणी के समान उस परिव्राजिका का मुख भय और विषाद से व्याकुल हो गया। उसकी आँखें आँसुओं से भर गईं। आर्त होकर गद्गद कण्ठ से उसने यों विलाप किया—

"दुःख से पीड़ित लोगों के लिए राजा पिता के समान आश्रय-दाता होता है। यदि राजा ही किसी के प्रति अनीति का आचरण करे तो यह किसके आगे रोये? ॥ १२ ॥

जो लोक-पाल (देवता) पीड़ितों की रक्षा करने में प्रयत्नशील नहीं हैं, वे अपने अधिकार से च्युत हैं, या हैं ही नहीं, या मर गये। धर्म भी, मैं समझती हूँ, सुनने के लिए ही है ॥१३॥

या देवताओं (को कोसने) से क्या प्रयोजन, जब कि मेरे भगवान् (मेरे पतिदेव) ही मेरे भाग्य पर इस प्रकार मौन धारण किये हुए हैं? अत्याचारियों द्वारा घसीटा जाता हुआ शत्रु भी तो रक्षणीय है ॥ १४ ॥

'नष्ट हो जाओ' जिनके इस शापरूपी वज्र के स्पर्श से पहाड़ भी स्मरण-शेष हो जाय वह मेरी इस अवस्था में भी चुप हैं और तो भी मैं अभागिन जीवित हूँ ॥ १५ ॥

पापा कृपापात्रतरा न वाहमेवंविधामापदमभ्युपेता ।
आर्तेषु कारुण्यमयी प्रवृत्तिस्तपोधनानां किमयं न मार्गः ॥ १६ ॥

शङ्के तवाद्यापि तदेव चित्ते निवर्त्यमानास्मि न यन्निवृत्ता ।
तवाप्रियेणापि मयेप्सितं यदात्मप्रियं हा तदिदं कथं मे ॥ १७ ॥

इति तां प्रव्रजितां करुणविलापाक्रन्दितरुदितमात्रपरायणां ते राजसमादिष्टाः पुरुषा यानमारोप्य पश्यत एव तस्य महासत्त्वस्यान्तःपुराय निन्युः । बोधिसत्त्वोऽपि प्रतिसंख्यानबलात्प्रतिनुद्य क्रोधबलं तथैव पांसुकूलानि निःसंक्षोभः प्रशान्तचेताः सीव्यति स्म । अथैनं स राजोवाच—

अमर्षरोषाग्निनिपातिताक्षरं तदुच्चकैर्गर्जितमूर्जितं त्वया ।
हृतां च पश्यन्नपि तां वराननामशक्तिदीनप्रशमोऽस्यवस्थितः ॥ १८ ॥

तद्दर्शय स्वां भुजयो रुषं वा तेजस्तपःसंश्रयसंभृतं वा ।
आत्मप्रमाणग्रहणानभिज्ञो व्यर्थप्रतिज्ञो ह्यधिकं न भाति ॥ १९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अव्यर्थप्रतिज्ञमेव मां विद्धि महाराज ।

योऽभून्ममात्र प्रतिकूलवर्ती विस्पन्दमानोऽपि स मे न मुक्तः ।
प्रसह्य नीतः प्रशमं मया तु तस्माद्यथार्थैव मम प्रतिज्ञा ॥ २० ॥

अथ स राजा तेन बोधिसत्त्वस्य धैर्यातिशयव्यञ्जकेन प्रशमेन समुत्पादिततपस्विगुणसंभावनश्चिन्तामापेदे—अन्यदेवानेन ब्राह्मणेनाभिसंधाय भाषितम्, तदपरिज्ञायास्माभिश्चापलकृतमिदमिति जातप्रत्यवमर्शो बोधिसत्त्वमुवाच—

कोऽन्यस्तवाभूत्प्रतिकूलवर्ती यो विस्फुरन्नेव न ते विमुक्तः ।
रेणुः समुद्यन्निव तोयदेन कश्चोपनीतः प्रशमं त्वयात्र ॥ २१ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—शृणु महाराज !

जाते न दृश्यते यस्मिन्नजाते साधु दृश्यते ।
अभून्मे स न मुक्तश्च क्रोधः स्वाश्रयबाधनः ॥ २२ ॥

येन जातेन नन्दन्ति नराणामहितैषिणः ।
सोऽभून्मे न विमुक्तश्च क्रोधः शात्रवनन्दनः ॥ २३ ॥

उत्पद्यमाने यस्मिंश्च सदर्थं न प्रपद्यते ।
तमन्धीकरणं राजन्नहं क्रोधमशीशमम् ॥ २४ ॥

या इस विपत्ति में पड़ी हुई मैं पापिन दया के योग्य नहीं हूँ। पीड़ितों के प्रति दया से द्रवीभूत होना, क्या यह तपस्वियों की नीति नहीं है ? ॥ १६ ॥

लौटाई जानेपर भी मैं नहीं लौटी, यह बात, मैं अनुमान करती हूँ, अब भी आपके मन में है ही। मैंने आपके अप्रिय के द्वारा अपना जो प्रिय करना चाहा, वह, अहो ! मेरे लिए कैसा (दुःखदायी) हुआ" ॥ १७ ॥

तब राजा का आदेश पाकर राजपुरुष करुण क्रदन रोदन और विलाप करती हुई उस प्रव्रजिता को उस महासत्त्व के समक्ष ही रथ पर चढ़ाकर अन्तःपुर की ओर ले गये। बोधिसत्त्व भी क्रोध को शान्त कर, क्षोभ-रहित और शान्त होकर उसी प्रकार चिथड़े सीते रहे। तब राजा ने उनसे कहा—

"आवेग और क्रोध के वचन कहते हुए आपने जोर जोर से गर्जन-तर्जन किया। किन्तु उस सुन्दरी के अपहरण को देखते हुए भी आप शक्ति के अभाव में असहाय होकर चुप बैठे हैं ॥ १८ ॥

अब आप अपना भुज-बल दिखलाइये अथवा तेजोबल और तपोबल ही दिखलाइये। अपनी शक्ति को नहीं जानकर व्यर्थ प्रतिज्ञा करनेवाला शोभा-हीन हो जाता है" ॥ १९ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"हे महाराज, आप मुझे सत्यप्रतिज्ञ ही जानिये।

यहाँ मेरे प्रतिकूल आचरण करने के लिए जो चलायमान हो रहा था उसे मैंने न छोड़ा। उसे बलपूर्वक शान्त कर दिया। अतः मेरी प्रतिज्ञा सत्य हुई" ॥ २० ॥

तब वह राजा बोधिसत्त्व के अलौकि धैर्य को व्यक्त करनेवाली शान्ति से उनमें तपस्विजनोचित गुणों की सम्भावना करते हुए सोचने लगा—इस ब्राह्मण ने मन में कुछ दूसरा ही रखकर कहा। उसे नहीं जानकर हमने यह चपलता की। इस प्रकार सोचते हुए उसने बोधिसत्त्व से पूछा—

"कौन दूसरा आपके प्रतिकूल आचरण करनेवाला था, जिसे आपने स्पन्दित होते (फड़फड़ाते) ही न छोड़ा (मार डाला)। जैसे मेघ उठती हुई धूल को शान्त करता है वैसे ही आपने यहाँ किसको शान्त किया ?" ॥ २१ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"हे महाराज, सुनिये।

जिसके उत्पन्न होनेपर दिखाई नहीं पड़ता है और जिसके उत्पन्न नहीं होनेपर अच्छी तरह दिखाई पड़ता है, अपने आश्रय को पीड़ित करनेवाला वह क्रोध मुझे हुआ और मैंने उसे न छोड़ा ॥ २२ ॥

जिसके उत्पन्न होनेपर मनुष्यों के शत्रु आनन्दित होते हैं, शत्रुओं को आनन्दित करनेवाला वह क्रोध मुझे हुआ और मैंने उसे न छोड़ा ॥ २३ ॥

जिसके उत्पन्न होनेपर मनुष्य सत्कार्य नहीं करता है, हे राजन्, अन्धा (विवेकहीन) बनानेवाले उस क्रोध को मैंने शान्त कर दिया ॥ २४ ॥

येनाभिभूतः कुशलं जहाति प्रासादपि भ्रश्यत एव चार्थात् ।
तं रोषमुग्रग्रहवैकृताभं स्फुरन्तमेवानयमन्तमन्तः ॥ २५ ॥

काष्ठाद्यथाग्निः परिमथ्यमानादुदेति तस्यैव पराभवाय ।
मिथ्याविकल्पैः समुदीर्यमाणस्तथा नरस्यात्मवधाय रोषः ॥ २६ ॥

दहनमिव विजृम्भमाणरौद्रं शमयति यो हृदयज्वरं न रोषम् ।
लघुरयमिति हीयतेऽस्य कीर्तिः कुमुदसखीव शशिप्रभा प्रभाते ॥ २७ ॥

परजनदुरितान्यचिन्तयित्वा रिपुमिव पश्यति यस्तु रोषमेव ।
विकसति नियमेन तस्य कीर्तिः शशिन इवाभिनवस्य मण्डलश्रीः ॥२८॥

इयमपरा च रोषस्य महादोषता—

न भात्यलंकारगुणान्वितोऽपि क्रोधाग्निना संहृतवर्णशोभः ।
सरोषशल्ये हृदये च दुःखं महार्हशय्याङ्कगतोऽपि शेते ॥ २९ ॥

विस्मृत्य चात्मक्षमसिद्धिपक्षं रोषात्प्रयात्येव तदुत्पथेन ।
निहीयते येन यशोऽर्थसिद्ध्या तामिस्रपक्षेन्दुरिवात्मलक्ष्म्या ॥ ३० ॥

रोषेण गच्छत्यनयप्रपातं निवार्यमाणोऽपि सुहृज्जनेन ।
प्रायेण वैरस्य जडत्वमेति हिताहितावेक्षणमन्दबुद्धिः ॥ ३१ ॥

क्रोधाच्च सात्मीकृतपापकर्मा शोचत्यपायेषु समाशतानि ।
अतः परं किं रिपवश्च कुर्युस्तीव्रापकारोद्धतमन्यवोऽपि ॥ ३२ ॥

अन्तःसपत्नः कोपोऽयं तदेवं विदित मम ।
तस्यावलेपप्रसरं कः पुमान् मर्षयिष्यति ॥ ३३ ॥

अतो न मुक्तः कोपो मे विस्फुरन्नपि चेतसि ।
इत्यनर्थकरं शत्रुं को ह्युपेक्षितुमर्हति ॥ ३४ ॥

अथ स राजा तेन तस्याद्भुतेन प्रशमगुणेन हृदयग्राहकेण च वचसाभिप्रसादितमतिरुवाच—

अनुरूपः शमस्यास्य तवायं वचनक्रमः ।
बहुना तु किमुक्तेन वञ्चितास्त्वददर्शिनः ॥ ३५ ॥

इत्यभिप्रशस्यैनमभिसृत्यैवास्य पादयोर्न्यपतत् तदत्ययदेशनां च चक्रे । तां च प्रव्रजितां क्षमयित्वा व्यसर्जयत्, परिचारकं चात्मानं बोधिसत्त्वस्य निर्यातयामास ।

तदेवं क्रोधविनयाच्छत्रूनुपशमयति, वर्धयत्येव त्वन्यथा, इति क्रोधविनये यत्नः कार्यः । एवमवैरेण वैराणि शाम्यन्ति, संयमतश्च वैरं न चीयते । एवं

जिससे पीड़ित होकर मनुष्य शुभ को छोड़ता है, प्राप्त हुई वस्तु से भी वञ्चित होता है, राक्षस के समान भयङ्कर उस क्रोध को अपने भीतर स्फुरित होते ही मैंने नष्ट कर डाला ॥२५॥

जैसे रगड़े जाते हुए काष्ठ से निकली हुई अग्नि उस काष्ठ को ही नष्ट कर देती है, वैसे ही मनुष्य की मिथ्या धारणाओं से उत्पन्न क्रोध उस मनुष्य को मार डालता है ॥ २६ ॥

जो मनुष्य अग्नि के समान विकराल होते हुए क्रोध को, आन्तरिक ताप को, शान्त नहीं करता है, वह हल्का समझा जाता है। उसकी कीर्ति वैसे ही नष्ट होती है, जैसे प्रातः काल में कुमुदों की सखी चाँदनी ॥ २७ ॥

जो दूसरों के दोष नहीं देखकर अपने क्रोध को ही शत्रुवत् देखता है, उसकी कीर्ति नियमित रूप से बढ़ती है जैसे अभिनव चन्द्रमा की शोभा ॥ २८ ॥

और क्रोध में ये बड़े-बड़े दोष भी हैं—

उत्तम आभूषणों को पहनकर भी मनुष्य क्रोधाग्नि से जलकर विवर्ण और शोभाहीन हो जाता है। हृदय में रोषरूप शल्य के रहते मनुष्य बहुमूल्य शय्या पर भी कष्टपूर्वक सोता है ॥ २९ ॥

क्रोध के कारण अपने योग्य कल्याण पक्ष को भूलकर मनुष्य कुमार्ग से जाता है, जिससे वह कीर्ति हीन होता है, जैसे कृष्ण-पक्ष का चन्द्रमा श्री-हीन होता है ॥ ३० ॥

क्रोध के आवेश में आकर मनुष्य मित्रों के द्वारा रोका जानेपर भी अनीति रूप प्रपातपर जाता है। हित और अहित को समझने की उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और वह प्रायः शत्रुता करने की मूर्खता करता है ॥ ३१ ॥

क्रोध के कारण पाप-कर्म करनेवाला सैकड़ों वर्षों तक दुर्गतियों में पड़कर शोक करता है। तीव्र अपकार से क्रुद्ध होकर शत्रु भी इससे अधिक क्या (अनिष्ट) कर सकते हैं ? ॥ ३२ ॥

यह क्रोध आन्तरिक शत्रु है, यह मुझे विदित है। कौन पुरुष इसके प्रसार को सहेगा ? ॥ ३३ ॥

अतः अपने चित्त में स्पन्दित (उदित) होते हुए क्रोध को भी मैंने न छोड़ा। इस अनिष्टकारी शत्रु की कौन उपेक्षा करेगा ?" ॥ ३४ ॥

तब वह राजा उनकी अद्‌भुत शान्ति और मनोहर वाणी से प्रसन्न होकर बोला—

"आपकी यह वाणी आपकी शान्ति के अनुरूप है। अधिक बोलने से क्या ? आपका दर्शन नहीं करनेवाले वञ्चित हैं।" ॥ ३५ ॥

इस प्रकार उनकी प्रशंसा कर, उनके समीप जाकर, वह उनके चरणों में गिर पड़ा और अपना अपराध स्वीकार किया। उस प्रव्रजिता से क्षमा कराकर, उसे विदा किया और अपने को बोधिसत्त्व के परिचारक के रूप में अर्पित किया।

इस प्रकार क्रोध को शान्त कर मनुष्य शत्रुओं को शान्त करता है, अन्यथा उन्हें बढ़ाता ही है। अतः क्रोध को शान्त करने का यत्न करना चाहिए। इस प्रकार अवैर से वैर शान्त

चोभयोरर्थं चरत्यक्रोधन इत्येवमादिषु क्षमानुशंसाप्रतिसंयुक्तेषु सूत्रेषु वाच्यम् । क्रोधादीनवकथायां तथागतमाहात्म्ये चेति ॥

इति [1]चुल्लबोधि-जातकमेकविंशतितमम् ॥

२२. हंस-जातकम्

विनिपातगतानामपि सतां वृत्तं नालमनुगन्तुमसत्पुरुषाः, प्रागेव सुगतिस्थानाम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल मानसे महासरसि नैकशतसहस्रसंख्यस्य महतो हंसयूथस्याधिपतिर्धृतराष्ट्रो नाम हंसराजो बभूव । तस्य नयानयपरिज्ञाननिपुणमतिर्विप्रकृष्टगोचरस्मृतिप्रभावः श्लाघनीयकुलतिलकभूतो दाक्ष्यदाक्षिण्यविनयभूषणः स्थिरशुचिशीलवृत्तचारित्रशूरः खेदसहिष्णुरप्रमादी समरविधविशारदः स्वाम्यनुरागसुमुखः सुमुखो नाम सेनापतिर्बभूव [आर्यानन्दस्थविरस्तेन समयेन] । तौ परस्परप्रेमगुणाश्रयाज्ज्वलिततरप्रभावावा[2]र्यशिष्यमुख्याविव परिशेषं शिष्यगणं पितृज्येष्ठपुत्राविव च श्रेष्ठशेषं पुत्रगणं तद्धंसयूथमुभयलोकहितोदयेष्वर्थेषु सम्यग्निवेशयमानौ तत्प्रत्यक्षिणां देवनागयक्षविद्याधरतपस्विनां परं विस्मयमुपजह्रतुः ।

तावासतुर्हंसगणस्य तस्य श्रेयःशरीरोद्वहनैककार्यौ ।
नभोगतस्येव विहंगमस्य पक्षौ शरीरोद्वहनैककार्यौ ॥ १ ॥

एवं ताभ्यां तदनुगृह्यमाणं हंसयूथं जगदिव धर्मार्थविस्तराभ्यां परां वृद्धिमवाप । तेन च तत्सरः परां शोभां बभार ।

कलनूपुरनादेन हंसयूथेन तेन तत् ।
पुण्डरीकवनेनेव रेजे संचारिणा सरः ॥ २ ॥

क्वचित्प्रविसृतैर्हंसैः क्वचिद्विषमसंहतैः ।
छिन्नाभ्रलवचित्रस्य जहार नभसः श्रियम् ॥ ३ ॥

अथ तस्य हंसाधिपतेः सर्वसत्त्वहितसुमुखस्य च सेनापतेर्गुणातिशयप्रभावविस्मितमनसः सिद्धर्षिविद्याधरदैवतगणास्तयोः कीर्त्याश्रयाभिः कथाभिस्तत्र तत्राभिरेमिरे ।

---

१. पा० 'बुद्धबोधि' । २. पा० प्रभावावाचार्य० ।

होता है और आत्म-संयम से वैर नहीं होता है। इस प्रकार क्रोध नहीं करनेवाला दोनों का (अपना और प्रतिकूल आचरण करनेवाले का) हित-साधन करता है। इस प्रकार के क्षमा-प्रशंसक वचनों में यह कथा कहनी चाहिए। क्रोध के दोष दिखलाने में और तथागत के माहात्म्य में भी इसे कहना चाहिए।

चुड्डबोधि-जातक इक्कीसवाँ समाप्त

---

२२. हंस-जातक

दुर्जन दुर्गति में भी पड़े हुए सज्जनों के आचरण का अनुकरण नहीं कर सकते हैं तो सुगति में स्थित सज्जनों का कहाँ से कर सकेंगे ? तब जैसी की अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व एकबार हंसों के राजा हुए। वह मानस नामक सरोवर में लाखों की संख्या के एक बड़े हंस-समुदाय के अधिपति थे। उनका नाम धृतराष्ट्र था। उनका सुमुख नामक सेनापति नीति और अनीति के ज्ञान में निपुण था। सुदूर स्थान और समय उसके (नेत्र-श्रवण आदि) इन्द्रियों की पहुँच के भीतर थे। वह उत्तम वंश का तिलक स्वरूप तथा निपुणता उदारता एवं विनम्रता से विभूषित था। उसका शील आचार और चरित्र स्थिर और पवित्र था। वह कष्ट-सहिष्णु जागरूक युद्ध-नीति-विशारद और स्वामि-भक्त था। पारस्परिक प्रेम के कारण वे दोनों प्रभावशाली थे। जिस प्रकार आचार्य और मुख्य शिष्य अन्य शिष्यों को, पिता और ज्येष्ठ पुत्र शेष पुत्रों को, उसी प्रकार वे दोनों उस हंस-समूह को उभय-लोक के लिए हितकारी कार्यों में संलग्न करते हुए, प्रत्यक्षदर्शी देवताओं नागों यक्षों विद्याधरों और तपस्वियों को अत्यन्त विस्मित कर रहे थे।

वे दोनों उस हंस-समूह के श्रेय और शरीर-निर्वाह[1] के ही कार्य में लगे रहते थे, जैसे आकाश में उड़ते हुए पक्षी के दोनों पंख उसके शरीर-वहन के ही कार्य में संलग्न रहते हैं ॥१॥

इस प्रकार उन दोनों से अनुगृहीत होते हुए उस हंस-समूह की खूब वृद्धि हुई, जैसे धर्म और अर्थ के विस्तार से जनता की वृद्धि होती है। उन हंसों से उस सरोवर की परम शोभा हुई।

नूपुरों की-सी मधुर ध्वनिवाले उस हंस-समूह से, जैसे संचरणशील कमलवन से, वह सरोवर सुशोभित हुआ ॥ २ ॥

कहीं खूब बिखरे हुए और कहीं अत्यन्त सटे हुए हंसों से उस सरोवर ने कटे हुए मेघ-खण्डों से चित्र-विचित्र आकाश की शोभा को धारण किया ॥ ३ ॥

तब सब प्राणियों के हित-साधन में प्रवृत्त उस हंस-राज और सेनापति सुमुख के सद्गुणों के प्रभाव से विस्मित सिद्ध ऋषि विद्याधर और देवता जहाँ तहाँ उन दोनों की कीर्ति-कथाएँ कहते हुए आनन्दित हुए।

उत्तप्तचामीकरसंनिकाशं श्रीमद्वपुर्व्यक्तपदाक्षरा वाक् ।
धर्माभिजातो विनयो नयश्च कावप्यमू केवलहंसवेषौ ॥ ४ ॥

गुणप्रकाशैरपमत्सरैः सा कीर्तिस्तयोर्दिक्षु वितन्यमाना ।
श्रद्धेयतामित्यगमन्नृपाणां सदस्सु यत्प्राभृतवच्चचार ॥ ५ ॥

तेन च समयेन ब्रह्मदत्तो नामान्यतमो वाराणस्यां राजा बभूव । स तां हंसाधिपतेः ससेनाधिपतेर्गुणातिशयाश्रयां कथां प्रात्ययिकामात्यद्विजवृद्धैः सदसि संस्तूयमानामसकृदुपश्रुत्य तयोर्दर्शनं प्रत्यभिवृद्धकौतूहलो नैकशास्त्राभ्यास-निपुणमतीन् सचिवानुवाच—परिमृश्यतां तावद्भोः प्रसृतनिपुणमतयः कश्चिदुपायो येन नस्तौ हंसवर्यौ दर्शनपथमपि तावदुपगच्छेतामिति । अथ तेऽमात्याः स्वैः स्वैर्मतिप्रभावैरनुसृत्य नीतिपथं राजानमूचुः—

सुखाशा देव भूतानि विकर्षति ततस्ततः ।
सुखहेतुगुणोत्कर्षश्रुतिस्तावानयेद्यतः ॥ ६ ॥

तद्यादृशे सरसि तावभिरतरूपावनुश्रूयेते तदुत्कृष्टतरगुणशोभमिह सरः कस्मिंश्चिदरण्यप्रदेशे कारयितुमर्हति देवः, प्रत्यहं च सर्वपक्षिणामभयप्रदानघोषणाम् । अपि नाम कौतूहलोत्पादिन्या सुखहेतुगुणातिशयश्रुत्या ताविहाकृष्येयाताम् । पश्यतु देवः,

प्रायेण प्राप्तिविरसं सुखं देव न गण्यते ।
परोक्षत्वात्तु हरति श्रुतिरम्यं सुखं मनः ॥ ७ ॥

अथ स राजा अस्त्वेतदित्यल्पेन कालेन नातिसंनिकृष्टं नगरोपवनस्य मानससरसः प्रतिस्पर्धिगुणविभवं पद्मोत्पलकुमुदपुण्डरीकसौगन्धिकतामरसकह्लारसमुपगूढं विमलसलिलमतिमनोहरं महत्सरः कारयामास ।

द्रुमैः कुसुमसंछन्नैश्चलत्किसलयोज्ज्वलैः ।
तत्प्रेक्षार्थमिवोत्पन्नैः कृततीरपरिग्रहम् ॥ ८ ॥

विहसद्भिरिवाम्भोजैस्तरंगोत्कम्पकम्पिभिः ।
विलोभ्यमानाकुलितभ्रमद्भ्रमरसंकुलम् ॥ ९ ॥

ज्योत्स्नासंवाहनोन्निद्रैर्विचित्रकुमुदैः क्वचित् ।
तरुच्छायापरिच्छिन्नैश्चन्द्रिकाशकलैरिव ॥ १० ॥

तरंगाङ्गुलिसंक्षिप्तैः कमलोत्पलरेणुभिः ।
अभ्यलंकृततीरान्तं हेमसूत्रैरिव क्वचित् ॥ ११ ॥

तपे हुए सोने के समान सुन्दर शरीर, स्पष्ट अक्षरोंवाली वाणी, धर्म-जन्य विनम्रता और नीति! वे केवल हंस के वेष में थे, (वास्तव में) वे कोई (महात्मा) थे ॥ ४ ॥

द्वेष-रहित होकर सद्गुणों का प्रकाश करनेवाले उन (सिद्ध आदि) के द्वारा चारों ओर फैलाई जाती हुई वह कीर्ति जब राज-सभाओं में पहुँची तो उसपर इतना विश्वास किया गया कि वह वहाँ उपहार के समान विचरण करने लगी ॥ ५ ॥

उस समय वाराणसी में ब्रह्मदत्त नामक कोई राजा रहता था। उसने जब सभा में विश्वसनीय अमात्यों और वृद्ध द्विजों द्वारा कही जाती हुई सेनापति-सहित हंसाधिपति की सद्गुण-कथा को बार-बार सुना तो उन्हें देखने की उसकी उत्सुकता बढ़ गई और उसने अनेक शास्त्रों के अभ्यास से तीक्ष्ण बुद्धि वाले मन्त्रियों से कहा—"हे कुशाग्रबुद्धि मन्त्रिगण, कोई उपाय सोचिये जिससे वे दोनों श्रेष्ठ हंस हमारे दृष्टि पथ पर भी आ जायँ।" तब उन अमात्यों ने अपने बुद्धि-बल से नीति-मार्ग का अनुसरण करते हुए कहा—

"हे देव, सुख की आशा प्राणियों को दूर दूर से आकृष्ट करती है। अतः सुख के हेतु रूप उत्कृष्ट गुणों का श्रवण उन्हें ला सकता है ॥ ६ ॥

तब जिस प्रकार के सरोवर में उन रम्यरूप हंसों का रहना सुना जाता है उससे भी उत्कृष्ट गुणों और शोभा से युक्त एक सरोवर आप यहाँ किसी वन में बनवायें और प्रतिदिन सभी पक्षियों के लिए अभयदान की घोषणा करवायें। सुख के हेतु रूप उत्कृष्ट गुणों का श्रवण उन्हें यहाँ आकृष्ट करेगा। देव देखें—

सुलभता के कारण सुख प्रायः अरुचिकर और उपेक्षित होता है। किन्तु परोक्ष का सुख श्रुति-प्रिय और मनोहर होता है।" ॥ ७ ॥

तब उस राजा ने 'ऐसा ही हो' यह कहकर अल्पकाल में ही मानस सरोवर के उत्कृष्ट गुणों से स्पर्धा करनेवाला, निर्मल जल से भरा हुआ, अत्यन्त मनोहर महासरोवर नगर के उपवन से कुछ दूर पर बनवाया, जो पद्म उत्पल कुमुद पुण्डरीक सौगन्धिक तामरस (नामक त्रिविध-कमलों) और कुमुद से आच्छादित था।

हिलते हुए किसलयों से उज्ज्वल तथा फूलों से ढके हुए वृक्ष मानो उसे देखने के लिए उत्कण्ठित होकर उसके तीरपर खड़े थे ॥ ८ ॥

तरंगों के कम्पन से प्रकम्पित कमलों ने मानो हँस-हँसकर भौंरों को लुभाया और वे व्याकुल होकर वहाँ मँड़राने लगे ॥ ९ ॥

कहीं कहीं-चाँदनी के स्पर्श से खिले हुए उज्ज्वल कुमुदों से, मानो वृक्षों के पत्तों को भेदकर आये हुए चन्द्रिका-खण्डों से, वह (सरोवर) सुशोभित था ॥ १० ॥

तरंगरूपी अंगुलियों से फेंके गये कमलों और उत्पलों के पराग से, मानों सोने के तारों से, उसका तीर अलंकृत था ॥ ११ ॥

चित्रैः पद्मोत्पलदलैस्तत्र तत्र सकेसरैः ।
श्रियं प्रविततां बिभ्रदुपहारमयीमिव ॥ १२ ॥

प्रसन्नस्तिमिताम्बुत्वाद्व्यक्तचित्रवपुर्गुणैः ।
व्योम्नीव परिधावद्भिर्मीनवृन्दैरलंकृतम् ॥ १३ ॥

विच्छिन्नमुक्ताहाराभैः क्वचिद् द्विरदशीकरैः ।
उपलास्फालनोत्कीर्णमूर्मिचूर्णमिवोद्वहत् ॥ १४ ॥

विद्याधरवधूस्नानैर्मदसेकैश्च दन्तिनाम् ।
रजोभिः कुसुमानां च सवासमिव कुत्रचित् ॥ १५ ॥

ताराणां चन्द्रदाराणां सामान्यमिव दर्पणम् ।
मुदितद्विजसंकीर्णं तद्रुतप्रतिनादितम् ॥ १६ ॥

तदेवंविधं सरः कारयित्वा सर्वपक्षिगणस्य चानावृतसुखोपभोग्यमेतद्दत्वा प्रत्यहं सर्वपक्षिणां विश्वासनार्थमित्यभयदानघोषणां कारयामास–

एष पद्मोत्पलदलच्छन्नतोयमिदं सरः ।
ददाति राजा पक्षिभ्यः प्रीत्या साभयदक्षिणम् ॥ १७ ॥

अथ कदाचित्संहृतमेघान्धकारयवनिकासु शरद्गुणोपहृतशोभास्वालोकनक्षमासु दिक्षु प्रबुद्धकमलवनशोभेषु प्रसन्नसलिलमनोहरेषु सरस्सु परं कान्तियौवनमुपगते प्रचेयकिरण इव चन्द्रमसि विविधसस्यसंपद्विभूषणधरायां वसुंधरायां प्रवृत्ते हंसतरुणजनसंपाते मानसात्सरसः शरत्प्रसन्नानि दिगन्तराण्यनुविचरदनुपूर्वेणान्यतमं हंसमिथुनं तस्मादेव हंसयूथात्तस्य राज्ञो विषयमुपजगाम। तत्र च पक्षिगणकोलाहलोन्नादितमनिभृतमधुकरगणं तरंगमालाविचरचक्रतव्यापारैः सुखशिशिरैर्मृदुभिरनिलैः समन्ततो विक्षिप्यमाणकमलकुवलयरेणुगन्धं ज्वलदिव विकचैः कमलैर्हसदिव विकसितैः कुमुदैस्तत्सरो ददर्श । तस्य मानससरःसमुचितस्यापि हंसमिथुनस्य तामतिमनोहरां सरसः श्रियमभिवीक्ष्य प्रादुरभूत्–अहो बत तदपि हंसयूथमिहागच्छेदिति ।

प्रायेण खलु लोकस्य प्राप्य साधारणं सुखम् ।
स्मृतिः स्नेहानुसारेण पूर्वमेति सुहृज्जनम् ॥ १८ ॥

अथ तत्र तद्धंसमिथुनं यथाकामं विहृत्य प्रवृत्ते जलदसमये विद्युद्विस्फुरितशस्त्रविक्षेपेषु नातिघनविच्छिन्नान्धकाररूपेषु सभमिवर्तमानेषु दैत्यानीकेष्विव जलधरवृन्देषु परिपूर्णबर्हकलापशोभेषु प्रसक्तकेकानिनादोत्कुष्टैर्जलधरविजयमिव संराधयत्सु नृत्तप्रवृत्तेषु चित्रेषु बर्हिगणेषु वाचालतामुपगतेषु स्तोकशकुनिषु प्रविचरत्सु कदम्बसर्जार्जुनकेतकीपुष्पगन्धाधिवासितेषु सुखशिशिरेषु काननविनिश्च-

जहाँ-तहाँ लाल-नीले कमलों की केशर-युक्त उज्ज्वल पंखुड़ियों से जान पड़ता था जैसे वह (सरोवर) उपहार के शोभा-विस्तार को धारण कर रहा हो ॥ १२ ॥

निर्मल और स्थिर जल में मछलियों के चित्र-विचित्र शरीर स्पष्ट दिखाई पड़ रहे थे, जान पड़ता था जैसे वे मछलियाँ गगन में दौड़ रही हों, उनसे वह सरोवर अलंकृत था ॥ १३ ॥

कहीं कहीं टूटे हुए मौक्तिक-हारों के समान गज-प्रक्षिप्त जल-कणों से ऐसा जान पड़ता था जैसे वह शिलाओं के संघर्ष से चूर-चूर होकर बिखरे हुए तरंगों (के जल-कणों) को धारण कर रहा हो ॥ १४ ॥

कहीं-कहीं विद्याधरों की वधुओं के स्नान करने के (सुगन्धित) चूर्ण से, हाथियों के मद-जल के प्रवाह से तथा फूलों के पराग से वह सुवासित था ॥ १५ ॥

वह चन्द्रमा की पत्नियों, ताराओं के लिए समान दर्पण के सदृश तथा प्रसन्न पक्षियों से भरा हुआ और उनके कूजन से निनादित था ॥ १६ ॥

तब इस प्रकार का सरोवर बनवाकर और सब पक्षियों के स्वच्छन्द सुखोपभोग के लिए इसे देकर, उस राजा ने उनके विश्वास के लिए प्रतिदिन अभय-दान की यह घोषणा करवाई—

"यह राजा लाल-नीले कमलों की पंखुड़ियों से आच्छादित जलवाला यह सरोवर पक्षियों को प्रीतिपूर्वक दान करता है और उन्हें अभय की दक्षिणा भी देता है" ॥ १७ ॥

एक बार जब (आकाश से) मेघान्धकाररूपी यवनिका हट गई, दिशाएँ शरद् ऋतु की शोभा से भरकर दर्शनीय हो उठीं, निर्मल जल से भरे हुए मनोहर सरोवर खिले हुए कमलों से शोभायमान हो गये, पुष्टकिरण चन्द्रमा कान्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया, वसुन्धरा विविध सस्यों की शोभा से विभूषित हुई, तरुण हंस बाहर निकलने लगे, तब मानस सरोवर के उसी हंस-समूह से निकलकर कोई हंसयुगल शरद् ऋतु की निर्मल दिशाओं में विचरण करता हुआ क्रम से उस राजा के देश में पहुँचा। और, वहाँ पक्षियों के कलरव से निनादित तथा गूँजते हुए भौंरों से भरे हुए उस सरोवर को देखा, जहाँ तरंग-मालाओं पर बहनेवाली शीतल मन्द सुगन्ध हवा कमलों और कुवलयों के पराग की गन्ध चारों ओर बिखेर रही थी। वह सरोवर खिले हुए (लाल) कमलों से मानो प्रज्वलित था और विकसित कुमुदों से मानो हँस रहा था। यद्यपि वह हंस-युगल मानस सरोवर में रहने का अभ्यस्त था, तथापि उस सरोवर की अतिमनोहर शोभा को देखकर उसने सोचा—"अहो, वह हंस-समूह भी यहाँ आता!"

लोग प्रायः सर्व-साधारण (सर्वजन-उपभोग्य) सुख को पाकर स्नेहवश पहले अपने बन्धुओं का स्मरण करते हैं ॥ १८ ॥

उस हंस-युगल ने वहाँ यथेच्छ विहार किया। मेघ का समय आया। शस्त्र के समान बिजली चमकने लगी, अन्धकार कुछ विदीर्ण हुआ और दैत्य-सेनाओं के समान मेघ-समूह अग्रसर हुए। चित्र-विचित्र मोर नाचने लगे, उनके पंख शोभा से परिपूर्ण थे और वे निरन्तर केका—बोली बोलते हुए मानो मेघ-विजय मना रहे थे। छोटे-छोटे पक्षी वाचाल हो उठे। कदम्ब साल अर्जुन और केतकी के फूलों की सुगन्धि से सुवासित सुखद-शीतल पवन, मानो

सितेष्विवानिलेपु मेघदशनपक्तिष्विवालक्ष्यमाणरूपासु बलाकायुवतिषु गमनौत्सुक्यमृदुनिकूजितेषु प्रयाणव्याकुलेषु हंसयूथेषु तद्धंसमिथुनं मानसमेव सरः प्रत्याजगाम। समुपेत्य च हंसाधिपतिसमीपं प्रस्तुतासु दिग्देशकथासु तं तस्य सरसो गुणविशेषं वर्णयामास–अस्ति देव दक्षिणेन हिमवतो वाराणस्यां ब्रह्मदत्तो नाम नराधिपतिः। तेनात्यद्भुतरूपशोभमनिर्वर्ण्यगुणसौन्दर्यं महत्सरः पक्षिभ्यः स्वच्छन्दसुखोपभोग्यं दत्तम्। अभयं च प्रत्यहमवघुष्यते। रमन्ते चात्र पक्षिणः स्वगृह इव प्रहीणभयाशङ्काः। तदर्हति देवो व्यतीतासु वर्षासु तत्र गन्तुमिति। तच्छ्रुत्वा सर्व एव ते हंसास्तत्संदर्शनसमुत्सुका बभूवुः॥

अथ बोधिसत्त्वः सुमुखं सेनापतिं प्रश्नव्यक्ताकारः[1] प्रततं ददर्श, कथं पश्यसीति चावोचत्। अथ सुमुखः प्रणम्यैनमुवाच—न प्राप्तं तत्र देवस्य गमनमिति पश्यामि। कुतः? अमूनि तावल्लोभनीयानि मनोहराण्यामिषभूतानि रूपाणि। न च नः किंचिदिह परिहीयते। कृतकमधुरोपचारवचनप्रच्छन्नतीक्ष्णदौरात्म्यानि च प्रायेण पेलवघृणानि शठानि मानुषहृदयानि। पश्यतु स्वामी,

वाशितार्थस्वहृदयाः प्रायेण मृगपक्षिणः।
मनुष्याः पुनरेकीयास्तद्विपर्ययनैपुणाः॥ १९॥

उच्यते नाम मधुरं स्वनुबन्धि निरत्ययम्।
वणिजोऽपि हि कुर्वन्ति लाभसिद्ध्याशया व्ययम्॥ २०॥

यतो नैतावता देव विस्रम्भः क्षमते क्वचित्।
कार्यार्थमपि न श्रेयः सात्ययापनयः क्रमः॥ २१॥

यदि त्ववश्यमेव तत्र गन्तव्यम्, गत्वानुभूय च तस्य सरसो गुणविभूतिरसं न नस्तत्र चिरं विचरितुं क्षमं निवासाय वा चित्तमभिनामयितुमिति पश्यामि। अथ बोधिसत्त्वः प्राप्तायां विमलचन्द्रनक्षत्रताराविभूषणायां रजन्यां शरदि तेन हंसयूथेन वाराणसीसरःसंदर्शनं प्रत्यभिवृद्धकौतूहलेन तदभिगमनार्थं पुनः पुनर्विज्ञाप्यमानस्तेषां हंसानामनुवृत्त्या सुमुखप्रमुखेण महता हंसगणेन परिवृतश्चन्द्रमा इव शरदभ्रवृन्देन तत्राभिजगाम।

दृष्ट्वैव लक्ष्मीं सरसस्तु तस्य तेषां प्रहर्षाकुलविस्मयानाम्।
चित्रप्रकारा रुचिसंनिवेशास्तत्संश्रये तुल्यगुणा बभूवुः॥ २२॥

यन्मानसादभ्यधिकं बभूव तैस्तैरवस्थातिशयैः सरस्तत्।
अतश्चिरं तद्गतमानसानां न मानसे मानसमास तेषाम्॥ २३॥

तत्र ते तामभयघोषणामुपलभ्य स्वच्छन्दतां च पक्षिगणस्य तस्य च सरसो विभूत्या प्रमुदितहृदयास्तत्रोद्यानयात्रामिवानुभवन्तः परां प्रीतिसंपदमुपजग्मुः॥

१. पा० कारं।

वन के निःश्वास चलने लगे। मेघ की दन्त-पंक्तियों के समान बगुलियाँ (आकाश में) प्रकट हुई। हंस समूह प्रस्थान के लिए व्याकुल हो उठे, यात्रा की उत्सुकता से वे मृदु कूजन करने लगे। तब वह हंस-युगल मानस सरोवर को ही लौट आया। और, हंसराज के पास जाकर, देश देश की कथा आरम्भ होनेपर उसने उनसे उस सरोवर के विशेष गुण का वर्णन किया। "हे देव, हिमालय के दक्षिण वाराणसी में ब्रह्मदत्त नामक राजा है। उसने अद्भुत रूप शोभा और अकथनीय गुण-सौन्दर्य से युक्त महासरोवर पक्षियों को उनके स्वच्छन्द सुखोपभोग के लिए दान किया है और (उसकी ओर से) प्रतिदिन अभय-दान की घोषणा की जा रही है। पक्षिगण वहाँ निर्भय और निश्शङ्क होकर रमण करते हैं, जैसे अपने घर में हों। तब वर्षा के बीतने पर देव वहाँ चलें।" यह सुनकर वे सभी हंस उसे देखने के लिए उत्सुक हो गये।

तब बोधिसत्त्व ने सेनापति सुमुख की ओर प्रश्न-सूचक मुद्रा में देर तक देखते हुए पूछा—"आपका क्या विचार है?" तब सुमुख ने उन्हें प्रणाम कर कहा—"श्रीमान् का वहाँ जाना उचित नहीं है, मैं यही देखता हूँ। क्योंकि लुभावने मनोहर रूप मांस के समान हैं (प्रलोभन-मात्र हैं) और हमें यहाँ किसी चीज की कमी तो नहीं है। प्रायः मनुष्य के हृदय दुष्ट और छद्म-दया से भरे होते हैं, उनके कृत्रिम उपचार और मधुर वचन के भीतर कठोर दुष्टता छिपी होती है। स्वामी देखें—

पशु-पक्षियों के हृदय उनके वचन के अनुरूप ही होते हैं। एक मनुष्य ही इसके विपरीत आचरण में निपुण होते हैं ॥ १९ ॥

वे मधुर सदाशय और हितकारी वचन बोलते हैं। वणिक् भी लाभ की आशा से व्यय करते हैं ॥ २० ॥

अतः हे देव, इतने से ही (वचन से ही) कहीं विश्वास करना उचित नहीं है। कार्य-सिद्धि के लिए अहितकारी और अनीतिपूर्ण मार्ग श्रेयस्कर (सफल) नहीं हो सकता है ॥२१॥

यदि वहाँ अवश्य ही जाना पड़े तो जाकर और उस सरोवर के गुणोत्कर्ष का अनुभव कर वहाँ देर तक ठहरना उचित नहीं है और न वहाँ निवास के लिए निश्चय करना ही उचित है, यही मेरा विचार है।" तब शरद् ऋतु में निर्मल नक्षत्रों ताराओं और चन्द्रमा से विभू-षित रात के आनेपर, वाराणसी का सरोवर देखने के लिए अति उत्सुक उस हंस-समूह के द्वारा वहाँ चलने के लिए वार वार निवेदन किया जाने पर, बोधिसत्त्व उन हंसों का मन रखने के लिए, सुमुख-प्रमुख बड़े हंस-समूह से घिरे हुए, जैसे शरद् ऋतु के (उजले) बादलों से चन्द्रमा घिरता है, वहाँ पहुँचे।

उस सरोवर की शोभा को देखते ही उनके मन आनन्द और विस्मय से भर गये। यद्यपि उनकी रुचि भिन्न प्रकार की थी, तथापि वहाँ ठहरने के पक्ष में उनकी समान रुचि हुई ॥२२॥

अपनी अनेक विशेषताओं के कारण वह सरोवर मानससरोवर से भी बढ़ा-चढ़ा था। अतः चिरकाल तक वहाँ रमण करते हुए उनके मनमें मानससरोवर नहीं रहा ॥ २३ ॥

वहाँ उस अभय-घोषणा को सुनकर और पक्षियों के स्वच्छन्द विचरण को देख कर वे उस सरोवर की रूप-सम्पत्ति से आनन्दित हुए। वहाँ मानो उद्यान में विचरण करने के सुख को अनुभव करते हुए वे अत्यन्त प्रसन्न हुए।

अथ तस्मिन् सरस्यधिकृताः पुरुषास्तेषां हंसानां तत्रागमनं राज्ञे प्रत्यवेदयन्त—यादृशगुणरूपौ देव तौ हंसवर्यावनुश्रूयेते तादृशावेव [हंसवर्यौ] कनकावदातरुचिरपत्रौ तपनीयोज्ज्वलतरवदनचरणशोभावधिकतरप्रमाणौ सुसंस्थितदेहौ नैकहंसशतसहस्रपरिवारौ देवस्य सरः शोभयितुमिवानुप्राप्ताविति । अथ स राजा शाकुनिककर्मणि प्रसिद्धप्रकाशनैपुणं शाकुनिकगणे समन्विष्य तद्ग्रहणार्थं सादरमन्वादिदेश । स तथेति प्रतिश्रुत्य तयोर्हंसयोर्गोचरविहारप्रदेशं सम्यगुपलभ्य तत्र तत्र दृढान्निगूढान् पाशान् न्यदधात् । अथ तेषां हंसानां विश्वासादपायनिराशङ्कानां प्रमोदोद्धतमनसां विचरतां स हंसाधिपतिः पाशेन चरणे न्यबध्यत ।

विस्मृतात्ययशङ्कानां सूक्ष्मैर्विश्वासनक्रमैः ।
विकरोत्येव विश्रम्भः प्रमादापनयाकरः ॥ २४ ॥

अथ बोधिसत्त्वो मा भूदन्यस्यापि कस्यचित्तत्रैवंविधो व्यसनोपनिपात इति स्वविशेषेण सप्रतिभयतां सरसः प्रकाशयामास । अथ ते (हंसा) हंसाधिपतिबन्धाद्व्यथितहृदया भयविरसव्याकुलविरावाः परस्परनिरपेक्षा हतप्रवीरा इव सैनिका दिवं समुत्पेतुः । सुमुखस्तु हंससेनाधिपतिर्हंसाधिपतिसमीपान्नैव विचचाल ।

स्नेहावबद्धानि हि मानसानि
प्राणात्ययं स्वं न विचिन्तयन्ति ।
प्राणात्ययाद् दुःखतरं यदेषां
सुहृज्जनस्य व्यसनार्तिदैन्यम् ॥ २५ ॥

अथैनं बोधिसत्त्व उवाच—

गच्छ गच्छैव सुमुख क्षमं नेह विलम्बितुम् ।
साहाय्यस्यावकाशो हि कस्तवेत्थंगते मयि ॥ २६ ॥

सुमुख उवाच—

नैकान्तिको मृत्युरिह स्थितस्य
न गच्छतः स्यादजरामरत्वम् ।
सुखेषु च त्वां समुपास्य नित्य-
मापद्गतं मानद केन जह्याम् ॥ २७ ॥

स्वप्राणतन्तुमात्रार्थं त्यजतस्त्वां खगाधिप ।
धिग्वादवृष्ट्यावरणं कतमन्मे भविष्यति ॥ २८ ॥

नैष धर्मो महाराज त्यजेयं त्वां यदापदि ।
या गतिस्तव सा मह्यं रोचते विहगाधिप ॥ २९ ॥

तब उस सरोवर के अधिकारी पुरुषों ने उन हंसों के वहाँ आने का समाचार राजा से निवेदन किया—"हे देव, जैसे गुण और रूप वाले वे दो उत्तम हंस सुने जाते हैं वैसे ही गुण-रूपवाले, सोने के समान चमकीले मनोहर पंखवाले, सोने से भी उज्ज्वल मुखों और चरणों से सुशोभित, बड़े आकार के, सुगठित देह वाले दो हंस लाखों हंसों के साथ आपके सरोवर की शोभा बढ़ाने के लिए आये हुए हैं।"

तब उस राजा ने व्याधों के बीच पक्षी पकड़ने के कार्य में प्रसिद्ध निपुण व्याध को खोजकर उन हंसों को पकड़ने का सादर आदेश दिया। उसने 'ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा की और उन दो हंसों के गोचर और विचरण के स्थानों का अच्छी तरह पता लगाकर, वहाँ सुदृढ़ गुप्त फन्दे लगाये। वे हंस विश्वास के कारण अनिष्ट की आशङ्का से मुक्त होकर, आनन्द से विह्वल होकर विचरण कर रहे थे कि उनके राजा का चरण फन्दे में फँस गया।

असावधानी और अनीति को जन्म देनेवाला विश्वास उनका अनिष्ट करता ही है, जो विश्वास के सूक्ष्म उपायों के द्वारा, अनिष्ट की आशङ्का को भूल जाते हैं ॥ २४ ॥

कोई दूसरा भी इस विपत्ति में न पड़े, यह सोचकर बोधिसत्त्व ने ध्वनि-विशेष के द्वारा उस सरोवर की भयङ्करता प्रकाशित की। तब हंसों के राजा के बन्धन में पड़ने से वे हंस भयभीत होकर विरस बोली बोलते हुए, एक-दूसरे की उपेक्षा करते हुए, हतनायक सैनिकों के समान आकाश में उड़ गये। किन्तु हंसों का सेनापति सुमुख हंसों के राजा के पास से नहीं हटा।

स्नेह से बँधे हुए चित्त अपने प्राण-विनाश की चिन्ता नहीं करते हैं। इनके लिए अपने मित्रों का दुःखदैन्य प्राण-विनाश से भी दुःखदायी होता है ॥ २५ ॥

तब बोधिसत्त्व ने उसे कहा—

"जाओ, हे सुमुख, जाओ। यहाँ ठहरना उचित नहीं है। क्योंकि मेरे इस अवस्था में होनेपर तुम्हारे लिए सहायता का अवसर ही कहाँ है?" ॥ २६ ॥

सुमुख ने कहा—

"यहाँ ठहरनेपर मृत्यु अवश्यम्भावी नहीं है, न यहाँ से जाकर मैं अजर-अमर ही हो जाऊँगा। सुख में मैंने आपकी सर्वदा उपासना की है। विपत्ति में, हे मानद, मैं आपको कैसे छोड़ूँ? ॥ २७ ॥

हे पक्षि राज, अपने प्राणों की रक्षा के लिए मैं आपको छोड़ूँ तो मुझपर होनेवाली धिक्कारों की वृष्टि से बचने का क्या उपाय होगा! ॥ २८ ॥

हे महाराज, मैं विपत्ति में आपका परित्याग करूँ, यह धर्म नहीं है। हे पक्षिराज, आपकी जो गति होगी वही मुझे अपने लिए भी पसन्द है ॥ २९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

का नु पाशेन बद्धस्य गतिरन्या महानसात् ।
सा कथं स्वस्थचित्तस्य मुक्तस्याभिमता तव ॥ ३० ॥

पश्यस्येवं कमर्थं वा त्व ममात्मन एव वा ।
ज्ञातीनां वावशेषाणामुभयोर्जीवितक्षये ॥ ३१ ॥

लक्ष्यते च न यत्रार्थस्तमसीव समासमम् ।
तादृशे संत्यजन् प्राणान् कमर्थं द्योतयेद्भवान् ॥ ३२ ॥

सुमुख उवाच—

कथं नु पततां श्रेष्ठ धर्मेऽर्थं न समीक्षसे ।
धर्मो ह्युपचितः सम्यगावहत्यर्थमुत्तमम् ॥ ३३ ॥

सोऽहं धर्मं च संपश्यन् धर्माच्चार्थं समुत्थितम् ।
तव मानद भक्त्या च नाभिकाङ्क्षामि जीवितम् ॥ ३४ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

अद्धा धर्मः सतामेष यत्सखा मित्रमापदि ।
न त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोर्धर्ममनुस्मरन् ॥ ३५ ॥

तदर्चितस्त्वया धर्मो भक्तिर्मयि च दर्शिता ।
याच्ञामन्त्यां कुरुष्वेमां गच्छैवानुमतो मया ॥ ३६ ॥

अपि चैवंगते कार्ये यदूनं सुहृदां मया ।
तत्त्वया मतिसंपन्न भवेत्परमसंभृतम् ॥ ३७ ॥

परस्परप्रेमगुणादिति संजल्पतोस्तयोः ।
प्रत्यदृश्यत नैषादः साक्षान्मृत्युरिवापतन् ॥ ३८ ॥

अथ तौ हंसवर्यौ निषादमापतन्तमालोक्य तूष्णीं बभूवतुः । स च तद्धंसयूथं विद्रुतमालोक्य नूनमत्र कश्चिद्बद्ध इति निश्चितमतिः पाशस्थानान्यनुविचरंस्तौ हंसवर्यौ ददर्श । स तद्रूपशोभया विस्मितमना बद्धाविति मन्यमानस्तत्समापन्नौ पाशावुद्घट्टयामास । अथैकं बद्धबद्धेनेतरेण स्वस्थेनोपास्यमानमवेक्ष्य विस्मिततरहृदयः सुमुखमुपेत्योवाच—

अयं पाशेन महता द्विजः संहृतविक्रमः ।
व्योम नास्मात्प्रपद्येत मय्यप्यन्तिकमागते ॥ ३९ ॥

अबद्धस्त्वं पुनः स्वस्थः सज्जपत्त्ररथी बली ।
कस्मात्प्राप्तेऽपि मय्येवं वेगान्न भजसे नभः ॥ ४० ॥

तदुपश्रुत्य सुमुखः प्रव्यक्ताक्षरपदविन्यासेन स्वभाववर्णनाधैर्यगुणौजस्विना स्वरेण मानुषीं वाचमुवाच—

बोधिसत्व ने कहा—

"फन्दे में फँसे हुए की पाकशाला (में रन्धन) के अतिरिक्त दूसरी क्या गति हो सकती हैं ? बन्धन-मुक्त स्वस्थ-चित्त तुम्हें वह कैसे पसन्द है ? ॥ ३० ॥

इस प्रकार हम दोनों का प्राणान्त होनेपर, तुम मेरा या अपना हो या बचे हुए जाति-बन्धुओं का क्या लाभ (अभीष्ट) देखते हो ? ॥ ३१ ॥

जैसे अन्धकार में सम-असम नहीं दिखाई पड़ता है वैसे ही जहाँ लाभ नहीं दिखाई पड़ता वहाँ प्राण त्याग करते हुए तुम किस लाभ (अभीष्ट) को सिद्ध करोगे ?" ॥ ३२ ॥

सुमुख ने कहा—

"हे पक्षि श्रेष्ठ, आप धर्म से होनेवाले लाभ को क्यों नहीं देख रहे हैं ? यदि धर्म का सम्यक् पालन किया जाय तो उससे उत्तम लाभ होता है ॥ ३३ ॥

अतः धर्म और धर्म से होनेवाले लाभ को देखता हुआ तथा आपकी भक्ति से प्रेरित होकर हे मानद, मैं जीवन की आकाङ्क्षा नहीं करता हूँ" ॥ ३४ ॥

बोधिसत्व ने कहा—

"धर्म को स्मरण करता हुआ कोई मित्र विपत्ति में पड़े हुए मित्र को अपने जीवन के लिए भी न छोड़े, यही तो सज्जनों का धर्म है ॥ ३५ ॥

तुमने उस धर्म का पालन किया और मेरे प्रति भक्ति दिखलाई। अब मेरी अनुमति से तुम यहाँ से चले जाओ; मेरी इस अन्तिम प्रार्थना को मानो ॥ ३६ ॥

यह घटना घटित होनेपर मेरे विना मित्रों की जो कमी होगी उसकी, हे बुद्धिमान्, तुम पूर्ति करना" ॥ ३७ ॥

एक-दूसरे के प्रति प्रेमभाव से वे सम्भाषण कर ही रहे थे कि साक्षात् मृत्यु के समान आता हुआ निषाद (व्याध) दिखाई पड़ा ॥ ३८ ॥

निषाद को आते देखकर, दोनों श्रेष्ठ हंस चुप हो गये। और, हंसों के उस झुण्ड को उड़ा हुआ देखकर, अवश्य ही कोई यहाँ फँसा है, यह सोचकर फन्दे के स्थानों को खोजते हुए उसने उन श्रेष्ठ हंसों को देखा। उनकी रूप-शोभा से विस्मित होकर, दोनों फन्दे में फँसे हुए हैं, यह समझकर उसने उनके समीपवर्ती दो फन्दों को हिलाया। एक बँधा हुआ था और दूसरा बन्धन-रहित और स्वस्थ होकर पहले की उपासना कर रहा था, यह देखकर और भी विस्मित होते हुए उसने सुमुख के पास जाकर कहा—

"यह पक्षी महा-बन्धन में पड़कर शक्ति-हीन है, अतः मेरे समीप आनेपर भी यह आकाश में नहीं उड़ सकता है ॥ ३९ ॥

तुम तो बन्धन-रहित स्वस्थ बलवान् और पंखरूपी रथ से सुसज्जित हो। मेरे यहाँ आनेपर भी तुम क्यों नही वेगपूर्वक आकाश में उड़ जाते हो ?" ॥ ४० ॥

यह सुनकर सुमुख ने मनुष्य की वाणी में स्पष्ट अक्षरोंवाले शब्द-विन्यास से अपने स्वभाव और धैर्य का परिचय देते हुए कहा'—

शक्तिस्थः सन्न गच्छामि यदिदं तत्र कारणम् ।
अयं पाशपरिक्लेशं विहंगः प्राप्तवानिति ॥ ४१ ॥
अयं पाशेन महता संयतश्चरणे त्वया ।
गुणैरस्य तु बद्धोऽहमतो दृढतरैर्हृदि ॥ ४२ ॥

अथ स नैषादः परमविस्मितमतिः संहृषितनूरुहः सुमुख पुनरुवाच—

त्यक्त्वैनं मद्भयादन्ये दिशो हंसाः समाश्रिताः ।
त्वं पुनर्न त्यजस्येनं को न्वयं भवतो द्विजः ॥ ४३ ॥

सुमुख उवाच—

राजा मम प्राणसमः सखा च
सुखस्य दाता विषमस्थितश्च ।
नैवोत्सहे येन विहातुमेनं
स्वजीवितस्याप्यनुरक्षणार्थम् ॥ ४४ ॥

अथ सुमुखः प्रसादविस्मयावर्जितमानसं तं नैषादमवेत्य पुनरुवाच—

अप्यस्माकमियं भद्र संभाषा स्यात्सुखोदया ।
अप्यस्मान् विसृजन्नद्य धर्म्यां कीर्तिमवाप्नुयाः ॥ ४५ ॥

नैषाद उवाच—

नैव ते दुःखमिच्छामि न च बद्धो भवान् मया ।
स त्वं गच्छ यथाकामं पश्य बन्धूंश्च नन्दय ॥ ४६ ॥

सुमुख उवाच—

नो चेदिच्छसि मे दुःखं तत्कुरुष्व ममार्थनाम् ।
एकेन यदि तुष्टोसि तत्त्यजैनं गृहाण माम् ॥ ४७ ॥
तुल्यारोहपरीणाहौ समानौ वयसा च नौ ।
विद्धि निष्क्रय इत्यस्य न तेऽहं लाभहानये ॥ ४८ ॥
तदङ्ग समवेक्षस्व गृद्धिर्भवतु ते मयि ।
मां बध्नातु भवान् पूर्वं पश्चान्मुञ्चेद् द्विजाधिपम् ॥ ४९ ॥
तावानेव च लाभस्ते कृता स्यान्मम चार्थना ।
हंसयूथस्य च प्रीतिर्मैत्री तेन तथैव च ॥ ५० ॥

पश्यन्तु तावद्भवता विमुक्तं हंसाधिपं हंसगणाः प्रतीताः ।
विरोचमानं नभसि प्रसन्ने दैत्येन्द्रनिर्मुक्तमिवोडुराजम् ॥ ५१ ॥

अथ स नैषादः क्रूरताभ्यासकठिनहृदयोऽपि तेन तस्य जीवितनिरपेक्षेण स्वाम्यनुरागश्लाघिना कृतज्ञतागुणौजस्विना धैर्यमाधुर्यालंकृतवचसा समावर्जितहृदयो विस्मयगौरववशात्समानीताञ्जलिः सुमुखमुवाच—साधु साधु महाभाग !

"यह कि सशक्त होकर भी मैं नहीं जा रहा हूँ, इसका कारण है। यह पक्षी बन्धन-क्लेश को प्राप्त हुआ ॥ ४१ ॥

तुमने महा-बन्धन से इनके चरण को बाँधा है। किन्तु इससे भी सुदृढ़ इनके गुणों से मेरा हृदय बँधा हुआ है" ॥ ४२ ॥

तब निषाद ने अत्यन्त विस्मित और रोमाञ्चित होकर सुमुख से पुनः कहा—

"मेरे भय से दूसरे हंस इसे छोड़कर आकाश में चले गये। किन्तु तुम इसे नहीं छोड़ रहे हो। कहो यह पक्षी तुम्हारा कौन है?" ॥ ४३ ॥

सुमुख ने कहा—

"ये मेरे राजा प्राण-प्रिय मित्र, सुख देनेवाले और विपत्ति में साथ रहनेवाले हैं। यही कारण है कि अपने जीवन की रक्षा के लिए भी मैं इन्हें नहीं छोड़ सकता" ॥ ४४ ॥

निषाद का मन आनन्द और विस्मय से भर आया, यह जानकर सुमुख ने पुनः कहा—

"हे भद्र, हमारा यह संभाषण सुख-प्रद हो। हमें मुक्त करते हुए तुम धार्मिक कीर्ति प्राप्त करो" ॥ ४५ ॥

निषाद ने कहा—

"मैं तुम्हारा अनिष्ट नहीं चाहता हूँ। मैंने तुम्हें नहीं बाँधा है। अतः तुम इच्छानुसार जाओ, अपने बन्धुओं से मिलो और उन्हें आनन्दित करो" ॥ ४६ ॥

सुमुख ने कहा—

"यदि मेरा अनिष्ट नहीं चाहते हो तो मेरी प्रार्थना पूरी करो। यदि तुम एक से सन्तुष्ट हो तो इन्हें छोड़ दो, मुझे पकड़ लो ॥ ४७ ॥

हमारी ऊँचाई और विस्तार बराबर है, हम उम्र में भी बराबर हैं, अतः मुझे इनका मूल्य समझो, इससे तुम्हारे लाभ में कुछ हानि नहीं होगी ॥ ४८ ॥

अतः, हे भद्र, विचार करो, मुझ में तुम्हारी आसक्ति हो, पहले मुझे ही बाँध लो, पीछे खग राज को छोड़ना ॥ ४९ ॥

इससे तुम्हारा उतना ही लाभ होगा, मेरी प्रार्थना पूरी होगी। हंस-समूह को आनन्द होगा और उनकी मित्रता तुम्हें प्राप्त होगी ॥ ५० ॥

तब आप से मुक्त होकर निर्मल नभ में चमकते हुए हंस-राज को हंस-गण आनन्दपूर्वक देखें, जैसे दैत्य-राज से मुक्त होकर स्वच्छ आकाश में चमकते हुए ताराओं के अधिपति (चन्द्रमा) को देखते हैं" ॥ ५१ ॥

यद्यपि (व्याध का) क्रूर कर्म करते करते उसका हृदय कठोर हो गया था, तथापि उसके जीवन-निरपेक्ष स्वामि-भक्तिप्रकाशक कृतज्ञतापूर्ण तथा धैर्य और माधुर्य से अलङ्कृत वचन को सुनकर, उसका हृदय द्रवीभूत हो गया। तब विस्मय और सम्मान के कारण हाथ जोड़कर उसने सुमुख से कहा—"साधु साधु, हे महाभाग,

मानुषेष्वप्ययं धर्म आश्चर्यो दैवतेषु वा ।
स्वाम्यर्थं त्यजता प्राणान् यस्त्वयात्र प्रदर्शितः ॥ ५२ ॥

तदेष ते विमुञ्चामि राजानमनुमानयन् ।
को हि प्राणप्रियतरे तवास्मिन् विप्रियं चरेत् ॥ ५३ ॥

इत्युक्त्वा स नैषादस्तस्य नृपते संदेशमनादृत्य हंसराजं समनुमानयन् दयासुमुखं पाशान्मुमोच ॥ अथ सुमुखः सेनापतिर्हंसराजविमोक्षात्परमानन्दितहृदयः प्रीत्यभिस्निग्धमुदीक्षमाणो निषादमुवाच—

यथा सुहृन्नन्दन नन्दितोऽस्मि त्वयाद्य हंसाधिपतेर्विमोक्षात् ।
एवं सुहृज्ज्ञातिगणेन भद्र शरत्सहस्राणि बहूनि नन्द ॥ ५४ ॥

तन्मा तवायं विफलः श्रमो भूदादाय मां हंसगणाधिपं च ।
स्वस्थाववद्धावधिरोप्य काचमन्तःपुरे दर्शय भूमिपाय ॥ ५५ ॥

असंशयं प्रीतमनाः स राजा हंसाधिपं सानुचरं समीक्ष्य ।
दास्यत्यसंभावितविस्तराणि धनानि ते प्रीतिविवर्धनानि ॥ ५६ ॥

अथ नैषादस्तस्य निर्बन्धात् पश्यतु तावदत्यद्भुतमिदं हंसयुगं स राजेति कृत्वा तौ हंसमुख्यौ काचेनादाय स्वस्थाववद्धौ राज्ञे दर्शयामास ।

उपायनाश्चर्यमिदं द्रष्टुमर्हसि मानद ।
ससेनापतिरानीतः सोऽयं हंसपतिर्मया ॥ ५७ ॥

अथ स राजा प्रहर्षविस्मयापूर्णमतिर्दृष्ट्वा तौ हंसप्रधानौ काञ्चनपुञ्जाविव श्रियाभिज्वलन्मनोहररूपौ तं नैषादमुवाच—

स्वस्थाववद्धावमुकौ विहंगौ भूमिचारिणः ।
तव हस्तमनुप्राप्तौ कथं कथय विस्तरम् ॥ ५८ ॥

इत्युक्ते स नैषादः प्रणम्य राजानमुवाच—

निहिता बहवः पाशा मया दारुणदारुणाः ।
विहगाक्रीडदेशेषु पल्वलेषु सरस्सु च ॥ ५९ ॥

अथ विस्रम्भनिःशङ्को हंसवर्यश्चरन्नयम् ।
परिच्छन्नेन पाशेन चरणे समबध्यत ॥ ६० ॥

अवद्धस्तमुपासीनो मामयं समयाचत ।
आत्मानं निष्क्रयं कृत्वा हंसराजस्य जीवितम् ॥ ६१ ॥

विसृजन्मानुषीं वाचं विस्पष्टमधुराक्षराम् ।
स्वजीवितपरित्यागाद्याच्ञामप्यूर्जितक्रमाम् ॥ ६२ ॥

तेनास्य वाक्येन सुपेशलेन स्वाम्यर्थधीरेण च चेष्टितेन ।
तथा प्रसन्नोऽस्मि यथास्य भर्ता मया समं क्रूरतयैव मुक्तः ॥ ६३ ॥

आपने स्वामी के लिए प्राण परित्याग करते हुए यहाँ जिस धर्म को प्रदर्शित किया है वह मनुष्यों और देवताओं के लिए भी दुर्लभ है ॥ ५२ ॥

अतः मैं आपके राजा को सम्मानपूर्वक मुक्त करता हूँ। आपके प्राणों से भी प्रिय इनके प्रति कौन अप्रिय आचरण करे?" ॥ ५३ ॥

यह कहकर उस निषाद ने उस राजा के आदेश की उपेक्षा कर हंस-राज को सम्मानित करते हुए दयापूर्वक बन्धन-मुक्त किया। तब हंस-राज की मुक्ति से अत्यन्त आनन्दित होकर सेनापति सुमुख ने प्रेम और स्नेह से निषाद को देखते हुए कहा—

"हे मित्रों को आनन्दित करनेवाले, हंसाधिपति को मुक्त करते हुए तुमने आज जिस प्रकार मुझे आनन्दित किया है, उसी प्रकार, हे भद्र, अपने मित्र-बन्धुओं के साथ हजारों वर्षों तक आनन्द अनुभव करो ॥ ५४ ॥

तुम्हारा यह श्रम निष्फल न हो, अतः मुझे और हंसाधिपति को स्वस्थ और अबद्ध ही शिके में रखकर अन्तःपुर में राजा को दिखलाओ ॥ ५५ ॥

अमात्य-सहित हंसाधिपति को देखकर वह राजा प्रसन्नचित्त होकर निस्सन्देह तुम्हें कल्पना से भी अधिक धन देंगे, जिससे तुम्हारे आनन्द की वृद्धि होगी" ॥ ५६ ॥

तब उसके आग्रह से 'वह राजा इस अद्भुत हंस-युगल को देखें', यह सोचकर दोनों प्रधान हंसों को शिके में स्वस्थ और अबद्ध अवस्था में लेकर राजा को दिखलाया।

"हे मान देनेवाले, इस अद्भुत उपहार को देखिये। मैं सेनापति-सहित इस हंसाधिपति को ले आया हूँ" ॥ ५७ ॥

सोने के समान कान्तिमान मनोहर रूप वाले उन दो प्रधान हंसों को देखकर, राजा का मन आनन्द और आश्चर्य से भर गया। उसने निषाद से कहा—

"भूतल पर विचरण करनेवाले तुम्हारे हाथ में ये आकाशगामी पक्षी स्वस्थ और अबद्ध कैसे पहुँचे, यह विस्तारपूर्वक बतलाओ" ॥ ५८ ॥

इस प्रकार कहे जाने पर निषाद ने प्रणाम कर राजा से कहा—

"पक्षियों के क्रीडा-स्थानों में जलाशयों में और सरोवरों में मैंने अनेक दारुण पाश (फाँस) लगाये ॥ ५९ ॥

तब यह श्रेष्ठ हंस विश्वास के कारण निश्शङ्क भाव से विचरण कर रहे थे कि इनका पैर छिपे हुए फाँस में बँध गया ॥ ६० ॥

इनके समीप अबद्ध (विना बँधे ही) बैठे हुए इस दूसरे ने अपने को मूल्य बनाकर मुझ से हंसराज के जीवन की याचना की ॥ ६१ ॥

यह स्पष्ट और मधुर अक्षरोंवाली मनुष्य की वाणी में बोले। प्राण-परित्याग के सङ्कल्प से इनकी याचना ओजस्विनी थी ॥ ६२ ॥

इनकी कोमल वाणी से और स्वामी के लिए धैर्यपूर्ण चेष्टा से मैं इतना प्रसन्न हुआ कि मैंने अपने कठोर स्वभाव को और साथ ही इनके स्वामी को छोड़ दिया ॥ ६३ ॥

अथ विहगपतेरयं विमोक्षान्मुदितमतिर्बहुधा वदन् प्रियाणि ।
त्वदभिगम इति न्ययोजयन्मां विफलगुरुः किल मा मम श्रमो भूत् ॥६४॥

तदेवमतिधार्मिकः खगवराकृतिः कोऽप्यसौ
ममापि हृदि मार्दवं जनितवान् क्षणेनैव यः ।
खगाधिपतिमोक्षणं कृतमनुस्मरन् मत्कृते
सहाधिपतिनागतः स्वयमयं च तेऽन्तःपुरम् ॥ ६५ ॥

तदुपश्रुत्य स राजा सप्रमोदविस्मयेन मनसा विविधरत्नप्रमोद्भासुरसुरुचिरपादं परार्ध्यास्तरणरचनाभिरामं श्रीमत्सुखोपाश्रयसाटोपमुपहितपादपीठं राजाध्यासनयोग्यं काञ्चनमासनं हंसराजाय समादिदेश, अमात्यमुख्याध्यासनयोग्यं च वेत्रासनं सुमुखाय ॥ अथ बोधिसत्त्वः काल इदानीं प्रतिसंमोदितुमिति नूपुरारावमधुरेण स्वरेण राजानमाबभाषे—

द्युतिकान्तिनिकेतने शरीरे कुशलं ते कुशलार्हं कच्चिदस्मिन् ।
अपि धर्मशरीरमव्रणं ते विपुलैरुच्छ्वसितीव वाक्प्रदानैः ॥ ६६ ॥

अपि रक्षणदीक्षितः प्रजानां समयानुग्रहविग्रहप्रवृत्त्या ।
अभिवर्धयसे स्वकीर्तिशोभामनुरागं जगतो हितोदयं च ॥ ६७ ॥

अपि शुद्धतयोपधास्वसक्तैरनुरक्तैर्निपुणक्रियैरमात्यैः ।
समवेक्षयसे हितं प्रजानां न च तत्रासि परोक्षबुद्धिरेव ॥ ६८ ॥

नयविक्रमसंहृतप्रतापैरपि सामन्तनृपैः प्रयाच्यमानः ।
उपयासि दयानुवृत्तिशोभां न च विश्वासमयीं प्रमादनिद्राम् ॥ ६९ ॥

अपि धर्मसुखार्थनिर्विरोधास्तव चेष्टा नरवीर सज्जनेष्टाः ।
वितता इव दिक्षु कीर्तिसिद्ध्या रिपुभिर्निश्वसितैरसत्क्रियन्ते ॥ ७० ॥

अथैनं स नृपतिः प्रमोदादभिव्यज्यमानेन्द्रियप्रसादः प्रत्युवाच—

अद्य मे कुशलं हंस सर्वत्र च भविष्यति ।
चिराभिलषितः प्राप्तो यदयं सत्समागमः ॥ ७१ ॥

त्वयि पाशवशं प्राप्ते प्रहर्षोद्धतचापलः ।
कच्चिन्नायमकार्षीत्ते दण्डेनाभिरुजन् रुजम् ॥ ७२ ॥

एवं ह्यमीषां जाल्मानां पक्षिणां व्यसनोदये ।
प्रहर्षाकुलिता बुद्धिरापतत्येव कल्मषम् ॥ ७३ ॥

तब पक्षि राज की मुक्ति से प्रसन्नचित्त होकर यह बार बार प्रिय वचन बोलने लगे। मेरा श्रम निष्फल और दुःखद न हो, यह सोचकर मुझे आपके समीप चलने के लिए प्रेरित किया ॥ ६४ ॥

इस प्रकार हंस के रूप में यह कोई महाधार्मिक है, जिसने क्षण में ही मेरे मन को मृदु कर दिया। पक्षिराज की मुक्ति को स्मरण करते हुए, मेरे लिए ही यह अपने राजा के साथ स्वयं आपके अन्तःपुर में आये हैं" ॥ ६५ ॥

यह सुनकर राजा का मन आनन्द और विस्मय से भर गया। उसने विविध रत्नों की प्रभा से उद्भासित मनोहर पैरवाले, बहुमूल्य बिछावन (चादर) से सुसज्जित, सुखद गद्दे से फुले हुए पाद-पीठ से युक्त, राजा के बैठने योग्य, सुन्दर स्वर्ण-आसन का आदेश हंसराज के लिए दिया तथा मुख्य अमात्य के बैठने योग्य बेंत के आसन का आदेश सुमुख के लिए दिया। तब यह समय प्रतिसंमोदन[1] करने का है, यह सोचकर बोधिसत्त्व ने नूपुर की ध्वनि के समान मधुर ध्वनि में राजा से कहा—

"हे कुशल की योग्यता रखनेवाले, आपका यह द्युतिमान् कान्तिमान् शरीर सकुशल तो है ? आपका स्वस्थ धर्म शरीर विपुल धार्मिक प्रवचनों और दानों से पुलकित होता रहता है न ? ॥ ६६ ॥

प्रजाओं के रक्षण-कार्य में दीक्षित (तत्पर) आप समयानुसार दया और दण्ड के द्वारा अपनी कीर्ति लोक-अनुराग और लोक-हित-साधन की वृद्धि करते हैं न ? ॥ ६७ ॥

शुद्ध निष्कपट अनुरक्त और कार्यकुशल अमात्यों के द्वारा आप प्रजाओं के कल्याण का निरीक्षण तो करवाते हैं ? इस विषय में केवल परोक्ष दर्शी तो नहीं हैं (प्रत्यक्ष-दर्शी भी तो हैं) ? ॥ ६८ ॥

नीति और पराक्रम के द्वारा आपने जिनके प्रताप का संहार किया है उन सामन्त राजाओं की प्रार्थना पर आप दया तो करते हैं ? और, विश्वास की प्रमाद-निद्रा में मग्न तो नहीं होते हैं ? ॥ ६९ ॥

हे नर-वीर, धर्म अर्थ और काम के अनुरूप आपके कार्य सज्जनों को पसन्द तो हैं ? आपकी अर्जित कीर्ति से दिशाओं में मानो व्याप्त आपके कार्य शत्रुओं की साँसों से तिरस्कृत तो होते हैं ?" ॥ ७० ॥

तब आनन्द से इन्द्रिय-गत शान्ति को व्यक्त करते हुए राजा ने उन्हें उत्तर दिया—

"हे हंस, आज से मेरा सब कुशल है, क्योंकि बहुत दिनों से आकांक्षित यह सत्संग प्राप्त हुआ ॥ ७१ ॥

आपके पाश-बद्ध होनेपर हर्ष से उद्धत होकर इसने दण्ड-प्रहार से आपको पीड़ा तो नहीं पहुँचाई ? ॥ ७२ ॥

पक्षियों पर विपत्ति के आने पर ये दुष्ट हर्ष से उद्धतचित्त होकर इसी प्रकार दुष्टता करते ही हैं" ॥ ७३ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

क्षेममासीन्महाराज सत्यामप्येवमापदि ।
न चायं किंचिदस्मासु शत्रुवत्प्रत्यपद्यत ॥ ७४ ॥

अबद्धं बद्धवदयं मत्स्नेहात्सुमुखं स्थितम् ।
दृष्ट्वाभाषत साम्नैव सकौतूहलविस्मयः ॥ ७५ ॥

सूनृतैरस्य वचनैरथावर्जितमानसः ।
मामयं व्यमुचत्पाशाद्विनयादनुमानयन् ॥ ७६ ॥

अतश्च सुमुखेनेदं हितमस्य समीहितम् ।
इहागमनमस्माकं स्यादस्यापि सुखोदयम् ॥ ७७ ॥

नृपतिरुवाच—

आकाङ्क्षिताभिगमयोः स्वागतं भवतोरिह ।
अतीव प्रीणितश्चास्मि युष्मत्संदर्शनोत्सवात् ॥ ७८ ॥

अयं च महतार्थेन नैषादोऽद्य समेष्यति ।
उभयेषां प्रियं कृत्वा महदर्हत्ययं प्रियम् ॥ ७९ ॥

इत्युक्त्वा स राजा तं नैषादं महता धनवस्त्रप्रदानेन संमान्य पुनर्हंसराजमुवाच—

इमं स्वमावासमुपागतौ युवां विसृज्यतां तन्मयि यन्त्रणाव्रतम् ।
प्रयोजनं येन यथा तदुच्यतां भवत्सहाया हि विभूतयो मम ॥ ८० ॥

अशङ्कितोक्तैः प्रणयाक्षरैः सुहृत् करोति तुष्टिं विभवस्थितस्य याम् ।
न तद्विधां लम्भयते स तां धनैर्महोपकारः प्रणयः सुहृत्स्वतः ॥ ८१ ॥

अथ स राजा सुमुखसंभाषणकुतूहलहृदयः सविस्मयमभिवीक्ष्य सुमुखमुवाच—

अलब्धगाधा नवसंस्तवे जने न यान्ति कामं प्रणयप्रगल्भताम् ।
वचस्तु दाक्षिण्यसमाहिताक्षरं न ते न जल्पन्त्युपचारशोभरम् ॥ ८२ ॥

संभाषणेनापि यतः कर्तुमर्हति नो भवान् ।
साफल्यं प्रणयाशायाः प्रीतेश्चोपचयं हृदि ॥ ८३ ॥

इत्युक्ते सुमुखो हंससेनापतिर्विनयादभिप्रणम्यैनमुवाच—

महेन्द्रकल्पेन सह त्वया संभाषणोत्सवः ।
इति दर्शितसौहार्दे कस्य नातिमनोरथः ॥ ८४ ॥

संभाषमाणे तु नराधिपे च सौहार्दरम्यं विहगाधिपे च ।
तत्संकथामध्यमुपेत्य धार्ष्ट्यान्नान्वक्रमः प्रेष्यजनस्य वक्तुम् ॥ ८५ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—

"हे महाराज इस विपत्ति में भी हम सकुशल ही थे। इसने हमारे प्रति शत्रु के समान कोई आचरण नहीं किया ॥ ७४ ॥

बन्धन में नहीं होनेपर भी मेरे स्नेह के कारण बँधे हुए के समान स्थित सुमुख को देखकर, कुतूहल और विस्मय के वशीभूत होकर इसने शान्तिपूर्वक ही सुमुख से संभाषण किया ॥ ७५ ॥

इसके सत्य और मधुर वचनों से इसका मन मृदु हो गया। विनय और सम्मान के साथ इसने मुझे बन्धन-मुक्त कर दिया ॥ ७६ ॥

अतः सुमुख ने इसका यह हित सोचा कि यहाँ हमारा आगमन इसके लिए भी सुख-कारी हो" ॥ ७७ ॥

राजा ने कहा—

"मैंने आप दोनों के आगमन की आकाङ्क्षा की है। आपका यहाँ स्वागत है। मैं आपके दर्शनरूप उत्सव से अत्यन्त आनन्दित हूँ ॥ ७८ ॥

यह निषाद आज बहुत धन पायेगा। इसने आप दोनों का प्रिय किया है। यह महा-पुरस्कार के योग्य है" ॥ ७९ ॥

यह कहकर राजा ने उस निषाद को बहुत धन देकर सम्मानित किया। फिर हंस-राज से कहा—

"आप दोनों यहाँ अपने-ही निवास में आये हुए हैं। अतः मेरे प्रति संकोच को छोड़िये। जिस चीज से जितना प्रयोजन हो वह कहिये। मेरी सम्पत्ति आपकी सहायता के लिए है ॥ ८० ॥

निश्शङ्क भाव से कहे गये प्रार्थना (प्रयोजन) के शब्दों से कोई मित्र अपने सम्पत्तिशाली मित्र को जितना आनन्द देता है उतना वह अपने धनों से नहीं पाता है। अतः मित्रों से की गई प्रार्थना महान् उपकार है" ॥ ८१ ॥

तब सुमुख के साथ संभाषण के लिए उत्सुक होकर राजा ने उसे विस्मय के साथ देखते हुए कहा—

"नव-परिचित व्यक्ति के हृदय में जिन्होंने स्थान नहीं पाया है वे अपने प्रणय (प्रयोजन) को प्रकट नहीं करते, यह ठीक है; किन्तु वे उदारतापूर्ण औपचारिक वचन बोलेंगे ही ॥८२॥

आप संभाषण के द्वारा भी प्रेम-प्राप्ति की हमारी आशा को सफल करें और हमारे हृदय में आनन्द की वृद्धि करें" ॥ ८३ ॥

इतना कहे जाने पर हंस-सेनापति सुमुख ने सविनय प्रणाम करते हुए उन्हें कहा—

"इन्द्र-तुल्य आपके साथ संभाषण उत्सव के समान है। इस प्रकार से मित्रता प्रदर्शित होनेपर आपके साथ संभाषण किसका अतिमनोरथ न हो ? ॥ ८४ ॥

जब मनुष्यों के अधिपति और हंसों के अधिपति मित्रतापूर्ण सरस बातें कर रहे हों, तब उनकी बातों के बीच में धृष्टता से पड़कर सेवक का बोलना अनुचित है ॥ ८५ ॥

न ह्येष मार्गो विनयाभिजातस्तं चैव जानन् कथमभ्युपेयाम् ।
तूष्णीं महाराज यतः स्थितोऽहं तन्मर्षणीयं यदि मर्षणीयम् ॥ ८६ ॥

इत्युक्ते स राजा सप्रहर्षविस्मयवदनः संराधयन् सुमुखमुवाच—

स्थाने भवद्गुणकथा रमयन्ति लोकं
स्थानेऽसि हंसपतिना गमितः सखित्वम् ।
एवंविधं हि विनयं नयसौष्ठवं च
नैवाकृतात्महृदयानि समुद्वहन्ति ॥ ८७ ॥

तदियं प्रस्तुता प्रीतिर्विच्छिद्येत यथा न नः ।
तथैव मयि विस्रम्भ अजर्यं ह्यार्यसंगतम् ॥ ८८ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तस्य राज्ञः परां प्रीतिकामतामवेत्य स्नेहप्रवृत्तिसुमुखतां च संराधयन्नित्रोचदेनम्—

यत्कृत्यं परमे मित्रे कृतमस्मासु तत्त्वया ।
संस्तवे हि नवेऽप्यस्मिन् स्वमाहात्म्यानुवर्तिना ॥ ८९ ॥

कश्च नाम महाराज नावलम्ब्येत चेतसि ।
संमानविधिनानेन यस्त्वयास्मासु दर्शितः ॥ ९० ॥

प्रयोजनं नाम कियत्किमेव वा मदाश्रयं मानद यत्त्वमीक्षसे ।
प्रियातिथित्वं गुणवत्सलस्य ते प्रवृत्तमभ्यासगुणादिति ध्रुवम् ॥ ९१ ॥

न चित्रमेतत्त्वयि वा जितात्मनि प्रजाहितार्थं धृतपार्थिवव्रते ।
तपःसमाधानपरे मुनाविव स्वभाववृत्त्या हि गुणास्त्वयि स्थिताः ॥ ९२ ॥

इति प्रशंसासुभगाः सुखा गुणा न दोषदुर्गेषु वसन्ति भूतयः ।
इमां विदित्वा गुणदोषधर्मतां सचेतनः कः स्वहितोत्पथं भजेत् ॥ ९३ ॥

न देशमाप्नोति पराक्रमेण तं न कोशवीर्येण न नीतिसंपदा ।
श्रमव्ययाभ्यां नृपतिर्विनैव यं गुणाभिजातेन पथाधिगच्छति ॥ ९४ ॥

सुराधिपश्रीरपि वीक्षते गुणान् गुणोदितानेव परैति संनतिः ।
गुणेभ्य एव प्रभवन्ति कीर्तयः प्रभावमाहात्म्यमिति श्रितं गुणान् ॥ ९५ ॥

अमर्षदर्पोद्भवकर्कशान्यपि प्ररूढवैरस्थिरमत्सराण्यपि ।
प्रसादयन्त्येव मनांसि विद्विषां शशिप्रकाशाधिककान्तयो गुणाः ॥ ९६ ॥

तदेवमेव क्षितिपाल पालयन् महीं प्रतापानतदृप्तपार्थिवाम् ।
अमन्दशोभैर्विनयादिभिर्गुणैर्गुणानुरागं जगतां प्रबोधय ॥ ९७ ॥

प्रजाहितं कृत्यतमं महीपतेस्तदस्य पन्था ह्युभयत्र भूतये ।
भवेच्च तद्राजनि धर्मवत्सले नृपस्य वृत्तं हि जनोऽनुवर्तते ॥ ९८ ॥

यह मार्ग विनय का नहीं है, यह जानता हुआ मैं इसमें कैसे पड़ता? हे महाराज, यही कारण है कि मैं चुप हूँ। अतः यदि आप क्षमा के योग्य समझें तो क्षमा करें" ॥ ८६ ॥

इतना कहे जानेपर राजा ने अपने मुखमण्डल से हर्ष और विस्मय को व्यक्त करते हुए, सुमुख की प्रशंसा में कहा—

"ठीक ही आपके सद्‌गुणों की कथा लोगों को आनन्द देती है। ठीक ही आप हंसराज के मित्र हुए। यह विनय और नीतिनिपुणता असंयतात्माओं में नहीं पाई जाती है ॥ ८७ ॥

मुझपर विश्वास कीजिये, जिससे हमारी यह नई मित्रता छिन्न न हो। क्योंकि सज्जनों की मित्रता कभी क्षीण नहीं होती है" ॥ ८८ ॥

वह राजा मित्रता के लिए अत्यन्त इच्छुक है, स्नेह-प्रदर्शन के लिए उत्सुक है, यह जानकर बोधिसत्त्व ने उसकी प्रशंसा में कहा—

"यद्यपि यह परिचय नया है, तथापि परम मित्र के प्रति जो किया जाना चाहिए वह आपने अपने माहात्म्य के अनुसार ही किया ॥ ८९ ॥

आपने हमारे प्रति जो सम्मान प्रकट किया है, उसके द्वारा ऐसा कौन है, जो हृदय में स्थान न प्राप्त कर ले ॥ ९० ॥

हे मानद, आप मेरा जो प्रयोजन देखते हैं वह क्या और कितना हो सकता है? आप गुणानुरागी की अतिथिप्रियता अभ्यास से ही उत्पन्न हुई है ॥ ९१ ॥

या जितेन्द्रिय, प्रजा-हित के लिए राज-धर्म का पालन करनेवाले, मुनि के समान तपस्वी आपके लिए यह (अतिथिप्रियता) आश्चर्य-जनक नहीं है; क्योंकि आप स्वभावतः गुणों के निवास-स्थान हैं ॥ ९२ ॥

गुण प्रशंसनीय और सुखद होते हैं। जहाँ दोषों का निवास है वहाँ सम्पत्ति या शुभ नहीं रहता है। गुण और दोष के इस स्वभाव को जानकर कौन ज्ञानी अपने हित के विरोधी मार्गपर चलेगा? ॥ ९३ ॥

राजा पराक्रम सम्पत्ति या नीति से उस पद को नहीं प्राप्त कर सकता है, जिसे श्रम और व्यय के विना ही वह गुणों के मार्गपर चलकर प्राप्त करता है ॥ ९४ ॥

देवेन्द्र की लक्ष्मी भी गुणों को देखती है, विनम्रता गुणियों के ही पास जाती है, गुणों से ही कीर्ति होती है और महाप्रभाव गुणों पर आश्रित है ॥ ९५ ॥

चन्द्रमा के प्रकाश से भी अधिक मनोहर गुण, क्रोध अभिमान और औद्धत्य से कठोर तथा वैर-द्वेष से ग्रस्त शत्रुओं के मन को भी निर्मल करते हैं ॥ ९६ ॥

अतः इस प्रकार, हे भूपाल, अत्यन्त शोभायमान विनय आदि गुणों से इस पृथ्वी का, जिसके अभिमानी राजा आपके प्रताप से झुक गये हैं, पालन करते हुए, लोगों के हृदय में गुणों के प्रति अनुराग उत्पन्न कीजिये ॥ ९७ ॥

लोक-कल्याण राजा का परम कर्तव्य है, उसका मार्ग इहलोक और परलोक में कल्याण-कारी है। धर्म-प्रिय राजा में वह होना चाहिए; क्योंकि प्रजा राजा के आचरण का अनुसरण करती है ॥ ९८ ॥

प्रशाधि धर्मेण वसुंधरामतः करोतु रक्षां त्रिदशाधिपश्च ते ।
त्वदन्तिकास्सश्रितभावनादपि स्वयूथ्यदुःखं तु विकर्षतीव माम् ॥ ९९ ॥

अथ स राजा समभिनन्द्य तत्तस्य वचनं सपर्षत्कः संमानप्रियवचनप्रयोगपुरःसरं तौ हंसमुख्यौ विससर्ज । अथ बोधिसत्त्वः समुत्पत्य विमलखड्गाभिनीलं शरत्प्रसन्नशोभं गगनतलं प्रतिबिम्बेनेवानुगम्यमानः सुमुखेन हंससेनापतिना समुपेत्य हंसयूथं संदर्शनादेव परेण प्रहर्षेण संयोजयामास ।

कालेन चोपेत्य नृपं स हंसः परानुकम्पाव्यसनी सहंसः ।
जगाद धर्मं क्षितिपेन तेन प्रत्यर्च्यमानो विनयानतेन ॥ १०० ॥

तदेवं विनिपातगतानामपि सतां वृत्तं नालमनुगन्तुमसत्पुरुषाः प्रागेव सुगतिस्थानामिति । एवं कल्याणी वागुभयहितावहा भवतीति कल्याणवचनप्रशंसायामप्युपनेयम् । कल्याणमित्रवर्णेऽपि वाच्यम्, एवं कल्याणमित्रवतां कृच्छ्रेऽप्यर्थाः संसिध्यन्तीति । स्थविरार्यानन्दपूर्वसमागप्रदर्शने च, एवमयं स्थविरः सहचरितचरणो बोधिसत्त्वेन चिरकालाभ्यस्तप्रेमबहुमानो भवतीति ॥

॥ इति हंस-जातकं द्वाविंशतितमम् ॥

---

२३. महाबोधि-जातकम्

असत्कृतानामपि सत्पुरुषाणां पूर्वोपकारिष्वनुकम्पा न शिथिलीभवति कृतज्ञत्वात् क्षमासात्म्याच्च । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान् महाबोधिर्नाम परिव्राजको बभूव । स गृहस्थभाव एव परिविदितक्रमव्यायामो लोकाभिमतानां विद्यास्थानानां कृतज्ञानकौतूहलश्चित्रासु च कलासु प्रव्रज्याश्रयाल्लोकहितोद्योगाच्च विशेषवत्तरं धर्मशास्त्रेष्ववहितमतिस्तेष्वाचार्यकं पदमवाप । स कृतपुण्यत्वाज्ज्ञानमाहात्म्याल्लोकज्ञतया प्रतिपत्तिगुणसौष्ठवाच्च यत्र यत्र गच्छति स्म तत्र तत्रैव विदुषां विद्वत्प्रियाणां च राज्ञां ब्राह्मणगृहपतीनामन्यतीर्थिकानां च प्रव्रजितानामभिगमनीयो भावनीयश्च बभूव ।

गुणा हि पुण्याश्रयलब्धदीप्तयो गताः प्रियत्वं प्रतिपत्तिशोभया ।
अपि द्विषन्मयः स्वयशोनुरक्षया भवन्ति सत्कारविशेषभागिनः ॥ १ ॥

अतः आप धर्मपूर्वक लोक-शासन करें और देवेन्द्र आपकी रक्षा करें। यद्यपि आपका सान्निध्य आपके आश्रितों को पवित्र करनेवाला है, तथापि अपने झुण्ड का दुःख मुझे यहाँ से खींच रहा है'' ॥ ९९ ॥

तब राजा ने अपनी सभा के साथ उनके उस वचन का अभिनन्दन किया तथा सम्मान-पूर्वक मीठी बोली बोलकर दोनों प्रधान हंसों को विदा किया। तब अपने प्रतिबिम्ब के समान हंस-सेनापति सुमुख के साथ बोधिसत्त्व विमल तलवार के समान नीले तथा शरद् ऋतु की निर्मल शोभा से युक्त आकाश में उड़ गये। हंसों के पास पहुँचकर उन्होंने अपने दर्शन से ही उन्हें अत्यन्त आनन्दित किया।

काल-क्रम से दूसरोंपर अनुकम्पा करनेवाले हंसराज अपने हंसों के साथ उस राजा के पास पहुँचे। विनयावनत राजा के द्वारा पूजित होकर बोधिसत्त्व ने धर्मोपदेश किया ॥ १०० ॥

इस प्रकार दुर्जन दुर्गति में भी पड़े हुए सज्जनों के आचरण का अनुसरण नहीं कर सकते हैं तो सुगति में स्थित सज्जनों का कहाँ से कर सकेंगे? इस प्रकार कल्याणकारी वचन (वक्ता और श्रोता) दोनों के लिए ही हितकारी होता है। अतः कल्याणकारी वचन की प्रशंसा में इसे उपस्थित करना चाहिए। कल्याणकारी मित्र के वर्णन में भी कहना चाहिए, इस प्रकार कल्याणकारी मित्रवालों के कार्य सङ्कट में भी सिद्ध होते हैं। स्थविर आनन्द अपने पूर्व जन्मों में (भगवान् के) साथी थे, यह दिखलाने के लिए भी कहना चाहिए। इस प्रकार यह स्थविर बोधिसत्त्व के क्रिया-कलाप में साथी थे और चिरकालतक उनके प्रति प्रेम और सम्मान का अभ्यास किया।

हंस-जातक बाइसवाँ समाप्त।

---

२३. महाबोधि-जातक

अपमानित होनेपर भी कृतज्ञता और क्षमाशीलता के कारण सज्जनों की दया उनके प्रति क्षीण नहीं होती है जिन्होंने पूर्व में उपकार किया है। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

यह भगवान् जब बोधिसत्त्व थे तब एक बार महाबोधि नामक परिव्राजक हुए। गृहस्था-वस्था में ही उन्होंने लोकप्रिय विद्याओं का विधिवत् अभ्यास किया तथा विविध कलाओं की ज्ञानपिपासा शान्त की। प्रव्रज्या (संन्यास) लेकर लोक-हित के लिए उद्योग करते हुए उन्होंने धर्मशास्त्रों के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया तथा उनमें आचार्य का पद प्राप्त किया। अपने पुण्य-बल ज्ञान-माहात्म्य लोक-ज्ञान और सुन्दर आचरण के कारण वे जहाँ जाते थे वहीं विद्वानों, विद्वानों के प्रिय राजाओं, ब्राह्मण-गृहस्थों और अन्य मतावलम्बियों से स्वागत-सत्कार और सम्मान प्राप्त करते थे।

गुण पुण्य के आश्रय से चमक उठते हैं और आचरण से लोकप्रिय बन जाते हैं। शत्रु भी अपने यश की रक्षा के लिए इन गुणों का विशेष सत्कार करते हैं ॥ १ ॥

अथ स महात्मा लोकानुग्रहार्थमनुविचरन् ग्रामनगरनिगमजनपदराष्ट्रराजधानीरन्यतमस्य राज्ञो विषयान्तरमुपजगाम। श्रुतगुणविस्तरप्रभावस्तु स राजा तस्यागमनं दूरत एवोपलभ्य प्रीतमना रमणीये स्वस्मिन्नुद्यानवनप्रदेशे तस्यावसथं कारयामास। अभ्युद्गमनादिसत्कारपुरःसरं चैनं प्रवेश्य स्वविषयं शिष्य इवाचार्यं परिचरणपर्युपासनविधिना संमानयामास।

विभूतिगुणसंपन्नमुपेतः प्रणयाद् गृहम्।
गुणप्रियस्य गुणवानुत्सवातिशयोऽतिथिः॥ २॥

बोधिसत्त्वोऽपि चैनं श्रुतिहृदयह्लादिनीभिर्धर्म्याभिः कथाभिः श्रेयोमार्गमनुप्रतिपादयमानः प्रत्यहमनुजग्राह।

अदृष्टभक्तिष्वपि धर्मवत्सला
हितं विवक्षन्ति परानुकम्पिनः।
क एव वादः शुचिभाजनोपमे
हितार्थिनि प्रेमगुणोत्सुके जने॥ ३॥

अथ तस्य राज्ञोऽमात्या लब्धविद्वत्संभावना लब्धसंमानाश्च सदस्याः प्रत्यहमभिवर्धमानसत्कारां बोधिसत्त्वस्य गुणसमृद्धिमीर्ष्योपहतबुद्धित्वान्न सेहिरे।

स्वगुणातिशयोदितैर्यशोभिर्जगदावर्जनदृष्टशक्तियोगः।
रचनागुणमात्रसत्कृतेषु ज्वलयत्येव परेष्वमर्षवह्निम्॥ ४॥

प्रसह्य चैनं शास्त्रकथास्वभिभवितुमशक्ता धर्मप्रसङ्गममृष्यमाणाश्च राज्ञस्तेन तेन क्रमेण राजानं बोधिसत्त्वं प्रति विग्राहयामासुः—नार्हति देवो बोधिपरिव्राजके विश्वासमुपगन्तुम्। व्यक्तमयं देवस्य गुणप्रियतां धर्माभिमुखतां चोपलभ्य व्यसनप्रतारणश्लक्ष्णशठमधुरवचनः प्रवृत्तिसंचारणहेतुभूतः कस्यापि प्रत्यर्थिनो राज्ञो निपुणः प्रणिधिप्रयोगः। तथा हि धर्मात्मको नाम भूत्वा देवमेकान्तेन कारुण्यप्रवृत्तौ ह्रीदैन्ये च समनुशास्ति, अर्थकामोपरोधिषु च क्षत्रधर्मबाह्येष्वासन्नापनयेषु धर्मसमादानेषु दयानुवृत्त्या च नाम ते कृत्यपक्षसाश्वासनविधिनोपगृणीते प्रियसंस्तवश्चान्यराजदूतैः। न चायमविदितवृत्तान्तो राजशास्त्राणाम्। अतः साशङ्कान्यत्र नो हृदयानीति। अथ तस्य राज्ञः पुनः पुनर्भेदोपसंहितं हितमिव बहुभिरुच्यमानस्य बोधिसत्त्वं प्रति परिशङ्कासंकोचितस्नेहगौरवप्रसरमन्यादृशं चित्तमभवत्।

पैशुन्यवज्राशनिसंनिपाते भीमस्वने चाशनिसंनिपाते।
विस्रम्भवान्मानुषमात्रधैर्यः स्यान्निर्विकारो यदि नाम कश्चित्॥ ५॥

तब वह महात्मा लोगों पर अनुग्रह करने के लिए ग्रामों नगरों निगमों देशों राज्यों और राजधानियों में विचरण करते हुए, किसी राजा के राज्य में पहुँचे। उनके गुणों का प्रभाव सुनकर, दूर से ही उनके आगमन का समाचार पाकर, प्रसन्नचित्त हो, उस राजा ने अपने उद्यान के रमणीय स्थान में उनके लिए निवास बनवाया। अगवानी आदि सत्कार के साथ उन्हें अपने राज्य में प्रवेश कराया तथा जैसे शिष्य आचार्य की, उसी प्रकार उनकी परिचर्या और उपासना करते हुए उन्हें सम्मानित किया।

सम्पन्न घर में प्रेमपूर्वक आया हुआ गुणवान् अतिथि गुणानुरागी (गृहपति) के लिए महोत्सव के समान है ॥ २ ॥

और, बोधिसत्त्व ने भी कान और हृदय को आनन्द देनेवाली धार्मिक कथाओं से प्रतिदिन उन्हें कल्याण-मार्ग का उपदेश देते हुए अनुगृहीत किया।

दूसरों पर दया करनेवाले धर्मानुरागी पुरुष उन्हें भी कल्याण की बात कहना चाहते हैं, जिनकी भक्ति नहीं देखी गई है। तब कल्याणकामी प्रेमी सत्पात्र का क्या कहना ? ॥ ३ ॥

जब राजा के प्रतिष्ठित सभासदों और विद्वानों का सत्कार पानेवाले अमात्यों ने देखा कि बोधिसत्त्व के सद्गुणों का सत्कार प्रतिदिन बढ़ रहा है तब ईर्ष्या से उनकी बुद्धि नष्ट हो गई और वे इसे सह न सके।

अपने अतिशय सद्गुणों से उत्पन्न यश से संसार को वश में करने की शक्ति रखनेवाला मनुष्य उनके हृदय में द्वेष की अग्नि प्रज्वलित करता ही है जो अपनी कार्य-निपुणता के कारण ही सत्कृत होते हैं ॥ ४ ॥

वे बुद्धि-बल से उन्हें शास्त्रार्थ में पराजित करने में असमर्थ थे और राजा की धर्म में आसक्ति देख भी नहीं सकते थे। अतः उन्होंने तरह-तरह से बोधिसत्त्व से राजा को विलगाने की चेष्टा की—"श्रीमान् के लिए बोधिपरिव्राजक पर विश्वास करना उचित नहीं। स्पष्ट है कि आपके गुणानुराग और धर्म में प्रवृत्ति का समाचार पाकर यह किसी विपक्षी राजा का भेजा हुआ कुशल गुप्तचर है। आपको विपत्ति में फँसाने के लिए प्रिय मधुर और दुष्ट वचन बोलनेवाला यह गुप्तचर आप का समाचार प्रेषित करने के लिए नियुक्त हुआ है। यह धर्मात्मा बनकर आपको केवल दयालुता और दीनता पूर्ण लज्जा का उपदेश देता है तथा अर्थ काम एवं राज-धर्म के विरोधी और अनीति के संकट से युक्त धर्माचरण का उपदेश देता है। दयापूर्वक आपके कर्तव्य का निर्देश करता हुआ आपकी प्रशंसा करता है। यह अन्य राज-दूतों से परिचित होना चाहता है तथा राज-शास्त्रों से अनभिज्ञ नहीं है। अतः इसके सम्बन्ध में हमारा हृदय सशङ्क है।" जब बहुतों ने भेद उत्पन्न करनेवाली बात को हित की बात के समान बार बार राजा से कहा तब बोधिसत्त्व के प्रति उसके मन में सन्देह हो गया, स्नेह और आदर का भाव कम हो गया। उसका मन ही दूसरे प्रकार का हो गया।

पिशुनतारूपी वज्र के गिरने से और भयङ्कर शब्द करनेवाले वज्र के गिरने से ऐसा कौन है जो निर्विकार रहे, जिसका विश्वास और मानवोचित धैर्य बना रहे ? ॥ ५ ॥

अथ स राजा विस्रम्भविरहान्मन्दीभूतप्रेमबहुमानस्तस्मिन् महासत्त्वे न यथापूर्वं सत्कारप्रयोगसुमुखो बभूव। बोधिसत्त्वोऽपि शुद्धस्वभावत्वात् बहुकार्यव्यासङ्गा राजान इति न तन्मनसि चकार। तत्समीपवर्तिनां तु विनयोपचारशैथिल्यसंदर्शनाद्विरक्तहृदयमवेत्य राजानं समादाय त्रिदण्डकुण्डिकाद्यां परिव्राजकभाण्डिकां प्रक्रमणसव्यापारः समभवत्। तदुपश्रुत्य स राजा सावशेषस्नेहतया दाक्षिण्यविनयानुवृत्त्या चैनमभिगम्य प्रदर्शितसंभ्रमो विनिवर्तयितुकाम इव तमुवाच—

अस्मानकस्मादपहाय कस्माद्गन्तव्य एव प्रणता मतिस्ते।
व्यलीकशङ्काजनकं नु किंचिद् दृष्टं प्रमादस्खलितं त्वया नः॥ ६॥

अथैनं बोधिसत्त्व उवाच—

नाकस्मिकोऽयं गमनोद्यमो मे नासत्क्रियामात्रकरूक्षितत्वात्।
अभाजनत्वं तु गतोऽसि शाठ्याद्धर्मस्य तेनाहमितो व्रजामि॥ ७॥

अथास्य सरभसभषितमतिविवृतवदनमभिद्रवन्तं वल्लभं श्वानं तत्रागतमभिप्रदर्शयन् पुनरुवाच—अयं चात्र महाराज अमानुषः साक्षिनिर्देशो दृश्यताम्।

अयं हि पूर्वं पटुचाटुकर्मा भूत्वा मयि श्वा भवतोऽनुवृत्त्या।
आकारगुप्त्यज्ञतया त्विदानीं त्वद्भावसूचां भषितैः करोति॥ ८॥

त्वत्तः श्रुतं किंचिदनेन नूनं मदन्तरे भक्तिविपत्तिरूक्षम्।
अतोऽनुवृत्तं ध्रुवमित्यनेन त्वत्प्रीतिहेतोरनुजीविवृत्तम्॥ ९॥

अथ स राजा तत्प्रत्यादेशाद् व्रीडावनामितवदनस्तेन चास्य मतिनैपुण्येन समावर्जितमतिर्जातसंवेगो नेदानीं शाठ्यानुवृत्तिकाल इति बोधिसत्त्वमभिप्रणम्योवाच—

त्वदाश्रया काचिदभूत्कथैषा संप्रस्तुता नः सदसि प्रगल्भैः।
उपेक्षिता कार्यवशान्मया च तत्क्षम्यतां तिष्ठ च साधु मा गाः॥ १०॥

बोधिसत्त्व उवाच—नैव खल्विह महाराज असत्कारप्रकृतत्वादक्षमया वा प्रणुद्यमानो गच्छामि। न त्वयं महाराज अवस्थानकाल इति न तिष्ठामि। पश्यतु भवान्।

विमध्यभावादपि हीनशोभे यायां न सत्कारविधौ स्वयं चेत्।
सङ्गादगत्या जडतावलाद्वा नन्वर्धचन्द्राभिनयोत्तरः स्याम्॥ ११॥

तब विश्वास के नष्ट होनेपर उस महासत्त्व के प्रति राजा का प्रेम और सम्मान मन्द हो गया। उसने पहले की तरह उनका सत्कार नहीं किया। बोधिसत्त्व ने भी अपने शुद्ध स्वभाव के कारण यह समझकर कि राजा लोग अनेक कार्यों में व्यस्त रहते हैं, इसपर ध्यान नहीं दिया। किन्तु उनके समीप रहनेवालों के विनय और उपचार में शिथिलता देखकर, राजा को अपनी ओर से विरक्त समझकर, त्रिदण्ड कमण्डल आदि परिव्राजक की सामग्री लेकर वे चलने को उद्यत हुए। यह सुनकर बचे हुए स्नेह के कारण सौजन्य और विनय की रक्षा करते हुए, राजा ने उनके समीप जाकर सम्मान प्रदर्शित किया और मानो लौटाने की इच्छा से उन्हें कहा—

"अकस्मात् हमें छोड़कर आपने जाने का ही विचार क्यों किया ? क्या आपने हमारी कोई असावधानता देखी, जिससे आपके मनमें मिथ्या आशङ्का हो गई है ? ॥ ६ ॥

बोधिसत्त्व ने उसे कहा—

"अकस्मात् ही मैं जाने को उद्यत नहीं हूँ और न आपके असत्कार से रुष्ट होकर ही जा रहा हूँ। शठता के कारण अब आप धर्म के पात्र नहीं रहे, इसी लिए मैं यहाँ से जा रहा हूँ" ॥ ७ ॥

उस समय राजा का प्रिय कुत्ता मुँह खोलकर, क्रोध से भूँकता हुआ, दौड़कर वहाँ आया। कुत्ते को दिखलाते हुए बोधिसत्त्व ने कहा—"हे महाराज, इस अमानुष साक्षी के निर्देश को देखिये।

पहले आपका अनुसरण करता हुआ यह मुझ से प्यार करता था। किन्तु इस समय अभिप्राय को छिपाने की कला से अनभिज्ञ होने के कारण यह अपनी बोली से आपके आन्तरिक भाव को सूचित कर रहा है ॥ ८ ॥

इसने अवश्य ही आप से मेरे सम्बन्ध में आपकी भक्ति के विनाश से कुछ कठोर बातें सुनी हैं। अतः इसने निःसन्देह आपकी प्रसन्नता के लिए अनुचर के आचरण का अनुसरण किया है ॥ ९ ॥

उनकी फटकार से राजा का मुख लज्जा से झुक गया और उनके बुद्धि-कौशल से राजा की बुद्धि झुक गई। उसका हृदय द्रवीभूत हो गया। यह शठता का समय नहीं है, यह सोचकर उसने बोधिसत्त्व को प्रणाम कर निवेदन किया—

"हमारी सभा में कुछ प्रगल्भ सदस्यों ने आपके सम्बन्ध में बात चलाई थी। किन्तु कार्यवश मैंने उसपर ध्यान नहीं दिया। अतः आप क्षमा करें, यहाँ रहें, न जायँ" ॥ १० ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"हे महाराज, असत्कार के कारण या क्रोधवश मैं यहाँ से नहीं जा रहा हूँ। हे महाराज, यह रहने का समय नहीं है, इसलिए मैं नहीं रह रहा हूँ। आप देखें—

उदासीनता के कारण सत्कार की शोभा क्षीण होने पर भी, यदि आसक्ति विवशता या मूर्खता के कारण मैं स्वयं न जाऊँ, तो गले पर हाथ रखकर निकाल दिया जाऊँगा ॥ ११ ॥

प्राप्तक्रमोऽयं विधिरत्र तेन यास्यामि नाप्रीत्यभितप्तचित्तः ।
एकावमानाभिहता हि सत्सु पूर्वोपकारा न समीभवन्ति ॥ १२ ॥

अस्निग्धभावस्तु न पर्युपास्यस्तोयार्थिना शुष्क इवोदपानः ।
प्रयत्नसाध्यापि ततोऽर्थसिद्धिर्यस्माद्भवेदाकलुषा कृशा च ॥ १३ ॥

प्रसन्न एव त्वमिगम्यरूपः शरद्विशुद्धाम्बुमहाह्रदाभः ।
सुखार्थिनः क्लेशपराङ्मुखस्य लोकप्रसिद्धः स्फुट एष मार्गः ॥ १४ ॥

भक्त्युन्मुखाद्योऽपि पराङ्मुखः स्यात्पराङ्मुखे चाभिमुखत्वदीनः ।
पूर्वोपकारस्मरणालसो वा नराकृतिश्चिन्त्यविनिश्चयः सः ॥ १५ ॥

असेवना चात्युपसेवना च याच्ञाभियोगाश्च दहन्ति मैत्रीम् ।
रक्ष्यं यतः प्रीत्यवशेषमेतन्निवासदोषादिति यामि तावत् ॥ १६ ॥

राजोवाच—यद्यवश्यमेव गन्तव्यमिति निश्चितात्रभवतो मतिः, तत्पुनरपीदानीमिहागमनेनास्माननुग्रहीतुमर्हति भवान् । असेवनादपि हि प्रीतिरनुरक्षितव्यैव । बोधिसत्त्व उवाच—बह्वन्तरायो महाराज बहूपद्रवप्रत्यर्थिकत्वाल्लोकसंनिवेश इति न शक्यमेतदवधारणया प्रतिज्ञातुमागमिष्यामीति । सति त्वागमनकारणसाकल्येऽपि नाम पुनर्भवन्तं पश्येम । इत्यनुनीय स महात्मा तं राजानं कृताभ्यनुज्ञासत्कारस्तेन राज्ञा तद्विषयात्प्रचक्राम । स तेन गृहिजनसंस्तवेनाकुलितहृदयोऽन्यतमदरण्यायतनमुपश्रित्य ध्यानाभियुक्तमतिस्तत्र विहरन्नचिरेणैव चत्वारि ध्यानानि पञ्चाभिज्ञाः प्रतिलेभे ।

तस्य समास्वादितप्रशमसुखरसस्य स्मृतिरनुकम्पानुसारिणी तं राजानं प्रति प्रादुरभूत्—का नु खलु तस्य राज्ञोऽवस्थेति । अथैनं ददर्श तैरमात्यैर्यथाभिनिविष्टानि दृष्टिगतानि प्रति प्रतार्यमाणम् । कश्चिदेनममात्यो दुर्विभाव्यहेतुभिर्निदर्शनैरहेतुवाद प्रति प्रचकर्ष—

कः पद्मनालदलकेसरकर्णिकानां
संस्थानवर्णरचनामृदुतादिहेतुः ।
पत्राणि चित्रयति कोऽत्र पतत्रिणां वा
स्वाभाविकं जगदिदं नियतं तथैव ॥ १७ ॥

इस समय यही विधि (जाना ही) उचित है, इसलिए जा रहा हूँ, न कि क्रोध से संतप्त होकर। एक ही अपमान से आहत होकर पूर्व-कृत उपकार सज्जनों के हृदय से नष्ट नहीं होते हैं ॥ १२ ॥

जो स्नेहहीन हो गया है उसकी उपासना नहीं की जाती है, जैसे पानी चाहनेवाला (प्यासा) सूखे सरोवर के पास नहीं जाता है। यदि प्रयत्न करने पर वहाँ से कुछ प्राप्त हो भी जाय तो वह अल्प और कलुषित ही होता है ॥ १३ ॥

सुख चाहनेवाले और दुःख से विमुख रहनेवाले के लिए शरद् ऋतु के निर्मल जल वाले महासरोवर के समान प्रसन्नचित्त पुरुष सेवनीय है। यही लोक-विख्यात स्पष्ट मार्ग (रीति) है ॥ १४ ॥

भक्ति-भाव रखनेवाले से जो विमुख रहता है और विमुख रहनेवाले के प्रति दीनतापूर्वक सम्मुख रहता है या पहले के उपकार को स्मरण नहीं करता है वह मनुष्य की आकृति ही धारण करता है, उसका विचार चिन्तनीय है ॥ १५ ॥

असेवन अतिसेवन और बार-बार की याचना से मित्रता नष्ट होती है। यहाँ रहने के दोष से बचे हुए स्नेह की रक्षा करनी है, इसीलिए मैं यहाँ से जा रहा हूँ" ॥ १६ ॥

राजा ने कहा—"अवश्य ही जाना है, यदि आपने यह निश्चय कर लिया है तो पुनः यहाँ आकर आप हमें अनुगृहीत कीजियेगा। क्योंकि असेवन से भी तो स्नेह की रक्षा करनी ही है।"

बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया—

"हे महाराज, लोगों का मिलन (या संसार में स्थिति) अनेक विघ्न-बाधाओं तथा विपत्ति रूपी शत्रुओं से भरा है, अतः निश्चयपूर्वक प्रतिज्ञा नहीं कर सकता हूँ कि आऊँगा। यहाँ आने का आवश्यक कारण होनेपर मैं आपका पुनः दर्शन करूँगा", राजा से यह अनुनय कर तथा उससे अनुमति और सत्कार पाकर वह महात्मा उसके राज्य से निकल गये। गृह-वासियों के सम्पर्क से व्यथितचित्त होकर उन्होंने किसी वन में स्थान ग्रहण किया और वहाँ ध्यान में दत्तचित्त होकर विहार करते हुए शीघ्र ही चार ध्यानों और पाँच अभिज्ञाओं (दिव्य शक्तियों) को प्राप्त किया।

शान्ति-सुख का आस्वादन करते हुए उन्होंने अनुकम्पावश उस राजा का स्मरण किया कि उसकी क्या अवस्था है। तब उन्होंने (दिव्य-दृष्टि से) देखा कि उसके वे अमात्य अपने द्वारा प्रतिपादित मतों की ओर उसे बहका रहे हैं। किसी अमात्य ने ऐसे दृष्टान्तों के द्वारा, जिनमें हेतु को बतलाना कठिन है, उसे अहेतुवाद की ओर आकृष्ट किया—

"कौन कमल के नाल पंखुड़ी केशर और कोष के आकार वर्ण बनावट और कोमलता आदि का हेतु (कारण) है ? कौन पक्षियों के पंखों को चित्र-विचित्र करता है ? उसी प्रकार निश्चय ही यह जगत् भी स्वभाव से हुआ है (इसका कोई हेतु या कारण नहीं है)" ॥ १७ ॥

अपर ईश्वरकारणमस्मै स्वबुद्धिरुचितमुपवर्णयामास—

नाकस्मिकं भवितुमर्हति सर्वमेत-
दस्त्यत्र सर्वमधि कश्चिदनन्त एकः ।
स्वेच्छाविशेषनियमाद्य इमं विचित्रं
लोकं करोति च पुनश्च समीकरोति ॥ १८ ॥

सर्वमिदं पूर्वकर्मकृतं सुखासुखम् । न प्रयत्नसामर्थ्यमस्तीत्येवमन्य एनं विग्राहयामास—

एवं करिष्यति कथं नु समानकालं
भिन्नाश्रयान् बहुविधानमितांश्च भावान् ।
सर्वं तु पूर्वकृतकर्मनिमित्तमेतत्
सौख्यप्रयत्ननिपुणोऽपि हि दुःखमेति ॥ १९ ॥

अपर उच्छेदवादकथाभिरेनं कामभोगप्रसङ्ग एव प्रतारयामास—

दारूणि नैकविधवर्णगुणाकृतीनि
कर्मात्मकानि न भवन्ति भवन्ति चैव ।
नष्टानि नैव च यथा पुनरुद्भवन्ति
लोकस्तथायमिति सौख्यपरायणः स्यात् ॥ २० ॥

अपर एनं क्षत्रविद्यापरिदृष्टेषु नीतिकौटिल्यप्रसङ्गेषु नैर्घृण्यमलिनेषु धर्मविरोधिष्वपि राजधर्मोऽयमिति समनुशशास—

छायाद्रुमेष्विव नरेषु कृताश्रयेषु
तावत्कृतज्ञचरितैः स्वयशः परीप्सेत् ।
नार्थोऽस्ति यावदुपभोगनयेन तेषां
कृत्ये तु यज्ञ इव ते पशवो नियोज्याः ॥ २१ ॥

इति तेऽमात्यास्तं राजानं तेन तेन दृष्टिकृतोन्मार्गेण नेतुमीपुः ॥

अथ बोधिसत्त्वः पापजनसंपर्कवशात्परप्रत्ययनेयबुद्धित्वाच्च दृष्टिकृतप्रपाताभिमुखमवेक्ष्य राजानं तदनुकम्पासमावर्जितहृदयस्तन्निवर्तनोपायं विममर्श ।

गुणाभ्यासेन साधूनां कृतं तिष्ठति चेतसि ।
अश्यत्यपकृतं तस्माज्जालं पद्मदलादिव ॥ २२ ॥

अथ बोधिसत्त्वः इदमत्र प्राप्तकालमिति विनिश्चित्य स्वस्मिन्नाश्रमपदे महान्तं वानरमभिनिर्माय ऋद्धिप्रभावात्तस्य चर्मापनीय शेषमन्तर्धापयामास । स तन्निर्मितं महद्वानरचर्म बिभ्रत्तस्य नृपतेर्भवनद्वारे प्रादुरभूत् । निवेदिताभ्यागमनश्च दौवारिकैर्यथाक्रममायुधीयगुप्तपर्यन्ताममात्यद्विजयोधदूतपौरमुख्याभि-

दूसरे ने अपनी बुद्धि के अनुसार ईश्वर को कारण बतलाते हुए कहा—

"यह सब अकस्मात् (बिना किसी कारण के) हुआ है, यह नहीं हो सकता है। सबके ऊपर कोई एक अनन्त है, जो अपनी विशेष इच्छा के नियमानुसार जगत् का सर्जन करता है और पुनः प्रलय करता है" ॥ १८ ॥

किसी ने उसे बहकाते हुए कहा—"यह सब पूर्वकृत कर्म का फल है, उसी से दुःख-सुख होता है। प्रयत्न निष्फल है।

कोई एक भला एक ही समय में विभिन्न आश्रयों वाले, अनेक प्रकार के अनन्त प्राणि-पदार्थों को कैसे बना सकता है ? यह सब पूर्वकृत कर्म का फल है। क्योंकि सुख के लिए दक्षतापूर्वक प्रयत्न करनेवाला भी दुःख पाता है" ॥ १९ ॥

दूसरे ने उच्छेदवाद (विनाशवाद) की बातों से उसे कामभोगों की ओर बहकाया।

"अनेक रंगों गुणों और आकृतियों के काष्ठ कर्म के फल नहीं हैं, किन्तु उनका अस्तित्व है। जिस प्रकार काठ नष्ट होकर पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार यह जीवलोक भी है। इसलिए भोगों को भोगना ही उचित है" ॥ २० ॥

दूसरे ने राज-विद्या-सम्मत, क्रूरता से मलिन, धर्म-विरोधी कुटिल नीतियों में ही राज-धर्म है, यह उपदेश उसे दिया।

"छाया-प्रधान वृक्षों के समान जिन मनुष्यों के आश्रय में रहते हैं उनके प्रति तभी तक कृतज्ञता का आचरण करते हुए अपने यश को फैलावे जबतक उपयोगिता की नीति के अनुसार उनका प्रयोजन समाप्त नहीं हो जाता है। पीछे वे यज्ञ के पशुओं के समान कार्य-साधन में नियुक्त किये जायँ" ॥ २१ ॥

उन अमात्यों ने अपनी अपनी मिथ्या दृष्टि के अनुसार राजा को कुमार्ग से ले जाना चाहा।

पापियों के सम्पर्क से तथा दूसरोंपर विश्वास कर चलने की बुद्धि से राजा मिथ्यादृष्टि के प्रपात के सम्मुख (गिरने के लिए) खड़ा है, यह देखकर दया से द्रवीभूत हो, बोधिसत्त्व ने उसे वहाँ से लौटाने का उपाय सोचा।

सद्गुणों के अभ्यास से साधुओं के हृदय में पूर्वकृत उपकार बना रहता है, किन्तु उनके हृदय से अपकार उसी प्रकार गिर पड़ता है जिस प्रकार कमल के पत्ते से पानी ॥ २२ ॥

तब इसके लिए यह उचित समय है, यह निश्चय कर, बोधिसत्त्व ने अपने आश्रम में एक बड़े वानर का निर्माण किया और उसके चमड़े को हटाकर, शेष शरीर को लुप्त कर दिया। अपने द्वारा निर्मित बड़े वानर के चमड़े को धारण करते हुए वे राज भवन के द्वारपर प्रकट हुए। द्वारपालों के द्वारा अपने आने का समाचार निवेदन कर वे क्रम से राजसभा में पहुँचे। वहाँ चारों ओर शस्त्र-धारी पुरुष रक्षा कर रहे थे। अमात्य ब्राह्मण योद्धा दूत और

कीर्णं विनीतधीरोदात्तवेषजनं सासियष्टिभिः प्रतीहारैरधिष्ठितप्रद्वारं सिंहासनावस्थितनराधिपामनाकुलां राजपर्षदमवजगाहे। प्रत्युद्गमनादिविधिना चातिथिजनोपचारेण प्रतिपूज्यमानः कृतप्रतिसंमोदनकथासत्कारासनाभिनिर्हारश्च तेन राज्ञा कौतूहलानुवृत्त्या वानरचर्मप्रतिलम्भं प्रत्यनुयुक्तः—केनेदमार्याय वानरचर्मोपनयता महतानुग्रहेणात्मा संयोजित इति ॥

बोधिसत्त्व उवाच—मयैवेदं महाराज स्वयमधिगतं नान्येन केनचिदुपहृतम्। कुशतृणमात्रास्तीर्णायां हि पृथिव्यां स्वभावकठिनायां निषण्णेन स्वपता वा प्रतप्यमानशरीरेण न सुखं धर्मविधिरनुष्ठीयते। अयं च मयाश्रमपदे महान् वानरो दृष्टः। तस्य मे बुद्धिरभवत्—उपपन्नं बत मे धर्मसाधनमिदमस्य वानरस्य चर्म। शक्यमत्र निषण्णेन स्वपता वा पराघ्र्यास्तिरणास्तीर्णेभ्यो राजशयनेभ्योऽपि निवृत्तस्पृहेण स्वधर्मविधिरनुष्ठातुमिति मया तस्येदं चर्म प्रगृहीतम्। स च प्रशमित इति। तच्छ्रुत्वा स राजा दाक्षिण्यविनयानुवृत्त्या न बोधिसत्त्वं किंचिदप्युवाच। सव्रीडहृदयस्तु किंचिदवाङ्मुखो बभूव ॥

अथ तेऽमात्याः पूर्वमपि तस्मिन् महासत्त्वे सामर्षहृदया लब्धवचनावकाशत्वात्प्रविकसितवदना राजानमुदीक्ष्य बोधिसत्त्वमुपदर्शयन्त ऊचुः—अहो भगवतो धर्मानुरागैकरसा मतिः। अहो धैर्यम्। अहो व्यवसायसाधुसामर्थ्यम्। आश्रमपदसंगत एव महान्नाम वानर एकाकिना तपःक्षामशरीरेण प्रशमित इत्याश्चर्यम्। सर्वथा तपःसिद्धिरस्तु। अथैनानसंरब्ध एव बोधिसत्त्वः प्रत्युवाच—नार्हन्त्यत्रभवन्तः स्ववादशामानिरपेक्षमित्यस्मान् विगर्हितुम्। न ह्ययं क्रमो विद्वद्यशः समुद्भावयितुम्। पश्यन्त्वत्रभवन्तः—

स्ववादध्नेन वचसा यः परान् विजुगुप्सते।
स खल्वात्मवधेनेव परस्याकीर्तिमिच्छति ॥ २३ ॥

इति स महात्मा तानमात्यान् सामान्येनोपालभ्य प्रत्येकशः पुनरुपालब्धुकामस्तमहेतुवादिनमाभाष्योवाच—

स्वाभाविकं जगदिति प्रविकत्थसे त्वं
तत्त्वं च तद्यदि विकुत्सयसे किमस्मान्।
शाखामृगे निधनमापतिते स्वभावात्
पापं कुतो मम यतः सुहतो मयायम् ॥ २४ ॥

अथ पापमस्ति मम तस्य वधान्ननु हेतुतस्तदिति सिद्धमिदम्।
तदहेतुवादमिदमुत्सृज वा वद वात्र यत्तव न युक्तमिव ॥ २५ ॥

मुख्य पुर-वासी भरे हुए थे। वहाँ के लोग विनीत धीर और उत्तम वेष धारण किये हुए थे। तलवार और लाठी लिये हुए प्रतिहारी द्वारपर उपस्थित थे। राजा उस उज्ज्वल प्रसन्न सभा में सिंहासन पर बैठा हुआ था। राजा ने अगवानी आदि अतिथिजनोचित उपचार के द्वारा उनकी पूजा की। प्रीति-वचन तथा सत्कार के बाद, बोधिसत्त्व के आसन ग्रहण करनेपर, राजा ने कुतूहलवश वानर-चर्म की प्राप्ति के सम्बन्ध में पूछा—"किसने आपको इस वानर-चर्म का उपहार देकर, अपने को महान् अनुग्रह का पात्र बनाया?"

बोधिसत्त्व ने कहा—"हे महाराज, मैंने स्वयं इसे प्राप्त किया है। किसी दूसरे ने उपहार में नहीं दिया है। थोड़ी सी घास से ढकी हुई पृथ्वीपर, जो स्वभावतः कठोर है, बैठकर या सोकर, दुःखते हुए शरीर से सुखपूर्वक धर्मानुष्ठान नहीं किया जा सकता है। मैंने अपने आश्रम में महान् वानर को देखा, तब मैंने सोचा इस वानर का चर्म मेरे धर्मानुष्ठान का उपयुक्त साधन होगा। इसपर बैठकर या सोकर बहुमूल्य बिछावनों से आच्छादित राजशय्याओं की भी अभिलाषा से निवृत्त होकर मैं धर्मानुष्ठान कर सकूँगा, यही सोचकर मैंने उसका चमड़ा ले लिया और उसे मार डाला।" यह सुनकर राजा ने सौजन्य और विनय के कारण बोधिसत्त्व से कुछ नहीं कहा। किन्तु सलज्जहृदय हो वह कुछ अधोमुख हो गया।

किन्तु उन अमात्यों के हृदय में उस महासत्त्व के प्रति पहले से ही वैरभाव था। अतः बोलने का अवसर मिलते ही उनके मुख विकसित हुए। राजा की ओर देखते हुए उन्होंने बोधिसत्त्व को दिखलाकर कहा—"अहो, भगवान् की बुद्धि धर्मानुराग से एकरस है! अहो, इनका धैर्य! अहो, निश्चय के अनुरूप इनकी कार्य करने की शक्ति! आश्रम में प्रविष्ट होते ही एक विशाल वानर को इन्होंने अकेले ही तपस्या से क्षीण शरीर से मार डाला, यह आश्चर्य है। इसका कारण तपोबल ही हो सकता है[1]"।

तब क्षुब्ध हुए बिना ही बोधिसत्त्व ने उन्हें उत्तर दिया—"आप अपने मत के विरुद्ध हमारी निन्दा नहीं कर सकते। विद्वज्जनोचित यश प्राप्त करने का यह रास्ता नहीं है। आप देखें—

अपने मत की हत्या करनेवाले वचन के द्वारा जो दूसरों को निन्दा करता है वह अवश्य ही मानो आत्म-हत्या के द्वारा दूसरे की अपकीर्ति चाहता है" ॥ २३ ॥

इस प्रकार सामान्य रूप से उन अमात्यों की भर्त्सना कर, फिर प्रत्येक को फटकारने की इच्छा से, उस महात्मा ने अहेतुवादी को सम्बोधित करते हुए कहा—

"आपका कथन है कि स्वभाव से जगत् उत्पन्न होता है। यह वचन यदि सत्य है तो क्यों आप हमारी निन्दा करते हैं? स्वभाव से वानर की मृत्यु होनेपर मुझे पाप कैसे? मैंने ठीक ही इसे मारा है ॥ २४ ॥

यदि उसका वध करने से मुझे पाप है तो यह (वध) हेतु से सिद्ध होता है। तब आप अहेतु-वाद को छोड़ें या ऐसी बात कहें, जो युक्ति-युक्त न हो ॥ २५ ॥

यदि पद्मनालरचनादि च यत्तदहेतुकं ननु सदैव भवेत् ।
सलिलादिबीजकृतमेव तु तत् सति तत्र संभवति न ह्यसति ॥ २६ ॥

अपि चायुष्मन्, सम्यगुपधारय तावत्,

न हेतुरस्तीति वदन् सहेतुकं ननु प्रतिज्ञां स्वयमेव हापयेत् ।
अथापि हेतुप्रणयालसो भवेत् प्रतिज्ञया केवलयास्य किं भवेत् ॥ २७ ॥

एकत्र क्वचिदनवेक्ष्य यश्च हेतुं तेनैव प्रवदति सर्वहेत्वभावम् ।
प्रत्यक्षं ननु तदवेत्य हेतुसारं तद्द्वेषी भवति विरोधदुष्टवाक्यः ॥ २८ ॥

न लक्ष्यते यदि कुहचिच्च कारणं कथं नु तद् दृढमसदेव भाषसे ।
न दृश्यते सदपि हि कारणान्तराद्दिनात्यये विमलमिवार्कमण्डलम् ॥२९॥

ननु च भोः,

सुखार्थमष्टान् विषयान् प्रपद्यसे निषेवितुं नेच्छसि तद्विरोधिनः ।
नृपस्य सेवां च करोषि तत्कृते न हेतुरस्तीति च नाम भाषसे ॥ ३० ॥

तदेवमपि चेद्भावाननुपश्यस्यहेतुकान्
अहेतोर्वानरवधे सिद्धे किं मां विगर्हसे ॥ ३१ ॥

इति स महात्मा तमहेतुवादिनं विशदैर्हेतुभिर्निष्प्रतिभं कृत्वा तमीश्वरकारणिकमामन्त्र्योवाच—आयुष्मानप्यस्मान् नार्हत्येव विगर्हितुम् । ईश्वरः सर्वस्य हि ते कारणमभिमतः । पश्य—

कुरुते यदि सर्वमीश्वरो ननु तेनैव हतः स वानरः ।
तव केयमसंभ्रचित्तता परदोषान् मयि यन्निषिञ्चसि ॥ ३२ ॥

अथ वानरवीरवैशसं न कृतं तेन दयानुरोधिना
बृहदित्यवघुष्यते कथं जगतः कारणमीश्वरस्त्वया ॥ ३३ ॥

अपि च भद्र सर्वमीश्वरकृतमिति पश्यतः—

ईश्वरे प्रसादाशा का स्तुतिप्रणामाद्यैः ।
स स्वयं स्वयंभूस्ते यत्करोति तत्कर्म ॥ ३४ ॥

त्वत्कृताथ यदीज्या न त्वसौ तदकर्ता ।
आत्मनो हि विभूत्या यः करोति स कर्ता ॥ ३५ ॥

ईश्वरः कुरुते चेत्पापकान्यखिलानि ।
तत्र भक्तिनिवेशः कं गुणं नु समीक्ष्य ॥ ३६ ॥

यदि कमल नाल (आदि) की बनावट आदि विना किसी हेतु के है तो वह सर्वत्र और सदा होती। किन्तु जल आदि में बीज के होने से ही वह होती है। इस (कारण) के होनेपर ही वह होती है, नहीं होनेपर नहीं होती है ॥ २६ ॥

हे आयुष्मन्, आप इसपर भी अच्छी तरह से विचार करें--

हेतु नहीं है, यह हेतुपूर्वक कहनेवाला अपने मत की स्वयं हत्या करेगा। या यदि वह हेतु को उपस्थित नहीं करता है तो केवल मत से क्या होने को है? ॥ २७ ॥

किसी एक में हेतु को न देखकर जो उसी से सर्वत्र हेतु का अभाव बतलाता है वह उस एक में हेतु की शक्ति प्रत्यक्ष देखकर क्रुद्ध हो जाता है और विरोध में सदोष वचन बोलता है ॥ २८ ॥

यदि कहीं कारण नहीं दिखाई पड़ता है तो आप दृढ़तापूर्वक क्यों कहते हैं कि कारण है ही नहीं। कारण है, किन्तु किसी दूसरे कारण से वह दिखाई नहीं पड़ता है, जैसे दिन के बीतनेपर निर्मल सूर्यमण्डल ॥ २९ ॥

और भी।

आप सुख के लिए अभीष्ट विषयों का सेवन करना चाहते हैं और उसके विरोधी विषयों का नहीं। उसीके लिए तो आप राजा की सेवा करते हैं और कहते हैं कि कोई हेतु नहीं है ॥ ३० ॥

इतने पर भी आप सभी पदार्थों और घटनाओं को विना हेतु के देखते हैं। अतः वानर का वध विना हेतु का सिद्ध होता है। तब आप क्यों मेरी निन्दा करते हैं?" ॥ ३१ ॥

इस प्रकार उस महात्मा ने स्पष्ट तर्कों से उस अहेतुवादी को पराजित कर, उस ईश्वर-कारणिक को पुकारकर कहा—"आप आयुष्मान् भी हमारी निन्दा नहीं कर सकते। ईश्वर सबका कारण है, यही तो आपका मत है। देखिये—

यदि ईश्वर ही सब कुछ करता है, तो उसी ने उस वानर का वध किया। आपके चित्त में कितना द्वेष है कि दूसरे के किये हुए दोष मुझपर आरोपित कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

यदि उस दयालु ने उस वीर वानर का वध नहीं किया तो आप जोर से यह घोषणा क्यों कर रहे हैं कि ईश्वर जगत् का कारण है? ॥ ३३ ॥

हे भद्र, और भी। सब कुछ ईश्वर का किया हुआ है, यह देखते हुए,

स्तुति प्रणाम आदि के द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने की आपकी कैसी आशा है? वह स्वयंभू स्वयं आपके कार्य को करता है ॥ ३४ ॥

यदि यज्ञ करनेवाले आप हैं तो यह भी नहीं कह सकते कि वह उस (यज्ञ) का कर्ता नहीं है। क्योंकि अपनी सर्वशक्तिमत्ता (ऐश्वर्य) से जो कार्य करता है वही कर्त्ता है ॥ ३५ ॥

यदि ईश्वर सभी पापों को करता है, तो उसके किस गुण को देखकर उसकी भक्ति की जाय? ॥ ३६ ॥

तान्यधर्मभयाद्वा यद्ययं न करोति ।
तेन वक्तुमयुक्तं सर्वमीश्वरसृष्टम् ॥ ३७ ॥

तस्य चेश्वरता स्याद्धर्मतः परतो वा ।
धर्मतो यदि न प्रागीश्वरः स ततोऽभूत् ॥ ३८ ॥

दासतैव च सा स्याद्या क्रियेत परेण ।
स्यादथापि न हेतोः कस्य नेश्वरता स्यात् ॥ ३९ ॥

एवमपि तु गते भक्तिरागादविगणितयुक्त युक्तस्य —

यदि कारणमीश्वर एव विभुर्जगतो निखिलस्य तवाभिमतः ।
ननु नार्हसि मय्यधिरोपयितुं विहितं विभुना कपिराजवधम् ॥ ४० ॥

इति स महात्मा तमीश्वरकारणिकं सुश्लिष्टैर्हेतुभिर्मूकतामिवोपनीय तं पूर्वकर्मकृतवादिनमामन्त्रणासौष्ठवेनाभिमुखीकृत्योवाच—भवानप्यस्मान्न शोभते विकुत्सयमानः । सर्वं हि ते पूर्वकर्मकृतमित्यभिमानः । तेन च त्वां ब्रवीमि—

स्यात्सर्वमेव यदि पूर्वकृतप्रभावा-
च्छाखामृगः सुहत एव मयैष तस्मात् ।
दग्धे हि पूर्वकृतकर्मदवाग्निनास्मिन्
पाप किमत्र मम येन विगर्हसे माम् ॥ ४१ ॥

अथास्ति पापं मम वानरं घ्नतः कृतं मया तर्हि न पूर्वकर्मणा ।
यदीष्यते कर्म च कर्महेतुकं न कश्चिदेव सति मोक्षमेष्यति ॥ ४२ ॥

भवेच्च सौख्यं यदि दुःखहेतुषु स्थितस्य दुःखं सुखसाधनेषु वा ।
अतोऽनुमीयेत सुखासुखं ध्रुवं प्रवर्तते पूर्वकृतैकहेतुकम् ॥ ४३ ॥

न दृष्टमेव च यतः सुखासुखं न पूर्वकर्मैकमतोऽस्य कारणम् ।
भवेदभावश्च नवस्य कर्मणस्तदप्रसिद्धौ च पुरातनं कुतः ॥ ४४ ॥

पूर्वकर्मकृतं सर्वमथैवमपि मन्यसे ।
वानरस्य वधः कस्मान्मत्कृतः परिकल्प्यते ॥ ४५ ॥

इति स महात्मा निरनुयोज्यैर्हेतुभिस्तस्य मौनव्रतमिवोपदिश्य तमुच्छेदवादिनं स्मितपूर्वकमुवाच—आयुष्मतः कोऽयमत्यादरोऽस्मद्विगर्हायां यदि तत्त्वमुच्छेदवादं मन्यसे ?

लोकः परो यदि न कश्चन किं विवर्ज्यं
पापं शुभं प्रति च किं बहुमानमोहः ।
स्वच्छन्दरम्यचरितोऽत्र विचक्षणः स्या-
देवं गते सुहत एव च वानरोऽयम् ॥ ४६ ॥

या यदि अधर्म के भय से वह उन पापों को नहीं करता है तब यह कहना उचित नहीं है कि सब कुछ ईश्वर के द्वारा किया जाता है ॥ ३७ ॥

उसकी ईश्वरता धर्म (सृष्टि के नियम और व्यवस्था) से (अनुमित) है या अन्य किसी कारण से है। यदि धर्म से है तो वह उस धर्म से पहले नहीं हुआ ॥ ३८ ॥

वह ईश्वरता दासता ही है, जो किसी दूसरे कारण से उत्पन्न हुई है। यदि दासता नहीं है तो किस हेतु से उत्पन्न किस स्थिति को ईश्वरता नहीं कहेंगे ? ॥ ३९ ॥

इतनेपर भी भक्तिवश उचित अनुचित का विचार नहीं करते हुए,

यदि आप प्रभु ईश्वर को ही समस्त जगत् का कारण मानते हैं, तो प्रभु के द्वारा किये गये कपि-राज के वध का आरोप मुझपर नहीं कर सकते" ॥ ४० ॥

इस प्रकार उस महात्मा ने उस ईश्वरकारणिक को सुसम्बद्ध तर्कों से चुप कर दिया और उस पूर्वकृत-कर्म-वादी को सुन्दर सम्बोधनों से सम्मुख कर कहा—"हमारी निन्दा करने में आपको भी शोभा नहीं है। सब कुछ पूर्वकर्म का परिणाम है, यह आपका मत है। इसलिए मैं आपसे कहता हूँ—

यदि सब कुछ पूर्व कर्म के प्रभाव से ही होता है तब तो मैंने इस वानर को ठीक ही मारा है। पूर्व-कर्म की दावाग्नि से इस वानर के दग्ध (नष्ट) होनेपर मुझे क्या पाप हुआ जिससे आप मेरी निन्दा करते हैं ? ॥ ४१ ॥

या यदि इस वानर का वध करने से मुझे पाप हुआ है, तब तो इस का वध मैंने किया है, पूर्व-कर्म ने नहीं। यदि कर्म को कर्म का कारण माना जाय, तब तो किसी को मोक्ष नहीं होगा ॥ ४२ ॥

यदि दुःख-जनक स्थिति में रहनेवाले को सुख होता और सुख के साधनों का उपभोग करनेवाले को दुःख होता, तब अनुमान किया जा सकता था कि सुख-दुःख अवश्य ही पूर्व-कर्म से होता है ॥ ४३ ॥

किन्तु क्योंकि सुख-दुःख का इस प्रकार होना नहीं देखा जाता है, इसलिए पूर्व-कर्म इसका कारण नहीं है। और, नये कर्म का अभाव भी तो हो सकता है, उसके अभाव में पुरातन कर्म कहाँ से होगा ? ॥ ४४ ॥

इतनेपर भी यदि आप मानते हैं कि सब कुछ पूर्व-कर्म द्वारा ही किया जाता है तब आप क्यों कल्पना करते हैं कि मेरे द्वारा वानर का वध किया गया ?" ॥ ४५ ॥

इस प्रकार उस महात्मा ने अकाट्य तर्कों से उसे मानो मौन-व्रत का उपदेश दिया और उस उच्छेदवादी से हँसते हुए कहा—"यदि आप आयुष्मान् उच्छेदवाद को तत्त्व मानते हैं तो हमारी निन्दा क्यों करना चाहते हैं ?

यदि कोई परलोक नहीं है, तो किस कुकर्म को छोड़ा जाय और सुकर्म के प्रति आदर-भाव ही क्यों रखा जाय ? अपने मन को जो अच्छा लगे उसी का आचरण करनेवाला कुशल समझा जायगा। ऐसा होनेपर मैंने इस वानर को ठीक ही मारा ॥ ४६ ॥

जनवादभयादथाशुभं परिवर्ज्यं शुभमार्गसंश्रयात् ।
स्ववचःप्रतिलोमचेष्टितैर्जनवादानपि नातियाख्ययम् ॥ ४७ ॥

स्वकृतान्तपथागत सुखं न समाप्नोति च लोकशङ्कया ।
इति निष्फलवादविभ्रमः परमोऽयं ननु बालिशाधमः ॥ ४८ ॥

यदपि च भव नाह—

दारूणि नैकविधवर्णगुणाकृतीनि
कमात्मकानि न भवन्ति भवन्ति चैव ।
नष्टानि नैव च यथा पुनरुद्भवन्ति
लोकस्तथायमिति कोऽत्र च नाम हेतुः ॥ ४९ ॥

उच्छेदवादवात्सल्यं स्यादेवमपि ते यदि ।
विगर्हणीयः किं हन्ता वानरस्य नरस्य वा ॥ ५० ॥

इति स महासत्त्वस्तमुच्छेदवादिनं विस्पष्टशोभनोत्तरक्रमेण तूष्णींभावपरायणं कृत्वा त क्षत्रविद्याविदग्धममात्यमुवाच—भवानप्यस्मान् कस्मादिति विकुत्सयते यदि न्याय्यमर्थशास्त्रपरिदृष्टं विधिं मन्यसे ?

अनुष्ठेयं हि तत्रेष्टमर्थार्थं साध्वसाधु वा ॥
अथोद्धृत्य किलात्मानमर्थैर्धर्मं करिष्यते ॥ ५१ ॥

अतस्त्वां ब्रवीमि—

प्रयोजनं प्राप्य न चेदवेक्ष्यं स्निग्धेषु बन्धुष्वपि साधुवृत्तम् ।
हते मया चर्मणि वानरेऽस्मिन् का शास्त्रदृष्टेऽपि नये विगर्हा ॥ ५२ ॥

दयावियोगादथ गर्हणीयं कर्मेदृशं दुःखफलं च दृष्टम् ।
यत्राभ्यनुज्ञातमिद न तन्त्र प्रपद्यसे केन मुखेन तत्त्वम् ॥ ५३ ॥

इयं विभूतिश्च नयस्य यत्र तत्रानयः कीदृशविभ्रमः स्यात् ।
अहो प्रगल्भैः परिभूय लोकमुन्नीयते शास्त्रपथैरधर्मः ॥ ५४ ॥

अदृष्टमेवाथ तवैतदिष्टं शास्त्रे किल स्पष्टपथोपदिष्टम् ।
शास्त्रप्रसिद्धेन नयेन गच्छन् न गर्हणीयोऽस्मि कपेर्वधेन ॥ ५५ ॥

इति स महात्मा जितपर्षत्कान् परिचितप्रागल्भ्यानपि च तानमात्यान् प्रसह्याभिभूय समावर्जितहृदयां च सराजिकां पर्षदमवेत्य तेषां वानरवधहृल्लेख-

तब वानर के वध से हुए उनके हृदय के दुःख को दूर करने के लिए राजा से कहा—"हे महाराज, मैंने जीवित वानर का वध नहीं किया है। यह तो एक प्रकार का निर्माण है। मैंने वानर का निर्माण किया और इसी कथा को प्रस्तुत करने के लिए उसके चमड़े को लिया। अतः मुझे अन्यथा न समझें।" यह कहकर, उन्होंने ऋद्धि-बल से उत्पन्न माया को समेट लिया तथा सभा-सहित राजा को अत्यन्त प्रसन्न जानकर कहा—

"हेतु से सब कुछ उत्पन्न होता है, यह देखनेवाला, स्वतन्त्र विचारवाला, परलोक में विश्वास करनेवाला, उत्तम सिद्धान्तवाला कौन दयालु मनुष्य प्राणि-वध करेगा ? ॥ ५६ ॥

हे महाराज, देखें—

अहेतु-वादी, परतन्त्र-वादी, अनास्तिक, राजनीति (अर्थशास्त्र) का अनुगामी अल्प कीर्ति के लिए जिस कार्य को नहीं करेगा उसे न्याय-वादी कैसे करेगा ? ॥ ५७ ॥

हे नर-श्रेष्ठ, सम्यक् दृष्टि या मिथ्यादृष्टि अनुरूप कर्म के आचरण का हेतु है; क्योंकि लोग अपनी अपनी दृष्टि को वचन-रूप में और कर्म-रूप में परिणत करके दिखलाते हैं ॥ ५८ ॥

अतः सम्यक् दृष्टि का सेवन करना चाहिए और अनर्थ की वृष्टि करनेवाली मिथ्यादृष्टि का परित्याग करना चाहिए। असज्जन से दूर रहते हुए तथा सज्जन के आश्रय में रहते हुए इस (उत्तम) क्रम को प्राप्त करना चाहिए ॥ ५९ ॥

असंयमी मनुष्य संयमी का वेष धारण कर इस पृथ्वीपर विचरण करते हुए भिक्षु-वेष में राक्षस हैं। अवश्य ही वे मिथ्यादृष्टि के द्वारा अज्ञानियों का उसी प्रकार विनाश करते हैं, जिस प्रकार अपनी दृष्टि के विष से सर्प ॥ ६० ॥

अहेतुवाद आदि के परस्पर-विरोधी वचनों से उनका (अहेतु-वादी आदि का) विशेष स्वभाव वैसे ही प्रकाशित होता है, जैसे शृगाल अपनी बोली से पहचाना जाता है। अतः बुद्धिमान् मनुष्य उनका सेवन न करे। शक्ति के रहते वह अपने कल्याण का ही आचरण करे ॥ ६१ ॥

संसार में यशस्वी मनुष्य के लिए भी कार्य-साधन के लिए भी अयोग्य व्यक्ति से मित्रता करना कदापि उचित नहीं है। हेमन्त (जाड़े) के दुर्दिन (बदली) से दूषित चन्द्रमा भी कान्ति हीन हो जाता है ॥ ६२ ॥

अतः गुण हीनों का परित्याग करते हुए तथा सद्गुणियों का सेवन करते हुए, प्रजाओं की दोषासक्ति का विनाश करते हुए एवं गुणानुराग उत्पन्न करते हुए, आप अपनी कीर्ति उज्ज्वल कीजिये ॥ ६३ ॥

आपके धर्माचरण करते रहनेपर, प्रायः प्रजा सुकर्म की ओर उन्मुख तथा स्वर्ग-प्राप्ति के मार्गपर आरूढ़ होगी। इस लोक का पालन करना है और आप इसके लिए उद्यमशील भी हैं। इसलिए आप धर्म का सेवन करें, जिसका मार्ग विनय से मनोहर है ॥ ६४ ॥

शील शुद्ध कीजिये, दाता की कीर्ति प्राप्त कीजिये। जैसे स्वजन के प्रति वैसे ही पराये के प्रति अपने मन को मित्रता से परिपूर्ण कीजिये। चिरकाल तक सावधान रहकर धर्मपूर्वक पृथिवी का पालन कीजिये। इस प्रकार आपको सुख स्वर्ग और यश मिलेगा ॥ ६५ ॥

कृषिप्रधानान् पशुपालनोद्यतान्
महीरुहान् पुष्पफलान्वितानिव ।
अपालयञ्जानपदान् बलिप्रदान्
नृपो हि सर्वौषधिभिर्विरुध्यते ॥ ६६ ॥

विचित्रपण्यक्रयविक्रयाश्रयं
वणिग्जनं पौरजनं तथा नृपः ।
न पाति यः शुल्कपथोपकारिणं
विरोधमायाति स कोशसंपदा ॥ ६७ ॥

अदृष्टदोषं युधि दृष्टविक्रमं
तथा बलं यः प्रथितास्त्रकौशलम् ।
विमानयेद् भूपतिरध्युपेक्षया
ध्रुवं विरुद्धः स रणे जयश्रिया ॥ ६८ ॥

तथैव शीलश्रुतयोगसाधुषु प्रकाशमाहात्म्यगुणेषु साधुषु ।
चरन्नवज्ञामलिनेन वर्त्मना नराधिपः स्वर्गसुखैर्विरुध्यते ॥ ६९ ॥

द्रुमाद्यथामं प्रचिनोति यः फलं स हन्ति बीजं न रसं च विन्दति ।
अधर्म्यमेवं बलिमुद्धरन्नृपः क्षिणोति देशं न च तेन नन्दति ॥ ७० ॥

यथा तु संपूर्णगुणो महीरुहः फलोदयं [1]पाकवशात्प्रयच्छति ।
तथैव देशः क्षितिपाभिरक्षितो युनक्ति धर्मार्थसुखैर्नराधिपम् ॥ ७१ ॥

हितानमात्यान्निपुणार्थदर्शिनः शुचीनि मित्राणि जनं स्वमेव च ।
बधान चेतस्सु तदिष्टया गिरा धनैश्च संमाननयोपपादितैः ॥ ७२ ॥

तस्माद्धर्मं त्वं पुरस्कृत्य नित्यं श्रेयःप्राप्तौ युक्तचेताः प्रजानाम् ।
रागद्वेषोन्मुक्तया दण्डनीत्या रक्षँल्लोकानात्मनो रक्ष लोकान् ॥ ७३ ॥

इति स महात्मा तं राजानं दृष्टिकृतकापथाद्विवेच्य समवतार्य च सन्मार्गं सपर्षत्कं तत एव गगनतलं समुत्पत्य प्राञ्जलिना तेन जनेन सबहुमानप्रणतेन प्रत्यर्च्यमानस्तदेवारण्यायतनं प्रतिजगाम ॥

तदेवमसत्कृतानामपि सत्पुरुषाणां पूर्वोपकारिष्वनुकम्पा न शिथिलीभवति कृतज्ञत्वात्क्षमासात्म्याच्च । इति नासत्कारमात्रकेण पूर्वकृतं विस्मर्तव्यम् । एवं स भगवाननभिसंबुद्धोऽपि परवादानभिभूय सत्त्वविनयं कृतवानिति बुद्धवर्णेऽपि वाच्यम् । एवं मिथ्यादृष्टिरननुयोगक्षमानुपाश्रयत्वादसेव्या चेति मिथ्यादृष्टिविगर्हायामप्युपनेयम् । विपर्ययेण सम्यग्दृष्टिप्रशंसायामिति ॥

इति महाबोधि जातकं त्रयोविंशतितमम् ।

---

१. पा० काल० ?

यदि लोक निन्दा के भय से शुभ कर्म के मार्गपर चलने के लिए अशुभ कर्म का परित्याग करना है तब तो अपने वचन के प्रतिकूल आचरण करने से वह उस लोक-निन्दा से नहीं बच सकेगा ॥ ४७ ॥

लोक-निन्दा के भय से वह अपने भाग्य-पथपर आये हुए सुख को भी नहीं प्राप्त करेगा। इस प्रकार निष्फल मत में पड़कर भटकनेवाला आदमी अत्यन्त अधम मूर्ख है ॥ ४८ ॥

और, आपने यह जो कहा—

'विविध रंग गुण और आकार के काष्ठ कर्म के परिणाम-स्वरूप नहीं हैं, तो भी उनका अस्तित्व है। नष्ट होने पर वे पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं। वही अवस्था इस लोक की है।' आपके इस कथन में कोई हेतु या तर्क भी है ? ॥ ४९ ॥

इतनेपर भी यदि आपको उच्छेदवाद से प्रेम है तो वानर या मनुष्य का भी वध करनेवाला क्यों निन्दनीय होगा ? ॥ ५० ॥

इस प्रकार उस महासत्त्व ने सुन्दर उत्तर से उस उच्छेदवादी को चुप कर, क्षत्र-विद्या (अर्थ-शास्त्र) में निपुण उस अमात्य से कहा—"आप भी हमारी निन्दा क्यों करते हैं, यदि आप अर्थशास्त्र-सम्मत विधि को उचित मानते हैं ?

वहाँ (उस शास्त्र में) तो अर्थ (स्वार्थ, लाभ) के लिए भला-बुरा सब कुछ करने योग्य माना जाता है। अपनी रक्षा कर, आदमी अर्थ से धर्म कर लेगा ॥ ५१ ॥

अतः मैं आप से कहता हूँ—

प्रयोजन होनेपर स्नेहशील बन्धुओं के भी उत्तम आचरण का विचार नहीं किया जाता है (उनकी हत्या की जाती है[१])। तब चमड़े के लिए मैंने इस वानर का वध किया तो निन्दा क्यों ? मैंने तो शास्त्रविहित नीति का ही अनुसरण किया ॥ ५२ ॥

या यदि क्रूरता के कारण यह कर्म निन्दनीय है और इसका फल दुःखदायी होता है, तब जिस शास्त्र में इस (निन्दा) की आज्ञा नहीं दी गई है, उसका प्रतिपादन आप किस मुख से करते हैं ? ॥ ५३ ॥

जहाँ (जिस शास्त्र में) नीति की यही विभूति (श्रेष्ठता) है, वहाँ अनीति की भ्रान्ति (भ्रम) ही क्यों होगी ? अहो, मनुष्यों का तिरस्कार कर, ये प्रगल्भ पुरुष शास्त्र के उपदेशों से अधर्म का प्रचार कर रहे हैं ॥ ५४ ॥

या यदि आपके शास्त्र में स्पष्ट रूप से उल्लिखित मिथ्या दृष्टि ही आपको मान्य है, तब शास्त्र-विहित नीति का अनुसरण करता हुआ मैं वानर के वध के लिए निन्दनीय नहीं हूँ" ॥ ५५ ॥

समाज को प्रभावित करनेवाले उन प्रगल्भ अमात्यों को अच्छी तरह पराजित कर उस महासत्त्व ने जब यह समझा कि राजा-सहित सभासदों का हृदय उनकी ओर झुका हुआ है,

---

१. 'किं वा तेषां साम्प्रतं, येषां कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणं, सहजप्रेमार्द्रहृदयानुरक्ता भ्रातर उच्छेद्याः'—कादम्बरी, शुकनासोपदेश।

विनयनार्थं राजानमाबभाषे-नैव च खल्वहं महाराज प्राणिनं वानरं हतवान्। निर्माणविधिरयम्। निर्मितस्य हि वानरस्येदं चर्म मया गृहीतमस्यैव कथाक्रमस्य प्रस्तावार्थम्। तदलं मामन्यथा प्रतिग्रहीतुम्। इत्युक्त्वा तमृद्ध्याभिसंस्कारप्रतिसंहृत्य परया च मात्रयाभिप्रसादितमानसं राजानं सपर्षत्कमवेत्योवाच-

संपश्यन् हेतुतः सिद्धिं स्वतन्त्रः परलोकवित्।
साधुप्रतिज्ञः सघृणः प्राणिनं को हनिष्यति॥ ५६॥

पश्य महाराज,

अहेतुवादी परतन्त्रदृष्टिरनास्तिकः क्षत्रनयानुगो वा।
कुर्यान्न यन्नाम यशोलवार्थं तन्न्यायवादी कथमभ्युपेयात्॥ ५७॥

दृष्टिर्नरश्रेष्ठ शुभाशुभा वा समागकर्मप्रतिपत्तिहेतुः।
दृष्ट्यन्वयं हि प्रविकल्प्य तत्तद्वाग्भिः क्रियाभिश्च विदर्शयन्ति॥ ५८॥

सद्दृष्टिरस्माच्च निषेवितव्या त्याज्या त्वसद्दृष्टिरनर्थवृष्टिः।
लभ्यश्च सत्संश्रयिणा क्रमोऽयमसज्जनाद्दूरचरेण भूत्वा॥ ५९॥

असंयताः संयतवेषधारिणश्चरन्ति कामं भुवि भिक्षुराक्षसाः।
विनिर्दहन्तः खलु बालिशं जनं कुदृष्टिभिर्दृष्टिविषा इवोरगाः॥ ६०॥

अहेतुवादादिविरुक्षवाशितं शृगालवत्तत्र विशेषलक्षणम्।
अतो न तानर्हति सेवितुं बुधश्चरेत्तदर्थं तु पराक्रमे सति॥ ६१॥

लोके विरुद्धयशसापि तु नैव कार्या कार्यार्थमप्यसदृशेन जनेन मैत्री।
हेमन्तदुर्दिनसमागमदूषितो हि सौभाग्यहानिमुपयाति निशाकरोऽपि॥ ६२॥

तद्वर्जनाद्गुणविवर्जयितुर्जनस्य संसेवनाच्च गुणसेवनपण्डितस्य।
स्वां कीर्तिमुज्ज्वलय संजनयन् प्रजानां दोषानुरागविलयं गुणसौहृदं च॥ ६३॥

त्वयि च चरति धर्मं भूयसायं नृलोकः
सुचरितसुसुखः स्यात्स्वर्गमार्गप्रतिष्ठः।
जगदिदमनुपाल्यं चैवमभ्युद्यमस्ते
विनयरुचिरमार्गं धर्ममस्माद्भजस्व॥ ६४॥

शीलं विशोधय समर्जय दानकीर्तिं
मैत्रं मनः कुरु जने स्वजने यथैव।
धर्मेण पालय महीं चिरमप्रमादा-
देवं समेष्यसि सुखं त्रिदिवं यशश्च॥ ६५॥

२४ महाकपि-जातक

सज्जन अपने दुःख से उतना दुःखी नहीं होते हैं, जितना अपकारियों के कुशल पक्ष (शुभ) की हानि से। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व एक बार हिमालय के सुन्दर अञ्चल में—जो विविध (वर्णों के) धातुओं से मनोहर चित्र-विचित्र रञ्जित था, जो वन की (नीली) शोभा से आच्छादित होकर मानो नीली रेशमी चादर धारण कर रहा था, जिसके तट-प्रदेश मानो प्रयत्नपूर्वक विरचित विविध वर्ण-विन्यासों के नतोन्नत रेखा-चित्रों से विभूषित थे, जहाँ अनेक झरनों के जल प्रवाहित हो रहे थे, जो गम्भीर गुफाओं और प्रपातों से भरा हुआ था, जहाँ भौंरे जोर जोर से गूँज रहे थे, जिसके चित्र विचित्र फूलों और फलों से लदे हुए वृक्ष मनोहर पवन से वीजित (प्रकम्पित) हो रहे थे, जो विद्याधरों का क्रीडा-स्थान था—एक विशालकाय वानर होकर अकेले विचरण कर रहे थे। उस अवस्था में भी उनका धर्म-ज्ञान लुप्त नहीं हुआ, वे कृतज्ञ उदारचेता और महाधीर थे, तथा करुणा ने मानो अनुराग के कारण उन्हें नहीं छोड़ा।

जंगलों पहाड़ों और समुद्रों सहित पृथ्वी युगान्त प्रलय काल में जल अग्नि और पवन से सैकड़ों बार नष्ट हुई, किन्तु बोधिसत्त्व की महादयालुता क्षीण नहीं हुई ॥ १ ॥

वह महात्मा तपस्वी के समान जंगली वृक्षों के पत्तों और फलों से शरीर-यात्रा करते हुए, गोचर में आये हुए प्राणियोंपर नाना प्रकार से अनुकम्पा करते हुए उस वन-प्रदेश में रहते थे।

तब कोई आदमी खोई हुई गौ को खोजने के उद्योग में चारों ओर विचरण करता हुआ मार्ग-च्युत हो गया और दिग्भ्रम के कारण भटकता हुआ उस स्थानपर पहुँचा। भूख प्यास गर्मी और थकावट से उसका शरीर मुरझा गया तथा शोकाग्नि से उसका भीतर जलने लगा। वह किसी वृक्ष के नीचे मानो विषाद के अतिशय भार से बैठ गया। वहाँ उसने पककर गिरे हुए भूरे रंग के कुछ तिन्दुकी फलों को देखा और चखा। भूख की पीड़ा के कारण उन्हें अत्यन्त स्वादिष्ट समझकर, उनके उत्पत्ति स्थान की खोज के लिए उत्साहित होकर, चारों ओर दृष्टि-पात करते हुए, प्रपात के तट पर स्थित तिन्दुकी वृक्ष को देखा, जिसकी डालों के अग्रभाग पके हुए फलों से झुके हुए और भूरे थे। वह उन फलों की तृष्णा से आकृष्ट होकर, पहाड़ के तटपर चढ़कर, उस तिन्दुकी-वृक्ष की फलों से लदी हुई डाल पर जो प्रपात पर झुकी हुई थी, चढ़ा और फलों के लोभ से डाल के अन्त तक चला गया।

उस वृक्ष की वह पतली डाल अतिरिक्त भार से झुक गई और हठात् ही शब्द करती हुई टूटकर गिर पड़ी, जैसे कुल्हाड़ी से उसके मूल को काट दिया हो ॥ २ ॥

उस डाल के साथ ही वह बड़े पहाड़ी दुर्ग में, जैसे चारों ओर से चट्टानों की दीवार से घिरे हुए कुएँ में गिर पड़ा। पत्तों के ढेर और पानी की गहराई के कारण उसका कोई अङ्ग नहीं टूटा। उस पानी से निकल कर वह चारों ओर घूमने लगा, किन्तु कहीं निकलने का मार्ग न देखा। रक्षा के उपाय के अभाव में मुझे यहाँ शीघ्र ही मरना पड़ेगा, यह सोचकर वह जीवन से निराश हो गया। दुःख के आँसुओं से उसका मुख भरकर म्लान हो गया। तीव्र शोक-शल्य से पीड़ित होते हुए कातर हृदय से पीड़ा के कारण उसने यों विलाप किया—

कान्तारे दुर्गेऽस्मिञ्जनसंपातरहिते निपतितं माम् ।
यत्नादपि परिमृगयन् मृत्योरन्यः क इव पश्येत् ॥ ३ ॥

बन्धुजनमित्रवर्जितमेकनिपानीकृतं मशकसंघैः ।
अवपाताननमग्नं मृगमिव कोऽभ्युद्धरिष्यति माम् ॥ ४ ॥

उद्यानकाननविमानसरिद्विचित्रं
तारावकीर्णमणिरत्नविराजिताभ्रम् ।
तामिस्रपक्षरजनीव घनान्धकारा
कष्टं जगन्मम तिरस्कुरुतेऽन्तरात्रिः ॥ ५ ॥

इति स पुरुषस्तत्तद्विलपंस्तेन सलिलेन तैश्च सहनिपतितैस्तिन्दुकफलैर्वर्तयमानः कतिचिद्दिनानि तत्रावसत् ॥

अथ स महाकपिराहारहेतोस्तद्वनमनुविचरन्नाहूयमान इव मारुताकम्पिताभिस्तस्य तिन्दुकीवृक्षस्याग्रशाखाभिस्तं प्रदेशमभिजगाम । अभिरुह्य चैनं तत्प्रपातमवलोकयन् ददर्श तं पुरुषं क्षुत्परिक्षामनयनवदनं परिपाण्डुकृशदीनगात्रं पर्युत्सुकं तत्र विचेष्टमानम् । स तस्य परिद्यूनतया समावर्जितानुकम्पो महाकपिर्निक्षिप्ताहारव्यापारस्तं पुरुषं प्रततं वीक्षमाणो मानुषीं वाचमुवाच—

मानुषाणामगम्येऽस्मिन् प्रपाते परिवर्तसे ।
वक्तुमर्हसि तत्साधु को भवानिह वा कुतः ॥ ६ ॥

अथ स पुरुषस्तं महाकपिमार्ततया समभिप्रणम्योद्वीक्षमाणः साञ्जलिरुवाच—

मानुषोऽस्मि महाभाग प्रनष्टो विचरन् वने ।
फलार्थी पादपादस्मादिमामापदमागमम् ॥ ७ ॥

तत्सुहृद्बन्धुहीनस्य प्राप्तस्य व्यसनं महत् ।
नाथ वानरयूथानां ममापि शरणं भव ॥ ८ ॥

तच्छ्रुत्वा स महासत्त्वः परां करुणामुपजगाम ।

आपद्गतो बन्धुसुहृद्विहीनः कृताञ्जलिर्दीनमुदीक्षमाणः ।
करोति शत्रूनपि सानुकम्पानाकम्पयत्येव तु सानुकम्पान् ॥ ९ ॥

अथैनं बोधिसत्त्वः करुणायमाणस्तत्कालदुर्लभेन स्निग्धेन वचसा समाश्वासयामास—

प्रपातसंक्षिप्तपराक्रमोऽहमबान्धवो वेति कृथाः शुचं मा ।
यद्बन्धुकृत्यं तव किंचिदत्र कर्तास्मि तत्सर्वमलं भयेन ॥ १० ॥

फूलों और फलों से भरे हुए वृक्षों के समान कृषकों और पशु-पालकों तथा कर देनेवाली प्रजा का पालन नहीं करनेवाला राजा सभी ओषधियों (पृथिवी की उपज) से वञ्चित होता है ॥ ६६ ॥

विविध वस्तुओं का क्रय-विक्रय करनेवाले बनियों नागरिकों तथा शुल्क (चुंगी) द्वारा उपकार करनेवालों का पालन जो राजा नहीं करता है वह कोश-सम्पत्ति से वञ्चित होता है ॥ ६७ ॥

जिसमें कोई दोष नहीं देखा गया, जिसने युद्ध में पराक्रम का परिचय दिया है, जो अस्त्र-कौशल के लिए विख्यात है उसका अपमान या उपेक्षा करे तो राजा रण-भूमि में विजय से वञ्चित होता है ॥ ६८ ॥

उसी प्रकार शील शास्त्र और योग में निपुण उन साधुओं के प्रति, जिनका माहात्म्य प्रकाशमान है, अवज्ञा के मलिन मार्ग पर चलनेवाला राजा स्वर्ग के सुखों से वञ्चित होता है ॥ ६९ ॥

जैसे जो कोई वृक्ष से कच्चा फल तोड़ता है वह फल को नष्ट करता है और रस भी नहीं पाता है वैसे ही अधर्मपूर्वक कर लेनेवाला राजा देश को नष्ट करता है और उससे सुख भी नहीं पाता है ॥ ७० ॥

जैसे गुणों से परिपूर्ण वृक्ष (समयपर) पका हुआ फल प्रदान करता है वैसे ही राजा से रक्षित देश उसे धर्म अर्थ और सुख से युक्त करता है ॥ ७१ ॥

हितकारी निपुण और कार्य-साधक अमात्यों सच्चे मित्रों और स्वजन के मन को प्रिय वचन तथा सम्मानपूर्वक दिये गये धन से बाँधिये (वश में कीजिये) ॥ ७२ ॥

अतः आप धर्म को सदा आगे रखकर, प्रजा की कल्याण प्राप्ति में दत्तचित्त होकर, राग-द्वेष-रहित दण्ड-नीति के द्वारा लोक रक्षा करते हुए अपने लिए परलोक (या उभयलोक) की रक्षा कीजिये" ॥ ७३ ॥

इस प्रकार वह महात्मा परिषद्-सहित उस राजा को कुदृष्टि के कुपथ से हटाकर सन्मार्गपर उतारकर, वहीं से आकाश में उड़ गये और हाथ जोड़कर सम्मानपूर्वक झुके हुए उन लोगों के द्वारा पूजित होते हुए, उसी वन-प्रदेश में चले गये।

इस प्रकार, अपमानित होनेपर भी कृतज्ञता और क्षमाशीलता के कारण सज्जनों की दया उनके प्रति क्षीण नहीं होती है, जिन्होंने पूर्व में उपकार किया है। इसलिए केवल अपमान से ही पूर्व-कृत उपकार को न भूलना चाहिए। इस प्रकार बुद्धत्व-प्राप्ति के पहले ही भगवान् ने अन्य मतों को पराजित कर प्राणियों को विनीत (दीक्षित) किया, यह बुद्ध के वर्णन में भी कहना चाहिए। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि निरुत्तर और निराधार, अतएव असेवनीय है, यह कहते हुए मिथ्यादृष्टि की निन्दा में और विपर्यय से सम्यक् दृष्टि की प्रशंसा में भी यह कथा उपस्थित करनी चाहिए।

महाबोधि-जातक तेईसवाँ समाप्त।

२४. महाकपि-जातकम्

नात्मदुःखेन तथा सन्तः संतप्यन्ते यथापकारिणां कुशलपक्षहान्या। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल श्रीमति हिमवत्पार्श्वे विविधधातुरुचिरचित्राङ्गरागे नीलकौशेयप्रावारकृतोत्तरासङ्ग इव वनगहनलक्ष्म्या प्रयत्नरचितैरिवानेकवर्णसंस्थानविकल्पैर्वैषम्यभक्ति चित्रैर्विभूषिततटान्तदेशे प्रविसृतनैकप्रस्रवणजले गम्भीरकन्दरान्तरप्रपातसंकुले पटुतरमधुकरनिनादे मनोज्ञमारुतोपवीज्यमानविचित्रपुष्पफलपादपे विद्याधराक्रीडभूते महाकायः कपिरेकचरो बभूव। तदवस्थमपि चैनमपरिलुप्तधर्मसंज्ञं कृतज्ञमक्षुद्रस्वभावं धृत्या महत्या समन्वितमनुरागवशादिव करुणा नैव मुमोच।

सकानना साद्रिवरा ससागरा गता विनाशं शतशो वसुंधरा।
युगान्तकाले सलिलानलानिलैर्न बोधिसत्त्वस्य महाकृपालुता॥ १॥

अथ स महात्मा तापस इव वनतरुपर्णफलमात्रवृत्तिरनुकम्पमानस्तेन तेन विधिना गोचरपतितान् प्राणिनस्तमरण्यप्रदेशमध्यावसति स्म॥

अथ यतमः पुरुषो गां प्रनष्टामन्वेषितुं कृतोद्योगः समन्ततोऽनुविचरन् मार्गाद्विप्रनष्टो दिग्भागसंमूढमतिः परिभ्रमंस्तं देशमुपजगाम। स क्षुत्पिपासाघर्मश्रमपरिग्लानतनुर्दौर्मनस्यवह्निना चान्तःप्रदीप्यमानो विषादातिभाराद्विवान्यतमस्मिन् वृक्षमूले निषण्णो ददर्श परिपाकवशाद्विच्युतानि परिपिञ्जराणि कतिचित्तिन्दुकीफलानि। स तान्यास्वाद्य क्षुत्पारक्षामतया परमस्वादूनि मन्यमानस्तत्प्रभवान्वेषणं प्रत्यभिवृद्धोत्साहः समन्ततोऽनुविलोकयन् ददर्श प्रपाततटान्तविरूढं परिपक्वफलानमितपिञ्जराग्रशाखां तिन्दुकीवृक्षम्। स तत्फलतृष्णयाकृष्यमाणस्तं गिरितटमधिरुह्य तस्य तिन्दुकीवृक्षस्य फलिनीं शाखां प्रपाताभिनतामध्यारुरोह फललोभेन चास्याः प्रान्तमुपजगाम।

शाखाथ सा तस्य महीरुहस्य भारतियोगान्नमिता कृशत्वात्।
परश्वधेनेव निकृत्तमूला सशब्दमङ्ग सहसा पपात॥ २॥

स तया सार्धं महति गिरिदुर्गे समन्ततः शैलभित्तिपरिक्षिप्ते कूप इव न्यपतत्। पर्णसंचयगुणात्त्वस्य गाम्भीर्याच्च सलिलस्य न किंचिदङ्गमभज्यत। स तस्मादुत्तीर्य सलिलात्समन्ततः परिसर्पन्न कुतश्चिदुत्तरणमार्गं ददर्श। स निष्प्रतीकारं मर्तव्यमिह मया नचिरादिति विस्रस्यमानजीविताशः शोकाश्रुपरिषिक्तदीनवदनस्तीव्रेण दौर्मनस्यशल्येन प्रतुद्यमानः कातरहृदयस्तत्तदार्तिवशाद् विललाप।

उस महासत्त्व ने उस पुरुष को इस प्रकार आश्वासन देकर उसे तिन्दुक और दूसरे फल दिये तथा अन्यत्र जाकर पुरुष के भार की शिला (अपनी पीठ पर) लेकर उसे निकालने का अभ्यास किया। तब अपने बलकी इयत्ता जानकर 'मैं इसे इस प्रपात से निकालने में समर्थ हूँ' यह निश्चय कर, प्रपात में जाकर करुणा से प्रेरित होते हुए उन्होंने उस पुरुष से कहा—

"आओ, मेरी पीठपर च कर मुझ से चिपट जाओ। मैं तुम्हारा और अपने शरीर के सार का उद्धार करता हूँ। क्योंकि सज्जनों के मतानुसार इस असार शरीर का सार यही है कि बुद्धिमान् मनुष्य इसे परोपकार का साधन बनावें ॥ ११-१२ ॥

वह 'बहुत अच्छा' कहकर, उन्हें प्रणाम कर, उनपर आरूढ़ हुआ।

उस मनुष्य के आरोहण करने पर, उसके अतिशय भार से उनके प्राण निकलने लगे। किन्तु सत्त्व (शक्ति, उत्साह) की अधिकता से धैर्य की रक्षा करते हुए, उन्होंने बहुत कष्ट से उसे निकाला ॥ १३ ॥

उसे निकालकर वह परम प्रसन्न हुए। थकावट के कारण व्याकुल होकर धीरे-धीरे चलते हुए, उन्होंने मेघ के समान नीली एक शिला को विश्राम के लिए शयन बनाया ॥ १४ ॥

बोधिसत्त्व का स्वभाव शुद्ध था और उन्होंने उस आदमी का उपकार किया था। अतः उससे किसी अनिष्ट की आशङ्का न करते हुए कहा—

"इस वन-प्रदेश में आसानी से शिकार किया जा सकता है, यहाँ हिंसक पशु निर्बाध पहुँच सकते हैं। यहाँ थककर सोये हुए मुझे और साथ ही अपने कल्याण को कोई हठात् ही समाप्त न कर दे। अतः चारों ओर दृष्टि रखते हुये तुम मेरी और अपनी रक्षा करो। मेरा सारा शरीर अत्यन्त थका हुआ है। इसलिए मैं मुहूर्तभर सोना चाहता हूँ ॥ १५-१६ ॥

तब उसने मिथ्या विनय दिखलाते हुए कहा—"आप इच्छानुसार सोवें और सुखपूर्वक जागें। मैं आपकी रक्षा के लिए तैयार हूँ", यह वचन उन्हें दिया। जब वह महासत्त्व थकावट के कारण निद्रा के वशीभूत हुए, तब उस मनुष्य के मन में ये अशुभ विचार आये—

"अति प्रयत्नपूर्वक प्राप्य जंगल के मूलों से या संयोग से पाये जानेवाले फलों से इस क्षीण शरीर का निर्वाह भी नहीं होगा, तो पोषण कहाँ से होगा ? ॥ १७ ॥

मैं बलहीन इस दुस्तर वन को कैसे पार करूँगा ? इस दुर्गम वन को पार करने के लिए इसका यह मांस मेरे लिए पर्याप्त होगा ॥ १८ ॥

यद्यपि इसने मेरा उपकार किया है तथापि यह भक्षणीय है; क्योंकि इसका यह प्रकृति-योग ही ऐसा है। यह आपत्काल का धर्म है, अतः मैं इसे अपना आहार बनाऊँगा ॥ १९ ॥

जबतक यह विश्वास रखकर सुखपूर्वक सोया हुआ है, तभी तक मैं इसे मार सकता हूँ। क्योंकि, इसके साथ सम्मुख युद्ध में यदि सिंह भी आ जाय तो उसकी भी पराजय की ही संभावना है ॥ २० ॥

तन्नायं विलम्बितुं मे काल इति विनिश्चित्य स दुरात्मा लोभदोषव्यामोहितमतिरकृतज्ञो विपन्नधर्मसंज्ञः प्रनष्टकारुण्यसौम्यस्वभावः परिदुर्बलोऽप्यकार्यातिरागान्महतीं शिलामुद्यम्य तस्य महाकपेः शिरसि मुमोच ।

शिलाथ सा दुर्बलविह्वलेन कार्यातिरागात्त्वरितेन तेन ।
अत्यन्तनिद्रोपगमाय मुक्ता निद्राप्रवासाय कपेर्बभूव ॥ २१ ॥

सर्वात्मना सा न समाससाद मूर्धानमस्मान्न विनिष्पिपेष ।
कोट्येकदेशेन तु तं रुजन्ती शिला तले साशनिवत्पपात ॥ २२ ॥

शिलाभिघातादवभिन्नमूर्धा वेगादवप्लुत्य च बोधिसत्त्वः ।
केनाहतोऽस्मीति ददर्श नान्यं तमेव तु ह्रीतमुखं ददर्श ॥ २३ ॥

वैलक्ष्यपीतप्रभमप्रगल्भं विषाददैन्यात्परिभिन्नवर्णम् ।
त्रासोदयादागतकण्ठशोषं स्वेदार्द्रमुद्वीक्षितुमप्यशक्तम् । २४ ॥

अथ स महाकपिरस्यैव तत्कर्मेति निश्चितमतिः स्वमभिघातदुःखमचिन्तयित्वा तेन तस्यात्महितनिरपेक्षेणातिकष्टेन कर्मणा समुपजातसंवेगकारुण्यः परित्यक्तक्रोधसंरम्भदोषः सबाष्पनयनस्तं पुरुषमवेक्ष्य समनुशोचन्नुवाच—

मानुषेण सता भद्र त्वयेदं कृतमीदृशम् ।
कथं नाम व्यवसितं प्रारब्धं कथमेव वा ॥ २५ ॥

मदभिद्रोहसंरब्धं त्वं नामापतितं परम् ।
विनिवारणशौटीरविक्रमो रोद्धुमर्हसि ॥ २६ ॥

दुष्करं कृतवानस्मीत्यभून्मानोन्नतिर्मम ।
त्वयापविद्धा सा दूरमतिदुष्करकारिणा ॥ २७ ॥

परलोकादिवानीतो मृत्योर्वक्त्रान्तरादिव ।
प्रपातादुद्धृतोऽन्यस्मादन्यत्र पतितो ह्यसि ॥ २८ ॥

धिगहो बत दुर्वृत्तमज्ञानमतिदारुणम् ।
यत्पातयति दुःखेषु सुखाशाकृपणं जगत् ॥ २९ ॥

पातितो दुर्गतावात्मा क्षिप्तः शोकानलो मयि ।
निमीलिता यशोलक्ष्मीर्गुणमैत्री विरोधिता ॥ ३० ॥

गत्वा धिग्वादलक्ष्यत्वं हता विश्वसनीयता ।
का नु खल्वर्थनिष्पत्तिरेवमाकाङ्क्षिता त्वया ॥ ३१ ॥

"जंगल के इस निर्जन दुर्ग में मैं पड़ा हुआ हूँ। यदि कोई यत्नपूर्वक मुझे खोजे भी तो मृत्यु को छोड़कर दूसरा कौन मुझे देख सकता है ॥ ३ ॥

यहाँ न मेरे बन्धु हैं, न मित्र। मैं केवल मच्छड़ों का निपान बना हुआ हूँ। गर्त में मुख तक डूबे हुए पशु के समान (असहाय) मुझको कौन निकालेगा ॥ ४ ॥

हा! यह अन्त-रात्रि कृष्ण-पक्षकी रात्रि के समान घने अन्धकार से व्याप्त है और (सदा के लिए) मुझसे इस जगत् को, उद्यानों जंगलों महलों और नदियों से चित्र-विचित्र तथा तारा-रूप रत्नों से सुशोभित आकाशवाले जगत् को, छिपा रही है" ॥ ५ ॥

इस प्रकार विलाप करता हुआ वह मनुष्य उस पानी और साथ गिरे हुए उन तिन्दुकी फलों पर वहाँ कुछ दिनों तक रहा।

तब वह महाकपि, आहार के लिए उस वन में विचरण करते हुए, हवा से हिलती हुई उस तिन्दुकी-वृक्ष की अग्रशाखों से मानों बुलाये जाते हुए, उस स्थान पर पहुँचे। और, उस वृक्ष पर चढ़कर, उस प्रपात की ओर दृष्टि-पात करते हुए, उस मनुष्य को देखा। भूख से उसकी आँखें धँस गई थीं, मुख सूख रहा था। शरीर पीला दुबला और दयनीय था। वह उदास और बेचैन था उसके दुःख से महाकपि के हृदय में दया उमड़ आई। आहार की खोज को छोड़कर, उस मनुष्य को एकटक से देखते हुए, उन्होंने मनुष्य की वाणी में कहा—

"मनुष्यों के लिए दुर्गम इस प्रपात में तुम घूम रहे हो। ठीक-ठीक बतलाओ कि तुम कौन हो, यहाँ कैसे आये" ॥ ६ ॥

तब उस मनुष्य ने पीड़ा के कारण महाकपि को प्रणाम कर, उनकी ओर देखते हुये, हाथ जोड़कर कहा—

"हे महाभाग, मैं मनुष्य हूँ, वन में विचरण करता हुआ मैं भटक गया। फल के लोभ से इस पेड़ से गिरकर मैं इस विपत्ति में आया हूँ ॥ ७ ॥

मित्रों और बन्धुओं से रहित मैं इस महाविपत्ति में पड़ा हूँ। अतः, हे वानर-पति, आप मेरे भी रक्षक बनें" ॥ ८ ॥

यह सुनकर उस महासत्त्व को बड़ी दया आई।

मित्रों और बन्धुओं से रहित विपत्ति में पड़ा हुआ मनुष्य, हाथ जोड़कर दीनता-पूर्वक देखता हुआ, शत्रुओं को भी दयार्द्र कर देता है, दयावानों को तो दयार्द्र करता ही है ॥ ९ ॥

तब बोधिसत्त्व ने उसके ऊपर करुणा करते हुए, उस सङ्कट-काल के लिए दुर्लभ स्नेहपूर्ण वाणी में आश्वासन देते हुए कहा—

"'प्रपात में गिरकर मैं पराक्रम-हीन हूँ, या बन्धु-विहीन हूँ,' यह चिन्ता न करो। तुम्हारे प्रति यहाँ बन्धुओं का जो कुछ कर्तव्य है, वह सब मैं करूँगा। भय न करो" ॥ १० ॥

इति स महासत्त्वस्तं पुरुषमाश्वास्य ततश्चास्मै तिन्दुकान्यपराणि च फलानि समुपहृत्य तदुद्धरणयोग्यया पुरुषमारगुर्व्या शिलया न्यत्र योग्यां चकार। ततश्चात्मनो बलप्रमाणमवगम्य शक्तोऽहमेनमेतस्मात्प्रपातादुद्धर्तुमिति निश्चितमतिरवतीर्य प्रपातं करुणया परिचोद्यमानस्तं पुरुषमुवाच—

एहि पृष्ठं ममारुह्य सुलग्नोऽस्तु भवान् मयि।
यावदभ्युद्धरामि त्वां स्वदेहात्सारमेव च॥ ११॥

असारस्य शरीरस्य सारो ह्येष मतः सताम्।
यत्परेषां हितार्थेषु साधनीक्रियते बुधैः॥ १२॥

स तथेति प्रतिश्रुत्याभिप्रणम्य चैनमध्यारुरोह॥

अथाभिरूढः स नरेण तेन भारातियोगेन विहन्यमानः।
सत्त्वप्रकर्षादविपन्नधैर्यः परेण दुःखेन तमुज्जहार॥ १३॥

उद्धृत्य चैनं परमप्रतीतः खेदात्परिभ्याकुलखेलगामी।
शिलातलं तोयधरासिनीलं विश्रामहेतोः शयनीचकार॥ १४॥

अथ बोधिसत्त्वः शुद्धस्वभावतया कृतोपकारत्वाच्च तस्मात्पुरुषादपायनिराशङ्को विस्रम्भादेनमुवाच—

अव्याहतव्यालमृगप्रवेशे वनप्रदेशेऽत्र समन्तमार्गे।
खेदप्रसुप्तं सहसा निहन्ति कश्चित्पुरा मां स्वहितोदयं च॥ १५॥

यतो भवान् दिक्षु विकीर्णचक्षुः करोतु रक्षां मम चात्मनश्च।
दृढं श्रमेणास्मि परीतमूर्तिस्तत्स्वप्तुमिच्छामि मुहूर्तमात्रम्॥ १६॥

अथ स मिथ्याविनयप्रगल्भः—स्वपितु भवान् यथ कामं सुखप्रबोधाय, स्थितोऽहं त्वत्संरक्षणायेत्यस्मै प्रतिशुश्राव। अथ स पुरुषस्तस्मिन् महासत्त्वे श्रमबलान्निद्रावशमुपगते चिन्तामशिवामापेदे—

मूलैः प्रयत्नातिशयाधिगम्यैर्वन्यैर्यदृच्छाधिगतैः फलैर्वा।
एवं परिक्षीणतनोः कथं स्याद्यात्रापि तावत्कुत एव पुष्टिः॥ १७॥

इदं च कान्तारमसुप्रतारं कथं तरिष्यामि बलेन हीनः।
पर्याप्तरूपं त्विदमस्य मांसं कान्तारदुर्गोत्तरणाय मे स्यात्॥ १८॥

कृतोपकारोऽपि च भक्ष्य एव निसर्गयोगः स हि तादृशोऽस्य।
आपत्प्रसिद्धश्च किलैष धर्मः पाथेयतामित्युपनेय एषः॥ १९॥

यावच्च विस्रम्भसुखप्रसुप्तस्तावन्मया शक्यमयं निहन्तुम्।
इमं हि युद्धाभिमुखं समेत्य सिंहोऽपि संभाव्यपराजयः स्यात्॥२०॥

मैं तुम्हारे पाप में निमित्त बना और मैं उस पाप को प्रक्षालित करने में समर्थ नहीं हूँ, इस बात से मेरे मन में जितनी व्यथा हो रही है उतनी व्यथा तो मुझे इस चोट की पीड़ा से भी नहीं हो रही है ।। ३२ ।।

तुम सन्देह के पात्र हो, अतः तुम मेरे बगल से मेरे द्वारा देखे जाते हुए ही मेरे साथ चलो, जब तक इस अत्यन्त भयङ्कर जंगल से निकालकर तुम्हें ग्राम के मार्ग पर रख देता हूँ ।। ३३ ।।

ऐसा न हो कि मार्ग से अनभिज्ञ, वन में भटकते हुए, क्षीण-शरीर और अकेला पाकर तुम्हें कोई सतावे और मेरे परिश्रम को व्यर्थ कर दे ।। ३४ ।।

उस महात्मा ने उस पुरुष के लिए शोक करते हुए, उसे जन-भूमि में लाकर और उस मार्ग पर रखकर, उससे पुनः कहा—

"हे मित्र, तुम जन-भूमि में आ गये, वन-भूमि यहीं तक है। दुर्गम वन के भय को छोड़ कर आनन्द से जाओ। पापकर्म छोड़ने का यत्न करो, क्योंकि उसके परिणाम का समय अवश्य ही दुःखदायी होता है ।। ३५ ।।

वह महाकपि दयापूर्वक उस आदमी को शिष्य के समान उपदेश देकर उसी वनप्रदेश को लौट गये।

घोर पाप करने से उस मनुष्य का मन पश्चात्ताप की अग्नि से जलने लगा। असाध्य कुष्ठ-रोग से उसकी आकृति सद्यः बदल गई। कोढ़ से उसकी छवि विचित्र हो गई। फूटते हुए फोड़ों के बहने से उसका शरीर गीला हो गया और उससे अत्यन्त दुर्गन्धि निकलने लगी। वह जहाँ कहीं भी गया वहीं उसके बीभत्स और विकराल रूप को देखकर तथा उसके बदले हुए दीन स्वर को सुनकर लोगों को विश्वास नहीं हुआ कि यह मनुष्य है। उसे साक्षात् पाप मानते हुये उन्होंने ढेले और लाठियाँ उठाकर तथा फटकार के कठोर वचनों से उसे निकाल दिया। एक बार किसी राजा ने शिकार खेलते हुए जंगल में उसे प्रेत के समान घूमते देखा। उसके कपड़े मलिन और क्षीण थे, उसका गुप्त अंग भी अच्छी तरह से ढका हुआ नहीं था। उस दुर्दशा को देखकर राजा ने भय और कुतूहल के साथ पूछा—

"कुष्ठ-रोग से तुम्हारा शरीर कुरूप हो गया है। कोढ़ से तुम्हारी छवि विचित्र हो गई है। तुम पीले दुबले और दुःखी हो। धूल से तुम्हारे बाल रूखे हो गये हैं ।। ३६ ।।

तुम कौन हो ? भूत प्रेत पिशाच ? या मूर्त पाप ? अनेक रोगों के समूह ? या यक्ष्मा रोगों में कोई हो क्या ?" ।। ३७ ।।

उसने आर्त स्वर से प्रणाम करते हुए कहा—"हे महाराज, मैं मनुष्य हूँ, अमनुष्य नहीं।" "तब इस अवस्था में कैसे पहुँचे ?" राजा के यह पूछनेपर उसने अपने दुष्कर्म को प्रकाशित करते हुए कहा—

मित्रद्रोहस्य तस्येदं पुष्पं तावदुपस्थितम् ।
अतः कष्टतरं व्यक्तं फलमन्यद्भविष्यति ।। ३८ ।।

तस्मान्मित्रेष्वभिद्रोहं शत्रुवद् द्रष्टुमर्हसि ।
भावस्निग्धमवेक्षस्व भावस्निग्धं सुहृज्जनम् ।। ३९ ।।

मित्रेष्वमित्रचरितं परिगृह्य वृत्त-
मेवंविधां समुपयान्ति दशामिहैव ।
लोभादिदोषमलिनीकृतमानसानां
मित्रद्रुहां गतिरतः परतोऽनुमेया ।। ४० ।।

वात्सल्यसौम्यहृदयस्तु सुहृत्सु कीर्तिं
विश्वासभावमुपकारसुखं च तेभ्यः ।
प्राप्नोति संनतिगुणं मनसः प्रहर्षं
दुर्धर्षतां च रिपुभिस्त्रिदशालयं च ।। ४१ ।।

इमं विदित्वा नृप मित्रपक्षे प्रभावसिद्धी सदसत्प्रवृत्त्योः ।
भजस्व मार्गं सुजनाभिपन्नं तेन प्रयान्तमनुयाति भूतिः ।। ४२ ।।

तदेवं नात्मदुःखेन तथा सन्तः संतप्यन्ते यथापकारिणां कुशलपक्षहान्या । इति तथागतमाहात्म्ये वाच्यम् । सत्कृत्य धर्मश्रवणे क्षान्तिकथायां मित्रानभिद्रोहे पापकर्मादीनवप्रदर्शने चेति ।।

इति महाकपि-जातकं चतुर्विंशतितमम् ।

---

२५. शरभ-जातकम्

जिघांसुमप्यापद्गतमनुकम्पन्त एव महाकारुणिका नोपेक्षन्ते । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन्नरण्यवनप्रदेशे निर्मानुषसंपातनीरवे विविधमृगकुलाधिवासे तृणगहननिमग्नमूलवृक्षक्षुपबहुले पथिकयानवाहनचरणैरविन्यस्तमार्गसीमान्तलेखे सलिलमार्गवल्मीकश्वभ्रविषमभूभागे बलजववर्णसत्त्वसंपन्नः संहननवत्कायोपपन्नः शरभो मृगो बभूव । स कारुण्याभ्यासादनभिद्रुग्धचित्तः सत्त्वेषु तृणपर्णसलिलमात्रवृत्तिः संतोषगुणादरण्यवासनिरतमतिः प्रविवेककाम इव योगी तमरण्यप्रदेशमभ्यलंचकार ।

मृगाकृतिर्मानुषधीरचेतास्तपस्विवत्प्राणिषु सानुकम्पः ।
चचार तस्मिन् स वने विविक्ते योगीव संतुष्टमतिस्तृणाग्रैः ।। १ ।।

अतः मेरे लिए यह विलम्ब करने का समय नहीं है," यह निश्चय कर उस दुरात्मा की बुद्धि लोभ से व्याकुल हो गई, उसका धर्म-ज्ञान मारा गया, दया समाप्त हुई और शान्त स्वभाव नष्ट हुआ। दुर्बल होनेपर भी अकार्य की आसक्ति से उसने एक बड़े पत्थर को उठाकर उस महाकपि के शिरपर फेंका।

अकार्य की आसक्ति से उस दुर्बल ने विह्वल होकर शीघ्रता से उस पत्थर को महाकपि की चिर-निद्रा (मृत्यु) के लिए फेंका, किन्तु इससे उनकी नीन्द टूट गई ॥ २१ ॥

पूरा पत्थर पूरे वेग से उनके मस्तकपर नहीं पड़ा, अतः उसे चूर चूर न कर सका। किन्तु किनारे के एक भाग से ही उसे पीड़ित करता हुआ वह वज्र के समान पृथ्वीपर गिरा ॥ २२ ॥

पत्थर की चोट से उनका मस्तक फट गया। वेग से उछलकर बोधिसत्त्व ने कहा— "किसने मुझे मारा" ? वहाँ दूसरे किसी को नहीं, किन्तु लज्जितमुख उसी आदमी को देखा ॥ २३ ॥

वह लज्जा से उदास और कातर तथा विषाद से विवर्ण था। भय से उसका कण्ठ सूख रहा था। वह पसीने से तर था। आँख उठाकर किसी को देख भी नहीं सकता था ॥ २४ ॥

तब वह महाकपि, इसी का यह कर्म है, यह निश्चय कर, चोट की अपनी पीड़ा को भूलकर, उसके आत्मकल्याण-विरोधी दुःखद कर्म से विचलित हो उठे। दया से द्रवीभूत हुए। उन्हें क्रोध या क्षोभ नहीं हुआ। उनकी आँखें सजल हो उठीं। उस मनुष्य की ओर देखकर उसके लिए शोक करते हुए उन्होंने कहा—

"हे भद्र, मनुष्य होकर तुमने यह ऐसा अकार्य किया। क्या निश्चय (प्रतिज्ञा) तुमने किया और क्या किया ? ॥ २५ ॥

मेरे प्रति द्रोह से कुपित होकर आये हुए शत्रु को रोकने की शक्ति तुम में है, तुम उसे रोकते ॥ २६ ॥

मैंने दुष्कर (कठिन) कार्य किया, यह अभिमान मुझे हुआ, तुमने अतिदुष्कर कार्य कर उस अभिमान को दूर किया ॥ २७ ॥

तुम परलोक से मानो लाये गये, मृत्यु-मुख से मानो छुड़ाये गये। तुम एक प्रपात से निकाले गये और दूसरे प्रपात में गिर पड़े हो ॥ २८ ॥

अहो ! अति दारुण असत् अज्ञान को धिक्कार है, जो सुख की आशा से विह्वल प्राणियों को विपत्ति में गिराता है ॥ २९ ॥

तुमने अपने को दुर्गति में गिराया, मुझे शोकाग्नि में डाला। यश की शोभा को नष्ट किया, गुणानुराग को समाप्त किया ॥ ३० ॥

तुम धिक्कार के लक्ष्य हुए, तुमने विश्वास को नष्ट किया। इस प्रकार तुमने किस अभीष्ट-सिद्धि की आकाङ्क्षा की ? ॥ ३१ ॥

दुनोति मां नैव तथा त्वियं रुजा
यथैतदेवात्र मनः क्षिणोति माम् ।
गतोऽस्मि पापे तव यन्निमित्ततां
न चाहमेनस्तदपोहितु प्रभुः ॥ ३२ ॥

संदृश्यमानवपुरेव तु पार्श्वतो मां
तस्मादनुव्रज दृढ ह्यसि शङ्कनीयः ।
यावद्बहुप्रतिभयाद्गहनादितस्त्वां
ग्रामान्तपद्धतिमनुप्रतिपादयामि ॥ ३३ ॥

एकाकिनं क्षामशरीरकं त्वां मार्गानभिज्ञं हि वने भ्रमन्तम् ।
कश्चित्समासाद्य पुरा करोति त्वत्पीडनाद्व्यर्थपरिश्रमं माम् ॥ ३४ ॥

इति स महात्मा तं पुरुषमनुशोचञ्जनान्तमानीय प्रतिपाद्य चैनं तन्मार्गं पुनरुवाच –

प्राप्तो जनान्तमसि का त वनान्तमेतत्
कान्तारदुर्गभयमुत्सृज गच्छ साधु ।
पापं च कर्म परिवर्जयितुं यतेथा
दुःखो हि तस्य नियमेन विपाककालः ॥ ३५ ॥

इति स महाकपिस्तं पुरुषमनुकम्पया शिष्यमिवानुशिष्य तमेव वनप्रदेशं प्रतिजगाम ॥

अथ स पुरुषस्तद तकष्ट पापं कृत्वा पश्चात्तापवह्निना संप्रदीप्यमानचेता महता कुष्ठव्याधिना रूपान्तरमुपनीतः किलासचित्रच्छविः प्रभिद्यमानव्रणविस्रवार्द्रगात्रः परमदुर्गन्धशरीरः सद्यः समपद्यत । स यं यं देशमभिजगाम ततस्तत एवैनमतिबीभत्सविकृततरदर्शनं मानुष इत्यश्रद्धेयरूपं भिन्नदीनस्वरमभिवीक्ष्य पुरुषाः साक्षादयं पाप्मेति मन्यमानाः समुद्यतलोष्टदण्डा निर्भर्त्सनपरुषवचसः प्रवासयामासुः । अथैनमन्यतमो राजा मृगयामनुविचरन् प्रेतमिवारण्ये परिभ्रमन्तं प्रक्षीणमलिनवसनं नातिप्रच्छन्नकौपीनमतिदुर्दर्शनमभिवीक्ष्य समाध्वसकौतूहलः पप्रच्छ—

विरूपिततनुः कुष्ठैः किलासशबलच्छविः ।
पाण्डुः कृशतनुर्दीनो रजोरूक्षशिरोरुहः ॥ ३६ ॥

कस्त्वं प्रेतः पिशाचो वा मूर्तः पाप्माथ पूतनः ।
अनेकरोगसंघातः कतमो वासि यक्ष्मणाम् ॥ ३७ ॥

स तं दीनेन कण्ठेन समभिप्रणमन्नुवाच—मानुषोऽस्मि महाराज, नामानुष इति । तत्कथमिमामवस्थामनुप्राप्तोऽसीति च पर्यनुयुक्तो राज्ञा तदस्मै स्वं दुश्चरितमाविष्कृत्योवाच—

"अभी उस मित्र-द्रोह का यह फूल निकला है। अवश्य ही फल तो दूसरा ही इससे भी कष्ट-दायक होगा ॥ ३८ ॥

अतः मित्रों के प्रति द्रोह (विश्वासघात) को शत्रु के समान समझें। स्नेह-भाव रखने-वाले मित्रों को स्नेह-दृष्टि से देखें ॥ ३९ ॥

मित्रों के प्रति शत्रुता करने वालों की इहलोक में ही ऐसी दशा होती है। लोभ-आदि दोषों से मलिन मन वाले मित्र-द्रोहियों की परलोक में होनेवाली गति का इसी से अनुमान किया जा सकता है ॥ ४० ॥

किन्तु जिसका हृदय मित्रों के प्रति स्नेह से भरा हुआ है, वह उनका विश्वासपात्र और उपकृत होता है, वह कीर्ति विनय और आनन्द प्राप्त करता है, वह शत्रुओं के लिए अजेय होता है और अन्त में स्वर्ग जाता है ॥ ४१ ॥

हे राजन्, मित्र के प्रति भले बुरे आचरण का यह लाभ और परिणाम जानकर, सज्जनों के द्वारा अपनाये गये मार्ग पर चलिये। उस मार्ग से चलने वाले के पीछे सुख-सम्पत्ति लगी रहती है ॥ ४२ ॥

इस प्रकार सज्जन अपने दुःख से उतना दुःखी नहीं होते जितना कि अपकार करनेवालों के शुभ की हानि से। तथागत के माहात्म्य में इसे कहना चाहिए। आदरपूर्वक धर्म-श्रवण करने में, क्षमा की कथा में, मित्रों के प्रति द्रोह नहीं करने में तथा पाप-कर्म के दोष दिखलाने में इसे कहना चाहिए।

महाकपि-जातक चौबीसवाँ समाप्त।

---

२५. शरभ-जातक

हत्या की चेष्टा करने वाला यदि विपत्ति में पड़ जाय तो उस पर भी महाकारुणिक करुणा ही करते हैं, उसकी उपेक्षा नहीं करते हैं। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व एक बार निर्जन-नीरव, विविध पशुओं के निवास-स्थान, दुष्प्रवेश तृणों में छिपे हुए मूलवाले वृक्षों और झाड़ियों से भरे हुए पथिकों की गाड़ियों और वाहनों के चरणों से बनने वाले रास्तों और रेखाओं से रहित, जल के सोतों वल्मीकों और खन्दकों से विषम भूमि वाले वन में शरभ पशु हुए। वह बलवान् वेगवान् रूपवान् और तेजस्वी थे। उनका शरीर अत्यन्त कठोर था। करुणा के अभ्यास के कारण प्राणियों के प्रति उनके मन में द्रोह नहीं था। सन्तोष के कारण घास पात और पानी ही उनका आहार था तथा जंगल में ही रहना उन्हें पसन्द था। एकान्त चाहने वाले योगी के समान उन्होंने उस वन-प्रदेश को अल-ङ्कृत किया—

उनकी आकृति पशु की थी, चित्त मनुष्य के समान धीर था। वे तपस्वी के समान प्राणियोंपर दया रखते थे, तृणों के अग्रभाग खाकर सन्तुष्ट रहते थे और योगी के समान उस एकान्त वन में विचरण करते थे ॥ १ ॥

अथ कदाचिदन्यतमो राजा तस्य विषयस्याधिपतिस्तुरगवराधिरूढः सज्यचापबाणव्यग्रपाणिर्मृगेष्वस्त्रकौशलमात्मनो जिज्ञासमानः संरागवशाज्जवेन मृगाननुपतन्नुत्तमजवेन वाजिना दूरादपसृतहस्त्यश्वरथपदातिकायस्तं प्रदेशमुपजगाम । दूरादेव चालोक्य तं महासत्त्वं हन्तुमुत्पतितनिश्चयः समुत्कृष्टनिशितसायको यतः स महात्मा तेन तुरगवरं संचोदयामास । अथ बोधिसत्त्वः समालोक्यैव तुरगवरगतं सायुधमभिपतन्तं तं राजानं शक्तिमानपि प्रत्यवस्थातुं निवृत्तसाहससंरम्भत्वात्परेण जवातिशयेन समुत्पपात । सोऽनुगम्यमानस्तेन तुरंगमेणानुमार्गागतं महच्छ्वभ्रं गोष्पदमिव जवेन लङ्घयित्वा प्रदुद्राव । अथ तुरगवरस्तेनैव मार्गेण तं शरभमनुपतन्नुत्तमेन जवप्रमाणेन तच्छ्वभ्रमासाद्य लङ्घयितुमनध्यवसितमतिः सहसा व्यतिष्ठत ।

अथाश्वपृष्ठादुद्भीर्णः सायुधः स महीपतिः ।
पपात महति श्वभ्रे दैत्ययोध इवोदधौ ॥ २ ॥

निबद्धचक्षुः शरभे स तस्मिन् संलक्षयामास न तं प्रपातम् ।
विस्रम्भदोषाच्चलितासनोऽथ द्रुताश्ववेगोपरमात्पपात ॥ ३ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तुरगखुरशब्दप्रशमात्किं नु खलु प्रतिनिवृत्तः स्यादयं राजेति समुत्पन्नवितर्कः पश्चादावर्जितवदनः समालोकयन् ददर्श तमश्वमनारोहकं तस्मिन् प्रपातोद्देशेऽवस्थितम् । तस्य बुद्धिरभवत्—नियतमत्र प्रपाते निपतितः स राजा । न ह्यत्र किंचिद्विश्रमहेतोः संश्रयणीयरूपं घनप्रच्छायं वृक्षमूलमस्ति नीलोत्पलदलनीलविमलसलिलमवगाहयोग्यं वा सरः । न चैव व्यालमृगानुविचरितमरण्यवनमवगाढेन यत्र क्वचिदुपसृज्य तुरगवरं विश्रम्यते मृगया वानुष्ठीयते । न चात्र किंचित्तृणगहनमपि तद्विधं यत्र निलीनः स्यात् । तद्व्यक्तमत्र श्वभ्रे निपतितेन तेन राज्ञा भवितव्यमिति । ततः स महात्मा निश्चयमुपेत्य वधकेऽपि तस्मिन् परां करुणामुपजगाम ।

अद्यैव चित्रध्वजभूषणेन विभ्राजमानावरणायुधेन ।
रथाश्वपत्तिद्विरदाकुलेन वादित्रचित्रध्वनिना बलेन ॥ ४ ॥

कृतानुयात्रो रुचिरातपत्रः परिस्फुरच्चामरहारशोभः ।
देवेन्द्रवत्प्राञ्जलिभिर्जनौघैरभ्यर्चितो राजसुखान्यवाप्य ॥ ५ ॥

अद्यैव मग्नो महति प्रपाते निपातवेगादभिरुग्णगात्रः ।
मूर्छान्वितः शोकपरायणो वा कष्टं बत क्लेशमयं प्रपन्नः ॥ ६ ॥

किणाङ्कितानीव मनांसि दुःखैर्न हीनवर्गस्य तथा व्यथन्ते ।
अदृष्टदुःखान्यतिसौकुमार्याद्यथोत्तमानां व्यसनागमेषु ॥ ७ ॥

तब उस देश का अधिपति कोई राजा उत्तम घोड़ेपर चढ़कर, हाथ में प्रत्यञ्चा-युक्त धनुष-बाण लेकर, मृगोंपर अपने अस्त्रकौशल की परीक्षा करता हुआ, उत्तेजना के वशीभूत होकर मृगों का पीछा करता हुआ, अत्यन्त वेगवान् घोड़े के कारण हाथी अश्व रथ और पैदल सेना को दूर में छोड़कर उस स्थानपर पहुँचा। दूर से ही उस महासत्त्व को देखकर उसने उन्हें मारने का निश्चय किया और तीक्ष्ण बाण को खींचकर अपने श्रेष्ठ घोड़े को उस महात्मा की ओर उसकाया। उत्तम घोड़ेपर अस्त्र के साथ आते हुए राजा को देखकर, उसका सामना करने में समर्थ होनेपर भी, हिंसा और क्रोध से निवृत्त होने के कारण बोधिसत्त्व अत्यन्त वेग से भागने लगे। उस घोड़े से अनुसृत होते हुए, मार्ग में आये हुए बड़े गढ़े को गोपद के समान वेग से लाँघकर भागते रहे। वह श्रेष्ठ घोड़ा उसी दिशा में पूरे वेग से शरभ का पीछा करता हुआ, उस गढ़े के पास पहुँचकर, उसे लाँघने का निश्चय न कर, हठात् ही रुक गया।

तब घोड़े की पीठ से उछलकर राजा अश्व के साथ बड़े गढ़े में गिर पड़ा, जैसे कोई दैत्य-योद्धा समुद्र में गिर रहा हो ॥ २ ॥

उस शरभ पर दृष्टि गड़ाये हुए राजा ने प्रपात को नहीं देखा, वेगपूर्वक दौड़ते हुए घोड़े के रुकने से निश्शङ्क असावधान राजा आसन से चलायमान होकर गिर पड़ा ॥ ३ ॥

तब घोड़े के खुर के शब्द के बन्द होने से 'क्या राजा लौट गये होंगे' यह तर्क-वितर्क करते हुए, पीछे की ओर मुख घुमाकर दृष्टि-पात करते हुए, बोधिसत्त्व ने उस घोड़े को देखा, जो सवार के बिना उस गढ़े के किनारे खड़ा था। उन्होंने सोचा अवश्य ही राजा गढ़े में गिर पड़े; क्योंकि यहाँ विश्राम के लिए आश्रय के योग्य न तो सघन छायावाला कोई वृक्ष-मूल ही है और न तो नीले कमल की पंखुड़ी के समान नील विमल जल वाला सरोवर ही है, जहाँ स्नान किया जाय। हिंसक पशुओं से भरे हुए जंगलमें घुसकर जहाँ कहीं घोड़े को छोड़कर विश्राम या शिकार कर रहे हों, यह भी तो नहीं हो सकता है। न तो यहां कोई वैसी घास की झाड़ी है, जहाँ छिपे हुए हों। स्पष्ट है कि वह राजा इस गढ़े में गिर पड़े होंगे। तब यह निश्चय करने पर उस महात्मा के हृदय में उस वध करने वाले के प्रति भी अत्यन्त करुणा उत्पन्न हुई।

आज ही चित्र विचित्र ध्वजाओं से विभूषित, चमकते हुए कवचों और अस्त्रों से सुसज्जित, वाद्य-ध्वनि से गुञ्जायमान, रथ अश्व पैदल और हाथी की सेना के साथ चल रहे थे, उनके ऊपर सुन्दर छत्र तना हुआ था, हिलते हुए चामरों से उनकी शोभा हो रही थी, हाथ जोड़े हुए लोगों से वह देवेन्द्र के समान पूजित हो रहे थे, वह राज-सुखों को भोग रहे थे ॥ ४५ ॥

और, आज ही वह बड़े प्रपात में गिर पड़े, वेगपूर्वक गिरने से उनका शरीर घायल है, वह मूर्च्छित हैं या शोक से व्याकुल हैं, अहो! क्लेश में पड़े हैं ॥ ६ ॥

निम्न वर्ग के लोगों के मन दुःख के अभ्यस्त होने के कारण दुःख से उतना व्यथित नहीं होते हैं, जितना कि विपत्ति के आनेपर उच्च वर्ग के सुकुमार लोगों के मन, जिन्हें दुःख का दर्शन ही नहीं हुआ है ॥ ७ ॥

न चायमतः शक्ष्यति स्वयमुत्तर्तुम्। यद्यपि सावशेषप्राणस्तन्नायमुपेक्षितुं युक्तमिति वितर्कयन् स महात्मा करुणया समाकृष्यमाणहृदयस्तं प्रपाततठान्तमुपजगाम। ददर्श चैनं तत्र रेणुसंसर्गान्मृदितवारबाणशोभं व्याकुलितोष्णीषवसनसंनाहं प्रपातपतननिघातसंजनिताभिर्वेदनाभिरापीड्यमानहृदयमापतितवैतान्यं विचेष्टमानम्।

दृष्ट्वाथ तं तत्र विचेष्टमानं नराधिपं बाष्पपरीतनेत्रः।
कृपावशाद्विस्मृतशत्रुसंज्ञस्तद्दुःखसामान्यमुपाजगाम ॥ ८ ॥

उवाच चैनं विनयाभिजातमुद्भावयन् साधुजनस्वभावम्।
आश्वासयन् स्पष्टपदेन साम्ना शिष्टोपचारेण मनोहरेण ॥ ९ ॥

कच्चिन्महाराज न पीडितोऽसि प्रपातपाताल्मिदं प्रपन्नः।
कच्चिन्न ते विक्षतमत्र गात्रं कच्चिद्रुजस्ते तनुतां गच्छन्ति[1] ॥ १० ॥

नामानुषश्चास्मि मनुष्यवर्य मृगोऽप्यहं त्वद्विषयान्तवासी।
वृद्धस्त्वदीयेन तृणोदकेन विस्रम्भमित्यर्हसि मय्युपेतुम् ॥ ११ ॥

प्रपातपातादधृतिं च मा गाः शक्तोऽहमुद्धर्तुमितो भवन्तम्।
विस्रम्भितव्यं मयि मन्यसे चेत्तत्क्षिप्रमाज्ञापय यावदैमि ॥ १२ ॥

अथ स राजा तेन तस्याद्भुतेनाभिव्याहारेण विस्मयावर्जितहृदयः संजायमानव्रीडो नियतमिति चिन्तामापेदे—

दृष्टावदाने द्विषति का नामास्य दया मयि।
मम विप्रतिपत्तिश्च क्वेयमस्मिन्ननागसि ॥ १३ ॥

अहो मधुरतीक्ष्णेन[2] प्रत्यादिष्टोऽस्मि कर्मणा।
अहमेव मृगो गौर्वा कोऽप्ययं शरमाकृतिः ॥ १४ ॥

तदर्हत्ययं प्रणयप्रतिग्रहसंपूजनमिति विनिश्चित्यैनमुवाच—

वारबाणावृतमिदं गात्रं मे नातिविक्षतम्।
प्रपातनिष्पेषकृताः सह्या एव च मे रुजः ॥ १५ ॥

प्रपातपतनक्लेशान्न त्वहं पीडितस्तथा।
इति कल्याणहृदये त्वयि प्रस्खलनाद्यथा ॥ १६ ॥

आकृतिप्रत्ययाद्यच्च दृष्टोऽसि मृगवन्मया।
अविज्ञाय स्वभावं ते तच्च मा हृदये कृथाः ॥ १७ ॥

---

१. पा० प्रयान्ति, व्रजन्ति ?   २. पा० मधुरं ?

यह स्वयं इससे नहीं निकल सकेंगे। यदि यह जीवित हैं, तो इनकी उपेक्षा करना उचित नहीं है, यह वितर्क करते हुए दयार्द्रचित्त होकर वह महात्मा उस प्रपात के किनारे गये। वहाँ जाकर देखा कि धूल के संसर्ग से उसके कवच की शोभा मलिन हो गई है, पगड़ी कपड़े और कवच अस्त-व्यस्त हैं, प्रपात में गिरने के आघात से वह व्यथित है और निराश होकर छटपटा रहा है।

उस राजा को वहाँ छटपटाते देखकर उनकी आँखें आँसुओं से भर आईं। दया के कारण 'यह हमारा शत्रु है' इसे भूलकर वह उसी के समान दुःख अनुभव करने लगे ॥ ८ ॥

विनयपूर्वक अपने साधु-स्वभाव को प्रकट करते हुए, उन्होंने सज्जनोचित शान्ति-दायक मनोहर और स्पष्ट वाणी में उसे सान्त्वना देते हुए कहा— ॥ ९ ॥

"हे महाराज, पाताल के समान इस गढ़े में गिरकर आप बहुत पीड़ित तो नहीं हैं? आपका शरीर घायल तो नहीं हुआ? आपकी पीड़ा कम तो हो रही है? ॥ १० ॥

हे मनुष्य-श्रेष्ठ, आपके राज्य का रहने वाला पशु होकर भी मैं अमनुष्य (मनुष्य से भिन्न) नहीं हूँ। आप के तृण-जल पर ही मैं पला हूँ, अतः आप मुझपर विश्वास करें ॥ ११ ॥

प्रपात में गिरने से आप अधीर न हों, मैं आपको इससे निकाल सकता हूँ। यदि आप मुझे विश्वास-पात्र समझते हैं तो शीघ्र ही आज्ञा दीजिए कि मैं आपके पास आ जाऊँ" ॥१२॥

उसके अद्भुत वचन से विस्मित और लज्जित होकर राजा ने अवश्य ही यों सोचा—

"मेरे शत्रुतापूर्ण पराक्रम को देखकर यह मुझ शत्रु पर क्यों दया दिखला रहा है? मैंने इस निरपराध के प्रति यह असद् आचरण क्यों किया? ॥ १३ ॥

अहो! अपने कठोर कर्म के लिए मैं मधुरतापूर्वक फटकारा गया। मैं ही पशु या कैठ हूँ। यह शरभ की आकृति में कोई (महात्मा) हैं ॥ १४ ॥

अतः इनकी प्रार्थना को स्वीकार कर इनका सत्कार करना उचित है।" यह निश्चय कर उसने कहा—

"कवच से ढका हुआ मेरा यह शरीर तो बहुत घायल नहीं हुआ है, प्रपात में पिसे जाने से मुझे जो पीड़ा हुई वह सह्य है ॥ १५ ॥

प्रपात में गिरने की पीड़ा से मैं उतना व्यथित नहीं हूँ, जितना कि शुद्ध हृदय वाले आप के प्रति अपराध करने से ॥ १६ ॥

आप के स्वभाव को न जानकर, आपकी आकृति पर विश्वास कर मैंने आपको पशुवत् जो समझ लिया इसे अपने हृदय में स्थान न दीजिएगा" ॥ १७ ॥

अथ शरभस्तस्य राज्ञः प्रीतिसूचकेन तेनाभिव्याहारेणानुमतमुद्धरणमवेत्य पुरुषभारगुर्व्या शिलया तदुद्धरणयोग्यां कृत्वा विदितात्मबलप्रमाणस्तं नृपतिमुद्धर्तुं व्यवसितमतिरवतीर्य तं प्रपातं सविनयमभिगम्योवाच—

नद्गात्रसंस्पर्शमिमं मुहूर्तं कार्यानुरोधात्त्वमनुक्षमस्व ।
यावत्करोमि स्वहितामिपस्या प्रीतिप्रसादाभिमुखं मुखं ते ॥ १८ ॥

तदारोहतु मत्पृष्ठं महाराजः सुलग्नश्च मयि भवत्विति । स तथेति प्रतिश्रुत्यैनमश्ववदारुरोह ।

ततः समभ्युन्नतपूर्वकायस्तेनाधिरूढः स नराधिपेन ।
समुत्पतन्नुत्तमसत्त्ववेगः खे तारणव्यालकवद् बभासे ॥ १९ ॥

उद्धृत्य दुर्गादथ तं नरेन्द्रं प्रीतः समानीय तुरंगमेण ।
निवेद्य चास्मै स्वपुराय मार्गं वनप्रयाणाभिमुखो बभूव ॥ २० ॥

अथ स राजा कृतज्ञत्वात्तेन तस्य विनयमधुरेणोपचारेण समावर्जितहृदयः संपरिष्वज्य शरभमुवाच—

प्राणा अमी मे शरभ त्वदीयाः प्रागेव यत्रास्ति मम प्रभुत्वम् ।
तदर्हसि द्रष्टुमिदं पुरं मे सव्यां रुचौ तत्र च तेऽस्तु वासः ॥ २१ ॥

व्याधाभिकीर्णे समये वनेऽस्मिन् शीतोष्णवर्षाद्युपसर्गदुःखे ।
हित्वा भवन्तं मम नन्वयुक्तमेकस्य गेहाभिमुखस्य गन्तुम् ॥ २२ ॥

तदेहि गच्छाव इति ॥ अथैनं बोधिसत्त्वः सविनयमधुरोपचारं संराधयन् प्रत्युवाच—

भवद्विधेष्वेव मनुष्यवर्य युक्तः क्रमोऽयं गुणवत्सलेषु ।
अभ्यासयोगेन हि सज्जनस्य स्वभावतामेव गुणा व्रजन्ति ॥ २३ ॥

अनुग्रहीतव्यमवैषि यत्तु वनोचितं मां भवनाश्रयेण ।
तेनालमन्यद्धि सुखं नराणामन्यादृशं जात्युचितं मृगाणाम् ॥ २४ ॥

चिकीर्षितं ते यदि मत्प्रियं तु व्याधव्रतं वीर विमुञ्च तस्मात् ।
तिर्यक्स्वभावाज्जडचेतनेषु कृपैव शोच्येषु मृगेषु युक्ता ॥ २५ ॥

सुखाश्रये दुःखविनोदने च समानचित्तानवगच्छ सत्त्वान् ।
इत्यात्मनः स्यादनभीप्सितं यत्र तत्परेष्वाचरितुं क्षमं ते ॥ २६ ॥

कीर्तिक्षयं साधुजनाद्विगर्हां दुःखं च पापप्रभवं विदित्वा ।
पापं द्विषत्पक्षमिवोद्धरस्व नोपेक्षितुं व्याधिरिव क्षमं ते ॥ २७ ॥

शरभने राजा के उस प्रेमपूर्ण वचन से जान लिया कि निकालने की अनुमति मिल गई। तब पुरुष के भारकी शिला (पीठपर) लेकर उसे निकालने का अभ्यास किया और यह जान कर कि अपने में कितनी शक्ति है, राजा को निकालने का निश्चय किया। प्रपात में उतर कर, उसके समीप जाकर, विनयपूर्वक कहा—

"कार्यवश मैं एक मुहूर्त के लिए आप के शरीर का स्पर्श करूँगा, इसे क्षमा करें। अपने हित-साधन के द्वारा मैं आप के मुख को आनन्द से विकसित करूँगा ॥ १८ ॥

महाराज मेरी पीठ पर चढ़ कर मुझ से चिपट जायँ"। वह "बहुत अच्छा" कह कर उन पर घोड़े की तरह चढ़ गया।

तब राजा के चढ़ने पर, अपने शरीर के अग्रभाग को ऊपर उठाते हुए, पूरी शक्ति और वेग से ऊपर उठते हुए वे तोरण पर स्थित (कृत्रिम) हाथी के समान शोभायमान हुए ॥ १९ ॥

दुर्ग से राजा को निकाल कर और घोड़े से मिला कर, वह प्रसन्न हुए। फिर उसे नगर का मार्ग बतला कर, वह स्वयं वन की ओर उन्मुख हुए ॥ २० ॥

उस कृतज्ञ राजा का हृदय उसके विनम्र और मधुर उपचार से भर आया। उसने शरभ को आलिङ्गन करते हुए कहा—

"हे शरभ, ये मेरे प्राण आपके हैं, मेरे अधिकार का सब कुछ तो आपका है ही। अतः चलकर मेरे नगर को देखें और आपकी रुचि हो तो वहाँ निवास करें ॥ २१ ॥

व्याधों से भरे हुए भयङ्कर वन में, जहाँ सर्दी गर्मी वर्षा आदि उपद्रवों का दुःख है, आपको छोड़कर मुझ अकेले का घर की ओर जाना अनुचित है ॥ २२ ॥

तब आइये, चलें"। तब बोधिसत्व ने विनम्र और मधुर वाणी में उसकी प्रशंसा करते हुए कहा—

"हे मनुष्य-श्रेष्ठ, आप-जैसे गुणानुरागियों के लिए यह आचरण उचित ही है। अभ्यास के द्वारा गुण सज्जन का स्वभाव ही बन जाता है ॥ २३ ॥

मुझ वन-वासी को गृह-वासी बनाकर अनुगृहीत करने का आपका जो विचार है उसे छोड़िये; क्योंकि मनुष्य-जाति का सुख भिन्न है और पशु-जाति का भिन्न ॥ २४ ॥

यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो, हे वीर, व्याध-कर्मको छोड़िये। पशु-पक्षियों की योनि में उत्पन्न होने के कारण पशु मन्दबुद्धि होते हैं, वे दया के पात्र हैं, उनपर दया करना ही उचित है ॥ २५ ॥

आपको विदित हो कि सब प्राणी समान रूप से सुख की प्राप्ति और दुःख से मुक्ति चाहते हैं, अतः अपने को जो अच्छा नहीं लगे वह दूसरे के प्रति करना आपके लिए उचित नहीं है ॥ २६ ॥

पाप से दुःख होता है, कीर्ति नष्ट होती है, सज्जनों के द्वारा निन्दा होती है, यह जान कर पाप को शत्रु-पक्ष के समान उन्मूलित कीजिये। रोग के समान पापकी उपेक्षा करना आपके लिये उचित नहीं है ॥ २७ ॥

लक्ष्मीनिकेतं यदपाश्रयेण प्राप्तोऽसि लोकाभिमतं नृपत्वम्।
तान्येव पुण्यानि विवर्धयेथा न कर्शनीयो ह्युपकारिपक्षः ॥ २८ ॥

कालोपचारसुभगैर्विपुलैः प्रदानैः
शीलेन साधुजनसंगतनिश्चयेन ।
भूतेषु चात्मनि यथा हितबुद्धिसिद्ध्या
पुण्यानि संचिनु यशःसुखसाधनानि ॥ २९ ॥

इति स महात्मा तं राजानं दृढं सांपरायिकेष्वर्थेष्वनुगृह्य संप्रतिगृहीतवचनस्तेन राज्ञा सबहुमानमभिवीक्ष्यमाणस्तमेव वनान्तं प्रविवेश ॥

तदेवं जिघांसुमप्यापद्गतमनुकम्पन्त एव महाकारुणिका नोपेक्षन्त इति करुणावर्णेऽपि वाच्यम्। तथागतमाहात्म्ये सत्कृत्य धर्मश्रवणे। अवैरेण वैरप्रशमननिदर्शने च क्षान्तिकथायामप्युपनेयम् । एवं तिर्यग्गतानामपि महात्मनां वधकेष्वपि सानुक्रोशा प्रवृत्तिर्दृष्टा । को मनुष्यभूतः प्रव्रजितप्रतिज्ञो वा सत्त्वेष्वनुक्रोशविकलः शोभेतेति प्राणिषु सानुक्रोशेनार्येण भवितव्यम् ।

॥ इति शरभ-जातकं पञ्चविंशतितमम् ॥

★

२६. रुरु-जातकम्

परदुःखमेव दुःखं साधूनाम् । तद्धि न सहन्ते नात्मदुःखम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल सालबकुलपियालहिन्तालतमालनक्तमालविदुलनिचुलक्षुपबहुले शिंशपातिनिशशमीपलाशशाककुशवंशशरवणगहने कदम्बसर्जार्जुनधवखदिरकुटजनिचिते विविधवल्लीप्रतानावगुण्ठितबहुतरुविटपे रुरुपृषतसृमरचमर गजगवयमहिषहरिणन्यङ्कुवराहद्वीपितरक्षुव्याघ्रवृकसिंहर्क्षादिमृगविचरिते मनुष्यसंपातविरहिते महत्यरण्यवनप्रदेशे तप्तकाञ्चनोज्ज्वलवर्णः सुकुमाररोमा नानाविधपद्मरागेन्द्रनीलमरकतवैडूर्यरुचिरवर्णबिन्दुविद्योतितविचित्रगात्रः स्निग्धाभिनीलविपुलनयनो मणिमयैरिवापरुषप्रभैर्विषाणक्षुरप्रदेशैः परमदर्शनीयरूपो रत्नाकर

जिन पुण्यों के सेवन से आपने लोक-मान्य लक्ष्मी-निवास राजत्वको पाया है उन्ही पुण्यों (सुकर्मों) की वृद्धि कीजिये, उपकारी (मित्र) पक्ष को क्षीण नहीं करना चाहिये ॥ २८ ॥

आदर के साथ समयोचित विपुल दान देते हुए, सज्जनों की संगति से निरूपित शील का पालन करते हुए, जैसे अपनी वैसे ही अन्य प्राणियों की हित-कामना करते हुए, यश और सुख के साधन-स्वरूप पुण्यों का सञ्चय कीजिये" ॥ २९ ॥

इस प्रकार उस महात्मा ने उस राजा को पारलौकिक बातों के उपदेश से अनुगृहीत किया। उस राजा ने उनके वचन को ग्रहण किया। तब राजा के द्वारा सम्मानपूर्वक देखे जाते हुए यह उसी जंगल में चले गये।

तब इस प्रकार हत्या की चेष्टा करने वाला यदि विपत्ति में पड़ जाय तो महाकारुणिक उसपर करुणा ही करते हैं, उसकी उपेक्षा नहीं करते हैं। यों करुणा का वर्णन करने में, तथागत के माहात्म्य में और आदरपूर्वक धर्म-श्रवण करने में इस कथा को कहना चाहिये। अ-वैर के द्वारा वैर-शमन के दृष्टान्त में तथा क्षमा की कथा में इसे उपस्थित करना चाहिये। इस प्रकार पशु-योनि में जाने पर भी महात्माओं की दयालुता वधिकों के प्रति देखी गई है। तब क्या कोई मनुष्य होकर या प्रव्रज्या की प्रतिज्ञा लेकर प्राणियों के प्रति निर्दय होता हुआ शोभा प्राप्त कर सकता है ? अतः सज्जन को प्राणियों के प्रति दयालु होना चाहिये।

शरभ-जातक पचीसवाँ समाप्त।

२६. रुरु-जातक

दूसरों का ही दुःख साधुओं का दुःख है। वे दूसरों के दुःख को नहीं सह सकते हैं, न कि अपने दुःख को। तब जैसा कि अनुश्रुति है—

एक बार बोधिसत्त्व साल वकुल पियाल हिन्ताल तमाल नक्तमाल के वृक्षों तथा विदुल और निचुल (बेंत) की झाड़ियों से भरे हुए, शिंशपा तिनिश शमी पलाश और शाक के वृक्षों तथा कुश बाँस और सरकंडों से गहन, कदम्ब सर्ज अर्जुन धव खदिर और कुटज से संकुल, विविध लताओं से आच्छादित अनेक वृक्ष-शाखाओंवाले, रुरु[1] पृषत[1] सृमर[1] चमर हाथी गवय (जंगली गौ) महिष हरिण न्यङ्कु[1] शूकर द्वीपी[2] तरक्षु[2] (तेंदुआ) बाघ भेड़िया सिंह और भालू आदि पशुओं के विचरण से युक्त तथा मनुष्य के विचरण से रहित किसी बड़े वन में तपे हुए सोने के समान उज्ज्वल वर्णवाले, कोमल रोमवाले, विविध पद्मराग इन्द्रनील मरकत तथा वैदूर्य के मनोहर रंगों के बिन्दुओं से चमकते हुए चित्र-विचित्र गात्रवाले, स्नेह-पूर्ण नीलवर्ण निर्मल विशाल आँखोंवाले, मृदु प्रभा से युक्त मानो मणियों से बने हुए शृंग और खुरों से अत्यन्त दर्शनीय, पादचारी रत्नाकर (रत्न-भंडार) के समान शोभायमान रुरु

इव पादचारी रुरुमृगो बभूव । स जानानः स्वस्य वपुषोऽतिलोभनीयतां तनुकारुण्यतां च जनस्य निर्जनसंपातेषु वनगहनेष्वभिरेमे, पटुविज्ञानत्वाच तत्र-तत्र व्याधजनविरचितानि यन्त्रकूटवागुरापाशावपातलेपकाष्ठनिवापभोजनानि सम्यक् परिहरन्ननुगामिनं च मृगसार्थमवबोधयन्नाचार्य इव पितेव च मृगाणामाधिपत्यं चकार ।

रूपविज्ञानसंपत्तिः क्रियासौष्ठवसंस्कृता ।
स्वहितान्वेषिणि जने कुत्र नाम न पूज्यते ॥ १ ॥

अथ स कदाचिन्महात्मा तस्मिन् वनगहने वासोपगतस्तत्समीपवाहिन्या नवाम्बुपूर्णया महावेगया नद्या ह्रियमाणस्य पुरुषस्याक्रन्दितशब्दं शुश्राव ।

ह्रियमाणमनाथमप्लवं सरितोदीर्णजलौघवेगया ।
अभिधावत दीनवत्सलाः कृपणं तारयितुं जवेन माम् ॥ २ ॥

न विलम्बितुमत्र शक्यते श्रमदोषादविधेयबाहुना ।
न च गाधमवाप्यते क्वचित्तदयं मां समयोऽभिधावितुम् ॥ ३ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तेन तस्य करुणेनाक्रन्दितशब्देन हृदीव समभिहन्यमानो मा भैर्मा भैरिति जन्मशताभ्यस्तां भयविषाददैन्यश्रमापनोदिनीमाम्रेडितामिनिष्पीडितस्पष्टपदामुच्चैर्मानुषीं वाच विसृजंस्तस्माद्वनगहनाद्विनिष्पपात । दूरत एव च तं पुरुषमिष्टमिवोपायनमानीयमानं सलिलौघेन ददर्श ।

ततस्तदुत्तारणनिश्चितात्मा स्वं प्राणसंदेहमचिन्तयित्वा ।
स तां नदीं भीमरयां जगाहे विक्षोभयन् वीर इवारिसेनाम् ॥ ४ ॥

आवृत्य मार्गं वपुषाथ तस्य मामाश्रयस्वेति तमभ्युवाच ।
त्रासातुरत्वाच्छ्रमविह्वलाङ्गः स पृष्ठमेवाधिरुरोह तस्य ॥ ५ ॥

संसाद्यमानोऽपि नरेण तेन विवर्त्यमानोऽपि नदीरयेण ।
सत्त्वोच्छ्रयादस्खलितोरुवीर्यः कूलं ययौ तस्य मनोनुकूलम् ॥ ६ ॥

प्रापय्य तीरमथ तं पुरुषं परेण
प्रीत्युद्गमेन विनिवर्तितखेददुःखम् ।
स्वेनोष्मणा समपनीय च शीतमस्य
गच्छेति त स विससर्ज निवेद्य मार्गम् ॥ ७ ॥

अथ स पुरुषः स्निग्धबान्धवसुहृज्जनदुर्लभेन तेन तस्याद्भुतेनाभ्युपपत्तिसौमुख्येन समावर्जितहृदयस्तया चास्य रूपशोभया समुत्थाप्यमानविस्मयबहुमानः प्रणम्यैनं तत्तत्प्रियमुवाच—

मृग हुए। अपने शरीर की मनोहरता और मनुष्यों की निर्दयता को जानते हुए वे निर्जन गहन वन में रमण करते थे। तीक्ष्णबुद्धि होने के कारण वे व्याधों द्वारा जहाँ तहाँ बनाये गये यन्त्र-कूट (फन्दा) जाल-फाँस खन्दक लेप-काष्ठ (लासा-युक्त लकड़ी) तथा बीज-अन्न से अच्छी तरह बचते हुए, तथा अनुगामी पशुओं को चेत कराते हुए उन्होंने आचार्य के समान, पिता के समान, उनपर आधिपत्य किया।

यदि सुकर्म से सुवासित उत्कृष्ट रूप और उत्कृष्ट ज्ञान हो तो कौन कल्याण-कामी मनुष्य उसका आदर नहीं करेगा ? ॥ १ ॥

एक बार उस गहन वन में रहते हुए उस महात्मा ने समीप में बहती हुई वर्षा के नये जल से भरी हुई वेगवती नदी की धारा में बहते हुए किसी मनुष्य के (करुण) क्रन्दन का शब्द सुना।

"मैं असहाय और आश्रय-रहित हूँ, नदी की बढ़ी हुई प्रखर जल-धारा में बह रहा हूँ, हे दयालु मनुष्यो, मुझ दुःखी को निकालने के लिए वेगपूर्वक मेरे पास दौड़ो ॥ २ ॥

थकावट के कारण मेरे हाथ वश में नहीं हैं, अतः यहाँ ठहर नहीं सकता हूँ। कहीं थाह नहीं पा रहा हूँ, अतः मेरी रक्षा के लिए मेरे पास दौड़ने का यह समय है" ॥ ३ ॥

तब उसके क्रन्दन के करुण शब्द से हृदय में मानो आहत होते हुए बोधिसत्त्व "मत डरो, मत डरो", शत शत जन्मों में अभ्यस्त, भय विषाद और दीनता को दूर करनेवाली, स्पष्ट अक्षरों वाली यह मनुष्य-वाणी बार बार जोरों से बोलते हुए, उस गहन वन से निकल आये। और, उन्होंने जल-प्रवाह के द्वारा लाये जाते हुए अभीष्ट उपहार के समान उस मनुष्य को देखा। -

तब उसे निकालने का निश्चय कर, अपने प्राण-संकट का चिन्तन न करते हुए वह भयङ्कर वेग से बहती हुई उस नदी में प्रविष्ट हुए, जैसे कोई वीर मनुष्य शत्रु-सेना को क्षुब्ध करता हुआ उसके भीतर प्रवेश करता है ॥ ४ ॥

अपने शरीर से उसके मार्ग को रोककर उससे कहा—'मेरा आश्रय ग्रहण करो'। भय से आतुर होने के कारण थकावट से शिथिल अङ्गोंवाला वह उनकी पीठपर ही चढ़ गया ॥ ५ ॥

उस मनुष्य के आरूढ़ होनेपर भी तथा नदी के वेग से विचलित किये जाते हुए भी उत्कृष्ट सत्त्व के कारण उनकी विशाल शक्ति बनी रही और वे उसके मनोऽनुकूल तीर पर पहुँच गये ॥ ६ ॥

उस मनुष्य को किनारे पर पहुँचा कर, अत्यन्त आनन्द की अनुभूति करते हुए, उसकी थकावट और दुःख दूर कर, अपने शरीर की गर्मी से उसके शीत को दूर कर उसे मार्ग बतलाया और 'जाओ' यह कहकर उसे विदा किया ॥ ७ ॥

स्नेही बन्धुओं और मित्रों के लिए भी दुर्लभ उनकी उस दयालुता से उसका हृदय भर आया। और, उनकी रूपशोभा को देखकर उसके मन में विस्मय और सम्मान का भाव उत्पन्न हुआ। उन्हें प्रणाम कर, उसने बहुत कुछ प्रिय कहा—

आ बाल्यात्संभृतस्नेहः सुहृद्वान्धव एव वा।
नालं कर्तुमिदं कर्म मदर्थे यत्कृतं त्वया ॥ ८ ॥

त्वदीयास्तदिमे प्राणास्त्वदर्थे यदि नाम मे।
स्वल्पेऽपि विनियुज्येरन् स मे स्यादत्यनुग्रहः ॥ ९ ॥

तदाज्ञासंप्रदानेन कर्तुमर्हस्यनुग्रहम्।
विनियोगक्षमत्वं मे भवान् यत्रावगच्छति ॥ १० ॥

अथैनं बोधिसत्त्वः संराधयन् प्रत्युवाच—

न चित्ररूपा सुजने कृतज्ञता निसर्गसिद्धैव हि तस्य सा स्थितिः।
जगत्तु दृष्ट्वा समुदीर्णविक्रियं कृतज्ञताप्यद्य गुणेषु गण्यते ॥ ११ ॥

यतस्त्वां ब्रवीमि कृतमिदमनुस्मरता भवता नायमर्थः कस्मैचिन्निवेद्यः— ईदृशेनास्मि सत्त्वविशेषेणोत्तारित इति। आमिषभूतमतिलोभनीयमिदं हि मे रूपम्। पश्य, तनुघृणानि बहुलौल्यादनिभृतानि च प्रायेण मानुषहृदयानि।

तदात्मनि गुणांश्चैव मां च रक्षितुमर्हसि।
न हि मित्रेष्वभिद्रोहः क्वचिद्भवति भूतये ॥ १२ ॥

मा चैवमुच्यमानो मन्युप्रणयविरसं हृदयं कार्षीः। मृगा हि वयमनभ्यस्तमानुषोपचारशाठ्याः। अपि च।

तत्कृतं वञ्चनादक्षैर्मिथ्याविनयपण्डितैः।
येन भावविनीतोऽपि जनः साशङ्कमीक्ष्यते ॥ १३ ॥

तदेतत्प्रियं भवता संपद्यमानमिच्छामीति। स तथेति प्रतिश्रुत्य प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य च तं महासत्त्वं स्वगृहमभ्याजगाम ॥

तेन खलु समयेन तत्रान्यतमस्य राज्ञो देवी सत्यस्वप्ना बभूव। सा यं यमातिशयिकं स्वप्नं ददर्श, स तथैवाभवत्। सा कदाचिन्निद्रावशमुपगता प्रत्यूषसमये स्वप्नं पश्यति स्म सर्वरत्नसमाहारमिव श्रिया ज्वलन्तं सिंहासनस्थं रुरुमृगं सराजिकया पर्षदा परिवृतं विस्पष्टाक्षरपदन्यासेन मानुषेण वचसा धर्मं देशयन्तम्। विस्मयाक्षिप्तहृदया च भर्तुः प्रबोधपटहध्वनिना सह सा व्यबुध्यत। यथाप्रस्तावं च समुपेत्य राजानं लब्धप्रसरप्रणयसंमाना—

सा विस्मयोत्फुल्लतरेक्षणश्रीः प्रीत्या समुत्कम्पिकपोलशोभा।
उपायनेनेव नृपं ददर्श तेनाद्भुतस्वप्ननिवेदनेन ॥ १४ ॥

निवेद्य च तं स्वप्नातिशयं राज्ञे सादरं पुनरुवाच—

"बाल्यावस्था से ही स्नेह करनेवाला मित्र या बन्धु ही हो। वह भी इस कार्य को नहीं कर सकता है, जिसे आपने मेरे लिए किया है ॥ ८ ॥

अतः ये प्राण आपके हैं। यदि आपके लिए किसी छोटे कार्य में भी इनका उपयोग हो तो मेरे ऊपर यह बड़ी कृपा होगी ॥ ९ ॥

अतः आप जिस किसी कार्य के योग्य समझें उसे करने की आज्ञा देकर मुझे अनुगृहीत करें" ॥ १० ॥

तब बोधिसत्त्व ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा—

"सुजन का कृतज्ञ होना आश्चर्य नहीं है, यह तो उसकी स्वाभाविक स्थिति है। किन्तु जगत् में विकार (दोष) बहुत हैं, यह देखते हुए आज कृतज्ञता भी गुणों में ही गिनी जाती है ॥ ११ ॥

अतः मैं तुमसे कहता हूँ कि इस कार्य को स्मरण करते हुये तुम यह बात किसी से न कहना कि इस प्रकार के प्राणि-विशेष ने मुझे निकाला है। मेरा यह सुन्दर रूप अत्यन्त लुभावना है। देखो, लोभ के कारण मनुष्यों के हृदय प्रायः कठोर और अशान्त होते हैं।

अतः अपने गुणों की और मेरी रक्षा करो। मित्र-द्रोह कहीं कल्याण कारी नहीं होता है ॥ १२ ॥

मेरे इस वचन के कारण क्रोध से अपने हृदय को क्षुब्ध न करना। हम पशु हैं और मनुष्यों के कृत्रिम विनय के भीतर छिपी शठता के अभ्यस्त नहीं हैं। और भी—

वञ्चना (ठगने) में निपुण, कृत्रिम विनय के प्रदर्शन में कुशल लोगों ने ऐसा किया है कि स्वाभाविक विनय से युक्त मनुष्य भी आशङ्का की दृष्टि से देखा जाता है ॥ १३ ॥

तब मेरा यह प्रिय करना, मैं तुमसे यही चाहता हूँ"। वह 'बहुत अच्छा' यह वचन देकर, उस महासत्त्व को प्रणाम कर, उनकी प्रदक्षिणा कर अपने घर की ओर चल दिया।

उस समय किसी राजा की एक रानी थी, जिसके स्वप्न सत्य होते थे। उसने जिस किसी असाधारण स्वप्न को देखा वह सत्य सिद्ध हुआ। एक बार सोई हुई उसने प्रातः काल के समय स्वप्न देखा कि विविध रत्नों की निधि के समान कान्तिमान् एक रुरु मृग सिंहासन पर विराजमान है, राजा-सहित सभा से घिरा हुआ है, और स्पष्ट अक्षरों वाली मनुष्य की वाणी में धर्मोपदेश कर रहा है। यह देखकर रानी का हृदय विस्मय से भर गया और वह राजा के जगाने के नगाड़े की ध्वनि के साथ जाग गई। अवसर पाकर वह राजा के पास गई, जिसने उसके प्रति प्रेम और आदर प्रकट किया।

रानी की आँखें विस्मय से खिल रही थीं, आनन्द से कपोलों में उत्कम्प हो रहा था। उसने उपहार के समान उस अद्भुत स्वप्न को निवेदन करते हुए राजा का साक्षात्कार किया ॥ १४ ॥

उस असाधारण स्वप्न को निवेदन कर उसने राजा से पुनः कहा—

तत्साधु तावत्क्रियतां मृगस्य तस्योपलम्भं प्रति देव यत्नः ।
अन्तःपुरं रत्नमृगेण तेन ताराभ्रगेणेव नभो विराजेत् ॥ १५ ॥

अथ स राजा दृष्टप्रत्ययस्तस्याः स्वप्नदर्शनस्य प्रतिगृह्य तद्वचनं तत्प्रियकाम्यया रत्नमृगाधिगमलोभाच्च तस्य मृगस्यान्वेषणार्थं सर्वं व्याधगणं समादिदेश । प्रत्यहं च पुरवरे घोषणामिति कारयामास—

हेमच्छविर्मणिशतैरिव चित्रगात्रः
ख्यातो मृगः श्रुतिषु दृष्टचरश्च कैश्चित् ।
यस्तं प्रदर्शयति तस्य ददाति राजा
ग्रामोत्तमं परिदशा रुचिराः स्त्रियश्च ॥ १६ ॥

अथ स पुरुषस्तां घोषणां पुनः पुनरुपश्रुत्य—

दारिद्र्यदुःखगणनापरिखिन्नचेताः
स्मृत्वा च तं रुरुमृगस्य महोपकारम् ।
लोभेन तेन च कृतेन विकृष्यमाणो
दोलायमानहृदयो विममर्श तत्तत् ॥ १७ ॥

किं नु खलु करोमि ? गुणं पश्याम्युत धनसमृद्धिम् ? कृतमनुपालयाम्युत कुटुम्बतन्त्रम् ? परलोकमुद्भावयाम्यथेमम् ? सद्वृत्तमनुगच्छाम्युताहो लोकवृत्तम् ? श्रियमनुगच्छाम्युताहोस्वित्साधुदयितां श्रियम् ? तदात्वं पश्याम्युतायतिमिति । अथास्य लोभाकुलितमतेरेवमभूत्—शक्यमधिगतविपुलधनसमृद्धिना स्वजनमित्रातिथिप्रणयिजनसंमाननपरेण सुखान्यनुभवता परोऽपि लोकः संपादयितुम् । इति निश्चितमतिर्विस्मृत्य तं रुरुमृगस्योपकारं समुपेत्य राजानमुवाच—अहं देव तं मृगवरमधिवासं चास्य जानामि । तदाज्ञापय कस्मै प्रदर्शयाम्येनमिति । तच्छ्रुत्वा स राजा प्रमुदितमनाः—ममैवैनं भद्र प्रदर्शयेत्युक्त्वा मृगयाप्रयाणानुरूपं वेषमास्थाय महता बलकायेन परिवृतः पुरवरान्निर्गम्य तेन पुरुषेणादेश्यमानमार्गस्तं नदीतीरमुपजगाम । परिक्षिप्य च तद्वनगहनं समग्रेण बलकायेन धन्वी हस्तावापी व्यवसिताप्तपुरुषपरिवृतः स राजा तेनैव पुरुषेणादेश्यमानमार्गस्तद्वनगहनमनुप्रविवेश । अथ स पुरुषस्तं रुरुमृगं विश्वस्तस्थितमालोक्य प्रदर्शयामास राज्ञे—अयमयं देव स मृगवरः । पश्यत्वेनं देवः, प्रयत्नश्च भवत्विति ।

तस्योन्नामयतो बाहुं मृगसंदर्शनादरात् ।
प्रकोष्ठान्न्यपतत्पाणिर्विनिकृत्त इवासिना ॥ १८ ॥

आसाद्य वस्तूनि हि तादृशानि क्रियाविशेषैरभिसंस्कृतानि ।
लब्धप्रयामाणि विपक्षमान्द्यात्कर्माणि सद्यः फलतां व्रजन्ति ॥ १९ ॥

"अतः, हे राजन्, उस मृग को प्राप्त करने के लिए उचित यत्न किया जाय। उस रत्न-मृग से यह अन्तःपुर उसी प्रकार शोभायमान होगा, जिस प्रकार मृगशिरस् नक्षत्र से आकाश" ॥ १५ ॥

राजा उसके स्वप्न-दर्शन की सत्यता देख चुका था। अतः उसका वचन मानकर, उसका प्रिय करने के लिए और रत्न-मृग की प्राप्ति के लाभ से उस मृग को खोजने के लिए सब व्याधों को आदेश दिया और प्रतिदिन राजधानी में यह घोषणा करवाई—

"सुनहले रंग का एक मृग है। उसका शरीर चित्र-विचित्र है, जैसे सैकड़ों मणियों से युक्त हो। धर्म-ग्रन्थों में उसका वर्णन है। किसी ने उसे देखा है। जो कोई उसे दिखलायेगा राजा उसे एक उत्तम ग्राम तथा दश मनोहर स्त्रियाँ देगा" ॥ १६ ॥

जब उस आदमी ने उस घोषणा को बार बार सुना, तब—

अपने दारिद्रय दुःख को देखकर उसका चित्त खिन्न हुआ तथा उसे उस रुरु मृग का वह महान् उपकार भी स्मरण हुआ। उसे लोभ ने भी खींचा और उस उपकार ने भी। दोलायमान चित्त से उसने बहुत कुछ सोचा— ॥ १७ ॥

"क्या करूँ? धर्म देखूँ या धन? उपकार पालूँ या कुटुम्ब (परिवार)? परलोक बनाऊँ या इहलोक? सदाचार का अनुसरण करूँ या लोकाचार का? लक्ष्मी का अनुगमन करूँ या सज्जनता का? अतीत को देखूँ या भविष्य को?" तब लोभ से ग्रस्त होकर उसने सोचा—"विपुल धन-सम्पत्ति पाकर बन्धुओं मित्रों अतिथियों और याचकों का आदर सत्कार करते हुए, सुखोपभोग करते हुए, परलोक भी बनाया जा सकता है," यह निश्चय कर, रुरु मृग के उस उपकार को भूलकर, राजा के समीप जाकर बोला— "हे राजन्, मैं उस उत्तम मृग को और उसके निवास को जानता हूँ। तब आज्ञा दीजिये कि मैं किसको उसे दिखलाऊँ।" यह सुनकर राजा ने प्रसन्नचित्त होकर कहा—"हे भद्र, मुझे ही उसे दिखलाओ।" यह कहकर राजा मृगया के अनुरूप वेष धारण कर, बड़ी सेना के साथ राजधानी से निकल कर, उस पुरुष के द्वारा बतलाये जाते मार्ग से उस नदी-तीरपर पहुँचा। सारी सेना से उस गहन वन को घेरकर, धनुष और अङ्गुलि-त्राण धारण कर, दृढ-सङ्कल्प विश्वस्त पुरुषों के साथ, वह राजा उसी पुरुष के द्वारा बतलाये जाते मार्ग से उस गहन वन में घुसा। तब उस पुरुष ने उस रुरु-मृग को निश्चिन्त देखकर राजा को दिखलाया और कहा—"हे राजन्, यही वह मृग-श्रेष्ठ है। देव इसे देखें और प्रयत्न करें।"

मृग को दिखलाने के लिए जैसे ही उसने भुजा उठाई कि उसका हाथ प्रकोष्ठ (मणिबन्ध, कलाई) से गिर पड़ा, जैसे तलवार से काट दिया गया हो ॥ १८ ॥

पुण्यकर्मों से पवित्र वैसे प्राणियों को लक्ष्य बनाने से मनुष्य के दुष्कर्म विपक्ष अर्थात् सुकर्म के अभाव से प्रबल होकर सद्यः फल देते हैं ॥ १९ ॥

अथ स राजा तत्प्रदर्शितेन मार्गेण रुरुसंदर्शनकुतूहले नयने विचिक्षेप ।

वनेऽथ तस्मिन्नवमेघनीले ज्वलत्तनुं रत्ननिधानलक्ष्म्या ।
गुणैरुरुं तं स रुरुं ददर्श शातह्रदं वह्निमिवाभ्रकक्षे ॥ २० ॥

तद्रूपशोभाहृतमानसोऽथ स भूमिपस्तद्ग्रहणातिलोभात् ।
कृत्वा धनुर्बाणविदष्टमौर्विं बिभित्सया चैनमुपाललोह ॥ २१ ॥

अथ बोधिसत्त्वः समन्ततो जनकोलाहलमुपश्रुत्य व्यक्तं समन्तात्परिवृतोऽस्मीति निश्चितमतिर्व्यद्धुकाममुपारूढं चावेत्य राजानं नायमपयानकाल इति विदित्वा विशदपदाक्षरेण मानुषेण वचसा राजानमाबभाषे—

तिष्ठ तावन्महाराज मा मां व्यात्सीर्नरर्षभ ।
कौतूहलमिदं तावद्विनोदयितुमर्हसि ॥ २२ ॥

अस्मिन्निर्जनसंपाते निरतं गहने वने ।
असावत्र मृगोऽस्तीति को नु ते मां न्यवेदयत् ॥ २३ ॥

अथ स राजा तस्याद्भुतेन मानुषेणाभिव्याहारेण भृशतरमावर्जितहृदयस्तमस्मै पुरुषं शराग्रेण निर्दिदेश—अयमस्यात्यद्भुतस्य नो दर्शयितेति। अथ बोधिसत्त्वस्तं पुरुषं प्रत्यभिज्ञाय विगर्हमाण उवाच—कष्टं भोः।

सत्य एव प्रवादोऽयमुदकौघगतं किल ।
दार्वेव वरमुद्धर्तुं नाकृतज्ञमतिं जनम् ॥ २४ ॥

परिश्रमस्य तस्येयमीदृशी प्रत्युपक्रिया ।
आत्मनोऽपि न दृष्टोऽयं हितस्यापनयः कथम् ॥ २५ ॥

अथ स राजा किं नु खल्वयमेवं विजुगुप्सत इति समुत्पन्नकौतुहलः सावेगस्तं रुरुमुवाच—

अनिर्भिन्नार्थगम्भीरमनारभ्यविगर्हितम् ।
त्वदिदं समुपश्रुत्य साकम्पमिव मे मनः ॥ २६ ॥

मृगातिशय तद्ब्रूहि कमारभ्येति भाषसे ।
मनुष्यममनुष्यं वा पक्षिणं मृगमेव वा ॥ २७ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

नायं विगर्हादर एव राजन् कुत्साहमेतत्त्ववगम्य कर्म ।
नायं पुनः कर्तुमिति व्यवस्येत्तीक्ष्णाक्षरं तेन मयैवमुक्तम् ॥ २८ ॥

को हि क्षते क्षारमिवावसिञ्चेद् रूक्षाक्षरं विस्खलितेषु वाक्यम् ।
प्रिये तु पुत्रेऽपि चिकित्सकस्य प्रवर्तते व्याधिवशाच्चिकित्सा ॥ २९ ॥

तब उस राजा ने उसके दिखलाये मार्ग से रुरु-मृग को देखने के लिए उत्सुक अपनी आँखों को प्रेरित किया।

नये मेघ के समान नीलवर्ण उस वन में रत्न-निधि की प्रभा से प्रज्वलित शरीरवाले उस महागुणवान् रुरु-मृग को देखा, जैसे मेघ के भीतर वैद्युत अग्नि हो ॥ २० ॥

उसकी रूप-शोभा से आकृष्ट होकर, उसे पकड़ने के लोभ से राजा ने वाण को धनुष की प्रत्यञ्चा पर रखा और उसे विद्ध करने की इच्छा से उसकी ओर बढ़ा ॥ २१ ॥

चारों ओर लोगों के कोलाहल को सुनकर बोधिसत्त्व ने निश्चय किया—'स्पष्ट है कि मैं चारों ओर से घिर गया हूँ, मुझे विद्ध करने की इच्छा से राजा मेरी ओर बढ़ा है, अब यह भागने का समय नहीं है' यह जानकर स्पष्ट अक्षरों वाली मनुष्य की वाणी में उन्होंने राजा से कहा—

"हे महाराज, एक क्षण के लिए आप रुक जायँ, हे नरदेव, मुझे विद्ध न करें। पहले मेरे इस कुतूहल (जिज्ञासा) को शान्त कर दें ॥ २२ ॥

मैं इस निर्जन गहन वन में रहता हूँ, किसने आपको बतलाया कि यह मृग यहाँ रहता है ?" ॥ २३ ॥

उसकी अद्भुत मनुष्य-वाणी से द्रवीभूत होकर राजा ने अपने वाण के नोक से उसे बतलाते हुए कहा—"यही हमें इस अद्भुत रूप का दिखलानेवाला है।" तब बोधिसत्त्व ने उस पुरुष को पहचानकर उसकी निन्दा करते हुए कहा—"अहो !

यह कथन सत्य है कि जल-प्रवाह में पड़े हुए काठ को निकालना अच्छा है, न कि अकृतज्ञ मनुष्य को ॥ २४ ॥

मेरे उस परिश्रम का यही प्रत्युपकार है ! इसका अपना ही हित (कल्याण) नष्ट हो रहा है, इसे भी इसने क्यों नहीं देखा ?" ॥ २५ ॥

"यह क्यों इस प्रकार से निन्दा कर रहा है," यह कुतूहल उत्पन्न होने पर उस राजा ने उत्सुकतापूर्वक उस रुरु-मृग से पूछा—

"अस्पष्ट अर्थवाले इस गूढ़ निन्दा-वचन को आप से सुनकर तथा किसको लेकर यह कहा, यह जाने विना मेरा मन काँप रहा है ॥ २६ ॥

हे अद्भुत मृग, अतः कहिये कि किस मनुष्य अमनुष्य पक्षी या पशु को लेकर आप यह कह रहे हैं" ॥ २७ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—

"हे राजन्, इस निन्दनीय कर्म को जानकर, निन्दा की रुचि से नहीं, किन्तु 'फिर कभी यह ऐसा करने की चेष्टा न करें', यही सोच कर मैंने कठोर वचन कहा ॥ २८ ॥

पापियों को कठोर वचन कह कर कौन घाव में नमक छिड़केगा ? किन्तु चिकित्सक व्याधि के कारण अपने प्रिय पुत्र की भी चिकित्सा करता ही है ॥ २९ ॥

यमुह्यमान सलिलेन हारिणा कृपावशादभ्युपपन्नवानहम् ।
ततो भयं मां नृवरेदमागत न खल्वसत्सङ्गतमस्ति भूतये ॥ ३० ॥

अथ स राजा तं पुरुषं तीक्ष्णया दृष्ट्या निर्भर्त्सनरूक्षमवेक्ष्योवाच—सत्य-मरे रे पुरा त्वमनेनैवमापद्गतोऽभ्युद्धृत इति ? अथ स पुरुषः समापतितभयवि-षादस्वेदवैवर्ण्यदैन्यो ह्रीमन्दं सत्यमित्यवोचत्। अथ स राजा धिक् त्वामित्येन-मवभर्त्सयन् धनुषि शरं संधायाब्रवीत्—मा तावद्भोः !

एवंविधेनापि परिश्रमेण मृदूकृतं यस्य न नाम चेतः ।
तुल्याकृतीनामयशोध्वजेन किं जीवतानेन नराधमेन ॥ ३१ ॥

इत्युक्त्वा मुष्टिमाबध्य तद्वधार्थं धनुः प्रचकर्ष । अथ बोधिसत्त्वः करुणया महत्या समुपरुध्यमानहृदयस्तदन्तरा स्थित्वा राजानमुवाच—अलमलं महाराज हतं हत्वा ।

यदेव लोभद्विषतः प्रतारणां विगर्हितामप्ययमभ्युपेयिवान् ।
हतस्तदैवेह यशःप रक्षयाद् ध्रुव परत्रापि च धर्मसंक्षयात् ॥ ३२ ॥

असह्यदुःखोदयपीतमानसाः पतन्ति चैव व्यसनेषु मानुषाः ।
प्रलोभ्यमानाः फलसंपदाशया पतंगमूर्खा इव दीपशोभया ॥ ३३ ॥

अतः कृपामत्र कुरुष्व मा रुष यदीप्सितं चैवमनेन किंचन ।
कुरुष्व तेनैनमवन्ध्यसाहसं स्थितं त्वदाज्ञाप्रवणं हि मे शिरः ॥ ३४ ॥

अथ स राजा तेन तस्यापकारिण्यपि सदयत्वेनाकृतकेन च तत्प्रत्युपकारादरेण परमविस्मितमतिर्जातप्रसादः सबहुमानमुदीक्षमाणस्तं रुरुवरमुवाच—साधु साधु महाभाग !

प्रत्यक्षोग्रापकारेऽपि दया यस्येयमीदृशी ।
गुणतो मानुषस्त्वं हि वयमाकृतिमानुषाः ॥ ३५ ॥

येनानुकम्प्यस्त तवैष जाल्मो हेतुश्च नः सज्जनदर्शनस्य ।
ददामि तेनेप्सितमर्थमस्मै राज्ये तवास्मिंश्च यथेष्टचारम् ॥ ३६ ॥

रुरुरुवाच—प्रतिगृहीतोऽयं मयावन्ध्यो महाराजप्रसादः । तदाज्ञापय याव-दिह संगमनप्रयोजनेन तवोपयोगं गच्छाम इति ॥ अथ स राजा तं रुरुं गुरुमिव रथवरमारोप्य महता सत्कारेण पुरवरं प्रवेश्य कृतातिथिसत्कारं महति सिंहासने निवेश्य समुत्साहयमानः सान्तःपुरोऽमात्यगणपरिवृतः प्रीतिबहुमान-सौम्यमुदीक्षमाणो धर्मं पप्रच्छ—

जल-प्रवाह में बहते हुए जिसको मैं ने दया के वशीभूत होकर बचाया, हे नरश्रेष्ठ, उसी की ओर से मुझपर यह विपत्ति आई। दुर्जनों की सङ्गति कभी कल्याणकारी नहीं होती" ॥३०॥

तब राजा ने तीक्ष्ण दृष्टि से फटकार और रूक्षता के साथ उस पुरुष को देखकर कहा—"अरे, क्या सत्य ही पूर्वकाल में विपत्ति में पड़े हुए तुम इनके द्वारा उबारे गये?" तब भय और विषाद से स्वेदयुक्त विवर्ण और दीन-हीन होकर उस पुरुष ने लज्जा से धीरे धीरे कहा—"सत्य है"। तब उस राजा ने "धिक्कार है तुम्हें" इस तरह फटकारते हुए धनुषपर बाण रखकर कहा—"नहीं,

इतने परिश्रम से (निकाले जाने पर) भी जिसका चित्त मृदु नहीं हुआ, मनुष्य जाति के कलङ्करूप उस नराधम के जीवित रहने से क्या प्रयोजन?" ॥ ३१ ॥

इतना कहकर उसका वध करने के लिए मुट्ठी बाँधकर उसने धनुष खींचा। तब महाकरुणा से द्रवीभूत-हृदय बोधिसत्त्व ने उन दोनों के बीच खड़े होकर राजा से कहा—"हे महाराज, मरे को न मारें।

जभी यह लोभरूपी शत्रुके द्वारा निन्दित वञ्चना को प्राप्त हुआ अवश्य ही तभी इहलोक में यश के क्षीण होने से यह मारा गया तथा परलोक में भी धर्म के नष्ट होने से मारा गया ॥ ३२ ॥

असह्य दुःख के कारण विचलितचित्त मनुष्य सम्पत्ति की आशा से लोभ में फँसकर विपत्ति में पड़ते हैं, जैसे दीपक की शोभा से आकृष्ट होकर मूर्ख पतंग विपत्ति में पड़ते हैं ॥ ३३ ॥

अतः इसके ऊपर दया करें, न कि क्रोध। इसने जो कुछ पाने की आशा की थी उसे देकर इसके साहस को सफल करें। आप की आज्ञा के लिए मेरा मस्तक झुका हुआ है" ॥ ३४ ॥

उस अपकारी (शत्रु) के प्रति भी वह दयालु हैं और बदले में उसका उपकार ही करना चाहते हैं, इससे अत्यन्त विस्मित और प्रसन्न होकर राजा ने उस उत्तम रुरु-मृग को सम्मान-पूर्वक देखते हुए कहा—"साधु साधु, हे महाभाग,

जिसका भयङ्कर अपकार (अपराध) प्रत्यक्ष है उसके प्रति भी आप की इतनी दया है। मनुष्योचित गुण तो आप में ही हैं, हम तो मनुष्य की आकृति ही धारण करते हैं ॥ ३५ ॥

यह दुष्ट आपकी दया का पात्र है और मेरे लिए सज्जन के दर्शन का हेतु है, अतः मैं इसे अभीष्ट धन तथा आपको राज्य में इच्छानुसार भ्रमण करने की स्वतन्त्रता देता हूँ ॥ ३६ ॥

रुरु-मृग ने कहा—"मैंने महाराज की इस अव्यर्थ कृपा को स्वीकार किया। आज्ञा दीजिये कि हमारे मिलन के फलस्वरूप मैं आप के कुछ उपयोग में आऊँ।" तब राजा ने उस रुरु-मृग को गुरु के समान बड़े आदर के साथ अपने उत्तम रथ पर चढ़ाकर, राजधानी में प्रवेश कराकर, अतिथि सत्कार कर, बड़े सिंहासन पर बैठाकर, मंत्रियों और रानियों के साथ उन्हें उत्साहित-प्रशंसित करते हुए तथा आनन्द और सम्मान के साथ उन्हें देखते हुए धर्म के विषय में पूछा—

धर्मं प्रति मनुष्याणां बहुधा बुद्धयो गताः ।
निश्चयस्तव धर्मे तु यथा तं वक्तुमर्हसि ॥ ३७ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तस्य राज्ञः सपर्षत्कस्य स्फुटमधुरचित्राक्षरेण वचसा धर्मं देशयामास—

दयां सत्त्वेषु मन्येऽहं धर्मं संक्षेपतो नृप ।
हिंसास्तेयनिवृत्त्यादिप्रभेदं विविधक्रियम् ॥ ३८ ॥

पश्य महाराज,

आत्मनीव दया स्याच्चेत्स्वजने वा यथा जने ।
कस्य नाम भवेच्चित्तमधर्मप्रणयाशिवम् ॥ ३९ ॥

दयावियोगात्तु जनः परमामेति विक्रियाम् ।
मनोवाक्कायविस्पन्दैः स्वजनेऽपि जने यथा ॥ ४० ॥

धर्मार्थी न त्यजेदस्माद्दयामिष्टफलोदयाम् ।
सुवृष्टिरिव सस्यानि गुणान् सा हि प्रसूयते ॥ ४१ ॥

दयाक्रान्तं चित्तं न भवति परद्रोहरभसं
　　शुचौ तस्मिन् वाणी व्रजति विकृतं नैव च तनुः ।
विवृद्धा तस्यैवं परहितरुचि प्रीत्यनुसृतान्
　　प्रदानक्षान्त्यादीञ्जनयति गुणान् कीर्त्यनुगुणान् ॥ ४२ ॥

दयालुर्नोद्वेगं जनयति परेषामुपशमाद्
　　दयावान् विश्वास्यो भवति जगतां बान्धव इव ।
न संरम्भक्षोभः प्रभवति दयाधीरहृदये
　　न कोपाग्निश्चित्ते ज्वलति हि दयातोयशिशिरे ॥ ४३ ॥

संक्षेपेण दयामतः स्थिरतया पश्यन्ति धर्मं बुधाः
　　को नामास्ति गुणः स साधुदयितो यो नानुयातो दयाम् ।
तस्मात्पुत्र इवात्मनीव च दयां नीत्वा प्रकर्षं जने
　　सद्वृत्तेन हरन्मनांसि जगतां राजत्वमुद्भावय ॥ ४४ ॥

अथ स राजा समभिनन्द्य तत्तस्य वचनं सपौरजानपदो धर्मपरायणो बभूव। अभयं च सर्वमृगपक्षिणां दत्तवान् ॥

तदेवं परदुःखमेव दुःखं साधूनाम् । तद्धि न सहन्ते नात्मदुःखमिति । करुणावर्णेऽपि वाच्यम् । सज्जनमाहात्म्ये खलजनकुत्सायामप्युपनेयमिति ॥

॥ इति रुरु-जातकं षड्विंशतितमम् ॥

"धर्म के विषय में मनुष्यों के नाना मत हैं। इसमें आपका जो निश्चय है उसे कृपया कहें" ॥ ३७ ॥

तब बोधिसत्त्व ने परिषद्सहित उस राजा को स्पष्ट मधुर और चित्र-विचित्र वाणी में धर्मोपदेश किया—"हे राजन्, मैं संक्षेप में जीव-दया को धर्म मानता हूँ। इसकी विविध क्रियाएँ हैं, अहिंसा अस्तेय आदि इसके अनेक भेद हैं ॥ ३८ ॥

महाराज, देखें,

जैसे अपने प्रति दया होती है, वैसे ही यदि स्वजन और पराये के प्रति भी दया हो तो किसका मन अधर्म की रुचि से अमङ्गलमय होगा ॥ ३९ ॥

दया के अभाव में मनुष्य मानसिक वाचिक और शारीरिक व्यापारों के द्वारा स्वजन के प्रति और पराये के प्रति समान रूप से विकार को प्राप्त होता है (क्षुब्ध होता है) ॥ ४० ॥

अतः धर्माभिलाषी मनुष्य अभीष्ट फल देनेवाली दया को न छोड़े। क्योंकि यह गुणों को उत्पन्न करती है, जैसे सुन्दर वृष्टि सस्य को ॥ ४१ ॥

दयार्द्र हृदय दूसरों से द्रोह नहीं करता है। उस पवित्र व्यक्ति की वाणी या शरीर में विकार नहीं होता है। उसकी बढ़ती हुई परोपकार की अभिलाषा आनन्द के साथ दान क्षमा आदि गुणों को उत्पन्न करती है, जो यश देते हैं ॥ ४२ ॥

दयालु मनुष्य अपने शान्त स्वभाव के कारण दूसरों को उद्वेग नहीं देता है वह लोगों के लिए बन्धु के समान विश्वास का पात्र होता है। दया से धीर हृदय में क्रोध-जन्य क्षोभ नहीं होता है। दयारूप जल से शीतल चित्त में क्रोधाग्नि नहीं जलती है ॥ ४३ ॥

अतः संक्षेप में दया धर्म है, यह बुद्धिमानों का स्थिर मत है। सज्जनों का प्रिय वह कौन गुण है, जो दया के पीछे नहीं चलता है? इसलिए जैसे पुत्रपर, जैसे अपनेपर वैसे ही दूसरों पर अत्यन्त दया करते हुए, सदाचरण से लोगों का मन हरण करते हुए राजत्व को प्रकाशित कीजिये" ॥ ४४ ॥

तब वह राजा उनके उस वचन का अभिनन्दन कर पुर-वासियों और देश-वासियों के साथ धर्म-परायण हो गया। और, उसने सभी पशु-पक्षियों को अभय-दान किया।

इस प्रकार दूसरों का दुःख ही सज्जनों का दुःख है। वे उसे ही न सह सकते हैं, न कि अपने दुःख को। करुणा का वर्णन करने में इस कथा को कहना चाहिए। सज्जनों का माहात्म्य प्रकट करने में और दुर्जनों की निन्दा करने में भी यह दृष्टान्त उपस्थित करना चाहिए।

रुरु-जातक छब्बीसवाँ समाप्त

---

२७. महाकपि-जातकम्

द्विषतामपि मानसान्यावर्जयन्ति सद्वृत्तानुवर्तिनः । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल श्रीमति हिमवत्कुक्षौ विविधरसवीर्यविपाकगुणैर्बहुभिरोषधिविशेषैः परिगृहीतभूमिभागे नानाविधपुष्पफलपल्लवपत्रविटपरचनैर्महीरुहशतैराकीर्णे स्फटिकदलामलसलिलप्रस्रवणे विविधपक्षिगणनादनादिते वानरयूथाधिपतिर्बभूव । तदवस्थमपि चैनं त्यागकारुण्याभ्यासात्प्रतिपक्षसेवाविरोधितानीवेर्ष्यामात्सर्यक्रौर्याणि नोपजग्मुः । स तत्र महान्तं न्यग्रोधपादपं पर्वतशिखरमिव व्योमोल्लिखन्तमधिपतिमिव तस्य वनस्य मेघसंघातमिव प्रत्यन्धकारविटपसाकीर्णपर्णतया तालफलाधिकतरप्रमाणैः परमस्वादुभिर्मनोज्ञवर्णगन्धैः फलविशेषैरानम्यमानशाखं निश्रित्य विजहार ।

तिर्यग्गतानामपि भाग्यशेषं सतां भवत्येव सुखाश्रयाय ।
कर्तव्यसंबन्धि सुहृज्जनानां विदेशगानामिव वित्तशेषम् ॥ १ ॥

तस्य तु वनस्पतेरेका शाखा तत्समीपगां निम्नगामभि प्रणताभवत् । अथ बोधिसत्त्वो दीर्घदर्शित्वात्तद्वानरयूथं समनुशशास—अस्यां न्यग्रोधशाखायामफलायामकृतायां न वः केनचिदन्यतः फलमुपभोक्तव्यमिति ॥

अथ कदाचित्तस्यां शाखायां पिपीलिकाभिः पर्णपुटावच्छादितं तरुणत्वान्नातिमहदेकं फलं न ते वानरा ददृशुः । तत्क्रमेणाभिवर्धमानं वर्णगन्धरसमार्दवोपपन्नं परिपाकवशाच्छिथिलबन्धनं तस्यां नद्यां निपपात । अनुपूर्वेण वाह्यमानं नदीस्रोतसा अन्यतमस्य राज्ञः सान्तःपुरस्य तस्यां नद्यां सलिलक्रीडामनुभवतो जालकरण्डकपार्श्वे व्यासज्यत ।

तत्स्नानमाल्यासववासगन्धं संश्लेषसंपिण्डितमङ्गनानाम् ।
विसर्पिणा स्वेन तिरश्चकार घ्राणाभिरामेण गुणोदयेन ॥ २ ॥

तद्गन्धमत्ताः क्षणमङ्गनास्ता दीर्घीकृतोच्छ्वासविकुञ्चिताक्ष्यः ।
भूत्वाथ कौतूहलचञ्चलानि विचिक्षिपुर्दिक्षु विलोचनानि ॥ ३ ॥

कौतूहलप्रसृतलोलतरनयनास्तु ता योषितस्तन्न्यग्रोधफलं परिपक्वतालफलाधिकतरप्रमाणं जालकरण्डकपार्श्वतो विलग्नमवेक्ष्य किमिदमिति तदावर्जित-

२७. महाकपि-जातक

सदाचरण का अनुसरण करनेवाले प्राणी शत्रुओं के मन को भी जीत लेते हैं। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

एक बार बोधिसत्त्व हिमालय के सुन्दर अञ्चल में—जिसकी भूमि विविध रस शक्ति परिणाम और गुणवाली अनेक ओषधियों से विभूषित थी, जो नाना प्रकार के फूलों फलों पल्लवों पत्तों और डालोंवाले सैकड़ों वृक्षों से भरा था, जहाँ स्फटिक के समान निर्मल जलवाले झरने प्रवाहित हो रहे थे, जो विविध पक्षियों के कूजन से कूजित था—वानरों के झुण्ड के अधिपति हुए। उस अवस्था में भी त्याग और करुणा के अभ्यास से ईर्ष्या द्वेष और क्रूरता उनके समीप नहीं गईं, मानो उनके प्रतिपक्षी गुणों के सेवन से वे (ईर्ष्या आदि) उनसे विरोध करती थीं। वहाँ एक बड़ा वट-वृक्ष पर्वत-शिखर के समान आकाश में छाया हुआ था। वह उस वन के अधिपति के समान जान पड़ता था। पत्तों से भरा हुआ, अन्धकारपूर्ण शाखाओंवाला वह मेघ-समूह के समान जान पड़ता था। ताल के फलों से भी बड़े, अत्यन्त स्वादिष्ठ तथा मनोहर वर्ण और गन्धवाले उत्तम फलों से उसकी शाखाएँ झुकी हुई थीं। उसी वृक्ष का आश्रय लेकर बोधिसत्त्व वहाँ विहार करते थे।

पशु-पक्षियों की योनि में जानेपर भी सज्जनों का शेष भाग्य (पुण्य-फल) मित्रों के सुख के लिए है, उन्हीं के काम में आता है, जैसे विदेश में गये हुए लोगों का बचा हुआ धन मित्रों के काम में आता है॥ १॥

उस वृक्ष की एक शाखा समीप में बहती हुई नदी के ऊपर झुकी हुई थी। दीर्घदर्शी होने के कारण बोधिसत्त्व ने वानरों के उस झुण्ड को आदेश दिया—"वट-वृक्ष की यह शाखा जब तक फल-रहित न कर दी जाय, तब तक तुम लोगों में से कोई भी (वानर) दूसरी शाखा का फल न खाय।"

एक बार उस डालपर चींटियों के द्वारा बनाये गये पत्रों के सम्पुट से ढके हुए एक फलको, जो नया होने के कारण बहुत बड़ा नहीं था, उन वानरों ने नहीं देखा। क्रम से बढ़ता हुआ वह फल रंग गन्ध और रस से भरकर कोमल हो गया। पकने से बन्धन के ढीला होनेपर वह उस नदी में गिर पड़ा। क्रमशः नदी की धारा में बहता हुआ फल, अपनी रानियों के साथ उस नदी में जल-क्रीडा करते हुए किसी राजा के जाल में जा फँसा।

उस फल ने फैलती हुई, घ्राणेन्द्रिय के लिए प्रिय तथा उत्कृष्ट सुगन्धि से (स्नान में प्रयुक्त सुगन्धित पदार्थों) मालाओं और मदिरा की सुगन्धियों को, जो स्नान करती हुई स्त्रियों के परस्पर-आलिङ्गन से एकत्र हो रही थीं, पराजित किया॥ २॥

वे स्त्रियाँ उसकी सुगन्धि से एक क्षण के लिए मत्त हो गईं। देर तक साँसें खीचती हुई आँखों को कुछ कुछ बन्द कर लिया। कुतूहल से चञ्चल आँखों को चारों ओर फैलाया॥ ३॥

कुतूहल से चञ्चल आँखों को फैलाकर, उन स्त्रियों ने उस न्यग्रोधफल को, जो आकार में पके हुए ताल-फल से बड़ा था, घेरे के जाल के पास में लगा हुआ देखा। और, उसे देखकर

नयनाः समपद्यन्त सह राज्ञा । अथ स राजा तत्फलमानाय्य प्रात्ययिकवैद्यजन-परिदृष्टं स्वयमास्वादयामास ।

अद्‌भुतेन रसेनाथ नृपस्तस्य विसिष्मिये ।
अद्‌भुतेन रसेनेव प्रयोगगुणहारिणा ॥ ४ ॥

अपूर्ववर्णगन्धाभ्यां तस्याकलितविस्मयः ।
ययौ तद्रससंरागात्परां विस्मयविक्रियाम् ॥ ५ ॥

अथ तस्य राज्ञः स्वादुरसभोजनसमुचितस्यापि तद्रससंरागवशगस्यैतद-भवत्—

यो नाम नामूनि फलानि भुङ्क्ते स कानि राज्यस्य फलानि भुङ्क्ते ।
यस्यान्नमेतत्तु स एव राजा विनैव राजत्वपरिश्रमेण ॥ ६ ॥

स तत्प्रभवान्वेषणकृतमतिः स्वबुद्ध्या विममर्श—व्यक्तमयं तरुवर इतो नातिदूरे नदीतीरसंनिविष्टश्च यस्येदं फलम् । तथा ह्यनुपहतवर्णगन्धरसमदीर्घ-कालसलिलसंपर्कादपरिक्षतमजर्जरं च यतः शक्यमस्य प्रभवोऽधिगन्तुमिति निश्चयमुपेत्य तद्रसतृष्णया आकृष्यमाणो विरम्य जलक्रीडायाः सम्यक् पुरवरे स्वे रक्षाविधानं संदिश्य यात्रासज्जेन महता बलकायेन परिवृतस्तां नदीमनुस-सार । क्रमेण चोत्सादयन् सश्वापदगणानि वनगहनानि समनुभवंश्चित्राणि रसान्तराणि पश्यन्नकृत्रिमरमणीयशोभानि वनान्तराणि संत्रासयन् पटहरसितैर्व-न्यगजमृगान् मानुषजनदुर्गमं तस्य वनस्पतेः समीपमुपजगाम ।

तं मेघवृन्दमिव तोयभरावसन्नमासन्नशैलमपि शैलवदीक्ष्यमाणम् ।
दूराद्ददर्श नृपतिः स वनस्पतीन्द्रमुल्लोक्यमानमधिराजमिवान्यवृक्षैः ॥७॥

परिपक्वसहकारफलसुरभितरेण च निर्हारिणा अतिमनोज्ञेन गन्धेन प्रत्युद्गत इव तस्य पादपस्य अयं स वनस्पतिरिति निश्चयमुपजगाम । समुपेत्य चैनं ददर्श तत्फलोपभोगव्यापृतैरनेकवानरशतैराकीर्णविटपम् ॥

अथ स राजा समभिलषितार्थविप्रलोपिनस्तान् वानरान् प्रत्यभिक्रुद्धमतिः—हत हतैतान् । विध्वंसयत विनाशयत सर्वान् वानरजाल्मानिति सपरुषाक्षरं स्वान् पुरुषानादिदेश । अथ ते राजपुरुषाः सज्यचापबाणव्यग्रकराग्रा वानरावभर्त्सन-मुखराः समुद्यतलोष्टदण्डशस्त्राश्चापरे परदुर्गमिवाभिरोद्धुकामास्तं वनस्पतिमभि-सस्रुः । अथ बोधिसत्त्वस्तुमुलं तद्राजबलमनिलजवाकलितमिवार्णवजलमभिभृत-कलकलारावमभिपतदालोक्याशनिवर्षेणेव समन्ततो विकीर्यमाणं तरुवरं शरलो-ष्टदण्डशस्त्रवर्षेण भयविरसविरावमात्रपरायणं च विकृतदीनमुखमुन्मुखं वानरगण-

राजा के साथ हो 'यह क्या है' यह कहते हुए अपनी आँखों को उसीपर डाला। तब राजा ने उस फल को मँगवाकर, विश्वस्त वैद्यों से दिखलाकर स्वयं चखा।

उसके अद्भुत रस से राजा विस्मित हुआ, जैसे उत्तम अभिनय के कारण (नाटक के) मनोहर रस से विस्मय होता है ॥ ४ ॥

उसके अपूर्व रंग और गन्ध से तो उसे विस्मय हुआ ही था, अब उसके रसास्वादन से परम विस्मय हुआ ॥ ५ ॥

यद्यपि राजा स्वादिष्ठ भोजन किया करता था, तथापि उस फल के रस के आस्वाद के वशीभूत होकर उसने सोचा—

"जो उन फलों को नहीं खाता है वह राज्य के किस फल को भोगता है ? जिसे यह खाद्य प्राप्त है वही राजा है; राज्यसञ्चालन में होनेवाले परिश्रम के विना ही राजा है" ॥ ६ ॥

उसका उत्पत्ति-स्थान खोजने का निश्चय कर उस राजा ने स्वयं सोचा—"स्पष्ट है कि वह उत्तम वृक्ष, जिसका यह फल है यहाँ से बहुत दूर नहीं है और नदी के तीरपर ही स्थित है। दीर्घ काल तक जल में नहीं रहने से इसके वर्ण गन्ध और रस अक्षुण्ण हैं, यह न तो क्षत हुआ है और न सड़ा हो है। अतः इसका उत्पत्तिस्थान प्राप्त करना शक्य है", यह निश्चय कर उसके रस की आसक्ति से आकृष्ट होता हुआ, जलक्रीडा से विरत होकर, अपनी राजधानी में रक्षा की समुचित व्यवस्था के लिए आदेश देकर, यात्रा के लिए तैयार बड़ी सेना के साथ उसने उस नदी का अनुसरण किया। क्रम से हिंसक जन्तुओं से भरी हुई झाड़ियों को साफ करता हुआ, विविध रसों का अनुभव करता हुआ, स्वाभाविक रमणीय शोभा से युक्त वन-प्रदेशों को देखता हुआ, ढोलों की ध्वनि से जंगली हाथियों और मृगों को डराता हुआ, वह उस वृक्ष के समीप पहुँचा, जहाँ मनुष्यों का पहुँचना कठिन है।

उस राजा ने दूर से ही उस बड़े वृक्ष को देखा, जो जल के भार से झुके हुए मेघसमूह के समान था, पहाड़ के समीप स्थित होनेपर भी पहाड़ के समान दिखाई पड़ता था, और दूसरे वृक्षों के द्वारा राजा के समान देखा जाता था ॥ ७ ॥

उस वृक्ष से आती हुई सुगन्धि ने, जो पके हुए आम्र-फल से भी अधिक सुगन्धित थी, राजा की मानो अगवानी की। तब राजा ने निश्चय किया कि यही वह वृक्ष है। उसके समीप जाकर राजा ने देखा कि उसके फलों के खाने में लगे हुए सैकड़ों वानरों से उसकी डालें भरी हुई हैं।

अपनी अभीष्ट वस्तुओं को लूटनेवाले उन वानरों के प्रति क्रुद्ध होकर राजा ने अपने आदमियों को कठोर शब्दों में आदेश दिया—"इन सभी दुष्ट बन्दरों को मारो, ध्वस्त करो, नष्ट करो।" तब वे राज-पुरुष हाथों में प्रत्यञ्चा युक्त धनुष-बाण लेकर, दूसरे राज-पुरुष ढेले लाठियाँ और बर्छियाँ उठाकर वानरों को डाँटते-फटकारते, उस वृक्ष के पास पहुचे, जैसे शत्रु के किलेपर आक्रमण करना चाहते हों। उस भयानक राज-सेना को तूफान से आलोड़ित समुद्र के समान कलकल करते हुए आते देखकर, वज्र की वर्षा के समान तीरों ढेलों लाठियों और बर्छियों की वर्षा से चारों ओर व्याप्त होते उस उत्तम वृक्ष की तथा भय से विरस शब्द करते हुए विकृत

मवेक्ष्य महत्या करुणया समाक्रम्यमाणचेतास्त्यक्तविषाददैन्यसंत्रासः समाश्वास्य तद्वानरयूथं तत्परित्राणव्यवसितमतिरभिरुह्य तस्य वनस्पतेः शिखरं तत्समासन्नं गिरितटं लङ्घयितुमियेष। अथानेकप्रस्कन्दनक्रमप्राप्यमपि तं गिरितटं स महासत्त्वः स्ववीर्यातिशय त्खग इवाधिरुरोह।

द्वाभ्यामपि लङ्घक्रमाभ्यां गम्यं नैव तदन्यवानराणाम्।
वेगेन यदन्तरं तरस्वी प्रततारात्पमिवैकविक्रमेण॥ ८॥

कृपयाभिविवर्धितः स तस्य व्यवसायः पटुतां जगाम शौर्यात्।
स च यत्नविशेषमस्य चक्रे मनसैवाथ जगाम यत्नतैक्ष्ण्यात्॥ ९॥

अधिरुह्य च गिरेरुच्चतरं तत्प्रदेशं तदन्तरलाधिकप्रमाणया महत्या विरूढया अशिथिलमूलया दृढया वेत्रलतया गाढमाबध्य चरणौ पुनस्तं वनस्पतिं प्रचस्कन्द। विप्रकृष्टत्वात्तु तस्यान्तरालस्य चरणबन्धनव्याकुलत्वाच्च स महासत्त्वः कथंचित्तस्य वनस्पतेरग्रशाखां कराभ्यां समाससाद।

ततः समालम्ब्य दृढं स शाखाम तस्य तां वेत्रलतां च यत्नात्।
स्वसंज्ञया यूथमथादिदेश द्रुमादतः शीघ्रमभिप्रयायात्॥ १०॥

अथ ते वानरा भयातुरत्वादपयानमार्गमासाद्य चपलतरगतयस्तदाक्रमणनिर्विशङ्कास्तया स्वस्त्यपचक्रमुः।

भयातुरैस्तस्य तु वानरैस्तैराक्रम्यमाणं चरणैः प्रसक्तम्।
गात्रं ययौ स्वैः पिशितैर्वियोगं न त्वेव धैर्यातिशयेन चेतः॥ ११॥

तद्दृष्ट्वा स राजा ते च राजपुरुषाः परां विस्मयवक्तव्यतामुपजग्मुः।

एवंविधा विक्रमबुद्धिसम्पदात्मानपेक्षा च दया परेषु।
आश्चर्यबुद्धिं जनयेच्छ्रुतापि प्रत्यक्षतः किं पुनरीक्ष्यमाणा॥ १२॥

अथ स राजा तान् पुरुषान् समादिदेश—भयोद्भ्रान्तवानरगणचरणक्षोभितक्षतशरीरश्चिरमेकक्रमावस्थानाच्च दृढं परिश्रान्तो व्यक्तमयं वानराधिपतिः न चायमतः शक्ष्यति स्वयमात्मानं संहर्तुम्, तच्छीघ्रमस्याधः पटवितानं विततय वेत्रलतेयं च न्यग्रोधशाखा शराभ्यां युगपत्प्रच्छिद्येतामिति। ते तथा चक्रुः। अथैनं स राजा शनकैर्वितानादवतार्य मूर्छया व्रणवेदनाक्लमोपजातया समाक्रम्यमाणचेतसं मृदुनि शयनीये संवेशयामास। सद्यःक्षतप्रशमनयोग्यैश्च सर्पिरादिभिरस्य व्रणान्यभ्यज्य मन्दीभूतपरिश्रमं समाश्वस्तमेनमभ्युपगम्य स राजा सकौतूहलविस्मयबहुमानः कुशलपरिप्रश्नपूर्वकमुवाच—

गत्वा स्वयं संक्रमतामभीषां स्वजीविते त्यक्तदयेन भूत्वा।
समुद्धृता ये कपयस्त्वयेमे को नु त्वमेषां तव वा क एते॥ १३॥

दीन मुखवाले वानरों को अपनी ओर मुँह किये हुए देखकर, बोधिसत्त्व के हृदय में बड़ी करुणा हुई। भय विषाद और घबड़ाहट छोड़कर, वानरों के उस झुण्ड को आश्वासन देकर, उनकी रक्षा के लिए निश्चय कर, उस वृक्ष के शिखर पर चढ़कर बोधिसत्त्व ने उसके समीपवर्ती पर्वत के किनारे पर उछल कर जाना चाहा। तब अपने छलांगों से ही जहाँ पहुँचना शक्य है उस पर्वत-तटपर वह महासत्त्व अपनी अलौकिक शक्ति से पक्षी के समान पहुँच गये।

दूसरे वानर दो छलांगों में भी वहाँ नहीं पहुँच सकते थे, किन्तु उस शक्तिशाली ने एक ही छलांग में उस अन्तर (दूरी) को पार कर लिया, जैसे वह अत्यल्प हो ॥ ८ ॥

करुणा से प्रेरित हो कर उनका वह निश्चय पराक्रम से सुदृढ़ हो गया। उन्होंने इसके लिए विशेष यत्न किया और यत्न की तीव्रता से वे मन से ही वहाँ पहुँच गये ॥ ९ ॥

पहाड़ के ऊँचे किनारे पर चढ़कर (पेड़ और पहाड़ के बीच के) अन्तर से अधिक लम्बी विशाल बद्धमूल सुदृढ़ वेत्रलता (बेंत) से अपने पैरों को अच्छी तरह बाँधकर, फिर उसी वृक्ष पर उछल पड़े। दूरी की अधिकता और पैरों के बन्धन की व्याकुलता के कारण उस महासत्त्व ने किसी किसी तरह उस वृक्ष की शाखा के अग्रभाग को अपने हाथों से पाया।

तब शाखा को दृढ़तापूर्वक पकड़े हुए और इस वेत्रलता को यत्नपूर्वक फैलाये हुए उन्होंने संकेत द्वारा झुण्ड को आदेश दिया कि इस वृक्ष से शीघ्र भाग जाय ॥ १० ॥

तब भय से आतुर वे वानर निकलने का रास्ता पाकर, शीघ्रता से चलते हुए, उन्हें रौंदने की चिन्ता न करते हुए, उस बेंत के द्वारा सकुशल निकल गये।

भय से विह्वल उन वानरों के द्वारा निरन्तर पैरों से रौंदते जाते हुए उनके शरीर ने मांस को छोड़ दिया, किन्तु चित्त ने अतिशय धैर्य को न छोड़ा ॥ ११ ॥

यह देखकर वह राजा और वे राजपुरुष अत्यन्त विस्मित होकर बोले—

"यह पराक्रम और बुद्धि तथा अपनी उपेक्षा कर दूसरों के प्रति यह दया सुनने पर भी आश्चर्य उत्पन्न कर सकती है, फिर प्रत्यक्ष देखने पर क्या कहना? ॥ १२ ॥

तब राजा ने उन राज-पुरुषों को आदेश दिया—"भय से घबड़ाये हुए वानरोंके पैरों से रौंदे जाने से वानरपति का शरीर क्षत-विक्षत हो गया है। देर तक एक ही स्थिति में रहने से ये अत्यन्त थक गये हैं। स्पष्ट है कि ये स्वयं अपने को इस स्थिति से मुक्त न कर सकेंगे। अतः शीघ्र ही इनके नीचे कपड़े का चँदोवा फैलाकर एक बाण से इस बेंत को और दूसरे से वट-वृक्ष की डाल को एक साथ काट डालो।" उन्होंने वैसा ही किया। तब राजा ने धीरे धीरे उन्हें चँदोवे से उतारा। घाव की पीड़ा और थकावट से मूर्छित होते हुए वानर-पति को कोमल बिछावन पर सुलाया। घाव को तुरत ठीक करने योग्य घी आदि का लेप घावों में लगाया। जब उनकी पीड़ा कम हुई और वे आश्वस्त हुए, तब उनके समीप जाकर राजा ने कुतूहल विस्मय और सम्मान के साथ कुशल-प्रश्न पूछते हुए कहा—

"अपने जीवन के प्रति निर्दय होकर, इनके लिए स्वयं सेतु बनकर, आपने इन वानरों को निकाला। आप इनके कौन हैं या ये आप के कौन हैं? ॥ १३ ॥

श्रोतुं वयं चेदिदमर्हरूपास्तत्तावदाचक्ष्व कपिप्रधान ।
न ह्यल्पसौहार्दनिबन्धनानामेवं मनांसि प्रतरन्ति कर्तुम् ॥ १४ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तस्य राज्ञस्तदभ्युपपत्तिसौमुख्यं प्रतिपूजयन्नात्मनिवेदनमनुगुणेन क्रमेण चकार—

एभिर्मदाज्ञाप्रतिपत्तिदक्षैरारोपितो मय्यधिपत्वभारः ।
पुत्रेष्विवैतेष्ववबद्धहार्दस्तं वोढुमेवाहमभिप्रपन्नः ॥ १५ ॥

इयं महाराज समं ममैभिः संबन्धजातिश्चिरकालरूढा ।
समानजातित्वमयी च मैत्री ज्ञातेयजाता सहवासयोगात् ॥ १६ ॥

तच्छ्रुत्वा स राजा परं विस्मयमुपेत्य पुनरेनमुवाच—

अधिपार्थममात्यादि न तदर्थं महीपतिः ।
इति कस्मात्स्वभृत्यार्थमात्मानं त्यक्तवान् भवान् ॥ १७ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—काममेवं प्रवृत्ता, महाराज, राजनीतिः । दुरनुवर्त्या तु मां प्रतिभाति ।

असंस्तुतस्याप्यविषह्यतीव्रमुपेक्षितुं दुःखमतीव दुःखम् ।
प्रागेव भक्त्युन्मुखमानसस्य गतस्य बन्धुप्रियतां जनस्य ॥ १८ ॥

इद च दृष्ट्वा व्यसनार्तिदैन्यं शाखामृगान् प्रत्यभिवर्धमानम् ।
स्वकार्यचिन्तावसरोपरोधि प्रादुर्द्रवन्मां सहसैव दुःखम् ॥ १९ ॥

आनम्यमानानि धनूंषि दृष्ट्वा विनिष्पतद्दीप्तशिलीमुखानि ।
भीमस्वनज्यान्यविचिन्त्य वेगादस्मात्तरोः शैलमिमं गतोऽस्मि ॥ २० ॥

वैशेषिकत्रासपरीतचित्तैराकृष्यमाणोऽहमथ स्वयूथ्यैः ।
आलक्षितायामगुणां सुमूलां स्वपादयोर्वेत्रलतां निबध्य ॥ २१ ॥

प्रास्कन्दमस्मात्पुनरेव शैलादिमं द्रुमं तारयितुं स्वयूथ्यान् ।
ततः कराभ्यां समवापमस्य प्रसारितं पाणिमिवाग्रशाखाम् ॥ २२ ॥

समाततांगं लतया तया च शाखाग्रहस्तेन च पादपस्य ।
अमी मदध्याक्रमणे विशङ्का निश्रित्य मां स्वस्ति गताः स्वयूथ्याः ॥ २३ ॥

अथ स राजा प्रामोद्यजातं तस्यामप्यवस्थायां तं महासत्त्वमवेक्ष्य परं विस्मयमुद्वहन् पुनरेनमुवाच—

परिभूयात्मनः सौख्यं परव्यसनमापतत् ।
इत्यात्मनि समारोप्य प्राप्तः को भवता गुणः ॥ २४ ॥

हे कपि-श्रेष्ठ, यदि हम इसे सुनने के योग्य हैं, तो आप कहें। अल्प मित्रता के बन्धन से बँधे हुओं के चित्त ऐसा नहीं कर सकते" ॥ १४ ॥

तब बोधिसत्व ने राजा की दया और अनुकूलता का आदर करते हुए उचित रीति से आत्म-परिचय दिया—

"मेरी आज्ञा पालन करने में दक्ष इन्होंने मुझे अधिपति (राजा, रक्षक) का भार दिया। इनपर मेरा पुत्रवत् स्नेह है, स्नेह की रक्षा के लिए मैंने यह आचरण किया ॥ १५ ॥

इनके साथ, हे महाराज, यह मेरा चिरकाल का सम्बन्ध है। समान जाति की यह मित्रता एक साथ रहने से स्वजन के सम्बन्ध के समान (सुदृढ़) हो गई है" ॥ १६ ॥

यह सुनकर राजा ने अत्यन्त विस्मित होकर पुनः उनसे कहा—

"राजा के लिए अमात्य आदि (कर्मचारी) हैं, न कि उनके लिए राजा। तब क्यों आपने अपने अनुचरों के लिए अपने को न्यौछावर किया?" ॥ १७ ॥

बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया—"निश्चय ही, हे महाराज, राजनीति यही है, किन्तु इस नीति का अनुसरण करना मुझे कठिन जान पड़ता है।

अपरिचित व्यक्ति के भी असह्य तीव्र दुख की उपेक्षा करना कठिन है। तब जो भक्ति-भाव से भरा है और जो स्वजन के समान प्रिय हो गया है उसके दुःख का क्या कहना ॥ १८ ॥

वानरों के इस विपत्ति-जन्य दुःख-दैन्य को बढ़ते देखकर मेरे मन में हठात् ही वह दुःख हुआ, जो स्वार्थ-चिन्तन के लिए अवसर ही नहीं देता है ॥ १९ ॥

झुकाये जाते हुए धनुषों को, जिनसे चमकते हुए तीर निकल रहे थे, देखकर तथा प्रत्यञ्चा के भयङ्कर टङ्कारकी चिन्ता न करता हुआ मैं वेगपूर्वक इस वृक्ष से उस पहाड़ पर चला गया ॥ २० ॥

अत्यन्त संत्रस्तचित्त अपने झुण्डवालों (के दुःख) से आकृष्ट होकर, लक्ष्य के अनुरूप (लम्बी) सुदृढ़ मूलवाली वेत्रलता (बेंत) को अपने पैरों में बाँध लिया ॥ २१ ॥

फिर अपने झुण्डवालों को पार करने लिए मैं उस पहाड़ से इस पेड़ पर उछल आया। तब अपने हाथों से हाथ के समान फैले हुए शाखा के अग्रभाग को पकड़ लिया ॥ २२ ॥

उस वेत्रलता तथा पेड़ के डालरूप हाथ के द्वारा फैलाये गये मेरे शरीर के सहारे मुझपर चलने में निश्शङ्क होकर ये मेरे झुण्डवाले सकुशल पार हो गये" ॥ २३ ॥

उस राजा ने उस अवस्था में भी उस महासत्त्व को प्रमुदित देखकर अत्यन्त विस्मित होते होते हुए पुनः उनसे कहा—

"अपने सुख की अवहेलना कर आपने दूसरे पर आई विपत्ति को अपने पर लेकर कौन लाभ उठाया? ॥ २४ ॥

बोधिसत्त्व उवाच--

कामं शरीरं क्षितिप क्षतं मे मनः परस्वास्थ्यमुपागतं तु ।
अकारि येषां चिरमाधिपत्यं तेषां मयार्तिर्विनिवर्तितेति ॥ २५ ॥

जित्वाहवे विद्विषतः सदर्पान् गात्रेष्वलंकारवदुद्वहन्ति ।
वीरा यथा विक्रमचिह्नशोभां प्रीत्या तथेमां रुजमुद्वहामि ॥ २६ ॥

प्रणामसत्कारपुरःसरस्य भक्तिप्रयुक्तस्य समानजात्यैः ।
ऐश्वर्यलब्धस्य सुखक्रमस्य संप्राप्तमानृण्यमिदं मयाद्य ॥ २७ ॥

तन्मां तपत्येष न दुःखयोगः सुहृद्वियोगः सुखविप्लवो वा ।
क्रमेण चानेन समभ्युपेतो महोत्सवाभ्यागम एष मृत्युः ॥ २८ ॥

पूर्वोपकारानृणतात्मतुष्टिः संतापशान्तिर्विमलं यशश्च ।
पूजा नृपान्निर्भयता च मृत्योः कृतज्ञभावाद् ग्रहणं च सत्सु ॥ २९ ॥

एते गुणाः सद्गुणवासवृक्ष प्राप्ता मयैतद् व्यसनं प्रपद्य ।
एषां विपक्षांस्तु समभ्युपैति दयाविहीनो नृपतिः श्रितेषु ॥ ३० ॥

गुणैर्विहीनस्य विपन्नकीर्तेर्दोषोदयैरावसथीकृतस्य ।
गतिर्भवेत्तस्य च नाम कान्या ज्वालाकुलेभ्यो नरकानलेभ्यः ॥ ३१ ॥

तद्दर्शितोऽयं गुणदोषयोस्ते मया प्रभावः प्रथितप्रभाव ।
धर्मेण तस्मादनुशाधि राज्यं स्त्रीचञ्चलप्रेमगुणा हि लक्ष्मीः ॥ ३२ ॥

युग्यं बलं जानपदानमात्यान् पौराननाथाञ्छ्रमणान् द्विजातीन् ।
सर्वान् सुखेन प्रयतेत योक्तुं हितानुकूलेन पितेव राजा ॥ ३३ ॥

एवं हि धर्मार्थयशःसमृद्धिः स्यात्ते सुखायेह परत्र चैव ।
प्रजानुकम्पार्जितया त्वमस्माद्राजर्षिलक्ष्म्या नरराज राज ॥ ३४ ॥

इति नृपमनुशिष्य शिष्यवद् बहुमतवाक्प्रयतेन तेन सः ।
रुगभिभवनसंहृतक्रियां तनुमपहाय ययौ त्रिविष्टपम् ॥ ३५ ॥

तदेवं द्विषतामपि मनांस्यावर्जयन्ति सद्वृत्तानुवर्तिनः, इति लोकं समावर्जयितुकामेन सद्वृत्तानुवर्तिना भवितव्यम् । न समर्थास्तथा स्वार्थमपि प्रतिपत्तुं सत्त्वा यथा परार्थं प्रतिपन्नवान् स भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् । सत्कृत्य धर्मश्रवणे करुणावर्णे राजाववादे च । एवं राज्ञा प्रजासु दयापन्नेन भवितव्यम् । कृतज्ञकथायामप्युपनेयम्, एवं कृतज्ञाः सन्तो भवन्तीति ॥

॥ इति महाकपि-जातकं सप्तविंशतितमम् ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—

"अवश्य ही, हे राजन्, मेरा शरीर क्षत विक्षत हुआ, किन्तु मेरा चित्त अत्यन्त स्वस्थ (प्रसन्न) हुआ। मैं चिरकाल तक जिनका अधिपति रहा, उनके दुःख को दूर किया॥ २५॥

जिस प्रकार युद्ध में अभिमानी शत्रुओं को जीतकर वीर पुरुष पराक्रम के चिह्न (घाव) को अलङ्कार के समान धारण करते हैं, उसी प्रकार मैं इस घावको आनन्द पूर्वक धारण करता हूँ॥ २६॥

स्वामी होने के कारण जातिवालों से प्रणाम सत्कार और भक्ति के साथ जिस सुख-परम्परा को पाया, उसके ऋण से आज मैं मुक्त हुआ॥ २७॥

अतः यह शारीरिक पीड़ा, बन्धु-वियोग या सुख का विनाश मुझे सन्तप्त नहीं कर रहा है। क्रमागत यह मृत्यु तो महोत्सव के आगमन के समान है॥ २८॥

पूर्व उपकार के ऋण से मुक्त, आत्म-सन्तोष, सन्ताप-शान्ति, निर्मल यश, राज-सम्मान, मृत्यु से निर्भयता, कृतज्ञता के कारण सज्जनों में प्रशंसा (या गणना); ॥ २९॥

हे सद्गुणों के निवास-वृक्ष, विपत्ति में पड़कर मैंने ये गुण पाये। किन्तु आश्रितों के प्रति निर्दय राजा इनके विपरीत गुणों को पाता है।॥ ३०॥

जो गुणों से रहित है, जिसकी कीर्ति नष्ट हो गई है, जो दोषों का घर बन गया है उसके लिए नरक की प्रज्वलित अग्नियों को छोड़ कर दूसरी कौन गति हो सकती है॥ ३१॥

हे प्रभावशालिन्, मैंने गुण और दोष का यह प्रभाव बतला दिया। अतः आप धर्मानुसार राज्य का पालन कीजिये, क्योंकि लक्ष्मी स्त्री के समान ही चञ्चल प्रेम वाली है॥ ३२॥

राजा पिता के समान, घोड़ों, सैनिकों, देश-वासियों, पुर-वासियों, अनाथों, श्रमणों, द्विजातियों तथा दूसरों को कल्याण-कारी सुख पहुँचाने की चेष्टा करे॥ ३३॥

इस प्रकार आपको इहलोक और परलोक के लिए सुख-दायक प्रचुर धन धर्म और यश की प्राप्ति होगी। हे राजन्, प्रजाओं के ऊपर दया करने से प्राप्त होने वाली राजर्षि की लक्ष्मी से आप विराजमान हों"॥ ३४॥

इस प्रकार उन्होंने राजा को उपदेश दिया, जिसने शिष्य के समान सावधान हो कर सुना और उनके वचन का बड़ा सम्मान किया। तब पीड़ा से निश्चेष्ट शरीर को छोड़कर वे स्वर्ग चले गये॥ ३५॥

इस प्रकार सदाचार का अनुसरण करने वाले प्राणी शत्रुओं के मन को भी जीत लेते हैं। अतः जो लोगों (के मन) को जीतना चाहता है वह सदाचरण का अनुसण करे। प्राणी स्वार्थ को भी उस प्रकार सिद्ध (प्राप्त) नहीं कर सकते, जिस प्रकार उस भगवान् ने परार्थ को सिद्ध किया। इस प्रकार तथागत के वर्णन में भी इसे कहना चाहिए। आदरपूर्वक धर्म-श्रवण करने में तथा करुणा का वर्णन करने में इसे कहना चाहिए। राजाओं को उपदेश देने में भी इसे कहना चाहिए—'इस प्रकार राजा प्रजा के प्रति दयालु बने'। कृतज्ञ की कथा में भी इसे उपस्थित करना चाहिए—'इस प्रकार सज्जन कृतज्ञ होते हैं'।

महाकपि-जातक सत्ताइसवाँ समाप्त।

२८. क्षान्ति-जातकम्

सात्मीभूतक्षमाणां प्रतिसंख्यानमहतां नाविषह्यं नाम किंचिदस्ति । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलानेकदोषव्यसनोपसृष्टमर्थकामप्रधानत्वादनौपशमिकं रागद्वेषमोहामर्षसंरम्भमदमानमात्सर्यादिदोषरजसामापातं पातनं ह्रीधर्मपरिग्रहस्यायतन लोभासद्ग्राहस्य कुकार्यसंबाधत्वात्क्लशावकाशं धर्मस्यावेत्य गृहवासं परिग्रहविषयपरिवर्जनाच्च तद्दोषविवेकसुखां प्रव्रज्यामनुपश्यन् शीलश्रुतप्रशमविनयनियतमानसस्तापसो बभूव । तमस्खलितसमादानं क्षान्तिवर्णवादिनं तदनुरूपधर्माख्यानक्रमं व्यतीत्य स्वे नामगोत्रे क्षान्तिवादिनमित्येव लोकः स्वबुद्धिपूर्वकं संजज्ञे ।

ऐश्वर्यविद्यातपसां समृद्धिर्लब्धप्रयामश्च कलासु सङ्गः ।
शरीरवाक्चेष्टितविक्रियाश्च नामापरं संजनयन्ति पुंसाम् ।। १ ।।

जानन् स तु क्षान्तिगुणप्रभावं तेनात्मवल्लोकमलंकरिष्यन् ।
चकार यत्क्षान्तिकथाः प्रसक्तं तत्क्षान्तिवादीति ततो विजज्ञे ।। २ ।।

स्वभावभूता महती क्षमा च परापकारेष्वविकारधीरा ।
तदर्थयुक्ताश्च कथाविशेषाः कीर्त्या मुनिं तं प्रथयांबभूवुः ।। ३ ।।

अथ स महात्मा प्रविविक्तरमणीयं [1]समर्तुसुलभपुष्पफलं पद्मोत्पलालंकृतविमलसलिलाशयमुद्यानरम्यशोभं वनप्रदेशमध्यासनात्तपोवनसङ्ख्यतामानिनाय ।

निवसन्ति हि यत्रैव सन्तः सद्गुणभूषणाः ।
तन्मङ्गल्यं मनोज्ञं च तत्तीर्थं तत्तपोवनम् ।। ४ ।।

स तत्र बहुमन्यमानस्तदध्युषितैर्देवताविशेषैरभिगम्यमानश्च श्रेयोभिलाषिणा गुणवत्सलेन जनेन क्षान्तिप्रतिसंयुक्ताभिः श्रुतिहृदयह्लादिनीभिर्धर्म्याभिः कथाभिस्तस्य जनकायस्य परमनुग्रहं चकार ।

अथ कदाचित्ततस्त्यो राजा ग्रीष्मकालप्रभावादभिलषणीयतरां सलिलक्रीडां प्रति समुत्सुकमतिरुद्यानगुणातिशयनिकेतभूतं तं वनप्रदेश सान्तःपुरः समभिजगाम ।

स तद्वनं नन्दनरम्यशोभमाकीर्णमन्तःपुरसुन्दरीभिः ।
अलंचकारेव चरन् विलासी विभूतिमत्या ललितानुवृत्त्या ।। ५ ।।

---

१. पा० सर्वर्तु० ?

२८. क्षान्ति-जातक

जो क्षमाशील और शान्त हैं उनके लिए असह्य कुछ भी नहीं है। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

गृहस्थ-जीवन अनेक बुराइयों और विपत्तियों से ग्रस्त, अर्थ और काम की प्रधानता के कारण अशान्ति-दायक, राग-द्वेष-मोह-क्रोध मद-मान-ईर्ष्या आदि दोषों का स्थान, लज्जा और धर्म का विनाशक, लोभ और बुरे विचारों का घर, तथा कुकार्यों से भरे हुए होने के कारण धर्माचरण के अवसर से प्रायः रहित है, किन्तु संन्यास-मार्ग विषय-भोगों के परित्याग से तथा उन दोषों के अभाव में सुख-दायक है, यह जानकर बोधिसत्त्व शील विद्या शान्ति विनय और संयम से युक्त तपस्वी हो गये। वे गृहीत व्रत (के पालन) में प्रमाद नहीं करते थे, क्षमा का उपदेश देते थे, उसीके अनुरूप धर्म की व्याख्या करते थे; अतः लोग उनके गोत्र-नाम को छोड़कर अपनी बुद्धि से उन्हें 'क्षान्ति-वादी' कहने लगे।

ऐश्वर्य विद्या और तपस्या की अधिकता तथा कलाओं की बढ़ी हुई रुचि (आसक्ति, अभ्यास) एवं शरीर और वाणी की बदली हुई चेष्टाएँ मनुष्यों को दूसरा नाम देती हैं ॥ १ ॥

क्षमा के प्रभाव को जानते हुए वे क्षमा से लोगों को अपने ही समान विभूषित करने के लिए सर्वदा क्षमा का उपदेश दिया करते थे, अतः वे क्षान्ति-वादी कहलाने लगे ॥ २ ॥

महती क्षमा ने, जो उनका स्वभाव बन गई थी और जो दूसरों के अपकार करनेपर भी विचलित नहीं होती थी तथा उनके क्षमा-विषयक उत्तम उपदेशों ने उन्हें 'मुनि' के नाम से प्रसिद्ध कर दिया ॥ ३ ॥

वह महात्मा एकान्त और रमणीय, सब ऋतुओं में सुलभ फूलों और फलों से युक्त, लाल और नीले कमलों से अलङ्कृत विमल जलाशयों से सुशोभित तथा उद्यानों की रम्य शोभा से विभूषित वनस्थली में रहने लगे। उन्होंने अपने निवास से उस स्थान को तपोवन के समान मङ्गलमय बना दिया।

क्योंकि सद्गुणों से विभूषित सज्जन जहाँ भी रहते हैं वह स्थान मङ्गलमय और मनोहर हो जाता है, वह तीर्थ और तपोवन बन जाता है ॥ ४ ॥

वहाँ रहनेवाले विशिष्ट देवताओं ने उनका बड़ा सम्मान किया। कल्याण चाहनेवाले गुणानुरागी लोग उनके पास आये। तब उन्होंने कानों और हृदय को आनन्द देनेवाली क्षमा-विषयक धार्मिक कथाओं से उन्हें अत्यन्त अनुगृहीत किया।

एक बार उस देश का राजा ग्रीष्म ऋतु के प्रभाव से अभिलषणीय जल-क्रीडा के प्रति उत्सुक होकर उद्यान की विशेषताओं से युक्त उस वन-स्थली में अपने अन्तःपुर के साथ आया।

नन्दन वन के समान रमणीय उस वन में अपने अन्तःपुर की सुन्दरियों के साथ विचरण करते हुए उस विलासी ने सुन्दर लीलाओं से वन को अलङ्कृत किया ॥ ५ ॥

विमानदेशेषु लतागृहेषु पुष्पप्रहासेषु महीरुहेषु ।
तोयेषु चोन्मीलितपङ्कजेषु रेमे स्वभावातिशयैर्वधूनाम् ॥ ६ ॥

माल्यासवस्नानविलेपनानां संमोदगन्धाकुलितैर्द्विरेफैः ।
ददर्श कासांचिदुपोह्यमाना जातस्मितत्रासविलासशोभाः ॥ ७ ॥

प्रत्यग्रशोभैरपि कर्णपूरैः पर्याप्तमाल्यैरपि मूर्धजैश्च ।
तृप्तिर्यथासीत्कुसुमैर्न तासां तथैव नासां ललितैर्नृपस्य ॥ ८ ॥

विमानदेशेषु विषज्यमाना विलम्बमानाः कमलाकरेषु ।
ददर्श राजा भ्रमरायमाणाः पुष्पद्रुमेषु प्रमदाक्षिमालाः ॥ ९ ॥

मदप्रगल्भान्यपि कोकिलानां रुतानि नृत्यानि च बर्हिणानाम् ।
द्विरेफगीतानि च नाभिरेजुस्तत्राङ्गनाजल्पितनृत्तगीतैः ॥ १० ॥

पयोदधीरस्तनितैर्मृदङ्गैरुदीर्णकेकास्ततबर्हचक्राः ।
नटा इव स्वेन कलागुणेन चक्रुर्मयूराः क्षितिपस्य सेवाम् ॥ ११ ॥

स तत्र सान्तःपुर उद्यानवनविहारसुखं प्रकाममनुभूय क्रीडाप्रसङ्गपरिखेदान्मदपरिष्वङ्गाच्च श्रीमति विमानप्रदेशे महार्हशयनीयवरगतो निद्रावशमुपजगाम । अथ ता योषितः प्रस्तावान्तरगतमवेत्य राजानं वनशोभाभिराक्षिप्यमाणहृदयास्तद्दर्शनावितृप्ता यथाप्रीतिकृतसमवायाः समाकुलभूषणनिनादसंमिश्रकलप्रलापाः समन्ततः प्रसस्रुः ।

ताश्छत्त्रबालव्यजनासनाद्यैः प्रेष्याधृतैः काञ्चनभक्तिचित्रैः ।
ऐश्वर्यचिह्नैरनुगम्यमानाः स्त्रियः स्वभावानिभृतं विचेरुः ॥ १२ ॥

ताः प्राप्यरूपाणि महीरुहाणां पुष्पाणि चारूणि च पल्लवानि ।
प्रेष्याप्रयत्नानतिपत्य लोभादालेभिरे स्वेन पराक्रमेण ॥ १३ ॥

मार्गोपलब्धान् कुसुमाभिरामान् गुल्मांश्चलत्पल्लविनश्च वृक्षान् ।
पर्याप्तपुष्पाभरणस्रजोऽपि लोभादनालुप्य न ता व्यतीयुः ॥ १४ ॥

अथ ता वनरमणीयतयाक्षिप्यमाणहृदया राजयोपितस्तद्वनमनुविचरन्त्यः क्षान्तिवादिन आश्रमपदमुपजग्मुः । विदिततपःप्रभावमाहात्म्यास्तु तस्य मुनेः स्त्रीजनाधिकृता राज्ञो वाल्लभ्याद् दुरासदत्वाच्च तासां नैनाः स्ततो वारयितुं प्रसेहिरे । अभिसंस्काररमणीयतरया चाश्रमपदश्रिया समाकृष्यमाणा इव ता योषितः प्रविश्याश्रमपदं ददृशुस्तत्र तं मुनिवरं प्रशमसौम्यदर्शनमतिगाम्भीर्यातिशयाद् दुरासदमभिज्वलन्तमिव तपःश्रिया ध्यानाभियोगादुदारविषयसंनिकर्षेऽप्यक्षुभितेन्द्रियनैभृत्यशोभं साक्षाद्धर्ममिव मङ्गल्यं पुण्यदर्शनं वृक्षमूले बद्धासनमासीनम् ।

कुञ्जों में, लता-गृहों में, फूलों से हँसते हुए वृक्षों पर, और विकसित कमलों से युक्त जलाशयों में वह वधुओं के विकसित विलासों से आनन्दित हुआ ॥ ६ ॥

मालाओं, मदिर , स्नान के चूर्ण और लेप की सुगन्धियों से मत्त होकर भौंरे मँड़राने लगे। भौंरों के भय से उत्पन्न स्त्रियों की विलास-शोभा को उसने मुसकुराते हुए देखा ॥ ७ ॥

यद्यपि उनके कानों के आभूषण सुन्दर फूलों के बने थे, उनके केश-पाश पर्याप्त पुष्प-मालाओं से अलङ्कृत थे, तथापि उन्हें फूलों से तृप्ति नहीं हुई और राजा को भी उनकी लीलाओं से तृप्ति नहीं हुई ॥ ८ ॥

राजा ने देखा कि उनकी आँखें कभी कुञ्जों में अटक रही हैं तो कभी कमलों में, और कभी पुष्प-वृक्षों पर भौंरों के समान मँड़रा रही हैं ॥ ९ ॥

वहाँ मत्त कोकिलों के प्रगल्भ कूजन, मयूरों के नृत्य और मधुकरों के गीत भी स्त्रियों की बोलियों नृत्यों और गीतों के सामने फीके पड़ गये ॥ १० ॥

मेघ के समान गम्भीर शब्द करनेवाले मृदङ्गों से प्रेरित होकर बोलते हुए तथा पंख फैलाते हुए मोरों ने नटों के समान अपनी कला के द्वारा राजा की सेवा की ॥ ११ ॥

वह अपने अन्तःपुर के साथ उद्यान के समान उस वन में विहार करने के सुख की यथेष्ट अनुभूति पाकर, क्रीडा-जन्य थकावट और मद्य-पान के कारण सुन्दर कुञ्ज में बहुमूल्य उत्तम शय्या पर जाकर सो गया। तब वे स्त्रियाँ राजा को दूसरे विषय में लीन जानकर, वन की शोभा से आकृष्ट होकर, उसे देखने से तृप्त न होती हुई, अपनी अपनी प्रीति के अनुसार झुण्ड बनाकर, गहनों के रुनझुन के साथ मीठी बोली बोलते हुए, चारों ओर फैल गईं।

सुवर्ण-खचित छत्र चँवर और आसन आदि राज-चिह्नों को लेकर चलती हुई दासियों के आगे-आगे वे स्त्रियाँ अपनी स्वाभाविक उच्छृङ्खलता के साथ विचरण करने लगीं ॥ १२ ॥

उन्होंने वृक्षों के सुलभ सुन्दर फूलों और पल्लवों को लोभ से दासियों के प्रयत्न की उपेक्षा कर स्वयं तोड़ लिया ॥ १३ ॥

यद्यपि वे पर्याप्त फूलों के आभूषण और मालाएँ पहने हुई थीं, तथापि रास्ते में फूलों से मनोहर जो झाड़ियाँ और हिलते हुए पल्लवों से युक्त जो वृक्ष मिले उनके फूलों और पल्लवों को लोभ से तोड़े विना वे आगे नहीं बढ़ीं ॥ १४ ॥

तब वन की रमणीयता से आकृष्ट होकर वे राज-स्त्रियाँ वन में विचरती हुई क्षान्तिवादी के आश्रम में पहुँच गईं। किन्तु अन्तः-पुर के अधिकारी पुरुष, जो उस मुनि के तपःप्रभाव और माहात्म्य से अभिज्ञ थे तथा यह भी जानते थे कि राजा को वे स्त्रियाँ कितनी प्रिय हैं और वे कितनी दुर्धर्ष हैं, उन्हें वहाँ जाने से न रोक सके। स्वच्छता के कारण आश्रम की रमणीय शोभा से आकृष्ट होती हुई उन स्त्रियों ने आश्रम में प्रविष्ट होकर उस श्रेष्ठ मुनि को वृक्ष के नीचे आसन बाँधकर बैठे हुए देखा। वे देखने में शान्त और सौम्य थे। अतिशय गम्भीरता के कारण उनके समीप पहुँचना कठिन था। वे तपस्या की कान्ति से चमक रहे थे। ध्यान-योग के कारण आकर्षक विषयों के समीप भी उनका इन्द्रिय-संयम विचलित नहीं होता था। वे साक्षात् धर्म के समान थे। मङ्गलमय और पुण्यदर्शन थे।

अथ ता राजस्त्रियस्तस्य तपस्तेजसाक्रान्तसत्त्वाः संदर्शनादेव त्यक्तविभ्रमविलासौद्धत्या विनयनिभृतमभिगम्यैनं पर्युपासांचक्रिरे। स तासां स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरमतिथिजनमनोहरमुपचारविधिं प्रवर्त्य तत्परिप्रश्नोपपादितप्रस्तावाभिः स्त्रीजनसुखग्रहणार्थाभिर्दृष्टान्तवतीभिः कथाभिर्धर्मातिथ्यमासां चकार।

अगर्हितां जातिमवाप्य मानुषीमनूनभावं पटुभिस्तथेन्द्रियैः।
अवश्यमृत्युर्न करोति यः शुभं प्रमादभाक्प्रत्यहमेष वञ्च्यते॥ १५॥

कुलेन रूपेण वयोगुणेन वा बलप्रकर्षेण धनोदयेन वा।
परत्र नाप्नोति सुखानि कश्चन प्रदानशीलादिगुणैरसंस्कृतः॥ १६॥

कुलादिहीनोऽपि हि पापनिःस्पृहः प्रदानशीलादिगुणाभिपत्तिमान्।
परत्र सौख्यैरभिसार्यते ध्रुव घनागमे सिन्धुजलैरिवार्णवः॥ १७॥

कुलस्य रूपस्य वयोगुणस्य या बलप्रकर्षस्य धनोच्छ्रयस्य वा।
इहाप्यलकारविधिर्गुणादरः समृद्धिसूचैव तु हेममालिका॥ १८॥

अलंक्रियन्ते कुसुमैर्महीरुहास्तडिद्गुणैस्तोयविलम्बिनो घनाः।
सरांसि मत्तभ्रमरैः सरोरुहैर्गुणैर्विशेषाधिगतैस्तु देहिनः॥ १९॥

अरोगतायुर्धनरूपजातिभिर्निकृष्टमध्योत्तमभेदचित्रता।
जनस्य चेयं न खलु स्वभावतः पराश्रयाद्वा त्रिविधा तु कर्मणः॥ २०॥

अवेत्य चैवं नियतां जगत्स्थितिं चलं विनाशप्रवणं च जीवितम्।
जहीत पापानि शुभक्रमाशयादयं हि पन्था यशसे सुखाय च॥ २१॥

मनःप्रदोषस्तु परात्मनोर्हितं विनिर्दहन्नग्निरिव प्रवर्तते।
अतः प्रयत्नेन स पापभीरुणा जनेन वर्ज्यः प्रतिपक्षसंश्रयात्॥ २२॥

यथा समेत्य ज्वलितोऽपि पावकस्तटान्तसंसक्तजलां महानदीम्।
प्रशान्तिमायाति मनोज्वलस्तथा श्रितस्य लोकद्वितयक्षमां क्षमाम्॥ २३॥

इति क्षान्त्या पापं परिहरति तद्धेत्वभिभवा-
दतश्चायं वैरं न जनयति मैत्र्याश्रयबलात्।
प्रियः पूज्यश्चास्माद्भवति सुखभागेव च ततः
प्रयात्यन्ते च द्यां स्वगृहमिव पुण्याश्रयगुणात्॥ २४॥

अपि च भवत्यः क्षान्तिर्नामैषा—

वे राज-स्त्रियाँ उनकी तपस्या के तेज से प्रभावित हुईं। मुनि को देखते ही विभ्रम विलास और उच्छृङ्खलता को छोड़कर, विनय और शान्ति के साथ उनके समीप जाकर, वे उनके चारों ओर बैठ गईं। उन्होंने उनके स्वागत में प्रिय वचन बोलते हुए तथा अतिथियों के लिए अन्य मनोहर उपचार करते हुए, उनके प्रश्नों से उत्पन्न प्रसङ्ग में स्त्रियों के लिए सुबोध दृष्टान्त-पूर्ण धार्मिक प्रवचनों के द्वारा उनका अतिथि-सत्कार किया।

"पवित्र मनुष्य-जन्म पाकर और समर्थ इन्द्रियों से युक्त होकर जो असावधान मर्त्य प्रतिदिन शुभ कर्म नहीं करता है वह वञ्चित होता है ॥ १५ ॥

कुल रूप अवस्था बलकी अधिकता या धन-सम्पत्ति से कोई मनुष्य परलोक में सुख नहीं पाता, यदि वह दान शील आदि गुणों से संस्कृत नहीं है ॥ १६ ॥

कुल आदि से रहित होने पर भी जो पाप से विमुख होकर दान शील आदि गुणों का आचरण करने वाला है, परलोक में भी सुख उसका अवश्य अनुसरण करते हैं जैसे वर्षा ऋतु में नदी का जल समुद्र का पीछा करता है ॥ १७ ॥

इहलोक में भी कुल रूप अवस्था बलातिशय या धन-सम्पत्ति की शोभा गुणानुराग से हो होती है, सुवर्ण-हार तो समृद्धि का सूचक ही है ॥ १८ ॥

वृक्ष फूलों से अलङ्कृत होते हैं, जल-भार से लटकते हुए मेघ बिजली से सुशोभित होते हैं, सरोवर मत्त भ्रमरों से युक्त कमलों से शोभा पाते हैं, किन्तु प्राणी विशेष रूप से प्राप्त गुणों से ही शोभायमान होते हैं ॥ १९ ॥

आरोग्य आयु धन रूप और कुल के अनुसार मनुष्य के तीन भेद होते है, उत्तम मध्यम और निकृष्ट। उनके ये भेद आप ही आप या दूसरों के कारण नहीं होते, ये तो उनके अपने ही कर्म से होते हैं ॥ २० ॥

संसार की यह स्थिति निश्चित है तथा जीवन क्षण-भङ्गुर और विनाशोन्मुख है, यह जानकर, शुभ कर्मों के सहारे दुष्कर्मों को छोड़ो। यश और सुख का यही मार्ग है ॥ २१ ॥

चित्तगत दोष अपने और दूसरे के कल्याण को अग्नि के समान जलाता है। अतः पाप से डरने वाला आदमी विपक्षी गुण के सहारे इस दोष को प्रयत्नपूर्वक छोड़े ॥ २२ ॥

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि भी किनारे तक जल से भरी हुई महानदी में पहुँच कर शान्त हो जाती है उसी प्रकार मानसिक ताप उभयलोक के योग्य क्षमा का आश्रय लेने से शान्त हो जाता है ॥ २३ ॥

क्षमा के द्वारा पाप के हेतु को नष्ट करने से मनुष्य पाप से बचता है और मैत्री का आश्रय लेने के कारण वह शत्रुता उत्पन्न नही करता है। क्षमाशील मनुष्य प्रिय पूज्य और सुख का भागी होता है। और अन्त में पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग को जाता है, जैसे अपने घर को जा रहा हो ॥ २४ ॥

और भी, हे देवियो, यह क्षमा

शुभस्वभावातिशयः प्रसिद्धः पुण्येन कीर्त्या च परा विवृद्धिः ।
अतोयसंपर्ककृता विशुद्धिस्तैस्तैर्गुणौघैश्च परा समृद्धिः ॥ २५ ॥

परोपरोधेषु सदानभिज्ञा व्यवस्थितिः सत्त्ववतां मनोज्ञा ।
गुणाभिनिर्वर्तितचारुसंज्ञा क्षमेति लोकार्थकरी कृपाज्ञा ॥ २६ ॥

अलंक्रिया शक्तिसमन्वितानां तपोधनानां बलसंपदग्र्या ।
व्यापाददावानलवारिधारा प्रेत्येह च क्षान्तिरनर्थशान्तिः ॥ २७ ॥

क्षमामये वर्मणि सज्जनानां विकुण्ठिता दुर्जनवाक्यबाणाः ।
प्रायः प्रशंसाकुसुमत्वमेत्य तत्कीर्तिमालावयवा भवन्ति ॥ २८ ॥

हन्तीति या धर्मविपक्षमायां प्राहुः सुखां चैव विमोक्षमायाम् ।
तस्मान्न कुर्यात्क इव क्षमायां प्रयत्नमेकान्तहितक्षमायाम् ॥ २९ ॥

इति स महात्मा तासां धर्मातिथ्यं चकार ॥ अथ स राजा निद्राक्लमविनोदनात्प्रतिविबुद्धः सावशेषमदगुरुनयनो मदनानुवृत्त्या कुत्र देव्य इति शयनपालिकाः सभ्रूक्षेप पर्यपृच्छत् । एता देव वनान्तराण्युपशोभयमानास्तद्विभूतिं पश्यन्तीति चोपलभ्य शयनपालिकाभ्यः स राजा देवीजनस्य विस्रम्भनिर्यन्त्रणहासितकथितद्रवविचेष्टितदर्शनोत्सुकमतिरुत्थाय शयनाद्युवतिधृतच्छत्रव्यजनोत्तरीयखड्गः सकञ्चुकैर्वेत्रदण्डपाणिभिरन्तःपुरावचरैः कृतानुयात्रस्तद्वनमनुविचचार । स तत्र युवतिजनानैभृत्यविरचितां विविधकुसुमस्तवकपल्लवनिकरपद्धतिं ताम्बूलरसरागविचित्रामनुसरंस्तदाश्रमपदमभिजगाम । दृष्ट्वैव तु स राजा क्षान्तिवादिनं तमृषिवरं देवीजनपरिवृतं पूर्ववैरानुशयदोषान्मदपरिभ्रमितस्मृतित्वादीर्ष्यापराभूतमतित्वाच्च परं कोपमुपजगाम । प्रतिसंख्यानबलवैकल्याच्च भ्रष्टविनयोपचारसौष्ठवः संरम्भपाप्माभिभवादापतितस्वेदवैवर्ण्यवेपथुर्भ्रूभङ्गजिह्मविवृत्तस्थिराभिताम्रनयनो विरक्तकान्तिलावण्यशोभः प्रचलत्कनकवलयौ परिमृद्नन्साङ्गुलिविभूषणौ पाणी तमृषिवरमधिक्षिपंस्तत्तदुवाच । हंहो—

अस्मत्तेजः खलीकृत्य पश्यन्नन्तःपुराणि नः ।
मुनिवेषप्रतिच्छन्नः कोऽयं वैतसिकायते ॥ ३० ॥

तच्छ्रुत्वा वर्षवराः ससंभ्रमावेगा राजानमूचुः—देव मा मैवम् । चिरकालसंभृतव्रतनियमतपोभावितात्मा मुनिरयं क्षान्तिवादी नामेति । उपहताध्याशयत्वात्तु स राजा तत्तेषां वचनमप्रतिगृह्णन्नुवाच—कष्टं भोः !

अत्यन्त शुद्ध स्वभाव के रूप में प्रसिद्ध है, पुण्य और कीर्ति का परम विकास है, जल के सम्पर्क के विना उत्पन्न शुद्धि है, और गुणों से प्राप्त परम समृद्धि है ॥ २५ ॥

यह सात्त्विकों की सुन्दर स्थिरता है, जो दूसरों के पीड़ा पहुँचाने पर भी सदा उदासीन रहती है, गुण से इसका सुन्दर नाम हुआ है क्षमा। यह लोकोपकारिणी और दया से परिचित है ॥ २६ ॥

(क्षमा) बलवानों का आभूषण है, तपस्वियों का उत्तम बल है, द्वेषरूपी दावानल के लिए जल की धारा है, इहलोक और परलोक में उपद्रवों को शान्त करती है ॥ २७ ॥

सज्जनों के क्षमारूप कवच पर दुर्जनों के वचनरूप बाण कुण्ठित हो जाते हैं और प्रायः प्रशंसा के फूल बनकर उनकी कीर्तिमाला के अवयव हो जाते हैं ॥ २८ ॥

जो धर्म के शत्रु माया की हत्या करती है, जिसे मोक्ष-प्राप्ति का सुगम उपाय कहते हैं, उस अत्यन्त हितकारिणी क्षमा के लिए कौन प्रयत्नशील न होगा" ॥ २९ ॥

इस प्रकार उस महात्मा ने धर्मोपदेश के द्वारा उनका अतिथि-सत्कार किया। जब वह राजा निद्रा के द्वारा थकावट को दूर कर जागा तब मदिरा के बचे हुए मद से उसकी आँखें भारी थीं। कामवासना से प्रेरित होकर उसने भ्रूभङ्गपूर्वक शयन-पालिकाओं से पूछा—"रानियाँ कहाँ हैं?" "हे राजन्, वे दूसरे वनों को सुशोभित करती हुई उन वनों की शोभा देख रही हैं।" शयन-पालिकाओं से यह जानकर वह रानियों के अनियन्त्रित प्रेमपूर्ण हास्य-सम्भाषण और सरस चेष्टाएँ देखने के लिए उत्सुक होकर शय्या से उठ गया और छत्र चँवर उत्तरीय और तलवार धारण करती हुई युवतियों के साथ तथा हाथों में बेंत लिये हुए कञ्चुक-धारी अन्तः-पुर के सेवकों के आगे आगे उस वन में विचरण करने लगा। वह वहाँ उच्छृङ्खल युवतियों के द्वारा (तोड़े गये) विविध फूलों और पल्लवों से बने मार्ग का, जो पान के रस की लाली से चित्र-विचित्र था, अनुसरण करता हुआ उस आश्रम में पहुँच गया। रानियों से घिरे हुए उस उत्तम ऋषि क्षान्ति-वादी को देखते ही वह पूर्वशत्रुता, नशे से बेहोशी और ईर्ष्या से हतबुद्धि होने के कारण अत्यन्त क्रुद्ध हो गया। विवेक-बल के अभाव में वह विनय और आचार से च्युत हो गया। क्रोधरूप पाप से अभिभूत होने के कारण वह पसीने से लथपथ और विवर्ण होकर काँपने लगा। भ्रूभङ्ग के कारण उसकी लाल आँखें तिरछी होकर घूमने लगीं और फिर एकटक से देखने लगीं। उसकी कान्ति सुन्दरता और शोभा नष्ट हो गई, हिलते हुए सुवर्ण-कंकणवाले तथा अंगुठियों से युक्त हाथों को मलते हुए उसने उस उत्तम ऋषि को फटकारते हुए कहा—

"अहो, हमारे प्रभाव की उपेक्षा कर, हमारी स्त्रियों को देखता हुआ, मुनि के वेष में छिपा हुआ यह कौन व्याध का आचरण कर रहा है?" ॥ ३० ॥

यह सुनकर (अन्तःपुर के) हिजड़ों ने घबड़ाहट में आकर राजा से कहा—"देव, ऐसा न कहें। चिर काल से व्रत नियम और तप करते हुए इन्होंने अपने को पवित्र कर लिया है। ये क्षान्तिवादी नामक मुनि हैं।" किन्तु अपने दूषित आशय के कारण उनकी बात नहीं मानते हुए राजा ने कहा—"अहो!

चिरात्प्रभृति लोकोऽयमेवमेतेन वञ्च्यते ।
कुहनाजिह्मभावेन तापसाकुम्भसात्मना ॥ ३१ ॥

तदयमस्य तापसनेपथ्यावच्छादितं मायाशाठ्यसंभृतं कुहकस्वभावं प्रकाशयामीत्युक्त्वा प्रतिहारीहस्तादसिमादाय हन्तुमुत्पतितनिश्चयस्तमृषिवरं सपत्नवदभिजगाम । अथ ता देव्यः परिजननिवेदिताभ्यागमनमालोक्य राजानं क्रोधसंक्षिप्तसौम्यभावं वितानीभूतहृदयाः ससंभ्रमावेगचञ्चलनयनाः समुत्थायाभिवाद्य च तमृषिवरं समुद्यताञ्जलिकुड्मलाः शरन्नलिन्य इव समुद्गतैकपङ्कजाननमुकुला राजानमभिजग्मुः ।

तत्तासां समुदाचारलीलाविनयसौष्ठवम् ।
न तस्य शमयामास क्रोधाग्निज्वलितं मनः ॥ ३२ ॥

लब्धतरप्राणप्रसरास्तु ता देव्यः ससंरम्भविकारसमुदाचाररूक्षक्रमं सायुधमभिपतन्तं तमुदीक्ष्य राजानं तमृषिवरं प्रति विवर्तिताभिनिविष्टदृष्टिं समावृण्वत्य ऊचुः–देव मा मा खलु साहसं कार्षीः । क्षान्तिवादी भगवानयमिति । प्रदुष्टभावात्तु स राजा समावर्जितभावा नूनमनेनेमा इति सुष्ठुतरं कोपमुपेत्य स्फुटतरभ्रूभङ्गैरसूयासमावेशतीक्ष्णैस्तिर्यगवेक्षितैस्तत्तासां प्रणयप्रागल्भ्यमवमत्य सरोषमवेक्षमाणः स्त्रीजनाधिकृतांश्छिरःकम्पादाकम्पमानकुण्डलमुकुटविटपस्ता योषितोऽभिवीक्षमाण उवाच–

वदत्येव क्षमामेष न त्वेनां प्रतिपद्यते ।
तथा हि योषित्संपर्कतृष्णां न क्षान्तवानयम् ॥ ३३ ॥

वागन्यथान्यैव शरीरचेष्टा दुष्टाशय मानसमन्यथैव ।
तपोवने कोऽयमसंयतात्मा दम्भव्रताडम्बरधीरमास्ते ॥ ३४ ॥

अथ ता देव्यस्तस्मिन् राजनि क्रोधसंरम्भकर्कशहृदये प्रत्याहतप्रणयाः प्रजानानाश्च तस्य राज्ञश्चण्डतां दुरनुनेयतां च वैमनस्यदैन्याक्रान्तमनसः स्त्रीजनाधिकृतैर्भयविषादव्याकुलितैर्हस्तसंज्ञाभिरपसार्यमाणा व्रीडावनतवदनास्तमृषिवर्यं समनुशोचन्त्यस्ततोऽपचक्रमुः ।

अस्मन्निमित्तमपराधविवर्जितेऽपि
दान्ते तपस्विनि गुणप्रथितेऽप्यमुष्मिन् ।
को वेत्ति कामपि विवृत्य विकारलीलां
केनापि यास्यति पथा क्षितिपस्य रोषः ॥ ३५ ॥

क्षितीशवृत्तिं प्रतिलब्धकीर्तिं तनुं मुनेरस्य तपस्तनुं च ।
अमून्यनागांसि च नो मनांसि तुल्यं हि हन्यादपि नाम राजा ॥ ३६ ॥

चिरकाल से कुटिल कपटाचार के द्वारा अपने को श्रेष्ठ तापस प्रतिपादित करता हुआ यह इसी तरह लोगों को ठग रहा है ॥ ३१ ॥

अतः तापस के वेष से आच्छादित, माया और शठता से पोषित इसके वञ्चक स्वभाव को प्रकाशित करता हूँ।" यह कहकर प्रतिहारी के हाथ से तलवार लेकर, हत्या का निश्चय कर, वह उस उत्तम ऋषि पर शत्रु की तरह झपटा। परिजनों के द्वारा राजा का आगमन निवेदन किये जानेपर जब उन देवियों ने राजा को क्रोध से अशान्त देखा तब उनके हृदय विषाद से भर गये और आँखें घबड़ाहट से अस्थिर हो गईं। उन्होंने उठकर उस उत्तम ऋषि को प्रणाम किया। अपने मुखों के सामने अञ्जलिरूपी कलियों को रखे हुई वे शरद् ऋतु की कमलिनियों के समान मुकुलित कमलमुख हो राजा के पास गईं। उनके सुन्दर शिष्टाचार लीला और विनय से भी राजा का क्रोधाग्नि-प्रज्वलित चित्त शान्त न हो सका ॥ ३२ ॥

प्राण-सङ्कट से निकली हुई (या भय से मुक्त होती हुई) उन देवियों ने देखा कि राजा क्रोध से शिष्टाचार का अतिक्रमण कर, शस्त्र लेकर, उस उत्तम ऋषि की ओर अपनी घूमती हुई आँखें गड़ाये हुए, तेजी से जा रहा है। तब उसे घेरकर उन्होंने कहा—"देव यह साहस न करें। ये क्षान्तिवादी भगवान् हैं।" किन्तु अपने दुष्ट आशय के कारण राजा ने समझा कि इसने अवश्य ही इनके हृदय को अपनी ओर झुका लिया है, अतः और भी क्रुद्ध होकर भ्रूभङ्गों से, तथा क्रोध के कारण तीक्ष्ण तिरछे दृष्टिपातों से उनकी प्रार्थना को ठुकराकर, अन्तःपुर के अधिकारियों (हिजड़ों) को क्रोधपूर्वक देखते हुए, शिर के हिलने से हिलते हुए कुण्डल और मुकुट वाले राजा ने उन स्त्रियों की ओर देखते हुए कहा—

"यह क्षमा (सहनशीलता) का उपदेश करता है, किन्तु आचरण नहीं। तभी तो स्त्रियों के सम्पर्क की इच्छा को न सह सका ॥ ३३ ॥

इसकी वाणी अन्यथा है, शारीरिक चेष्टाएँ अन्यथा हैं और दुष्ट आशयवाला मन अन्यथा है। तपोवन में यह कौन असंयतात्मा व्रत का आडम्बर करता हुआ धैर्यपूर्वक बैठा है ?" ॥३४॥

जब क्रोध से कठोरहृदय राजा ने उनकी प्रार्थना को ठुकरा दिया तब, राजा बड़ा क्रोधी और अनुनय-विनय से बाहर है, यह जानकर उनके मन उदास और दुःखी हुए। उस समय विषाद से व्याकुल अन्तःपुर के अधिकारियों के द्वारा हाथ के संकेत से हटाई जाती हुई वे स्त्रियाँ लज्जा से अधोमुख हो उस उत्तम ऋषि के लिए शोक करती हुई वहाँ से हट गईं।

"यद्यपि यह तपस्वी निरपराध हैं, संयत और सद्गुणी हैं, तथापि, कौन जानता है, उनके प्रति राजा का मन कितना विकृत हो उठेगा और उसका क्रोध किस मार्ग से निकलेगा ? ॥३५॥

राजा राजोचित आचरण, अपनी कीर्ति, मुनि के (पार्थिव) शरीर और तपरूप शरीर और साथ ही हमारे मन की भी हिंसा कर सकता है।" ॥ ३६ ॥

इति तासु देवीष्वनुशोचितविनिःश्वसितमात्रपरायणास्वपयातासु स राजा तमृषिवरं संतर्जयन् रोषवशान्निष्कृष्य खड्गं स्वयमेव च्छेत्तुमुपचक्रमे। निर्विकारधीरमसंभ्रान्तस्वस्थचेष्टितं च तं महासत्त्वमासाद्यमानमप्यवेक्ष्य संरम्भितरमेनमुवाच—

दाण्डाजिनिकतानेन प्रकर्षं गमिता यथा।
उद्वहन् कपटाटोपं मुनिवन्मामपीक्षते॥ ३७॥

अथ बोधिसत्त्वः क्षान्तिपरिचयादविचलितधृतिस्तेनासत्कारप्रयोगेण तं राजानं रोषसंरम्भविरूपचेष्टितं भ्रष्टविनयोपचारश्रियं विस्मृतात्महिताहितपथमागतविस्मयः क्षणमभिवीक्ष्य करुणायमानः समनुनेष्यन्नियतमीशं किंचिदुवाच—

भाग्यापराधजनितोऽप्यपमानयोगः
संदृश्यते जगति तेन न मेऽत्र चिन्ता।
दुःखं तु मे यदुचिताभिगतेषु वृत्ति-
र्वाचापि न त्वयि मया क्रियते यथार्हम्॥ ३८॥

अपि च महाराज,

असत्प्रवृत्तान् पथि संनियोक्ष्यतां भवद्विधानां जगदर्थकारिणाम्।
न युक्तरूपं सहसा प्रवर्तितुं विमर्शमार्गोऽप्यनुगम्यतां यतः॥ ३९॥

अयुक्तवत्साध्वपि किंचिदीक्ष्यते प्रकाशतेऽसाध्वपि किंचिदन्यथा।
न कार्यतत्त्वं सहसैव लक्ष्यते विमर्शमप्राप्य विशेषहेतुभिः॥ ४०॥

विमृश्य कार्यं त्ववगम्य तत्त्वतः प्रपद्य धर्मेण न नीतिवर्त्मना।
महान्ति धर्मार्थसुखानि साधयञ्जनस्य तैरेव न हीयते नृपः॥ ४१॥

विनीय तस्मादतिचापलान्मतिं यशस्यमेवार्हसि कर्म सेवितुम्।
अभिप्रथन्ते ह्यभिलक्षितात्मनामदृष्टपूर्वाश्चरितेष्वतिक्रमाः॥ ४२॥

तपोवने त्वद्भुजवीर्यरक्षिते परेण यन्नाम कृतं न मर्षयेः।
हितक्रमोन्माथि यदार्यगर्हितं स्वयं महीनाथ कथं व्यवस्यसि॥ ४३॥

स्त्रियोऽभियाता यदि ते ममाश्रमं यदृच्छयान्तःपुररक्षिभिः सह।
व्यतिक्रमस्तत्र च नो भवेत्कियान् रुषा यदेवं गमितोऽसि विक्रियाम्॥४४॥

अथाप्ययं स्यादपराध एव मे क्षमा तु शोभेत तथापि ते नृप।
क्षमा हि शक्तस्य परं विभूषणं गुणानुरक्षानिपुणत्वसूचनात्॥ ४५॥

कपोललोलद्युतिनीलकुण्डले न मौलिरत्नद्युतयः पृथग्विधाः।
तथाभ्यलंकर्तुमलं नृपान्यथा क्षमेति नैनामवमन्तुमर्हसि॥ ४६॥

इस प्रकार शोक करती हुई और लम्बी साँसें लेती हुई जब वे स्त्रियाँ वहाँ से चली गईं तब वह राजा क्रोधवश तलवार खींचकर उसे डराते हुए स्वयं ही उसे काटने के लिए उद्यत हो गया। आक्रमण किया जाने पर भी उस महासत्त्व को निर्विकार धीर घबड़ाहट से रहित तथा स्वस्थ देखकर और भी क्रुद्ध होकर उनसे कहा—

"दाम्भिकता में यह इतना निपुण हो गया है कि यह ढोंगी मुझे भी ऐसे देख रहा है, जैसे मुनि हो" ॥ ३७ ॥

बोधिसत्त्व क्षमाशील थे, अतः वे इस अपमान से विचलित नहीं हुए। राजा क्रोधवश अनुचित चेष्टा कर रहा है, विनय और शिष्टाचार की शोभा से रहित है, अपने हित और अहित के मार्ग को भूल चुका है, यह जानकर वे विस्मित हुए, एक क्षणतक उसे देखकर, उस पर करुणा करते हुये, उसे समझाने के लिए इस प्रकार कुछ कहा—

"भाग्य के दोष से संसार में अपमानित होना पड़ता है, यह देखने में आता है, अतः मुझे इस अपमान की चिन्ता नहीं है; किन्तु मुझे यह दुःख है कि आये हुए व्यक्तियों का जो समुचित सत्कार किया जाता है मैं तुम्हारा वह वचन से भी नहीं कर पा रहा हूँ ॥ ३८ ॥

और भी, हे महाराज!

कुमार्ग-गामियों को सुमार्ग पर लगानेवाले आप-जैसे लोकोपकारियों के लिए हठात् कुछ कर बैठना उचित नहीं है। आप विचार-मार्ग का अनुसरण करें ॥ ३९ ॥

कुछ उचित भी अनुचित मालूम पड़ता है और कुछ अनुचित भी उचित मालूम पड़ता है। विविध दृष्टियों से विचार किये विना हठात् ही कर्तव्य की सत्यता का ज्ञान नहीं होता है ॥४०॥

विचारपूर्वक कर्तव्य को ठीक-ठीक जानकर, धर्म और नीतिपूर्वक उसका आचरण करनेवाला राजा अपनी प्रजा के लिए धर्म अर्थ और काम की साधना करता है और स्वयं भी उस त्रिवर्ग से वञ्चित नहीं होता है ॥ ४१ ॥

अतः बुद्धि को स्थिर कीजिये और उसी कर्म को कीजिये जिससे यश हो; क्योंकि महापुरुषों के कुकर्म शीघ्र ही चारों ओर फैल जाते हैं ॥ ४२ ॥

अपने भुज-बल से रक्षित तपोवन में दूसरे के जिस कुकर्म को आप नहीं सहेंगे उस कल्याण-विनाशक सज्जनों से निन्दित कर्म को, हे पृथ्वीपति, आप स्वयं क्यों करना चाहते हैं? ॥४३॥

यदि आपकी स्त्रियाँ अन्तःपुर के रक्षकों के साथ संयोग से मेरे आश्रम में आईं तो इसमें मेरा क्या अपराध है कि आप क्रोध से इतने विकृत हो गये? ॥ ४४ ॥

या यदि यह मेरा अपराध ही है, तथापि, हे राजन्, क्षमा ही आपको शोभा देगी। क्षमा शक्तिशाली का परम आभूषण है। यह सद्गुणों की रक्षा में निपुण होने की सूचना देती है ॥ ४५ ॥

कपोलों पर हिलती प्रभावाले नीले कुण्डल या नाना प्रकार के उज्ज्वल शिरोरत्न राजाओं को उतना सुशोभित नहीं कर सकते, जितना कि यह क्षमा। अतः आप इसकी उपेक्षा न करें ॥४६॥

त्यजाक्षमां नित्यमसंश्रयक्षमां क्षमामिवारक्षितुमर्हसि क्षमाम् ।
तपोघनेष्वभ्युदिता हि वृत्तयः क्षितीश्वराणां बहुमानपेशलाः ॥ ४७ ॥

इत्यनुनीयमानोऽपि स राजा तेन मुनिवरेणानार्जवोपहतमतिस्तमन्यथैवाभिशङ्कमानः पुनरुवाच—

न तापसच्छद्म बिभर्ति चेद्भवान्
स्थितोऽसि वा स्वे नियमव्रते यदि ।
क्षमोपदेशव्यपदेशसंगतं
किमर्थमस्मादभयं प्रयाचसे ॥ ४८ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—श्रूयतां महाराज, यदर्थोऽयं मम प्रयत्नः ।

अनागसं प्रव्रजितमवधीद् ब्राह्मण नृपः ।
इति ते मत्कृते मा भूद्यशो वाच्यविजर्जरम् ॥ ४९ ॥

मर्तव्यमिति भूतानामयं नैयमिको विधिः ।
इति मे न भयं तस्मात्स्व वृत्तं चानुपश्यतः ॥ ५० ॥

सुखोदर्कस्य धर्मस्य पीडा मा भूत्तथैव तु ।
क्षमामित्यवदं तुभ्यं श्रेयोभिगमनक्षमाम् ॥ ५१ ॥

गुणानामाकरत्वाच्च दोषाणां च निवारणात् ।
प्राभृतातिशयप्रीत्या कथयामि क्षमामहम् ॥ ५२ ॥

अथ स राजा सूनृतान्यपि तान्यनादृत्य तस्य मुनेर्वचनकुसुमानि सासूयं तमृषिवरमुवाच—द्रक्ष्याम इदानीं ते क्षान्त्यनुरागमित्युक्त्वा निवारणार्थमीषदभिप्रसारितमभ्युच्छ्रितप्रतनुदीर्घाङ्गुलिं तस्य मुनेर्दक्षिणं पाणिं निशितेनासिना कमलमिव नालदेशाद्व्ययोजयत् ।

छिन्नेऽग्रहस्तेऽपि तु तस्य नासीद्-
दुःखं तथा क्षान्तिदृढव्रतस्य ।
सुखोचितस्याप्रतिकारघोरं
छेत्तुर्यथागामि समीक्ष्य दुःखम् ॥ ५३ ॥

अथ बोधिसत्त्वः कष्टमतिक्रान्तोऽयं स्वहितमर्यादामपात्रीभूतोऽनुनयस्येति वैद्यप्रत्याख्यातमातुरमिवैनं समनुशोचंस्तूष्णींबभूव । अथैनं स राजा संतर्जयन् पुनरुवाच—

एवं चाच्छिद्यमानस्य नाशमेष्यति ते तनुः ।
मुञ्च दम्भव्रतं चेदं खलबुद्धिप्रलम्भनम् ॥ ५४ ॥

अक्षमा (क्रोध) को छोड़िये, जो कभी आश्रय देने के योग्य नहीं है। क्षमा की उसी प्रकार रक्षा कीजिये जिस प्रकार पृथ्वी की। क्योंकि तापसों के प्रति राजाओं के सम्मानपूर्ण सुन्दर व्यवहार अभ्युदयकारी होते हैं ॥ ४७ ॥

उन उत्तम मुनि के इतना अनुनय-विनय करने पर भी, कुटिलता से हतबुद्धि उस राजा ने उन्हें अन्यथा समझते हुये, पुनः कहा—

"यदि आप तापस का छद्म-वेष नहीं धारण करते हैं, अपने नियम-व्रत में स्थिर हैं तो क्षमा के उपदेश के बहाने क्यों आप मुझसे अभय माँग रहे हैं ?" ॥ ४८ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"हे महाराज ! सुनिये, मेरे इस प्रयास का क्या उद्देश्य है।

राजा ने निरपराध संन्यासी ब्राह्मण को हत्या की, इस प्रकार मेरे कारण आप का यश निन्दा से क्षीण न हो जाय ॥ ४९ ॥

सभी प्राणियों को मरना पड़ेगा, यह अटल नियम है, यह जानते हुये तथा अपने (निर्दोष) आचरण को देखते हुये मुझे मरने का डर नहीं है ॥ ५० ॥

आप के धर्म में बाधा न हो, धर्म जिसका परिणाम सुख है। मैंने आपको क्षमा का उपदेश दिया; क्योंकि यह कल्याण-प्राप्ति का साधन है ॥ ५१ ॥

यह सद्गुणों की खान है और दोषों को दूर रखती है, उत्तम उपहार देने की रुचि से मैं आपको क्षमा का उपदेश दे रहा हूँ।" ॥ ५२ ॥

तब राजा ने मुनि के सत्य और मधुर वचन का अनादर कर उन्हें क्रोधपूर्वक कहा—"अब तुम्हारे क्षमा-प्रेम को देखूँगा," यह कहकर, मुनि के पतली और लम्बी अंगुलियों वाले दाहिने हाथ को, जो रोकने के लिए कुछ फैला हुआ और उपर उठा हुआ था, तेज तलवार से काटकर अलग कर दिया, जैसे नाल से कमल को।

हाथ के अग्रभाग के काटे जाने पर भी क्षमा के उस दृढ़व्रती को उतना दुःख नहीं हुआ, जितना कि सुख के अभ्यस्त उस काटने वाले के भावी अप्रतिकार्य घोर दुःख को देखकर ॥५३॥

तब बोधिसत्त्व "अहो, इसने अपने हित की सीमा का अतिक्रमण किया है, यह अब अनुनय का पात्र नहीं रह गया है" यह सोचकर, वैद्य के द्वारा परित्यक्त रोगी के समान उसके लिए शोक करते हुए चुप हो गये। तब उसे डराते हुए राजा ने पुनः कहा—

"इस प्रकार काटा जाता हुआ तुम्हारा (सम्पूर्ण) शरीर नष्ट हो जायगा। तुम इस तपस्या के ढोंग को और दुष्टों की ठग-बुद्धि को छोड़ो ॥ ५४ ॥

बोधिसत्त्वस्त्वनुनयाक्षममेनं विदित्वायं च नामास्य निर्बन्ध इति नैनं किंचिदुवाच । अथ स राजा तस्य महात्मनो द्वितीयं पाणिसुभौ बाहू कर्णनासं चरणौ तथैव निचकर्त ।

पतति तु निशितेऽप्यसौ शरीरे न मुनिवरः स शुशोच नो चुकोप ।
परिविदितशरीरयन्त्रनिष्ठः परिचितया च जने क्षमानुवृत्त्या ॥ ५५ ॥

गात्रच्छेदेऽप्यक्षतक्षान्तिधीरं चित्तं तस्य प्रेक्षमाणस्य साधोः ।
नासीद् दुःखं प्रीतियोगान्नृपं तु भ्रष्टं धर्माद्वीक्ष्य संतापमाप ॥ ५६ ॥

प्रतिसंख्यानमहतां न तथा करुणात्मनाम् ।
बाधते दुःखमुत्पन्नं परानेव यथाश्रितम् ॥ ५७ ॥

घोरं तु तत्कर्म नृपः स कृत्वा सद्यो ज्वरेणानुगतोऽग्निनेव ।
विनिर्गतश्चोपवनान्तदेशाद् गां चावदीर्णां सहसा विवेश ॥ ५८ ॥

निमग्ने तु तस्मिन् राजनि भीमशब्दमवदीर्णायां वह्निज्वालाकुलायां समुद्भूते महति कोलाहले समन्ततः प्रक्षुभिते व्याकुले राजकुले तस्य राज्ञोऽमात्या जानानास्तस्य मुनेस्तपःप्रभावमाहात्म्यं तत्कृतं च राज्ञो धरणीतलनिमज्जनं मन्यमानाः पुरायमृषिवरस्तस्य राज्ञो दोषात्सर्वमिदं जनपदं निर्दहतीति जातभयाशङ्काः समभिगम्य तमृषिवरमभिप्रणम्य क्षमयमाणाः कृताञ्जलयो विज्ञापयामासुः—

इमामवस्थां गमितोऽसि येन नृपेण मोहादतिचापलेन ।
शापानलस्येन्धनतां स एव प्रयातु ते मा पुरमस्य धाक्षीः ॥ ५९ ॥

स्त्रीबालवृद्धातुरविप्रदीनाननागसो नार्हसि दग्धुमत्र ।
तत्साधु देशं क्षितिपस्य तस्य त्वं चैव धर्मं गुणपक्ष रक्ष ॥ ६० ॥

अथैतान् बोधिसत्त्वः समाश्वासयन्नुवाच—मा भैष्ट आयुष्मन्तः ।

सपाणिपादमसिना कर्णनासमनागसः ।
छिन्नवान् योऽपि तावन्मे वने निवसतः सतः ॥ ६१ ॥

कथं तस्यापि दुःखाय चिन्तयेदपि मद्विधः ।
चिरं जीवत्वसौ राजा मा चैनं पापमागमत् ॥ ६२ ॥

मरणव्याधिदुःखार्ते लोभद्वेषवशीकृते ।
दग्धे दुश्चरितैः शोच्ये कः कोपं कर्तुमर्हति ॥ ६३ ॥

स्याद्धभ्यरूपस्तु यदि क्रमोऽयं मय्येव पच्येत तदस्य पापम् ।
दुःखानुबन्धो हि सुखोचितानां भवत्यदीर्घोऽप्यविषह्यतीक्ष्णः ॥ ६४ ॥

"इसने यह हठ पकड़ लिया है, यह अनुनय-विनय से बाहर हो गया है", यह सोचकर बोधिसत्त्व ने उसे कुछ नहीं कहा। तब राजा ने उस महात्मा के दूसरे हाथ दोनों बाहुओं, नाक, कान और पैरों को काट डाला।

शरीर पर तीक्ष्ण तलवार का प्रहार होने पर भी वह उत्तम मुनि न शोकित हुए, न क्रुद्ध; क्योंकि वे जानते थे कि शरीररूपी यन्त्र का विनाश निश्चित है और क्योंकि वे सब प्राणियों के प्रति क्षमाशील थे ॥ ५५ ॥

शरीर के कटने पर भी उनकी क्षमा अक्षुण्ण रही, उस दृश्य को देखते हुए उस साधु का चित्त विचलित नहीं हुआ। सबके प्रति मैत्री-भाव होने के कारण उन्हें अपने लिये दुःख नहीं था, किन्तु राजा को धर्म से च्युत देखकर उन्हें सन्ताप हुआ ॥ ५६ ॥

शान्तचित्त दयालु महापुरुष अपने पर आये दुःख से उतना दुःखी नहीं होते, जितना कि दूसरों पर आये दुःख से ॥ ५७ ॥

उस घोर दुष्कर्म को करने पर वह राजा तुरत अग्नि के समान दाहक ज्वर से ग्रस्त हो गया और उस उपवन से निकलकर हठात् ही फटी हुई पृथ्वी के भीतर समा गया ॥ ५८ ॥

भयङ्कर शब्द के साथ फटी हुई तथा आग की लपटों से भरी हुई धरती के भीतर राजा के डूबने पर, चारों ओर महान् कोलाहल होने पर, राज-कुल के सभी लोगों के घबड़ाने पर, उस राजा के अमात्य उस मुनि की तपस्या के प्रभाव को जानते हुए, और उसी प्रभाव से राजा धरती के भीतर डूबा, यह मानते हुए, कहीं ये उत्तम ऋषि उस राजा के दोष से इस सम्पूर्ण देश को जला न डालें, इस भय और आशङ्का से उस श्रेष्ठ मुनि के पास पहुँचे। उन्हें प्रणाम कर उन अमात्यों ने हाथ जोड़कर मनाते हुए उनसे निवेदन किया—

"अज्ञान और अति चपलता के कारण जिस राजा ने आप को इस अवस्था में पहुँचा दिया है वही आपकी क्रोधाग्नि का इन्धन बने, आप उसके नगर को न जलावें ॥ ५९ ॥

आप निरपराध स्त्रियों बच्चों बूढ़ों रोगियों ब्राह्मणों और दुःखियों को न जलावें। हे सद्गुणों के पक्षपाती, आप उस राजा के देश और अपने धर्म की रक्षा करें" ॥ ६० ॥

तब बोधिसत्त्व ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—"हे आयुष्मन्, आप न डरें।

जिसने मुझ निरपराध वनवासी के हाथ-पैर-सहित नाक-कान को काटा, मेरे जैसा प्राणी उसके लिए भी अनिष्ट का चिन्तन भी क्यों करे? वह राजा चिरकाल तक जीवित रहे और उसे कोई पाप न लगे ॥ ६१–६२ ॥

मरण और व्याधि के दुःख से दुःखित, लोभ और द्वेष के वशीभूत, अपने दुष्कर्मों से दग्ध व्यक्ति तो दया का पात्र है। उसपर कौन क्रोध करेगा? ॥ ६३ ॥

यदि यह प्राप्य हो तो उसके पाप का परिणाम मुझे ही प्राप्त हो; क्योंकि जो सुख के अभ्यस्त हैं, उनके लिए अल्पकालीन दुःख भी तीक्ष्ण और असह्य होता है ॥ ६४ ॥

त्रातुं न शक्यस्तु मया यदेवं विनिर्दहन्नात्महितं स राजा ।
उत्सृज्य तामात्ममतामशक्तिं राज्ञे करिष्यामि किमित्यसूयाम् ॥ ६५ ॥

ऋतेऽपि राज्ञो मरणादिदुःखं जातेन सर्वेण निषेवितव्यम् ।
जन्मैव तेनात्र न मर्षणीयं तन्नास्ति चेत्किं च कुतश्च दुःखम् ॥ ६६ ॥

कल्पाननल्पान् बहुधा विनष्टं शरीरकं जन्मपरंपरासु ।
जह्यां कथं तत्प्रलये तितिक्षां तृणस्य हेतोरिव रत्नजातम् ॥ ६७ ॥

वने वसन् प्रव्रजितप्रतिज्ञः क्षमाभिधायी नचिरान्मरिष्यन् ।
किमक्षमायां प्रणयं करिष्ये तद्दृष्ट मा स्वस्ति च वोऽस्तु यात ॥ ६८ ॥

इति स मुनिवरोऽनुशिष्य तान् सममुपनीय च साधुशिष्यताम् ।
अविचलितधृतिः क्षमाश्रयात्समधिरुरोह दिवं क्षमाश्रयात् ॥ ६९ ॥

तदेवं सात्मीभूतक्षमाणां प्रतिसंख्यानमहत्तां नाविषह्यं नामास्तीति क्षान्तिगुणसंवर्णने मुनिमुपनीय वाच्यम् । चापलाक्षान्तिदोषनिदर्शने राजानमुपनीय कामादीनवकथायामपि वाच्यम्—एवं कामहेतोर्दुश्चरितमासेव्य विनिपातभागिनो भवन्तीति । संपदामनित्यतासंदर्शने चेति ॥

॥ इति क्षान्ति-जातकमष्टाविंशतितमम् ॥

---

२९. ब्रह्म-जातकम्

मिथ्यादृष्टिपरमाण्यवद्यानीति विशेषानुकम्प्याः सतां दृष्टिव्यसनगताः । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलायं भगवान् ध्यानाभ्यासोपचितस्य कुशलस्य कर्मणो विपाकप्रभावाद् ब्रह्मलोके जन्म प्रतिलेभे । तस्य तन्महदपि ध्यानविशेषाधिगतं ब्राह्मं सुखं पूर्वजन्मसु कारुण्यपरिचयान्नैव परहितकरणव्यापारनिरुत्सुकं मनश्चकार ।

विषयसुखेनापि परां प्रमादवक्तव्यतां व्रजति लोकः ।
ध्यानसुखैरपि तु सतां न तिरस्क्रियते परहितेच्छा ॥ १ ॥

अथ कदाचित्स महात्मा करुणाश्रयभूतं विविधदुःखव्यसनशतोपसृष्टमुत्क्लिष्टव्यापादविहिंसाकामधातुं कामधातुं व्यलोकयन् ददर्श विदेहराजमङ्गदिन्नं नाम

अपनी भलाई में आग लगानेवाले राजा को बचाने की शक्ति मुझ में नहीं है, तो अपनी इस अशक्ति को छोड़कर मैं राजा पर क्रोध क्यों करूँ ? ॥ ६५ ॥

राजा के बिना भी (यदि राजा नहीं मारे तो भी) सभी जन्म लेनेवालों को मरण आदि का दुःख सहना ही पड़ेगा। अतः जन्म ही असह्य होना चाहिए। यदि जन्म न हो तो दुःख क्या और कहाँ से होगा ? ॥ ६६ ॥

अनेक कल्पों तक असंख्य जन्मों में यह क्षुद्र शरीर नाना प्रकार से नष्ट हुआ, तब (आज) इसका नाश होने पर मैं क्षमा को क्यों छोड़ूँ, जैसे तृण के लिए रत्न-राशि को छोड़े ? ॥ ६७ ॥

प्रव्रज्या (संन्यास) की प्रतिज्ञा लेकर वन में रहता हुआ, क्षमा का उपदेश करता हुआ, मैं शीघ्र ही प्राण छोड़नेवाला हूँ। तब अक्षमा (क्रोध) को क्यों आश्रय दूँ ? अतः आप न डरें; आप का शुभ हो, आप जायँ" ॥ ६८ ॥

इस प्रकार वह उत्तम मुनि उन्हें उपदेश देकर और शिष्य बनाकर, क्षमाशीलता के कारण अविचल धैर्य के साथ पृथ्वी के निवास को छोड़कर स्वर्ग चला गया ॥ ६९ ॥

इस प्रकार जो क्षमाशील और शान्त हैं उनके लिए असह्य कुछ भी नहीं है। क्षमा का गुण वर्णन करने में मुनि का दृष्टान्त लेकर तथा अस्थिरता और अक्षमा (क्रोध) के दोष दिखलाने में राजा का उदाहरण लेकर यह कथा कहनी चाहिए। काम-भोगों के दुष्परिणाम दिखलाने में भी कहना चाहिए—'इस प्रकार कामभोगों के लिए दुष्कर्म करनेवाले पतन के भागी होते हैं।' सम्पत्ति की अनित्यता दिखलाने में भी यह कथा कहनी चाहिए।

क्षान्ति-जातक अट्ठाइसवाँ समाप्त

---

२९. ब्रह्म-जातक

मिथ्यादृष्टि के मत निन्दनीय हैं, अतः दृष्टिदोष के संकट में पड़े हुये लोग सज्जनों की विशेष अनुकम्पा के पात्र हैं। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

एकबार भगवान् बोधिसत्व ने ध्यान के अभ्यास से एकत्रित कुशल कर्मों के परिणामस्वरूप ब्रह्मलोक में जन्म पाया। ध्यानविशेष के द्वारा प्राप्त उनके उस महान् ब्रह्म-सुख ने भी पूर्वजन्मों में करुणा के अभ्यास के कारण परोपकार की ओर से उनके मन को विमुख नहीं किया।

विषय-सेवन से होने वाले सुख को पाकर भी लोग असावधान होकर निन्दित होते हैं, किन्तु ध्यान के अभ्यास से होने वाले सुख को पाकर भी सज्जनों की परोपकार की इच्छा तिरोहित (नष्ट) नहीं होती है ॥ १ ॥

एकबार उस महात्मा ने विविध दुःखों और सैकड़ों विपत्तियों से युक्त तथा द्वेष हिंसा और कामवासनाओं के क्लेशों से पूर्ण, दया के योग्य, दस लोकों का[1] अवलोकन करते हुये, अङ्गदिन्न

कुमित्रसंपर्कदोषादसन्मनस्कारपरिचयाच्च मिथ्यादृष्टिगहने परिभ्रमन्तम् । नास्ति परलोक, कुतः शुभाशुभानां कर्मणां विपाक इत्येवं स निश्चयमुपेत्य प्रशान्तधर्मक्रियौत्सुक्यः प्रदानशीलादिसुकृतप्रतिपत्तिविमुखः संरूढपरिभवबुद्धिर्धार्मिकेष्वश्रद्धारूक्षमतिर्धर्मशास्त्रेषु परिहासचित्तः परलोककथासु शिथिलविनयोपचारगौरवबहुमानः श्रमणब्राह्मणेषु कामसुखपरायणो बभूव ।

शुभाशुभं कर्म सुखासुखोदयं ध्रुवं परत्रेति विरूढनिश्चयः ।
अपास्य पापं यतते शुभाश्रयो यथेष्टमश्रद्धतया तु गम्यते ।। २ ।।

अथ स महात्मा देवर्षिस्तस्य राज्ञस्तेन दृष्टिव्यसनोपनिपातेनापायिकेन लोकानर्थाकरभूतेन समावर्जितानुकम्पस्तस्य राज्ञो विषयसुखाकलितमतेः श्रीमति प्रविविक्ते विमानदेशेऽवतिष्ठमानस्याभिज्वलन् ब्रह्मलोकात्पुरस्तात्समवततार ।

अथ स राजा तमग्निस्कन्धमिव ज्वलन्तं विद्युत्समूहमिव चावभासमानं दिनकरकिरणसंघातमिव च परया दीप्त्या विरोचमानमभिवीक्ष्य तत्तेजसाभिभूतमतिः ससंभ्रमः प्राञ्जलिरेनं प्रत्युत्थाय सबहुमानमुदीक्षमाण इत्युवाच—

करोति ते भूरिव संपरिग्रहं नभोऽपि पद्मोपमपाद पादयोः ।
विभासि सौरीमिव चोद्वहन् प्रभां विलोचनानन्दनरूप को भवान् ।। ३ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—

जित्वा दृप्तौ शात्रवमुख्याविव संख्ये
रागद्वेषौ चित्तसमादानबलेन ।
ब्राह्मं लोकं येऽभिगता भूमिप तेषां
देवर्षीणामन्यतमं मां त्वमवेहि ॥ ४ ॥

इत्युक्ते स राजा स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरं पाद्यार्घ्यसत्कारमस्मै समुपहृत्य सविस्मयमेनमभिवीक्षमाण उवाच—आश्चर्यरूपः खलु ते महर्षे ऋद्धिप्रभावः।

प्रासादभित्तिष्वविषज्यमानश्चंक्रम्यसे व्योम्नि यथैव भूमौ ।
शतह्रदोन्मेषसमृद्धदीप्ते प्रचक्ष्व तत्केन तवेयमृद्धिः ।। ५ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

ध्यानस्य शीलस्य च निर्मलस्य वरस्य चैवेन्द्रियसंवरस्य ।
सात्मीकृतस्यान्यभवेषु राजन्नेवंप्रकारा फलसिद्धिरेषा ॥ ६ ॥

नामक विदेह राज को देखा, जो कुमित्रों के सङ्गदोष से तथा बुरे विचारों के अभ्यास से मिथ्या दृष्टि के गहन वन में भटक रहा था। 'परलोक नहीं है, शुभाशुभ कर्मों का परिणाम कहाँ से होगा?' इस निश्चय पर पहुँचकर, धार्मिक क्रियाओं में उसकी रुचि शांत हो गई थी; दान और सदाचार आदि सत्कर्मों से वह विमुख हो गया था। धार्मिकों के प्रति उसके मन में अपमान का भाव उत्पन्न हो गया था, धर्मशास्त्रों के प्रति अश्रद्धा के कारण उसके विचार रूखे हो गये थे, परलोक की बातों से उसके मन में हँसी आती थी, साधुओं और ब्राह्मणों के प्रति उसका विनय और सम्मान शिथिल हो गया था। वह भोग के सुखों में आसक्त हो गया था।

शुभ अशुभ कर्म अवश्य ही (मरने के बाद) परलोक में सुख-दुःख देता है, यह विश्वास जिसको हो जाता है वह अशुभ को छोड़कर शुभ का आश्रय लेता है और उसके लिए यत्न करता है। किन्तु विश्वास के अभाव में मनुष्य जहाँ जाना चाहता है वहाँ जाता है ॥ २ ॥

उस राजा की मिथ्यादृष्टि में आसक्ति से, जो दुर्गति देनेवाली तथा लोगों के लिए अनर्थकारी है, उस महात्मा देवर्षि के हृदय में करुणा उमड़ पड़ी। एकबार जब वह राजा विषय सुखों में आसक्तचित्त होकर अपने सुन्दर एकान्त कुञ्ज में बैठा हुआ था तब वह देवर्षि उसके सामने ब्रह्मलोक से प्रज्वलित होते हुए नीचे उतरे।

तब उस राजा ने अग्निपुञ्ज के समान प्रज्वलित, विद्युत्समूह के समान भासित, सूर्य की किरण-राशि के समान अत्यन्त दीप्त उन्हें देखकर, उनके तेज से अभिभूत होकर, घबड़ाहट के साथ हाथ जोड़कर, उनकी अगवानी में उठकर, सम्मान के साथ उनकी ओर देखते हुए कहा—

"हे कमलों के समान पैरोंवाले, आकाश भी पृथ्वी के समान आप के पैरों को धारण कर रहा है। सूर्य की-सी प्रभा को धारण करते हुये आप चमक रहे हैं। हे आँखों को आनन्द देने वाले, आप कौन हैं?" ॥ ३ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—

"युद्ध के दो अभिमानी प्रधान शत्रुओं के सदृश राग और द्वेष को आत्मसंयम की शक्ति से जीतकर जो व्यक्ति ब्रह्मलोक जाते हैं, हे राजन्! आप मुझे उन्हीं देवर्षियों में से एक जानें" ॥ ४ ॥

इतना कहे जानेपर उस राजा ने स्वागत में प्रिय वचन बोलते हुए, उन्हें पैर धोने के लिए जल और अर्घ्य देकर, विस्मय के साथ उनकी ओर देखते हुए कहा—"हे महर्षि! आपकी दिव्य शक्ति का प्रभाव आश्चर्यजनक है।

प्रासाद की दीवारों से अलग रहते हुए आप आकाश में ऐसे चलते हैं जैसे पृथ्वी पर। हे बिजली की चमक के समान उज्ज्वल दीप्ति वाले! बतलाइए कि आपने यह दिव्य-शक्ति कैसे पाई?" ॥ ५ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—

"हे राजन्! पूर्व जन्मों में अभ्यस्त ध्यान, निर्मल सदाचरण और उत्तम इन्द्रियसंयम के फलस्वरूप यह दिव्यशक्ति प्राप्त हुई है" ॥ ६ ॥

राजोवाच–किं सत्यमेवेदमस्ति परलोक इति ? ब्रह्मोवाच–बाढम् । अस्ति महाराज परलोकः । राजोवाच–कथं पुनरिदं मार्ष शक्यमस्माभिरपि श्रद्धातुं स्यात् ? बोधिसत्त्व उवाच–स्थूलमेतन्महाराज प्रत्यक्षादिप्रमाणयुक्तिग्राह्यमाप्तजननिदर्शितक्रमं परीक्षाक्रमगम्यं च । पश्यतु भवान् ।

चन्द्रार्कनक्षत्रविभूषणा द्यौस्तिर्यग्विकल्पाश्च बहुप्रकाराः ।
प्रत्यक्षरूपः परलोक एष मा तेऽत्र संदेहजडा मतिर्भूत् ॥ ७ ॥

जातिस्मराः सन्ति च तत्र तत्र ध्यानाभियोगात्स्मृतिपाटवाच्च ।
अतोऽपि लोकः परतोऽनुमेयः साक्ष्यं च नन्वत्र कृतं मयैव ॥ ८ ॥

यद्बुद्धिपूर्वैव च बुद्धिसिद्धिर्लोकः परोऽस्तीति ततोऽप्यवेहि ।
आद्या हि या गर्भगतस्य बुद्धिः सानन्तरं पूर्वकजन्मबुद्धेः ॥ ९ ॥

ज्ञेयावबोधं च वदन्ति बुद्धिं जन्मादिबुद्धेर्विषयोऽस्ति तस्मात् ।
न चैहिकोऽसौ नयनाद्यभावात्सिद्धौ यदीयस्तु परः स लोकः ॥ १० ॥

पित्र्यं स्वभावं व्यतिरिच्य दृष्टः शीलादिभेदश्च यतः प्रजानाम् ।
नाकस्मिकस्यास्ति च यत्प्रसिद्धिर्जात्यन्तराभ्याससमयः स तस्मात् ॥ ११ ॥

पटुत्वहीनेऽपि मतिप्रभावे जडप्रकारेष्वपि चेन्द्रियेषु ।
विनोपदेशात्प्रतिपद्यते यत्प्रसूतमात्रः स्तनपानयत्नम् ॥ १२ ॥

आहारयोग्यासु कृतश्रमत्वं तद्दर्शयत्यस्य भवान्तरेषु ।
अभ्याससिद्धिर्हि पटूकरोति शिक्षागणं कर्मसु तेषु तेषु ॥ १३ ॥

तत्र चेत्परलोकसंप्रत्ययापरिचयात्स्यादियमाशङ्का भवतः—

यत्संकुचन्ति विकसन्ति च पङ्कजानि
कामं तदन्यभवचेष्टितसिद्धिरेषा ।
नो चेत्तदिष्टमथ किं स्तनपानयत्न
जात्यन्तरीयकपरिश्रमजं करोषि ॥ १४ ॥

सा चाशङ्का नानुविधेया नियमानियमदर्शनात्प्रयत्नानुपपत्त्युपपत्तिभ्यां च ।

दृष्टो हि कालनियमः कमलप्रबोधे
संमीलने च न पुनः स्तनपानयत्ने ।
यत्नश्च नास्ति कमले स्तनपे तु दृष्टः
सूर्यप्रभाव इति पद्मविकासहेतुः ॥ १५ ॥

राजा ने पूछा—'परलोक है', क्या यह बात सत्य है ? ब्रह्म (ब्रह्मलोकवासी) ने कहा—"हे महाराज ! हाँ परलोक है।" राजा ने कहा—"हम इसपर कैसे विश्वास करें ?" बोधिसत्त्व ने कहा—"हे महाराज ! यह तो मोटी बात है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों और तर्कों के द्वारा यह बोधगम्य है, विश्वसनीय व्यक्तियों ने उदाहरण देकर इसे सिद्ध किया है, तथा परीक्षा की पद्धति से भी इसे जान सकते हैं। आप देखें—

आकाश सूर्य चन्द्रमा और ताराओं से अलङ्कृत है तथा पशु-पक्षियों की विविध जातियाँ हैं, यह परलोक का प्रत्यक्ष रूप है। इस विषय में आपके मन में संदेह नहीं होना चाहिए ॥७॥

ध्यान-योग तथा तीक्ष्ण स्मृति के कारण बहुतों को पूर्व-जन्मों की स्मृति है। इससे भी परलोक का अनुमान करना चाहिए। मैंने भी तो इस विषय में साक्ष्य दिया ही है ॥ ८ ॥

पूर्व बुद्धि से ही बुद्धि का विकास होता है। इससे भी आप जानें कि परलोक है। गर्भस्थ शिशु की जो आद्य बुद्धि है वह भी पूर्व-जन्म की बुद्धि से क्रम-बद्ध है ॥ ९ ॥

ज्ञेय (ज्ञान के विषय) को समझने की शक्ति को बुद्धि कहते हैं। गर्भस्थ शिशु की बुद्धि के प्रयोग का कोई विषय होना चाहिए। किन्तु, इस संसार में उस अवस्था में नेत्र-आदि इन्द्रियों के अभाव में वह विषय उपलब्ध नहीं है। तब सिद्ध होता है कि वह विषय परलोक में है ॥ १० ॥

पिता के स्वभाव के विपरीत सन्तानों के आचरण आदि में भेद पाया जाता है। वह भेद आकस्मिक (अकारण) नहीं हो सकता है। अतः कहना ही पड़ेगा कि वह जन्मान्तरों के अभ्यास से होता है ॥ ११ ॥

मानसिक शक्ति के असमर्थ होनेपर भी और इन्द्रियों के निश्चेष्ट होनेपर भी, सद्यः जात शिशु सोया हुआ ही, बिना किसी शिक्षा के, स्तनपान का जो यत्न करता है वह बतलाता है कि उसने जन्मान्तरों में आहार ग्रहण करने की योग्य विधियों का अभ्यास किया है, क्योंकि अभ्यास से होनेवाली सिद्धि विविध कार्यों के करने के ज्ञान को तीव्र कर देती है ॥१२–१३॥

परलोक पर विश्वास नहीं होने के कारण यदि यहाँ आपको यह आशङ्का हो—

'कमल जो खिलते और बन्द होते हैं, अवश्य ही वह दूसरे जन्मों की चेष्टा का परिणाम है, यदि यह आपको मान्य नहीं है तो स्तनपान के यत्न को दूसरे जन्मों के अभ्यास का परिणाम क्यों बतलाते हैं ?' ॥ १४ ॥

यह आशङ्का नहीं होनी चाहिए; क्योंकि एक में काल का नियम देखते हैं, किन्तु दूसरे में यह नियम नहीं देखते हैं। एक में प्रयत्न नहीं होता है, किन्तु दूसरे में प्रयत्न होता है।

कमल के खिलने और बन्द होने में समय का नियम देखते हैं (वह समय पर खिलता और बन्द होता है), किन्तु स्तनपान में यह नियम नहीं है। कमल (के खिलने और बन्द होने) में यत्न नहीं हैं, किन्तु स्तन पीनेवाले में यत्न है। कमल के खिलने का कारण तो सूर्य का प्रभाव है ॥ १५ ॥

तदेवं महाराज सम्यगुपपरीक्षमाणेन शक्यमेतच्छ्रद्धातुम्—अस्ति परलोक इति। अथ स राजा मिथ्यादृष्टिपरिग्रहाभिनिविष्टबुद्धित्वादुपचितपापत्वाच्च तां परलोककथां श्रुत्वा असुखायमान उवाच—भो महर्षे,

लोकः परो यदि न बालविभीषिकैषा
ग्राह्यं मयैतदिति वा यदि मन्यसे त्वम्।
तेनेह नः प्रदिश निष्कशतानि पञ्च
तत्ते सहस्रमहमन्यभवे प्रदास्ये॥ १६॥

अथ बोधिसत्त्वस्तदस्य प्रागल्भ्यपरिचयनिर्विशङ्कं मिथ्यादृष्टिविषोद्गारभूतमसमुदाचारवचनं युक्तेनैव क्रमेण प्रत्युवाच—

इहापि तावद्धनसंपदर्थिनः प्रयुञ्जते नैव धनं दुरात्मनि।
न घस्मरे नानिपुणे न चालसे गतं हि यत्तत्र तदन्तमेति तत्॥ १७॥

यमेव पश्यन्ति तु सव्यपत्रपं शमाभिजातं व्यवहारनैपुणम्।
ऋणं प्रयच्छन्ति रहोऽपि तद्विधे तदर्पणं ह्यभ्युदयावहं धनम्॥ १८॥

क्रमश्च तावद्विध एव गम्यतामृणप्रयोगे नृप पारलौकिके।
त्वयि त्वसद्दर्शनदुष्टचेष्टिते धनप्रयोगस्य गतिर्न विद्यते॥ १९॥

कुदृष्टिदोषप्रभवैर्हि दारुणैर्निपातितं त्वां नरके स्वकर्मभिः।
विचेतसं निष्कसहस्रकारणात्कुजातुरं कः प्रतिचोदयेत्ततः॥ २०॥

न तत्र चन्द्रार्ककरैर्दिगङ्गना विभान्ति संक्षिप्ततमोऽवगुण्ठनाः।
न चैव तारागणभूषणं नभः सरः प्रबुद्धैः कुमुदैरिवेक्ष्यते॥ २१॥

परत्र यस्मिन्निवसन्ति नास्तिका घनं तमस्तत्र हिमश्च मारुतः।
करोति योऽस्थीन्यपि दारयन् रुजं तमात्मवान् कः प्रविशेद्धनेप्सया॥२२॥

घनान्धकारे पटुधूमदुर्दिने भ्रमन्ति केचिन्नरकोदरे चिरम्।
स्ववध्रचीरप्रविकर्षणातुराः परस्परप्रस्खलनार्तनादिनः॥ २३॥

विशीर्यमाणैश्चरणैर्मुहुर्मुहुर्ज्वलत्कुकूले नरके तथापरे।
दिशः प्रधावन्ति तदुन्मुमुक्षया न चान्तमायान्त्यशुभस्य नायुषः॥ २४॥

आतक्ष्य तक्षाण इवापरेषां गात्राणि रौद्रा विनियम्य याम्याः।
निस्तक्ष्णुवन्त्येव शिताग्रशस्त्राः सार्द्रेषु दारुष्विव लब्धहर्षाः॥ २५॥

इसलिए, हे महाराज ! सम्यक् परीक्षा के द्वारा आप विश्वास कर सकते हैं कि परलोक है।" किन्तु उस राजा ने मिथ्या दृष्टि के दुराग्रह तथा अपने एकत्रित पापों के कारण असुख अनुभव करते हुए कहा—

"यदि परलोक बच्चों को (मूर्खों को) डराने के लिए नहीं है, या यदि आप समझते हैं कि मेरे लिए यह स्वीकार करने योग्य है तो आप यहाँ मुझे पाँच सौ स्वर्ण-मुद्राएँ दीजिए और मैं दूसरे जन्म में आपको इसके लिए एक हजार दूंगा" ॥ १६ ॥

तब बोधिसत्व ने प्रगल्भता के कारण निस्संकोच भाव से कहे गये उसके अनुचित वचन का, जो मिथ्यादृष्टि के विष-वमन के समान था, उचित रीति से उत्तर दिया—

"इहलोक में भी धनवृद्धि की इच्छा रखने वाले लोग बदमाश को, या पेटू को, या अकुशल को, या आलसी को धन नहीं देते हैं; क्योंकि उसको दिया गया धन उसका विनाश करता है ॥ १७ ॥

किन्तु जिसको सलज्ज शांत व्यवहार-कुशल देखते हैं, वैसे व्यक्ति को एकान्त में भी ऋण देते हैं, क्योंकि उसको दिया गया धन अभ्युदय करने वाला होता है ॥ १८ ॥

हे राजन्, आपको विदित हो कि पारलौकिक ऋण की भी वही विधि है। मिथ्यादृष्टि के कारण आपका आचरण अच्छा नहीं है, अतः आपको धन देना उचित नहीं है ॥ १९ ॥

मिथ्यादृष्टि के दोष से किए जाने वाले अपने क्रूर कर्मों के द्वारा आप नरक में गिराये जायँगे। वहाँ पीड़ा से विह्वल बेहोश पड़े हुए आपको कौन एक हजार अशर्फियों के लिए तंग करेगा ? ॥ २० ॥

वहाँ न अन्धकार रूपी घूँघट से व्याप्त दिशारूपी वधुएँ सूर्य और चन्द्रमा की किरणों से प्रकाशित होती हैं, और न खिले हुए कुमुदों से विभूषित सरोवर के समान तारामों से विभूषित आकाश ही दिखाई पड़ता है ॥ २१ ॥

मृत्यु के बाद जहाँ नास्तिक निवास करते हैं, जहाँ घना अंधकार है, और जहाँ बर्फीली हवा हड्डियों को भी भेदती हुई पीड़ा पहुँचाती है, उस नरक में कौन स्वस्थात्मा मनुष्य धन के लोभ से प्रवेश करेगा ? ॥ २२ ॥

कुछ लोग घने अंधकार से व्याप्त तथा सघन धूम से दुर्दिन का दृश्य उपस्थित करनेवाले नरक के भीतर चिरकाल तक भटकते हैं। वे चमड़े की रस्सी और चिथड़े खींचने में व्याकुल रहते हैं तथा एक दूसरे पर गिरने से आर्तनाद करते हैं ॥ २३ ॥

दूसरे लोग ज्वलत्कुकूल (जलती भूसीवाले) नरक में घायल होते पैरों से मुक्ति की इच्छा से चारों ओर दौड़ते हैं, किन्तु न तो उनके पाप का अन्त होता है और न आयु का ही ॥ २४ ॥

भयङ्कर यमदूत दूसरे लोगों के शरीर बाँधकर बढ़ई के समान तराशते हैं। तेज शस्त्रों से उन्हें तराशते हुए वे वैसे ही आनन्दित होते हैं, जैसे गीली (कच्ची) लकड़ियों पर काम करते हुए ॥ २५ ॥

समुत्कृत्तसर्वत्वचो वेदनार्ता विमांसीकृताः केचिदप्यस्थिशेषाः ।
न चायान्ति नाशं धृता दुष्कृतैः स्वैस्तथा चापरे खण्डशश्छिद्यमानाः ॥२६॥

ज्वलितपृथुखलीनपूर्णवक्त्राः स्थिरदहनासु महीष्वयोमयीषु ।
ज्वलनकपिलयोक्त्रतोत्रवश्याश्चिरमपरे ज्वलतो रथान् वहन्ति ॥ २७ ॥

संघातपर्वतसमागमपिष्टदेहाः
केचित्तदाक्रमणचूर्णितमूर्तयोऽपि ।
दुःखे महत्यविकलेऽपि च नो म्रियन्ते
यावत्परिक्षयमुपैति न कर्म पापम् ॥ २८ ॥

द्रोणीषु केचिज्ज्वलनोज्ज्वलासु लौहैर्महद्भिर्मुसलैर्ज्वलद्भिः ।
समानि पञ्चापि समाशतानि संचूर्ण्यमाना विसृजन्ति नासून् ॥ २९ ॥

तीक्ष्णायसज्वलितकण्टककर्कशेषु तप्तेषु विद्रुमनिभेष्वपरे द्रुमेषु ।
पाट्यन्त ऊर्ध्वमध एव च कृष्यमाणाः क्रूरै रवैरपुरुषैः पुरुषैर्यमस्य ॥ ३० ॥

ज्वलितेषु तप्ततपनीयनिभेष्वङ्गारराशिषु महत्स्वपरे ।
उपभुञ्जते स्वचरितस्य फलं विस्पन्दितारसितमात्रबलाः ॥ ३१ ॥

केचित्तीक्ष्णैः शङ्कुशतैराततजिह्वा
ज्वालामालादीप्ततरायां वसुधायाम् ।
रारट्यन्ते तीव्ररुजाविष्टशरीराः
प्रत्याय्यन्ते ते च तदानीं परलोकम् ॥ ३२ ॥

आवेष्ट्यन्ते लोहपट्टैर्ज्वलद्भिर्निष्क्वाथ्यन्ते लोहकुम्भीष्वथान्ये ।
केचित्तीक्ष्णैः शस्त्रवर्षैः क्षताङ्गा निस्त्वङ्मांसा व्यालसंघैः क्रियन्ते ॥ ३३ ॥

केचित्क्लान्ता वह्निसंस्पर्शतीक्ष्णं क्षारं तोयं वैतरण्यां विशन्ति ।
संशीर्यन्ते यत्र मांसानि तेषां नो तु प्राणा दुष्कृतैर्धार्यमाणाः ॥ ३४ ॥

अशुचिकुणपमभ्युपेयिवांसो ह्रदमिव दाहपरिश्रमार्तचित्ताः ।
अतुलमनुभवन्ति तत्र दुःखं क्रिमिशतजर्जरितास्थिभिः शरीरैः ॥ ३५ ॥

ज्वलनपरिगता ज्वलच्छरीराश्चिरमपरेऽनुभवन्ति दाहदुःखम् ।
ज्वलनपरिगतायसप्रकाशाः स्वकृतधृता न च भस्मसाद्भवन्ति ॥ ३६ ॥

पाट्यन्ते क्रकचैर्ज्वलद्भिरपरे केचिन्निशातैः क्षुरैः
केचिन्मुद्गरवेगपिष्टशिरसः कूजन्ति शोकातुराः ।

कुछ लोगों की सारी चमड़ियाँ काट दी जाती हैं, वे पीड़ा से विह्वल हो जाते हैं, वे मांसरहित कर दिए जाते हैं, उनकी हड्डियां ही शेष रहती हैं, तो भी वे तथा खण्ड-खण्ड काटे जाते हुए दूसरे लोग नष्ट नहीं होते हैं, किन्तु अपने दुष्कर्मों से जीवित रहते हैं ॥ २६॥

दूसरों के मुख जलती हुई चौड़ी लगामों से भरे रहते हैं और वे निरन्तर तपती हुई लोहे की भूमि पर चिरकाल तक प्रज्वलित रथों को ढोते हैं। अग्नि के समान भूरी रस्सियां और चाबुकों से वे वश में रहते हैं ॥ २७ ॥

संघात पर्वत के सम्पर्क से कुछ लोग पिस जाते हैं और उसके आक्रमण से चूर चूर हो जाते हैं; किन्तु उस घोर अखण्ड कष्ट में भी वे तबतक नहीं मरते हैं, जबतक उनके पापकर्म का नाश नहीं होता है ॥ २८ ॥

कुछ लोग अग्नि प्रज्वलित ऊखलों में लोहे के बड़े बड़े जलते मूसलों से लगातार पाँच सौ वर्षों तक कूटे जानेपर भी प्राण नहीं छोड़ते हैं ॥ २९ ॥

दूसरे लोग लोहे के जलते हुए तीक्ष्ण काँटों से कठोर तथा मूँगों के समान तपे हुए वृक्षों पर यमदूतों के द्वारा कठोर शब्दों के साथ ऊपर-नीचे खींचे जाते हुए फाड़े जाते हैं ॥ ३० ॥

तपे हुए सोने के समान प्रज्वलित अंगार के बड़े-बड़े ढेरों पर पड़े हुए दूसरे लोग अपने कर्म का फल भोगते हैं। उस समय स्वरकम्प के साथ (करुण) क्रन्दन ही उनका सहारा होता है ॥ ३१ ॥

सैकड़ों तेज बर्छियों के गड़ने से कुछ लोगों के शरीरों में भारी पीड़ा होती है। वे अग्नि-ज्वालाओं से प्रदीप्त धरती पर जिह्वाएँ लटकाये हुए जोर जोर से चिल्लाते हैं। उस समय उन्हें परलोक पर विश्वास करना पड़ता है ॥ ३२ ॥

कुछ लोग लोहे (या ताम्बे) की जलती चादरों में लपेटे जाते हैं। दूसरे लोग लोहे के कड़ाहों में उबाले जाते हैं। कुछ लोगों के अङ्ग तीक्ष्ण शस्त्रों की वर्षा से क्षत-विक्षत हो जाते हैं और वे हिंसक प्राणियों के द्वारा त्वचा और मांस से रहित कर दिये जाते हैं ॥ ३३ ॥

परिश्रम से थके हुए कुछ लोग वैतरणी के खारे जल में, जिसका स्पर्श अग्नि के समान तीक्ष्ण होता है, प्रवेश करते हैं। वहाँ उनके मांस तो गल जाते हैं, किन्तु दुष्कर्मों से धारण किये जाते हुए प्राण नहीं निकलते हैं ॥ ३४ ॥

जलन की थकावट से अभिभूत हो कुछ लोग सरोवर के समान अशुचि कुणप नामक (मुर्दों के) नरक में पहुँचकर असीम दुःख अनुभव करते हैं। वहाँ उनके शरीर की हड्डियाँ सैकड़ों कृमियों से जर्जर हो जाती हैं ॥ ३५ ॥

अग्नि से घिरे हुए दूसरे लोग जलते शरीर से चिरकालतक दाहजन्य दुःख अनुभव करते हैं। वे जलते हुए लोहे के समान प्रकाशमान होते हैं। वे अपने ही कर्म से जीवित रहते हैं, जलकर भस्म नहीं हो जाते ॥ ३६ ॥

कुछ लोग जलते हुए आरों से चीरे जाते हैं। दूसरे लोग तेज क्षुरों से फाड़े जाते हैं। वेगपूर्वक चलाये जाते हुए मुद्गरों से जिनके शिर चूर-चूर हो जाते हैं, वे शोक-विह्वल होकर

पच्यन्ते पृथुशूलभिन्नवपुषः केचिद्विधूमेऽनले
पाय्यन्ते ज्वलिताग्निवर्णमपरे लौहं रसन्तो रसम् ॥ ३७ ॥

अपरे श्वभिर्भृशबलैः शबलैरभिपत्य तीक्ष्णदशनैर्दशनैः ।
परिलुप्तमांसतनवस्तनवः प्रपतन्ति दीनविरुता विरुताः ॥ ३८ ॥

एवंप्रकारमसुखं निरयेषु घोरं
प्राप्तो भविष्यसि (यदा) स्वकृतप्रणुन्नः ।
शोकातुरं श्रमविषादपरीतचित्तं
याचेदृणं क इव नाम तदा भवन्तम् ॥ ३९ ॥

लौहीषु दुर्जनकलेवरसंकुलासु
कुम्भीष्वभिज्वलितवह्निदुरासदासु ।
प्रक्वाथवेगवशगं विवशं भ्रमन्तं
याचेदृणं क इव नाम तदा भवन्तम् ॥ ४० ॥

यन्त्रायसज्वलितकीलनिबद्धदेहं
निर्धूमवह्निकपिले वसुधातले वा ।
निर्दह्यमानवपुषं करुणं रुदन्तं
याचेदृणं क इव नाम तदा भवन्तम् ॥ ४१ ॥

प्राप्तं पराभवं तं दुःखानि महान्ति कस्तदानुभवन्तम् ।
याचेदृणं भवन्तं प्रतिवचनमपि प्रदातुमप्रभवन्तम् ॥ ४२ ॥

विशस्यमानं हिममारुतेन वा निकूजितव्येऽपि विपन्नविक्रमम् ।
विदार्यमाणं भृशमार्तिनादिनं परत्र कस्त्वार्हति याचितुं धनम् ॥ ४३ ॥

विहिंस्यमानं पुरुषैर्यमस्य वा विचेष्टमानं ज्वलितेऽथवानले ।
श्ववायसैर्व्यर्हृतमांसशोणितं परत्र कस्त्वा धनयाच्ञया तुदेत् ॥ ४४ ॥

वधविकर्तनताडनपाटनैर्दहनतक्षणपेषणभेदनैः ।
विशसनैर्विविधैश्च सदातुरः कथमृणं प्रतिदास्यसि मे तदा ॥ ४५ ॥

अथ स राजा, तां निरयकथामतिभीषणां समुपश्रुत्य जातसंवेगस्त्यक्तमिथ्या-दृष्ट्यनुरागो लब्धसंप्रत्ययः परलोके, तमृषिवरं प्रणम्योवाच—

निशम्य तावन्नरकेषु यातनां भयादिदं विद्रवतीव मे मनः ।
कथं भविष्यामि न तां समेयिवान् वितर्कवह्निर्दहतीव मां पुनः ॥४६ ॥

मया ह्यसद्दर्शननष्टचेतसा कुवर्त्मना यातमदीर्घदर्शिना ।
तदत्र मे साधुगतिर्गतिर्भवान् परायणं त्वं शरणं च मे मुने ॥ ४७ ॥

विलाप करते हैं। (लोहे के) मोटे शूल से विदीर्ण किये गये कुछ लोग धूम-रहित अग्नि में पकाये जाते हैं। चिल्लाते हुए दूसरे लोगों को प्रज्वलित अग्नि के रंग का ताम्बे का रस पिलाया जाता है ॥ ३७ ॥

दूसरे लोग, जो बलवान् चितकबरे कुत्तों के द्वारा आक्रान्त होकर उनके तेज दाँतों से मांस-रहित कर दिये जाते हैं, जमीन पर क्षीण होकर गिरते हैं और करुण क्रन्दन करते हैं ॥ ३८ ॥

अपने किये कर्म से प्रेरित होकर जब आप नरकों में इस प्रकार के घोर दुःख को प्राप्त होंगे तब शोक से विह्वल, थकावट और विषाद से अभिभूत-चित्त आप से कौन ऋण माँगेगा ? ॥ ३९ ॥

दुर्जनों के शरीरों से भरे हुए लोहे के कड़ाहों में, जो प्रज्वलित अग्नि से दुर्गम हैं, काढ़े (खौलते हुए पानी) के वेग से विवश होकर जब आप चक्कर काटते रहेंगे, तब कौन आप से ऋण माँगेगा ? ॥ ४० ॥

लोहे के जलते हुए कील आपके शरीर में गड़े रहेंगे, धूम-रहित अग्नि से भूरी धरती पर आपका शरीर जलता रहेगा, आप दीनतापूर्वक विलाप करते रहेंगे, उस समय कौन आप से ऋण माँगेगा ? ॥ ४१ ॥

इस प्रकार से अपमानित होते हुए, घोर दुःखों को सहते हुए, आप उत्तर भी न दे सकेंगे, तब आप से कौन ऋण माँगेगा ? ॥ ४२ ॥

जब आप बर्फीली हवा से काटे जायँगे तब आप में कराहने की भी शक्ति नहीं रहेगी। (शस्त्रों से) विदीर्ण किये जाते हुए आप जोरों से आर्तनाद करेंगे। परलोक में उस अवस्था में आप से कौन धन मांग सकता है ? ॥ ४३ ॥

जब यमदूत आप की हिंसा करेंगे, या आप प्रज्वलित अग्नि में छटपटाते रहेंगे, जब कुत्ते और कौए आपके मांस और रक्त को खाते रहेंगे तब परलोक में कौन धन की मांग से आपको पीड़ित करेगा ? ॥ ४४ ॥

वध कर्तन ताडन विदारण दाह तक्षण (तराशना) पेषण और भेदन, हिंसा के इन विविध उपायों से आप सदा पीड़ित रहियेगा। तब मेरा ऋण कैसे लौटाइयेगा ?" ॥ ४५ ॥

नरक की इस भयङ्कर कथा को सुनकर राजा के मन में वैराग्य हो गया। मिथ्या दृष्टि की आसक्ति को छोड़ कर उसने परलोक पर विश्वास किया तथा उन उत्तम ऋषि को प्रणाम कर, कहा—

"नरक की यातना को सुनकर मेरा मन भय-भीत हो रहा है। किस प्रकार मैं उस यातना को न प्राप्त करूँ, चिन्ता की यह अग्नि मुझे बार बार जला रही है ॥ ४६ ॥

मिथ्यादृष्टि से ज्ञान के नष्ट होनेपर, मैं अदीर्घदर्शी कुमार्गपर चला, इसलिए इस विषय में आप उत्तम गतिवाले मेरी गति आश्रय और शरण हैं ॥ ४७ ॥

यथैव मे दृष्टितमस्त्वयोद्धृतं दिवाकरेणेव समुद्यता तमः ।
तथैव मार्गं त्वमृषे प्रचक्ष्व मे भजेय येनाहमितो न दुर्गतिम् ॥ ४८ ॥

अथैनं बोधिसत्त्वः संविग्नमानसमृजूभूतदृष्टिं[1] धर्मप्रतिपत्तिपात्रभूतमवेक्ष्य पितेव पुत्रमाचार्य इव च शिष्यमनुकम्पमान इति समनुशशास—

सुशिष्यवृत्त्या श्रमणद्विजेषु पूर्वे गुणप्रेम यथा विचक्रुः ।
नृपाः स्ववृत्त्या च दयां प्रजासु कीर्तिक्षमः स त्रिदिवस्य पन्थाः ॥ ४९ ॥

अधर्ममस्माद्भृशदुर्जयं जयन् कदर्यभावं च दुरुत्तरं तरन् ।
उपैहि रत्नातिशयोज्ज्वलं ज्वलन् दिवस्पतेः काञ्चनगोपुरं पुरम् ॥ ५० ॥

मनस्यसद्दर्शनसंस्तुतेऽस्तु ते रुचिस्थिरं सज्जनसंमतं मतम् ।
जहीहि तं बालिशरञ्जनैर्जनैः प्रवेदितोऽधर्मविनिश्चयश्च यः ॥ ५१ ॥

त्वया हि सद्दर्शनसाधुनाधुना नरेन्द्र वृत्तेन यियासता सता ।
यदैव चित्ते गुणरूक्षता क्षता तदैव ते मार्गकृतास्पदं पदम् ॥ ५२ ॥

कुरुष्व तस्माद् गुणसाधनं धनं शिवां च लोके स्वहितोदयां दयाम् ।
स्थिरं च शीलेन्द्रियसंवरं वरं परत्र हि स्यादशिवं न तेन ते ॥ ५३ ॥

स्वपुण्यलक्ष्म्या नृप दीप्तयाप्तया सुहृत्सु शुक्लत्वमनोज्ञयाज्ञया ।
चराऽमनोऽर्थप्रतिसंहितं हित जगद्व्यथां कीर्तिमनोहरं हरन् ॥ ५४ ॥

त्वमत्र सन्मानससारथी रथी स्व एव देहो गुणसूरथो रथः ।
अरूक्षताक्षो दमदानचक्रवान् समन्वितः पुण्यमनीषयेषया ॥ ५५ ॥

यतेन्द्रियाश्वः स्मृतिरश्मिसंपदा मतिप्रतोदः श्रुतिविस्तरायुधः ।
ह्र्युपस्करः संनतिचारुकूबरः क्षमायुगो दाक्षगतिर्धृतिस्थिरः ॥ ५६ ॥

असद्वचःसंयमनादकूजनो मनोज्ञवाङ्मन्द्रगभीरनिस्वनः ।
अमुक्तसंधिर्नियमाविखण्डनादसत्क्रियाजिह्मतिवर्जनार्जवः ॥ ५७ ॥

---

१. पा० ऋजुभूत० ।

जिस प्रकार उगता हुआ सूर्य अन्धकार को दूर करता है, उसी प्रकार आपने मेरी दृष्टि के अन्धकार को दूर किया। हे ऋषि, उसी प्रकार आप मुझे मार्ग बतलाइये, जिससे मैं दुर्गति को न पाऊँ" ॥ ४८ ॥

उसके मन में वैराग्य हो गया है, उसकी दृष्टि ठीक हो गई है, वह धर्माचरण का पात्र हो गया है, यह देखकर, बोधिसत्त्व ने उसपर, जैसे पिता अपने पुत्रपर या आचार्य अपने शिष्यपर अनुकम्पा करता हैं, अनुकम्पा करते हुए, यों उपदेश दिया—

"पूर्व के राजाओं ने श्रमणों (संन्यासियों) और ब्राह्मणों के प्रति उत्तम शिष्य के समान आचरण करते हुए जो गुणानुराग प्रदर्शित किया तथा अपने (अनुकूल) आचरण के द्वारा प्रजाओंपर जो दया की वह स्वर्ग-प्राप्ति का कीर्ति-दायक मार्ग है ॥ ४९ ॥

अतः अत्यन्त दुर्जय अधर्म पर विजय प्राप्त करते हुए तथा दुस्तर कृपणता को पार करते हुए, आप इन्द्र के स्वर्ण-द्वारवाले नगर में, जो रत्नों से अति उज्ज्वल है, चमकते हुए प्रवेश कीजिये ॥ ५० ॥

मिथ्यादृष्टि के अभ्यस्त आपके मन में सज्जन-सम्मत मत रुचिपूर्वक स्थिर हो। मूर्खों को प्रसन्न करनेवाले लोगों ने जिस अधर्म-विचार का प्रतिपादन किया है उसे छोड़िये ॥ ५१ ॥

हे राजन्, सम्यक् दृष्टि के उपयुक्त मार्ग से जाने को इच्छुक आपने जभी अपने चित्त में गुणों के प्रति रूखेपन को नष्ट किया तभी आपने सन्मार्ग पर पैर रखा ॥ ५२ ॥

अतः धन को गुण-प्राप्ति का साधन बनाइये; प्रजा पर शुभ दया कीजिये, जो अपने लिए ही हितकारिणी है। स्थिरतापूर्वक उत्तम शील-पालन और इन्द्रिय-संयम कीजिये, जिससे परलोक में आप का अहित न हो ॥ ५३ ॥

अपने पुण्य-बल से प्राप्त उज्ज्वल सुशासन के द्वारा, जो पुण्यवानों के लिए पवित्रता के कारण मनोज्ञ होगा, लोगों के दुःख दूर कर मनोहर कीर्ति अर्जन करते हुए, अर्थ-सिद्धि के साथ अपना हित-साधन भी कीजिये ॥ ५४ ॥

गुणों को उत्पन्न करनेवाला आपका शरीर ही रथ है, जिसके आप रथी है। आपका उत्तम मन ही इस रथ का सारथि है। मैत्री इसकी धुरी है। दान और संयम इसके चक्के हैं। पुण्य की इच्छा ही इसकी ईषा (डण्डा) है ॥ ५५ ॥

संयत इन्द्रिय इस रथ के घोड़े हैं, जागरूकता इसकी सुदृढ़ रस्सियाँ (लगाम) हैं, बुद्धि इसका चाबुक है, शास्त्र इसके शस्त्र हैं। लज्जा इसकी सज्जा है, विनम्रता इसका सुन्दर कूबर[1] है, क्षमा इसका जुआ है, दक्षता इसकी गति है, धैर्य से यह स्थिर है (डगमगाता नहीं है) ॥ ५६ ॥

बुरे वचनों के नियन्त्रण से वह रथ घर-घर शब्द से रहित है। मनोहर वचन से गम्भीर शब्द वाला है। संयम-नियम के खण्डित नहीं होने से सन्धियों (जोड़ों) से रहित हैं। कुकर्मों की कुटिलता के परित्याग से वह ऋजुता (सरलता) से युक्त है ॥ ५७ ॥

अनेन यानेन यशःपताकिना दयानुयात्रेण शमोच्चकेतुना ।
चरन् परात्मार्थममोहभास्वता न जातु राजन्निरयं गमिष्यसि ॥ ५८ ॥

इति स महात्मा तस्य राज्ञस्तदसद्दर्शनान्धकारं भास्वरैर्वचनकिरणैर्व्यवधूय प्रकाश्य चास्मै सुगतिमार्गं तत्रैवान्तर्दधे । अथ स राजा समुपलब्धपरलोकवृत्तान्ततत्त्वः प्रतिलब्धसम्यग्दर्शनचेताः सामात्यपौरजानपदो दानदमसंयमपरायणो बभूव ॥

तदेवं मिथ्यादृष्टिपरमाण्यवद्यानीति विशेषेणानुकम्प्याः सतां दृष्टिव्यसनगताः। एवं सद्धर्मश्रवणं परिपूर्णां श्रद्धां परिपूरयतीत्येवमप्युपनेयम् । एवं परतो धर्मश्रवणं सम्यग्दृष्ट्युत्पादप्रत्ययो भवतीत्येवमप्युपनेयम् । एवमासादनामपि सन्तस्तद्धितोपदेशेन प्रतिनुदन्ति क्षमापरिचयान्न पारुष्येणेति सत्प्रशंसायां क्षमावर्णेऽपि वाच्यम् । संवेगादेवमाशु श्रेयोभिमुखता भवतीति संवेगकथायामपि वाच्यमिति ॥

॥ इति ब्रह्म-जातकमेकोनत्रिंशत्तमम् ॥

---

३०. हस्ति-जातकम्

परहितोदर्कं दुःखमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते ॥ तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल अन्यतमस्मिन् नागवने पुष्पफलपल्लवालक्षितशिखरैरलंकृत इव तत्र तरुवरतरुणैर्विविधवीरुत्तरुतृणपिहितभूमिभागे वनरामणीयकनिबद्धहृदयैरनुत्कण्ठितमध्यास्यमान इव पर्वतस्थलैराश्रयभूते वनचराणां गम्भीरविपुलसलिलाशयसनाथे महता निर्वृक्षक्षुपसलिलेन कान्तारेण समन्ततस्तिरस्कृतजनान्ते महाकाय एकचरो हस्ती बभूव ।

स तत्र तरुपर्णेन बिसेन सलिलेन च ।
अभिरेमे तपस्वीव संतोषेण शमेन च ॥ १ ॥

अथ कदाचित्स महासत्त्वस्तस्य वनस्य पर्यन्ते विचरन् यतस्तत्कान्तारं ततो जनशब्दमुपशुश्राव । तस्य चिन्ता प्रादुरभूत्—किं नु खल्विदम् ? न तावदनेन प्रदेशेन कश्चिद्देशान्तरगामी मार्गोऽस्ति । एवं महत्कान्तारं च व्यतीत्य मृगयापि न युज्यते प्रागेव महासमारम्भपरिखेदमस्मत्सयूथ्यग्रहणम् ।

कीर्ति रूप पताका से विभूषित, दयारूप अनुयायी से युक्त, शमरूप उच्च पताका-दण्ड से समन्वित, ज्ञान से देदीप्यमान उस रथ से स्वार्थ (इहलोक) और परमार्थ (परलोक) को सफल करते हुए, हे राजन्, आप नरक नहीं जायँगे" ॥ ५८ ॥

इस प्रकार वह महात्मा भास्वर वचनरूप किरणों से उस राजा की मिथ्यादृष्टि के अन्धकार को दूर कर, उसके लिए सुगतिमार्ग प्रकाशित कर, वहीं अन्तर्धान हो गये। तब परलोक की कथा की सत्यता को जानकर, सम्यक् दृष्टि का ज्ञान प्राप्त कर, वह राजा अमात्यों पुर-वासियों और देश-वासियों के साथ दान इन्द्रिय-दमन और आत्म-संयम में तत्पर हो गया।

मिथ्या दृष्टि के मत निन्दनीय हैं, अतः दृष्टि-दोष के सङ्कट में पड़े हुए लोग सज्जनों की विशेष अनुकम्पा के पात्र हैं। इस प्रकार सद्धर्म का श्रवण पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न करता है, यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिये। इस प्रकार दूसरे व्यक्ति से धर्म-श्रवण सम्यक् दृष्टि की उत्पत्ति का कारण होता है, यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिये। इस प्रकार सज्जन विपक्षी के आक्रमण का सामना उसकी भलाई के उपदेश के द्वारा करते हैं, क्षमा के अभ्यस्त होने के कारण वे कठोरता के साथ वैसा नहीं करते हैं, यह सज्जनों की प्रशंसा या क्षमा के वर्णन में भी कहना चाहिये। संवेग के कारण शीघ्र ही मनुष्य श्रेय के सन्मुख आ जाता है, यह वचन संवेग की कथा में भी कहना चाहिये।

ब्रह्म-जातक उनतीसवाँ समाप्त।

३०. हस्ति-जातक

साधुओं के लिए अपना दुःख भी, जिससे दूसरों का उपकार होता है, लाभ के समान अत्यन्त प्रिय है। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व एक बार किसी नाग-वन में विशालकाय एकाकी हाथी हुए। वह वन तरुण वृक्षों से, जिनके शिखर फूलों फलों और पल्लवों से अलक्षित थे, अलङ्कृत था। वहाँ की भूमि विविध लताओं वृक्षों और तृणों से आच्छादित थी। वन की रमणीयता से जिनके हृदय बँधे हुए हों, ऐसे पर्वत (अन्यत्र गमन की) अनुत्कण्ठा से वहाँ मानो स्थिर थे। वह वन वन-चारियों का आश्रय तथा गम्भीर विपुल जलवाले सरोवर से युक्त था। वृक्षों झाड़ियों और जल से रहित एक बड़ी मरुभूमि चारों ओर मनुष्यों के आवागमन में रुकावट थी।

वहाँ वे तपस्वी के समान वृक्ष के पत्तों कमल-नाल जल तथा सन्तोष शान्ति से ही प्रसन्न रहते थे ॥ १ ॥

एक बार उस वन के सीमान्त प्रदेश में विचरण करते हुए उस महासत्त्व ने, जिधर मरुभूमि थी उधर से, मनुष्यों का शब्द सुना। उन्होंने सोचा—"यह क्या है ? इस भूमि से दूसरे देश को जाने वाला कोई मार्ग भी नहीं है। इतनी बड़ी मरुभूमि को पारकर शिकार (के लिए आना) भी संभव नहीं है। हमारे झुण्ड के हाथियों को पकड़ना तो और भी संभव नहीं है, क्योंकि उसमें बहुत बड़ी तैयारी के कारण बहुत कष्ट होता है।

व्यक्तं त्वेते परिभ्रष्टा मार्गाद्वा मूढदैशिकाः ।
निर्वासिता वा क्रुद्धेन राज्ञा स्वेनानयेन वा ॥ २ ॥

तथा ह्ययमनोजस्को नष्टहर्षोद्धवद्रवः ।
केवलार्तिवलः शब्दः श्रूयते रुदतामिव ॥ ३ ॥

तज्ज्ञास्यामि तावदेनमिति स महासत्त्वः करुणया समाकृष्यमाणो यतः स जननिर्घोषो बभूव ततः प्रससार । विस्पष्टतरविलापं च विषाददैन्यविरसं तमाक्रन्दितशब्दमुपशृण्वन् कारुण्यपर्युत्सुकमनाः स महात्मा द्रुततरं ततोऽभ्यगच्छत् । निर्गम्य च तस्माद्वनगहनान्निर्वृक्षक्षुपत्वात्तस्य देशस्य दूर एवावलोकयन् ददर्श सप्तमात्राणि पुरुषशतानि क्षुत्तर्षपरिश्रममन्दानि तद्वनमभिमुखानि प्रार्थयमानानि । तेऽपि च पुरुषास्तं महासत्त्वं ददृशुर्जङ्गममिव हिमगिरिशिखरं नीहारपुञ्जमिव शरद्वलाहकमिव पवनबलावर्जितमभिमुखमायान्तम् । दृष्ट्वा च विषाददैन्यपरीता हन्तेदानीं नष्टा वयमिति भयत्रस्तमनसोऽपि क्षुत्तर्षपरिश्रमविहतोत्साहा नापयानप्रयत्नपरा बभूवुः ।

ते विषादपरीतत्वात्क्षुत्तर्षश्रमविह्वलाः ।
नापयानसमुद्योगं भयेऽपि प्रतिपेदिरे ॥ ४ ॥

अथ बोधिसत्त्वो भीतानवेत्यैतान्–मा भैष्ट मा भैष्ट, न वो भयमस्ति मत्त इति समुच्छ्रितेन स्निग्धाभिताम्रपृथुपुष्करेण करेण समाश्वासयन्नभिगम्य करुणायमाणः पप्रच्छ–केऽत्र भवन्तः ? केन चेमां दशामनुप्राप्ताः स्थ ?

रजःसूर्यांशुसंपर्काद्विवर्णाकृतयः कृशाः ।
शोकक्लमार्ताः के यूयमिह चाभिगताः कुतः ॥ ५ ॥

अथ ते पुरुषास्तस्य तेन मानुषेणाभिव्याहारेणाभयप्रदानाभिव्यञ्जकेन चाभ्युपपत्तिसौमुख्येन प्रत्यागतहृदयाः समभिप्रणम्यैनमूचुः–

कोपोत्पातानिलेनेह क्षिप्ताः क्षितिपतेर्वयम् ।
पश्यतां शोकदीनानां बन्धूनां द्विरदाधिप ॥ ६ ॥

अस्ति नो भाग्यशेषस्तु लक्ष्मीश्चाभिमुखी ध्रुवम् ।
सुहृद्बन्धुविशिष्टेन यद्दृष्टाः भवता वयम् ॥ ७ ॥

निस्तीर्णामापदं चेमां विद्मस्त्वद्दर्शनोत्सवात् ।
स्वप्नेऽपि त्वद्विधं दृष्ट्वा को हि नापदमुत्तरेत् ॥ ८ ॥

अथैनान् स द्विरदवर उवाच–अथ कियन्तोऽत्रभवन्त इति ? मनुष्या ऊचुः–

सहस्रमेतद्वसुधाधिपेन त्यक्तं नृणामत्र मनोज्ञगात्र ।
अदृष्टदुःखा बहवस्ततस्तु क्षुत्तर्षशोकाभिभवाद्विनष्टाः ॥ ९ ॥

स्पष्ट है कि ये मार्ग से भटक गये हैं, इनके पथ-प्रदर्शक को भ्रम हो गया है। अथवा राजा ने क्रोधवश या उनकी अनीति के कारण उन्हें निर्वासित किया है ॥ २ ॥

शक्ति आनन्द और उत्साह से रहित, केवल दुःख से भरा हुआ यह शब्द सुनाई पड़ रहा है, जैसे रो रहे हों ॥ ३ ॥

"मैं इसका पता लगाऊँगा" इस प्रकार करुणा से प्रेरित होकर, वह महासत्त्व जहाँ वह मनुष्यों का शब्द हो रहा था उसी ओर बढ़े। दुःख-दैन्य से उदास उस क्रन्दन के शब्द को सुनकर, दया से उत्सुक होकर, वह महात्मा और भी तेजी से बढ़ने लगे। उस गहन वन से निकलकर, वृक्षों और झाड़ियों से रहित उस मरुभूमि में दूर से ही सात सौ मनुष्यों को देखा, जो भूख प्यास और थकावट से व्यथित थे तथा उस वन की ओर मुख करके (सहायता की) याचना कर रहे थे। उन मनुष्यों ने भी उन महासत्त्व को देखा, जो जङ्गम हिमगिरि-शिखर के समान, घनीभूत कुहासे के ढेर के समान, पवन-बल से चलते हुये शरद् ऋतु के बादल के समान, सामने आ रहे थे। उन्हें देखकर दुःख दैन्य से ग्रस्त मनुष्यों ने सोचा—'अहो! हमारा विनाश निश्चित है।' भय-भीत होने पर भी भूख-प्यास थकावट से निरुत्साह होने के कारण उन्होंने भागने की चेष्टा नहीं की।

वे विषण्णचित्त थे, भूख प्यास और थकावट से व्याकुल थे। अतः विपत्ति में भी उन्होंने भागने की चेष्टा नहीं की ॥ ४ ॥

तब बोधिसत्व ने उन्हें भयभीत जानकर कहा—"न डरें, न डरें। आपको मुझसे नहीं डरना है, इस तरह अपने कोमल ताम्रवर्ण और चौड़े पुष्कर (अग्रभाग) वाली सूंड़ उठाकर उन्हें आश्वासन देते हुये, उनके समीप जाकर, दया से द्रवीभूत होकर पूछा—"आप कौन हैं और किसने आपको इस अवस्था पर पहुँचा दिया है?

धूल और धूप से आपकी आकृति विवर्ण है, आप क्षीण हो गये हैं, दुःख और थकावट से पीड़ित हैं। आप कौन हैं और यहाँ कहाँ से आये हैं?" ॥ ५ ॥

तब उन पुरुषों ने उनकी उस मनुष्य की बोली से तथा अभय-दान-सूचक अनुग्रह की प्रवृत्ति से आश्वस्त होकर, उन्हें प्रणाम कर, कहा—

"हे गजेन्द्र, शोक से विह्वल हमारे बन्धुओं के देखते, राजा की क्रोधाग्नि ने हमें यहाँ डाल दिया है ॥ ६ ॥

अवश्य ही हमारा सौभाग्य शेष है और लक्ष्मी सम्मुख है कि हमने आप विशिष्ट मित्र और बन्धु को देखा ॥ ७ ॥

आपके शुभ दर्शन से हम समझते हैं कि हमने इस विपत्ति को पार कर लिया। स्वप्न में भी आप-जैसे को देखकर, कौन है जो विपत्ति को नहीं पार करेगा? ॥ ८ ॥

तब उस श्रेष्ठ हाथी ने उनसे पूछा—"आप लोग कितने हैं?" मनुष्यों ने कहा—

"हे सुन्दर शरीर वाले, राजा ने एक हजार मनुष्यों का परित्याग किया था। पहले कभी दुःख नहीं देखे होने के कारण बहुत लोग भूख-प्यास और शोक से अभिभूत होकर मर गये ॥९॥

एतानि तु स्युर्द्विरदप्रधान सहावशेषाणि नृणां शतानि ।
निमज्जतां मृत्युमुखे तु येषां मूर्तस्त्वमाश्वास इवाभ्युपेतः ॥ १० ॥

तच्छ्रुत्वा तस्य महासत्त्वस्य कारुण्यपरिचयादश्रूणि प्रावर्तन्त । समनुशोचंश्चैनाधिपतिमीदृशं किंचिदुवाच—कष्टं भोः !

घृणाविमुक्ता बत निर्व्यपत्रपा नृपस्य बुद्धिः परलोकनिर्व्यथा ।
अहो तडिच्चञ्चलया नृपश्रिया हृतेन्द्रियाणां स्वहितानवेक्षिता ॥ ११ ॥

अवैति मन्ये न स मृत्युमग्रतः शृणोति पापस्य न वा दुरन्तताम् ।
अहो बतानाथतमा नराधिपा विमर्शमान्द्याद्वचनक्षमा न ये ॥ १२ ॥

देहस्यैकस्य नामार्थे रोगभूतस्य नाशिनः ।
इदं सत्त्वेषु नैर्घृण्यं धिगहो बत मूढताम् ॥ १३ ॥

अथ तस्य द्विरदपतेस्तान् पुरुषान् करुणास्निग्धमवेक्षमाणस्य चिन्ता प्रादुरभूत्—एवममी क्षुत्तर्षश्रमपीडिताः परिदुर्बलशरीरा निरुदकमप्रच्छायमनेकयोजनायामं कान्तारमपथ्यादनाः कथं व्यतियास्यन्ति ? नागवनेऽपि च किं तदस्ति येनैषामेकाहमपि तावदपरिक्लेशेन वार्ता स्यात् ? शक्येयुः पुनरेते मदीयानि मांसानि पाथेयतामुपनीय दृतिमिरिव च ममान्त्रैः सलिलमादाय कान्तारमेतन्निस्तरितुं नान्यथा ।

करोमि तदिदं देहं बहुरोगशतालयम् ।
एषां दुःखपरीतानामापदुत्तरणप्लवम् ॥ १४ ॥

स्वर्गमोक्षसुखप्राप्तिसमर्थं जन्म मानुषम् ।
दुर्लभं च तदेतेषां मैवं विलयमागमत् ॥ १५ ॥

स्वगोचरस्थस्य ममाभ्युपेता धर्मेण चेमेऽतिथयो भवन्ति ।
आपद्गता बन्धुविवर्जिताश्च मया विशेषेण यतोऽनुकम्प्याः ॥ १६ ॥

चिरस्य तावद्बहुरोगभाजनं सदातुरत्वाद्विविधश्रमाश्रयः ।
शरीरसंज्ञोऽयमनर्थविस्तरः परार्थकृत्ये विनियोगमेष्यति ॥१७ ॥

अथैनमन्ये क्षुत्तर्षश्रमघर्मदुःखातुरशरीराः कृताञ्जलयः साश्रुनयनाः समभिप्रणम्यार्ततया हस्तसंज्ञाभिः पानीयमयाचन्त ।

त्वं नो बन्धुरबन्धूनां त्वं गतिः शरणं च नः ।
यथा वेत्सि महाभाग तथा नस्त्रातुमर्हसि ॥ १८ ॥

इत्येनमन्ये सकरुणमूचुः । अपरे त्वेनं धीरतरमनसः सलिलप्रदेशं कान्तारदुर्गोत्तारणाय च मार्गं पप्रच्छुः—

इस समय सात सौ मनुष्य बचे होंगे। मृत्यु-मुख में डूबते हुए इनके लिए आप मूर्त्त आश्वासन के समान उपस्थित हुए हैं" ॥ १० ॥

यह सुनकर करुणा के अभ्यस्त उस महात्मा की आँखों से आंसू बहने लगे। उनके लिए शोक करते हुये उन्होंने निश्चयपूर्वक यों कहा—

"अहो, राजा की बुद्धि कितनी निर्दय निर्लज्ज और परलोक-निर्भय है! बिजली के समान चञ्चल राजलक्ष्मी से अपहृत इन्द्रिय वाले अपने कल्याण को नहीं देखते हैं ॥ ११ ॥

मैं समझता हूँ उसे आने वाली मृत्यु का ज्ञान नहीं है और न उसने पाप के दुष्परिणाम को ही सुना है। अहो वे राजा अनाथ हैं, जो विवेक-हीनता के कारण उपदेश को नहीं सुनते ॥ १२ ॥

रोगों के घर तथा नश्वर एक शरीर के लिए प्राणियों के प्रति इतनी निर्दयता! अहो, अज्ञान को धिक्कार है" ॥ १३ ॥

तब उस गजेन्द्र ने दया और स्नेह के साथ देखते हुए सोचा—"भूख-प्यास-थकावट से इस प्रकार पीड़ित, दुर्बल शरीरवाले ये उचित आहार के बिना निर्जल और छाया-रहित तथा अनेक योजनों तक व्याप्त इस मरुभूमि को कैसे पार करेंगे? नागवन में भी क्या है, जिससे एक दिन भी सुख से इनकी शरीर-यात्रा चल सके? हाँ, ये मेरे शरीर को पाथेय बनाकर तथा मशक की तरह अंतड़ियों में जल लेकर ये इस मरुभूमि को पार कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

अतः मैं सैकड़ों विविध रोगों के घर, इस देह को इन पीड़ित प्राणियों के लिए विपत्ति से निकालने का साधन बनाता हूँ ॥ १४ ॥

स्वर्ग-सुख और मोक्ष-सुख की प्राप्ति में समर्थ इनका यह दुर्लभ मानुष-जन्म यों ही नष्ट न हो जाय ॥ १५ ॥

अपने क्षेत्र में स्थित मेरे पास आये हुए ये धर्मानुसार मेरे अतिथि हैं। ये विपत्ति में हैं और अपने बन्धुओं से रहित हैं। इसलिए ये विशेष रूप से मेरी अनुकम्पा के पात्र हैं ॥ १६ ॥

यह शरीर नामक अनर्थ-प्रपञ्च अनेक रोगों का घर है तथा सदा पीड़ित रहने के कारण विविध कष्टों का आश्रय है। चिरकाल के बाद इसका दूसरों के काम में सदुपयोग होगा" ॥ १७ ॥

तब भूख प्यास गर्मी और थकावट से पीड़ित कुछ लोगों ने हाथ जोड़कर और सजलनयन होकर उन्हें प्रणाम किया और पीड़ा के कारण हाथ के इशारे से पानी मांगा। दूसरों ने करुणा के साथ उनसे कहा—

"हम बन्धुविहीनों के आप बन्धु हैं, आप ही हमारी गति और शरण हैं। हे महाभाग! आप अपनी जानकारी के अनुसार हमारी रक्षा करें" ॥ १८ ॥

धीरचित्त दूसरे लोगों ने उनसे जलाशय का पता और मरुभूमि पार करने का उपाय पूछा—

जलाशयः शीतजला सरिद्वा यद्यत्र वा नैर्झरमस्ति तोयम् ।
छायाद्रुमः शाद्वलमण्डलं वा तन्नो द्विपानामधिप प्रचक्ष्व ।। १९ ।।

कान्तारं शक्यमेतच्च निस्तर्तुं मन्यसे यतः ।
अनुकम्पां पुरस्कृत्य तां दिशं साधु निर्दिश ।। २० ।।

संबहुलानि हि दिनान्यत्र नः कान्तारे परिभ्रमताम् । तदर्हसि नः स्वामिन्निस्तारयितुमिति ।।

अथ स महात्मा तैः करुणैः प्रयाचितैस्तेषां भृशतरमाक्लेदितहृदयो यतस्तत्कान्तारं शक्य निस्तर्तुं बभूव, तत एषां पर्वतस्थलं संदर्शयन्नभ्युच्छ्रितेन भुजगवरभोगपीवरेण करेणोवाच—अस्य पर्वतस्थलस्याधस्तात्पद्मोत्पलालंकृतविमलसलिलमस्ति महत्सरः । तदनेन मार्गेण गच्छत । तत्र च व्यपनीतघर्मतर्षक्लमास्तस्यैव नातिदूरेऽस्मात्पर्वतस्थलात्पतितस्य हस्तिनः शरीरं द्रक्ष्यथ । तस्य मांसानि पाथेयतामानीय दृतिमिरिव तस्यान्त्रैः सलिलमुपगृह्यानयैव दिशा यातव्यम् । एवमल्पकृच्छ्रेण कान्तारमिदं व्यतियास्यथ । इति स महात्मा तान् पुरुषान् समाश्वासनपूर्वकं ततः प्रस्थाप्य ततो द्रुततरमन्येन मार्गेण तद्गिरिशिखरमारुह्य तस्य जनकायस्य निस्तारणापेक्षया स्वशरीरं ततो मुमुक्षुर्नियतमिति प्रणिधिमुपबृंहयामास—

नायं प्रयत्नः सुगतिं समाप्तुं नैकातपत्रां मनुजेन्द्रलक्ष्मीम् ।
सुखप्रकर्षैकरसां न च द्यां ब्राह्मीं श्रियं नैव न मोक्षसौख्यम् ।। २१ ।।

यत्त्वस्ति पुण्यं मम किंचिदेवं कान्तारमग्नं जनमुज्जिहीर्षोः ।
संसारकान्तारगतस्य तेन लोकस्य निस्तारयिता भवेयम् ।। २२ ।।

इति विनिश्चित्य स महात्मा प्रमोदादगणितप्रपातनिष्पेषमरणदुःखं स्वशरीरं तस्माद् गिरितटाद्यथोद्देशं मुमोच ।

रेजे ततः स निपतञ्छरदीव मेघः
पर्यस्तबिम्ब इव चास्तगिरेः शशाङ्कः ।
तार्क्ष्यस्य पक्षपवनोग्रजवापविद्धं
शृङ्गं गिरेरिव च तस्य हिमोत्तरीयम् ।। २३ ।।

आकम्पयन्नथ धरां धरणीधरांश्च
मारस्य च प्रभुमदाध्युषितं च चेतः ।
निर्घातपिण्डितरवं निपपात भूमा-
वावर्जयन् वनलता वनदेवताश्च ।। २४ ।।

असंशयं तद्वनसंश्रयास्तदा मनस्सु विस्फारितविस्मयाः सुराः ।
विचिक्षिपुर्व्योम्नि मुदोत्तनूरुहाः समुच्छ्रितैकाङ्गुलिपल्लवान् भुजान् ।। २५ ।।

"हे गजेन्द्र ! यदि कोई जलाशय या शीतल जल वाली नदी या झरने का जल, छाँहदार वृक्ष या हरे तृण से ढकी भूमि है, तो हमें वह बतलाइये ॥ १९ ॥

आप इस मरुभूमि को जिस ओर से पार करने योग्य मानते हैं, दयापूर्वक हमें वह दिशा बतलाइये ॥ २० ॥

इस मरुभूमि में भटकते हमें बहुत दिन हो गये। अतः, हे स्वामिन्, हमें यहां से निकालने की कृपा करें"।

तब उनकी करुण प्रार्थनाओं से उस महात्मा का हृदय दयार्द्र हो गया और जिस ओर से उस मरुभूमि को पार करना शक्य था उसी ओर बड़े नाग के फण के समान अपनी ऊपर उठी हुई सूंड़ से उन्हें एक पहाड़ दिखलाते हुये कहा—"इस पहाड़ के नीचे लाल-नीले कमलों से अलङ्कृत विमल जल का एक बड़ा सरोवर है। अतः इसी मार्ग से जाइये। वहाँ गर्मी प्यास और थकावट को दूर कर, उस पहाड़ से कुछ ही दूर पर गिरे हुए एक हाथी के शरीर को देखियेगा। उसके मांस को पाथेय बनाकर और मशक की तरह उसकी अंतड़ियों में जल लेकर, इसी दिशा में जाइये। इस प्रकार अल्प कष्ट से ही आप लोग इस मरुभूमि को पार कर लेंगे।" इस प्रकार उन मनुष्यों को आश्वासन देते हुये, उन्हें वहाँ से प्रस्थान कराकर, उनसे अधिक शीघ्रतापूर्वक स्वयं दूसरे मार्ग से उस पहाड़ की चोटी पर चढ़कर, उस जन-समूह को पार करने के उद्देश्य से, वहाँ से अपने शरीर को छोड़ने की इच्छा से उन्होंने यों संकल्प किया—

"मेरा यह प्रयत्न सद्गति, एकच्छत्र राजलक्ष्मी, सुखों से परिपूर्ण स्वर्ग, ब्रह्मलोक या मोक्ष-सुख पाने के लिए नहीं है ॥ २१ ॥

मैं मरुभूमि में फँसे हुए लोगों का उद्धार करना चाहता हूँ। इसमें यदि मुझे कुछ पुण्य प्राप्त हो तो उससे मैं संसाररूपी मरुभूमि में फँसे हुए लोगों का उद्धारक होऊँ" ॥ २२ ॥

यह निश्चय कर उस महात्मा ने आनन्द के कारण प्रपात से चूर-चूर होकर मरने के दुःख की चिन्ता न करते हुए अपने शरीर को उद्देश्य के अनुसार उस पहाड़ के किनारे से छोड़ दिया।

वहाँ से गिरते हुए वे शरद् ऋतु के मेघ के समान, अस्ताचलपर उलटते हुए चन्द्रमण्डल के समान, और गरुड़ के पंख की हवा के भयङ्कर वेग से फेंके गये उस पर्वत के हिमावृत शिखर के समान शोभायमान हुए ॥ २३ ॥

पृथ्वी और पहाड़ों को तथा मार के महा-अभिमानी मन को कँपाते हुए, आँधी के समान शब्द करते हुए, वन-लताओं और वन-देवताओं को झुकाते हुए वे पृथ्वी पर गिरे ॥ २४ ॥

निस्सन्देह उस समय उस वन में रहने वाले देवताओं के मन में बड़ा विस्मय हुआ। आनन्द से रोमाञ्चित हो कर उन्होंने अपने हाथ, जिनकी एक-एक अङ्गुलि ऊपर उठी हुई थी, आकाश में फैलाये ॥ २५ ॥

सुगन्धिभिश्चन्दनचूर्णरञ्जितैः प्रसक्तमन्ये कुसुमैरवाकिरन् ।
अतान्तवैः काञ्चनभक्तिराजितैस्तमुत्तरीयैरपरे विभूषणैः ॥ २६ ॥

स्तवैः प्रसादग्रथितैस्तथापरे समुद्यतैश्चाञ्जलिपद्मकुड्मलैः ।
शिरोभिरावर्जितचारुमौलिभिर्नमस्क्रियाभिश्च तमभ्यपूजयन् ॥ २७ ॥

सुगन्धिना पुष्परजोविकर्षणात्तरंगमालारचनेन वायुना ।
तमभ्यजन् केचिदथाम्बरेऽपरे वितानमस्योपदधुर्घनैर्घनैः ॥ २८ ॥

तमर्चितुं भक्तिवशेन केचन व्यरासयन् द्यां सुरदुन्दुभिस्वनैः ।
अकालजैः पुष्पफलैः सपल्लवैर्व्यभूषयंस्तत्र तरूनथापरे ॥ २९ ॥

दिशः शरत्कान्तिमयीं दधुः श्रियं रवेः कराः प्रांशुतरा इवाभवन् ।
मुदाभिगन्तुं तमिवास चार्णवः कुतूहलोत्कम्पितवीचिविभ्रमः ॥ ३० ॥

अथ ते पुरुषाः क्रमेण तत्सरः समुपेत्य तस्मिन् विनीतघर्मतर्षक्लमा यथाकथितं तेन महात्मना तदविदूरे हस्तिशरीरं नचिरमृतं ददृशुः । तेषां बुद्धिरभवत्—अहो यथायं सदृशस्तस्य द्विरदपतेर्हस्ती ।

भ्राता नु तस्यैष महाद्विपस्य स्याद् बान्धवो वान्यतमः सुतो वा ।
तस्यैव खल्वस्य सिताद्रिशोभं संचूर्णितस्यापि विभाति रूपम् ॥ ३१ ॥

कुमुदश्रीरिवैकस्था ज्योत्स्ना पुञ्जीकृतेव च ।
छायेव खलु तस्येयमादर्शतलसंश्रिता ॥ ३२ ॥

अथ तत्रैकेषां निपुणतरमनुपश्यतां बुद्धिरभवत्—यथा पश्यामः स एव खल्वयं दिग्वारणेन्द्रप्रतिस्पर्धिरूपातिशयः कुञ्जरवर आपद्गतानामबन्धुसुहृदामस्माकं निस्तारणापेक्षया[1] गिरितटादस्मान्निपतित इति ।

यः स निर्घातवदभूत्कम्पयन्निव मेदिनीम् ।
व्यक्तमस्यैव पततः स चास्माभिर्ध्वनिः श्रुतः ॥ ३३ ॥

एतद्वपुः खलु तदेव मृणालगौरं
चन्द्रांशुशुक्लतनुजं तनुबिन्दुचित्रम् ।
कूर्मोपमाः सितनखाश्चरणास्त एते
वंशः स एव च धनुर्मधुरानतोऽयम् ॥ ३४ ॥

तदेव चेदं मदराजिराजितं सुगन्धिवाय्वायतपीनमाननम् ।
समुन्नतं श्रीमदनर्पिताङ्कुशं शिरस्तदेतच्च बृहच्छिरोधरम् ॥ ३५ ॥

---

१. पा० निस्तारणावेक्षया ।

कुछ देवताओं ने चन्दन-चूर्ण से रंगे हुए सुगन्धित फूल उनपर लगातार बरसाये; दूसरे देवताओं ने तन्तु-रहित, सुवर्ण-जटित उत्तरीयों से उन्हें व्याप्त किया, तीसरों ने उनपर आभूषण बिखेरे ॥ २६ ॥

कुछों ने पद्ममुकुलों के समान अञ्जलियों को ऊपर उठाकर, श्रद्धापूर्वक विरचित स्तुतियों से तथा दूसरों ने नीचे झुके हुए मुकुटों वाले शिरों से नमस्कार करते हुए, उनकी पूजा की ॥ २७ ॥

कतिपयों ने पुष्पपराग के सम्पर्क से सुगन्धित तथा (सरोवर में) तरंग-मालाएँ उत्पन्न करते हुए (शीतल) पवन से उनपर व्यजन चलाया। दूसरों ने आकाश में उनपर घने मेघों का वितान बनाया ॥ २८ ॥

कतिपय ने भक्तिभाव से उनकी पूजा करने के लिए दिव्य दुन्दुभियों की ध्वनि से आकाश को गुंजाया तथा दूसरों ने असमय के पल्लव-सहित फूलों और फलों से वृक्षों को विभूषित किया ॥ २९ ॥

दिशाओं ने शरद् ऋतु की सुन्दर शोभा को धारण किया, सूर्य की किरणें लम्बी हो गईं। कुतूहल से कम्पित तरंगोंवाला समुद्र मानो आनन्द के कारण उनसे मिलने के लिए उद्यत हुआ ॥ ३० ॥

तब उन लोगों ने क्रम से उस सरोवर पर पहुँचकर वहाँ गर्मी प्यास और थकावट दूर की तथा उस महात्मा के कथनानुसार कुछ ही दूरपर कुछ ही देर पहले मरे हुए हाथी के शरीर को देखा। उन्होंने सोचा—"अहो ! यह हाथी उस गजराज के ही समान है।

यह उस बड़े हाथी का भाई, कोई बन्धु या पुत्र होगा। चूर होने पर भी श्वेत पर्वत के समान शोभायमान यह रूप उसी (गजराज) का है ॥ ३१ ॥

यह रूप कुमुदों की एकत्रित शोभा के समान, पुञ्जीभूत ज्योत्स्ना के समान है। यह दर्पण में पड़नेवाले उसी के प्रतिविम्ब के समान है" ॥ ३२ ॥

ध्यानपूर्वक देखते हुए कुछ लोगों ने सोचा—"जैसा हम देखते हैं, दिग्गज के समान अत्यन्त रूपवान् यह वही श्रेष्ठ हाथी है। विपत्ति में पड़े हुए तथा स्वजनों और मित्रों से रहित हमारी रक्षा करने के उद्देश्य से ये पहाड़ के इस किनारे से गिर पड़े हैं।

आँधी के शब्द के समान पृथ्वी को कँपाता हुआ जो शब्द हुआ था और जिसे हमने सुना था वह स्पष्ट ही इनके ही गिरने का शब्द था ॥ ३३ ॥

सूक्ष्म बिन्दुओं से चित्र-विचित्र, चाँदनी के समान श्वेत रोमवाला, कमल-नाल के समान गौरवर्ण यह वही शरीर है। श्वेत नखोंवाले, कच्छप-सदृश ये वही चरण हैं। धनुष के समान सुन्दर झुका हुआ यह वही मेरुदण्ड है ॥ ३४ ॥

लम्बा और मोटा यह वही मुख है, जो मद-जल की धारा से सुशोभित है और जिसकी हवा सुगन्धित है। यह वही सुन्दर और उन्नत मस्तक है, जिसपर कभी अङ्कुश नहीं पड़ा। यह वही विशाल ग्रीवा है ॥ ३५ ॥

विषाणयुग्मं तदिदं मधुप्रभं सदर्पचिह्नं तटरेणुनारुणम् ।
आदेशयन् मार्गमिमं च येन नः स एष दीर्घाङ्गुलिपुष्करः करः ॥ ३६ ॥

आश्चर्यमत्यद्भुतरूपं बत खल्विदम् ।

अदृष्टपूर्वान्वयशीलभक्तिषु क्षतेषु भाग्यैरपरिश्रितेष्वपि ।
सुहृत्त्वमस्मासु बतेदमीदृशं सुहृत्सु वा बन्धुषु वास्य कीदृशम् ॥ ३७ ॥

सर्वथा नमोऽस्त्वस्मै महाभागाय ।

आपत्परीतान् भयशोकदीनानस्मद्विधानभ्युपपद्यमानः ।
कोऽप्येष मन्ये द्विरदावभासः सिषत्सतामुद्वहतीव[1] वृत्तम् ॥ ३८ ॥

क्व शिक्षितोऽसावतिभद्रतामिमामुपासितः को न्वमुना गुरुर्वने ।
न रूपशोभा रमते विना गुणैर्जनो यदित्याह तदेतदीक्ष्यते ॥ ३९ ॥

अहो स्वभावातिशयस्य संपदा विदर्शितानेन यथार्हभद्रता ।
हिमाद्रिशोभेन मृतोऽपि खल्वयं कृतात्मतुष्टिर्हसतीव वर्ष्मणा ॥ ४० ॥

तत्क इदानीमस्य स्निग्धबान्धवसुहृत्प्रतिविशिष्टवात्सल्यस्यैवमभ्युपपत्ति-सुमुखस्य स्वैः प्राणैरप्यस्मदर्थमुपकर्तुमभिप्रवृत्तस्यातिसाधुवृत्तस्य मांसमुपभोक्तुं शक्ष्यति ? युक्तं त्वस्माभिः पूजाविधिपूर्वकमग्निसत्कारेणास्यानृण्यमुपगन्तुमिति । अथ तान् बन्धुव्यसन इव शोकानुवृत्तिप्रवणहृदयान् साश्रुनयनान् गद्गदायमानकण्ठानवेक्ष्य कार्यान्तरमवेक्षमाणा धीरतरमनस ऊचुरन्ये—न खल्वेवमस्माभिरयं द्विरदवरः सपूजितः सत्कृतो वा स्यात् । अभिप्रायसंपादनेन त्वयमस्माभिर्युक्तः पूजयितुमिति पश्यामः ।

अस्मन्निस्तारणापेक्षी स ह्यसंस्तुतबान्धवः ।
शरीरं त्यक्तवानेवमिष्टमिष्टतरातिथिः ॥ ४१ ॥

अभिप्रायमतस्त्वस्य युक्तं समनुवर्तितुम् ।
अन्यथा हि भवेद्व्यर्थो ननु तस्यायमुद्यमः ॥ ४२ ॥

स्नेहादुद्यतमातिथ्यं सर्वस्वं तेन खल्विदम् ।
अप्रतिग्रहणाद्व्यर्थां कुर्यात्को न्वस्य सत्क्रियाम् ॥ ४३ ॥

गुरोरिव यतस्तस्य वचसः संप्रतिग्रहात् ।
सत्क्रियां कर्तुमर्हामः क्षेममात्मन एव च ॥ ४४ ॥

निस्तीर्य चेदं व्यसनं समग्रैः प्रत्येकशो वा पुनरस्य पूजा ।
करिष्यते नागवरस्य सर्वं बन्धोरतीतस्य यथैव कृत्यम् ॥ ४५ ॥

---

१. पा० सीदत्सताम् ।

यह वही दन्त-युगल है, जो पहाड़ के किनारे की धूल से धूसरित, अतः दर्प के चिह्न से युक्त और मधु के रंग का है। लम्बी अंगुलियों के समान पुष्करवाली यह वही सूँड़ है, जिससे उन्होंने हमें मार्ग बतलाया था ॥ ३६ ॥

यह अत्यन्त अद्भुत आश्चर्य है।

जिनके कुल शील और भक्ति को पहले नहीं देखा, जिनके विषय में पहले कुछ सुना भी नहीं ऐसे हम भाग्य-हीनों के प्रति इन्होंने इतनी सुजनता दिखलाई, तब अपने मित्रों और बन्धुओं के प्रति कितनी दिखलाते होंगे ॥ ३७ ॥

यह महाभाग सर्वथा प्रणम्य हैं।

विपत्ति से घिरे हुए, भय और शोक से पीड़ित हमपर अनुग्रह करनेवाले ये, मैं समझता हूँ, हाथी के रूप में कोई हैं, जो सज्जनों के दुर्लभ आचरण को धारण करते हैं ॥ ३८ ॥

कहाँ इन्होंने इस अलौकिक भद्रता (सुजनता) की शिक्षा पाई ? वन में इन्होंने किस गुरु की उपासना की ? उत्तम रूप सद्‌गुणों के बिना रमणीय नहीं होता है, यह लोकक्ति हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं ॥ ३९ ॥

अहो ! उत्तम स्वभाव के द्वारा इन्होंने अपने अनुरूप ही सुजनता दिखलाई। आत्म-सन्तोष पाकर यद्यपि ये मरे हुए हैं तथापि हिमाचल के समान सुशोभित शरीर से मानो हँस रहे हैं ॥ ४० ॥

तब कौन इस समय स्नेही बन्धुओं से बढ़कर स्नेह करनेवाले, अनुग्रह-परायण, अपने प्राणों से भी हमारे उपकार में प्रवृत्त, अत्यन्त साधु आचरणवाले इनका मांस खा सकेगा ? उचित तो यही है कि विधिपूर्वक पूजा करते हुए हम दाह-क्रिया के द्वारा इनके ऋण से मुक्त हों।" यह सोचते हुए उनके हृदय शोकाकुल हो गये, आँखें सजल हो गईं और कण्ठ गद्‌गद हो गये, जैसे उनके स्वजन की मृत्यु हुई हो। इस अवस्था में उन्हें देखकर, अन्य बातों को ध्यान में रखते हुए दूसरे धीर मनुष्यों ने उनसे कहा—

"इस प्रकार हम इस श्रेष्ठ हाथी की न पूजा कर सकेंगे, न सत्कार। हम तो यही समझते हैं कि इनके उद्देश्य को पूरा कर हम इनको पूजा करें।

इस अपरिचित बन्धु ने हमारी रक्षा करने के उद्देश्य से अपना प्रिय शरीर छोड़ा, क्योंकि इससे भी प्रिय इन्हें अतिथि ही थे ॥ ४१ ॥

अतः इनके अभिप्राय के अनुसार ही कार्य करना उचित है, नहीं तो इनका प्रयत्न व्यर्थ हो जायगा ॥ ४२ ॥

स्नेह से अतिथि-सत्कार में इन्होंने अपना सर्वस्व (यह शरीर) उत्सर्ग कर दिया। अब इसे अस्वीकार कर कौन इस सत्कार को व्यर्थ करेगा ? ॥ ४३ ॥

गुरु के समान इनके वचन का पालन करते हुए हम इनका सम्मान करें और अपना कल्याण ॥ ४४ ॥

इस विपत्ति को पार कर, हम सब मिलकर या एक एक कर इस गज-श्रेष्ठ की पूजा करेंगे और वह सब कर्म करेंगे जो मरे हुए स्वजन के लिए किया जाता है ॥ ४५ ॥

अथ ते पुरुषाः कान्तारनिस्तारणापेक्षया तस्य द्विरदपतेरभिप्रायमनुस्मरन्तस्तद्वचनमप्रतिक्षिप्य तस्य महासत्त्वस्य मांसान्यादाय दृतिभिरिव च तदन्त्रैः सलिलं तत्प्रदर्शितया दिशा स्वस्ति तस्मात्कान्ताराद्विनिर्ययुः ॥

तदेवं परिहितोदर्कं दुःखमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते, इति साधुजनप्रशंसायां वाच्यम् । तथागतवर्णेऽपि, सत्कृत्य धर्मश्रवणे च भद्रप्रकृतिनिष्पादनवर्णेऽपि वाच्यम्—एवं भद्रा प्रकृतिरभ्यस्ता जन्मान्तरेष्वनुवर्तत इति । त्यागपरिचयगुणनिदर्शनेऽपि वाच्यम्—एवं द्रव्यत्यागपरिचयादात्मस्नेहपरित्यागमप्यकृच्छ्रेण करोतीति । यच्चोक्तं भगवता परिनिर्वाणसमये समुपस्थितेषु दिव्यकुसुमवादित्रादिषु–न खलु पुनरानन्द एतावता तथागतः सत्कृतो भवतीति, तच्चैवं निदर्शयितव्यम् । एवमभिप्रायसंपादनात्पूजा कृता भवति न गन्धमाल्याद्यभिहारेणेति ॥

॥ इति हस्ति-जातकं त्रिंशत्तमम् ॥

३१. सुतसोम-जातकम्

श्रेयः समाधत्ते यथातथाप्युपनतः सत्संगम इति सज्जनापाश्रयेण श्रेयोऽर्थिना भवितव्यम् । तद्यथानुश्रूयते–

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान् यशःप्रकाशवंशे गुणपरिग्रहप्रसङ्गात्सात्मीभूतप्रजानुरागे प्रतापानतदृप्तसामन्ते श्रीमति कौरव्यराजकुले जन्म प्रतिलेभे । तस्य गुणशतकिरणमालिनः सोमप्रियदर्शनस्य सुतस्य सुतसोम इत्येवं पिता नाम चक्रे । स शुक्लपक्षचन्द्रमा इव प्रतिदिनमभिवर्धमानकान्तिलावण्यः कालक्रमादवाप्य साङ्गेषु सोपवेदेषु च वेदेषु वैचक्षण्यं दृष्टक्रमः सोत्तरकलानां लोक्यानां लोकप्रेमबहुमाननिकेतभूतः सम्यगभ्युपपत्तिसौमुख्यादभिवर्धमानादरात्परिपालननियमाच्च बन्धुरिव गुणानां बभूव ।

तब वे लोग मरुभूमि पार करने के लिए उस गजेन्द्र के अभिप्राय को ध्यान में रखते हुए, उनके वचन का पालन करते हुए, उस महासत्त्व का मांस लेकर तथा मशक की तरह उनकी अंतड़ियों में जल लेकर, उनके द्वारा बतलाई गई दिशा में चलते हुए, मरुभूमि से सकुशल बाहर हो गये।

इस प्रकार साधुओं के लिए अपना दुःख भी, जिससे दूसरों का उपकार होता है, लाभ के समान अत्यन्त प्रिय है। साधुओं की प्रशंसा में भी यह कहना चाहिए। तथागत का वर्णन करने में, आदरपूर्वक धर्म-श्रवण करने में और उत्तम स्वभाव के निर्माण के उल्लेख में भी यह कहना चाहिए—इस प्रकार अभ्यस्त उत्तम स्वभाव जन्म-जन्म में भी साथ रहता है। त्याग (दान) के अभ्यास का गुण दिखलाने में भी यह कथा कहनी चाहिए—इस प्रकार द्रव्य-त्याग के अभ्यास से प्राणी आसानी से आत्म-स्नेह (शरीर या प्राणों का मोह) भी छोड़ सकता है। भगवान् ने महापरिनिर्वाण के समय दिव्य फूलों और वाद्यों के उपस्थित किये जाने पर जो कहा था—'हे आनन्द इससे तथागत का सत्कार नहीं होता है' इसकी व्याख्या में यह दृष्टान्त उपस्थित करना चाहिए—"इस प्रकार अभिप्राय पूरा करने से ही पूजा होती है, न कि सुगन्धित पदार्थों और मालाओं के उपहार से।"

हस्ति-जातक तीसवाँ समाप्त

---

३१. सुतसोम-जातक

जैसे तैसे भी (संयोग से ही) सत्संग क्यों न प्राप्त हो वह कल्याण-कारी होता है, अतः कल्याण चाहने वाले को (प्रयत्नपूर्वक भी) सत्संग करना उचित है। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

जब यह भगवान् बोधिसत्त्व ही थे तब उन्होंने (एक बार) कीर्ति-समुज्ज्वल श्रीसम्पन्न कौरव-राजकुल में जन्म लिया। उस राजकुल ने गुणसञ्चय की आसक्ति के कारण प्रजा के अनुराग को अपनाया था और अपने तेज से अभिमानी सामन्तों को झुकाया था। वह (बालक) शत शत सद्गुण रूपी किरणों की माला से विभूषित और चन्द्रमा के समान देखने में सुन्दर था। अतः पिता ने उस पुत्र का नाम सुतसोम रखा। शुक्ल-पक्ष के चन्द्रमा के समान दिन-दिन उसकी कान्ति और आभा की वृद्धि होने लगी। काल क्रम से उसने अङ्गों और उपवेदों सहित वेदों में निपुणता प्राप्त की तथा लौकिक और लोकोत्तर (श्रेष्ठ) कलाओं का परिचय प्राप्त किया। वह लोगों के प्रेम और सम्मान के पात्र हुए। सद्गुणों के सम्यक् अर्जन[1] संवर्धन[2] और परिपालन में प्रवृत्त होने के कारण वह उन (गुणों) के बन्धु के समान थे।

शीलश्रुतत्यागदयादमानां तेजःक्षमाधीधृतिसंनतीनाम् ।
अनुन्नतिह्रीमतिकान्तिकीर्तिदाक्षिण्यमेधाबलशुक्लतानाम् ॥ १ ॥

तेषां च तेषां स गुणोदयानामलंकृतानामिव यौवनेन ।
विशुद्धतौदार्यमनोहराणां चन्द्रः कलानामिव संश्रयोऽभूत् ॥ २ ॥

अतश्चैनं स राजा लोकपरिपालनसामर्थ्यादक्षुद्रमद्रप्रकृतित्वाच्च यौवराज्यविभूत्या संयोजयामास ।

विद्वत्तया त्वासुरतीव तस्य प्रियाणि धर्म्याणि सुभाषितानि ।
आनर्च पूजातिशयैरतस्तं सुभाषितैरेनमुपागमद्यः ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्स महात्मा कुसुममासप्रभावविरचितकिसलयलक्ष्मीमाधुर्याणि प्रविकसत्कुसुममनोज्ञप्रहसितानि प्रविततनवशाद्वलकुथास्तरणसनाथधरणीतलानि कमलोत्पलदलास्तीर्णनिर्मलनीलसलिलानि भ्रमद्भ्रमरमधुकरीगणोपगीतान्यनिभृतपरभृतबर्हिगणानि मृदुसुरभिशिशिरसुखपवनानि मनःप्रसादोद्भावनानि नगरोपवनान्यनुविचरन् अन्यतममुद्यानवनं नातिमहता बलकायेन परिवृतः क्रीडार्थमुपनिर्जगाम ।

स तत्र पुंस्कोकिलनादिते वने मनोहरोद्यानविमानभूषिते ।
चचार पुष्पानतचित्रपादपे प्रियासहायः सुकृतीव नन्दने ॥ ४ ॥

गीतस्वनैर्मधुरतूर्यरवानुविद्धै-
र्नृत्यैश्च हावचतुरैर्ललिताङ्गहारैः[1] ।
स्त्रीणां मदोपहृतया च विलासलक्ष्म्या
रेमे स तत्र वनचारुतया तया च ॥ ५ ॥

तत्रस्थं चैनमन्यतमः सुभाषिताख्यायी ब्राह्मणः समभिजगाम । कृतोपचारसत्कारश्च तद्रूपशोभापहृतमनास्तत्रोपविवेश । इति स महासत्त्वो यौवनानुवृत्त्या पुण्यसमृद्धिप्रभावोपनतं क्रीडाविधिमनुभवंस्तदागमनादुत्पन्नबहुमान एव तस्मिन् ब्राह्मणे सुभाषितश्रवणादनवाप्तागमनफले सहसैवोत्पतितं गीतवादित्रस्वनोपरोधि क्रीडाप्रसङ्गजनितप्रहर्षोपहन्तृ प्रमदाजनभयविषादजननं कोलाहलमुपश्रुत्य ज्ञायतां किमेतदिति सादरमन्तःपुरावचरान् समादिदेश । अथास्य दौवारिका भयविषाददीनवदनाः ससंभ्रमं द्रुततरमुपेत्य न्यवेदयन्त—एष स देव पुरुषादः कल्माषपादः सौदासः साक्षादिवान्तको नरशतकदनकरणपरिचयाद्राक्षसाधिकक्रूरतरमतिरतिमानुषबलवीर्यदर्पो रक्षःप्रतिभयरौद्रमूर्तिर्मूर्तिमानिव जगत्संत्रास इत एवाभि-

१. पा० त्युलिताङ्गहारैः ।

सदाचार त्याग दया संयम तेज धैर्य विनम्रता विनय लज्जा विचार कान्ति कीर्ति अनुकूलता मेधा शक्ति और पवित्रता, ये विविध गुण उनकी युवावस्था से अलङ्कृत तथा उनकी विशुद्धता और उदारता से रमणीय थे । इन सद्गुणों के आश्रय थे वह कुमार, जैसे कलाओं का आश्रय है चन्द्रमा ॥ १-२ ॥

उनका स्वभाव उत्तम और उदार है, वह प्रजा-पालन में समर्थ हैं, यह देखकर राजा ने उन्हें युवराज की लक्ष्मी से युक्त किया[1] ।

विद्वान् होने के कारण उन्हें धार्मिक सुभाषित (सूक्तियाँ) बहुत प्रिय थे । अतः जो कोई सुभाषित लेकर उनके पास जाता था उसका बड़ा आदर-सत्कार करते थे ॥ ३ ॥

एक बार वह महात्मा परिमित सेना के साथ क्रीडा के लिये बाहर निकले । नगर के उपवनों में—जहाँ वसन्त के प्रभाव से सुन्दर और मधुर किसलय निकल रहे थे, खिले हुए फूलों की मुस्कानें मनोहर लगती थीं, बिछे हुए तृणों की शय्या से धरती ढकी हुई थी, श्वेत और नीले कमलों से निर्मल नीला जल आच्छादित था, मड़राते हुये मधुकर और मधुकरियाँ गा रही थीं, कोकिल और मोर बोल रहे थे, शीतल मन्द सुगन्ध सुखदायक हवा वह रही थी और (इन चीजों से) मनको आनन्द प्राप्त हो रहा था—विचरण करते हुए एक उपवन में आये ।

कोकिलों से निनादित, मनोहर उद्यान-मण्डपों से विभूषित, फूलों के भार से झुके हुये, चित्र-विचित्र वृक्षों से युक्त उस वन में वह अपनी प्रियतमाओं के साथ विचरण करने लगे, जैसे नन्दन-वन में कोई पुण्यात्मा विचरण कर रहा हो ॥ ४ ॥

वह वहां मधुर वाद्य-ध्वनि के साथ मिले हुये स्त्रियों के गीतों, हाव-भाव के साथ नृत्यों, मनोहर अङ्ग-सञ्चालनों और मद से उत्पन्न सुन्दर विलास तथा वन की शोभा से आनन्दित हुए ॥ ५ ॥

वहाँ उनके पास सुभाषित सुनाने वाला कोई ब्राह्मण आया । उसका उचित आदर-सत्कार हुआ और वह उनकी रूपशोभा से आकृष्टचित्त (मुग्ध) होकर वहीं बैठ गया । वह महासत्त्व युवावस्था के अनुरूप तथा पुण्य-राशि के प्रभाव से प्राप्त क्रीडा का अनुभव कर रहे थे कि उस ब्राह्मण के आगमन से उनके हृदय में उसके प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न हुआ । सुभाषित सुनाकर उसने अपने आने का फल पाया भी नहीं था कि सहसा ही गीत और वाद्य (की ध्वनि) का बाधक, क्रीड़ा से उत्पन्न आनन्द का घातक, स्त्रियों को भयभीत और व्यथित करने वाला कोलाहल उत्पन्न हुआ । उसे सुनकर उसने अपने अन्तःपुर के अनुचरों को सादर आदेश दिया—"पता लगाओ यह क्या है ।" तब भय और विषाद से उदास मुख वाले द्वारपालों ने घबड़ाहट में शीघ्रता से आकर निवेदन किया—"देव, यह नर-भक्षी सुदास-पुत्र कल्माषपाद है, साक्षात् यम के समान, सैकड़ों मनुष्यों के संहार का अभ्यस्त, राक्षसों से अधिक क्रूर, अतिमानुष शक्ति और गर्व से युक्त, राक्षसों के समान भयङ्कर मूर्तिवाला, मूर्त्तिमान लोक-भय के समान

वर्तते । विद्रुतं च नस्तत्संत्रासग्रस्तधैर्यमुद्भ्रान्तरथतुरगद्विरदव्याकुलयोधं बलम् । यतः प्रतियत्नो भवतु देवः, प्राप्तकालं वा संप्रधार्यतामिति ।

अथ सुतसोमो जानानोऽपि तानुवाच—भोः क एष सौदासो नाम ? ते तं प्रोचुः—किमेतद्देवस्य न विदितं यथा सुदासो नाम राजा बभूव । स मृगयानिर्गतोऽश्वेनापहृतो वनगहनमनुप्रविष्टः सिंह्या सार्धं योगमगमत् । आपन्नसत्त्वा च सा सिंही संवृत्ता । कालान्तरेण च कुमारं प्रसुषुवे । स वनचरैर्गृहीतः सुदासायोपनीतः । अपुत्रोऽहमिति च कृत्वा सुदासेन संवर्धितः । पितरि च सुरपुरमुपगते स्वं राज्यं प्रतिलेभे । स मातृदोषादामिषेष्वभिसक्त । इदमिदं रसवरं मांसमिति स मानुषं मांसमास्वाद्य स्वपौरानेव च हत्वा हत्वा भक्षयितुमुपचक्रमे । अथ पौरास्तद्वधायोद्योगं चक्रुः । यतोऽसौ भीतः सौदासो नररुधिरपिशितबलिभुग्भ्यो भूतेभ्य उपशुश्राव—अस्मात्संकटान्मुक्तोऽहं राज्ञां कुमारशतेन भूतयज्ञं करिष्यामीति । सोऽयं तस्मात्संकटान्मुक्तः । प्रसह्य प्रसह्य चानेन राजकुमारापहरणं कृतम् । सोऽयं देवमप्यपहर्तुमायातः । श्रुत्वा देवः प्रमाणमिति ॥

अथ स बोधिसत्त्वः पूर्वमेव विदितशीलदोषविभ्रमः सौदासस्य कारुण्यात्तच्चिकित्सावहितमतिराशंसमानश्चात्मनि तच्छीलविकृतप्रशमनसामर्थ्यं प्रियाख्यान इव च सौदासमियाननिवेदने प्रीतिं प्रतिसंवेदयन्नियतमित्युवाच—

राज्याच्च्युतेऽस्मिन्नरमांसलोभादुन्मादवक्तव्य इवास्वतन्त्रे ।
त्यक्तस्वधर्मे हतपुण्यकीर्तौ शोच्यां दशामित्यनुवर्तमाने ॥ ६ ॥

को विक्रमस्यात्र ममावकाश एवंगताद्वा भयसभ्रमस्य ।
अयत्नसंरम्भपराक्रमेण पाप्मानमस्य प्रसभं निहन्मि ॥ ७ ॥

गत्वापि यो नाम मयानुकम्प्यो मद्गोचरं स स्वयमभ्युपेतः ।
युक्तं मयातिथ्यमतोऽस्य कर्तुमेवं हि सन्तोऽतिथिषु प्रवृत्ताः ॥ ८ ॥

तद्यथाधिकारमत्रावहिता भवन्तु भवन्तः । इति स तानन्तःपुरावचराननुशिष्य विषादविपुलतरपारिप्लवाक्षमागद्गदविलुलितकण्ठं मार्गावरणसोद्यममाश्वासनपूर्वकं विनिवर्त्य युवतिजनं यतस्तत्कोलाहलं ततः प्रससार । दृष्ट्वैव च व्यायतावद्धमलिनवसनपरिकरं वल्कलपट्टविनियतं रेणुपरुषप्रलम्बव्याकुलशिरोरुहं प्ररूढश्मश्रुजालावनद्धान्धकारवदनं रोषसंरम्भव्यावृत्तरौद्रनयनमुद्यतासिचर्माणं सौदासं विद्रवदनुपतन्तं राजबलं विगतभयसाध्वसः समाजुहाव—अयमहमरे सुतसोमः । इत एव निवर्तस्व । किमनेन कृपणजनकदनकरण-

यह इधर ही आ रहा है। उसके डर से धैर्य-च्युत हमारी सेना भाग रही है, रथों के घोड़े और हाथी अस्तव्यस्त हैं तथा योद्धा व्याकुल हैं। अतः देव सामना करें या यथोचित कर्तव्य का निर्धारण करें।"

तब सुतसोम ने जानते हुए भी उनसे पूछा—"यह सौदास (सुदास पुत्र) कौन है? उन्होंने उत्तर दिया—"क्या श्रीमान् को यह विदित नहीं है कि सुदास नामक राजा थे। जब वह मृगया के लिए निकले तो घोड़े पर बहक कर दुर्गम वन में पहुँचे। वहाँ सिंही के साथ सहवास किया, वह गर्भवती हुई और कालक्रम से उसने कुमार को जन्म दिया। वनचारी उसे पकड़कर सुदास के पास ले आये। "मैं पुत्र-रहित हूँ' यह सोचकर सुदास ने उसका पालन-पोषण किया। पिता के स्वर्गीय होनेपर उसने अपना राज्य पाया। मातृदोष के कारण वह मांस-भक्षण में आसक्त हुआ। मानुष मांस का आस्वादन कर और उसे अत्यन्त स्वादिष्ठ समझ कर अपने पुर-वासियों को ही मार मार कर खाने लगा। तब पुर-वासियों ने उसके वध का प्रबन्ध किया। अतः डरकर उस सौदास ने मनुष्यों के रुधिर और कच्चे मांस की बलि (उपहार) खानेवाले भूतों से प्रतिज्ञा की—'इस संकट से मुक्त होकर मैं सौ राजकुमारों को लेकर भूतों के लिये यज्ञ करूँगा।' वह इस संकट से मुक्त हो गया है और उसने बलपूर्वक राजकुमारों का अपहरण किया है। अब वह श्रीमान् का भी अपहरण करने के लिए आया है। यह सुनकर देव प्रमाण है! (आपकी जो आज्ञा हो)।"

वह बोधिसत्त्व पहले से ही सौदास की दुश्शीलता को जानते थे। दया के कारण उसकी चिकित्सा में दत्तचित्त होकर, उसकी दुश्शीलता को दूर करने में अपने को समर्थ समझते हुये, प्रिय समाचार के समान सौदास के आगमन के निवेदन में प्रीति प्रकट करते हुए, उसने निश्चयपूर्वक कहा—

"नर-मांस के लोभ से यह राज्य से च्युत हुआ। पागल के समान यह परवश है। इसने राज-धर्म छोड़ा, यश और पुण्य खोया। यह इस शोचनीय दशा में पड़ा हुआ है ॥ ६ ॥

मैं इससे युद्ध करूँ या भयभीत होऊँ, इसके लिए अवसर ही क्या है? चेष्टा बल और पराक्रम के विना ही मैं इसके पाप को उन्मूलित करूँगा ॥ ७ ॥

जाकर भी जिसके ऊपर मुझे अनुकम्पा करनी चाहिये वह स्वयं मेरे सम्मुख आया हुआ है। अतः इसका अतिथि-सत्कार करना मेरे लिए उचित है, क्योंकि सज्जन अतिथियों के प्रति ऐसा ही आचरण करते हैं" ॥ ८ ॥

"आप लोग अपने अपने कार्य में सावधान रहें" इस प्रकार अन्तःपुर के उन रक्षकों को आदेश देकर, दुःख से अत्यन्त डबडबाई आँखों वाली, रुँधे कण्ठवाली, रास्ता रोकने की चेष्टा करने वाली युवतियों को आश्वासनपूर्वक लौटा कर, वह राजकुमार जिधर कोलाहल हो रहा था उधर बढ़े। वहाँ सौदास को देखा। उसके मलिन वस्त्र कमर में दृढ़तापूर्वक बँधे हुये थे, धूल से रूखे लम्बे अस्तव्यस्त शिर के बाल वल्कल से कसे हुए थे, बढ़ी हुई मूँछ-दाढ़ी के अन्धकार से उसका मुखमण्डल व्याप्त था, क्रोध से घूमती हुई उसकी आँखें भयङ्कर लगती थीं। (हाथ में) ढाल और तलवार उठाये हुए वह भागती हुई राज-सेना का पीछा कर रहा था। उसे देखते ही राजकुमारने निर्भय होकर पुकारा—"अरे, यह मैं सुतसोम हूँ। इधर ही लौटो।

प्रसङ्गेनेति। तत्समाह्वानशब्दाकलितदर्पस्तु सौदासः सिंह इव ततो न्यवर्तत। निरावरणप्रहरणमेकाकिनं प्रकृतिसौम्यदर्शनमभिवीक्ष्य च बोधिसत्त्वमहमपि त्वामेव मृगयामीत्युक्त्वा निर्विशङ्कः सहसा संरम्भद्रुततरमभिसृत्यैनं स्कन्धमारोप्य प्रदुद्राव। बोधिसत्त्वोऽपि चैनं संरम्भदर्पोद्धतमानसं ससंभ्रमाकुलितमतिं राजबलविद्रावणादुपरूढप्रहर्षावलेपं साभिशङ्कमवेत्य नायमस्यानुशिष्टिकाल इत्युपेक्षांचक्रे। सौदासोऽप्यभिमतार्थप्रसिद्ध्या परमिव लाभमधिगम्य प्रमुदितमनाः स्वमावासदुर्गं प्रविवेश।

हतपुरुषकलेवराकुलं रुधिरसमुक्षितरौद्रभूतलम्।
पुरुषमिव रुषावभर्त्सयत्स्फुटदहनैरशिवैः शिवारुतैः॥ ९॥

गृध्रध्वाङ्क्षाध्यासनरूक्षारुणपर्णैः
कीर्णं वृक्षैर्नैकचिताधूमविवर्णैः।
रक्षःप्रेतानर्तनबीभत्सश्मशान्तं
दूराद् दृष्टं त्रासजडैः सार्थिकनेत्रैः॥ १०॥

समवतार्य च तत्र बोधिसत्त्वं तद्रूपसंपदा विनिबध्यमाननयनः प्रततं वीक्षमाणो विशश्राम॥ अथ बोधिसत्त्वस्य सुभाषितोपायनाभिगतं ब्राह्मणमकृतसत्कारं तदुद्यानविनिवर्तनप्रतीक्षिणमाशावबद्धहृदयमनुस्मृत्य चिन्ता प्रादुरभूत्—कष्टं भोः!

सुभाषितोपायनवानाशया दूरमागतः।
स मां हृतमुपश्रुत्य विप्रः किं नु करिष्यति॥ ११॥

आशाविघाताग्निपरीतचेता वैतान्यतीव्रेण परिश्रमेण।
विनिश्वसिष्यत्यनुशोच्य वा मां स्वभाग्यनिन्दां प्रतिपत्स्यते वा॥ १२॥

इति विचिन्तयतस्तस्य महासत्त्वस्य तदीयदुःखाभितप्तमनसः कारुण्यपरिचयादश्रूणि प्रावर्तन्त। अथ सौदासः साश्रुनयनमभिवीक्ष्य बोधिसत्त्वं समभिप्रहसन्नुवाच—मा तावद्भोः!

धीर इत्यसि विख्यातस्तैस्तैश्च बहुभिर्गुणैः।
अथ चास्मद्वशं प्राप्य त्वमप्यश्रूणि मुञ्चसि॥ १३॥

सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

आपत्सु विफलं धैर्यं शोके श्रुतमपार्थकम्।
न हि तद्विद्यते भूतमाहतं यन्न कम्पते॥ १४॥ इति।

तत्सत्यं तावद् ब्रूहि—

दुःखी मनुष्यों को मारने से क्या लाभ ?" उसकी पुकार से घमण्ड में आकर सौदास सिंह के समान उसी ओर लौटा। बोधिसत्त्व को निरावरण (कवच-रहित) निश्शस्त्र एकाकी और स्वभाव से सौम्य देखकर "मैं भी तुम्हें ही खोज रहा हूँ" यह कहते हुए, निश्शङ्क भाव से हठात् ही क्रोध के कारण शीघ्रता-पूर्वक उसके पास जाकर उसे कन्धे पर चढ़ाकर वह भागा। बोधिसत्त्व ने भी उसे क्रोध और गर्व से उद्धत, घबड़ाहट में पड़ा हुआ, राजसेना को भगाने के उल्लास से उन्मत्त जानकर, 'यह उपदेश का समय नहीं है' यह समझते हुए उपेक्षा का भाव अपनाया। सौदास ने भी अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि से, जैसे परम लाभ को पाकर, प्रसन्नचित्त हो अपने निवास-दुर्ग में प्रवेश किया।

मारे गये मनुष्यों की लाशों से पटा हुआ, रुधिर से सना हुआ वह स्थान भयङ्कर था और शृगालों के दाहक अशुभ शब्दों से (आये हुए) मनुष्यों को मानो क्रोध से डरा रहा था ॥ ९ ॥

गीधों और कौओं के बैठने से रूखे पीले पत्तों वाले तथा अनेक चिताओं के धुएँ से विवर्ण वृक्षों से भरे हुए, राक्षसों और प्रेतों के नृत्य से बीभत्स तथा अशान्त उस स्थान को दूर से देखकर यात्रियों की आँखें भय से पथरा जाती थी ॥ १० ॥

वहाँ बोधिसत्त्व को उतार कर, उनकी रूप-सम्पत्ति को निश्चल दृष्टि से देर तक देखते हुए उसकी थकावट दूर हो गई। तब बोधिसत्त्व ने उस ब्राह्मण को स्मरण किया, जो सुभाषितरूपी उपहार लेकर आया था, जिसका सत्कार नहीं किया जा सका, जो उद्यान में उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रहा था, और (पुरस्कार की) आशा से जिसका हृदय बँधा हुआ था। उसने सोचा—"अहो !

सुभाषितरूप उपहार लेकर (पुरस्कार की) आशा से दूर देश से आया हुआ वह विप्र मेरा अपहरण सुनकर, न मालूम, क्या करता होगा ॥ ११ ॥

निराशा की अग्नि से उसका चित्त प्रज्वलित होगा, विफलता[1] के कारण तीव्र थकावट अनुभव करता होगा, मेरे लिए शोक करता हुआ लम्बी साँसें लेता होगा या अपने भाग्य की निन्दा करता होगा" ॥ १२ ॥

इस प्रकार सोचते हुए उसके दुःख से दुःखी उस दयालु महापुरुष के (नेत्रों से) आँसू निकल पड़े। तब सौदास ने बोधिसत्त्व को सजलनयन देखकर हँसते हुए कहा—"ऐसा न करो,

अपने अनेक गुणों के कारण तुम धीर कहे जाते हो और मेरे वश में पड़कर आँसू बहा रहे हो ॥ १३ ॥

यह ठीक ही कहा जाता है—

विपत्ति में धैर्य नष्ट हो जाता है, शोक में शास्त्र-ज्ञान व्यर्थ हो जाता है। ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो (विपत्ति या शोक से) आहत होकर विचलित न हो ॥ १४ ॥

मुझे सच कहो—

प्राणान् प्रियानथ धनं सुखसाधनं वा
बन्धून्नराधिपतितामथवानुशोचन् ।
पुत्रप्रियं पितरमश्रुमुखान् सुतान् वा
स्मृत्वेति साश्रुनयनत्वमुपागतोऽसि ॥ १५ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

न प्राणान् पितरौ न चैव तनयान् बन्धून्न दारान्न च
नैवैश्वर्यसुखानि संस्मृतवतो बाष्पोद्गमोऽयं मम ।
आशावांस्तु सुभाषितैरभिगतः श्रुत्वा हृतं मां द्विजो
नैराश्येन स दह्यते ध्रुवमिति स्मृत्वास्मि सास्रेक्षणः ॥१६॥

तस्माद्विसर्जयितुमर्हसि तस्य याव-
दाशाविघातमथितं हृदयं द्विजस्य ।
संमाननाम्बुपरिषेकनवीकरोमि
तस्मात्सुभाषितमधूनि च संविमर्मि ॥ १७ ॥

प्राप्यैवमानृण्यमहं द्विजस्य गन्तास्मि भूयोऽनृणतां तवापि ।
इहागमात्प्रीतिकृतक्षणाभ्यां निरीक्ष्यमाणो भवदीक्षणाभ्याम् ॥ १८ ॥

मा चापयातव्यनयोऽयमस्येत्येवं विशङ्काकुलमानसो भूः ।
अन्यो हि मार्गो नृप मद्विधानामन्यादृशस्त्वन्यजनाभिपन्नः ॥ १९ ॥

सौदास उवाच—

इदं त्वया ह्युद्दतमुच्यमानं श्रद्धेयतां नैव कथंचिदेति ।
को नाम मृत्योर्वदनाद्विमुक्तः स्वस्थः स्थितस्तत्पुनरभ्युपेयात् ॥ २० ॥

दुरुत्तरं मृत्युभयं व्यतीत्य सुखे स्थितः श्रीमति वेश्मनि स्वे ।
किं नाम तत्कारणमस्ति येन त्वं मत्समीपं पुनरभ्युपेयाः ॥ २१ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—कथमेवं महदपि ममागमनकारणमत्रभवान्नावबुध्यते ? ननु मया [1]प्रतिपन्नमागमिष्यामीति । तदलं मां खलजनसमतयैवं परिशङ्कितुम् । सुतसोमः खल्वहम् ।

लोभेन मृत्योश्च भयेन सत्यं सत्यं यदेके तृणवत्त्यजन्ति ।
सतां तु सत्यं वसु जीवितं च कृच्छ्रेऽप्यतस्तन्न परित्यजन्ति ॥ २२ ॥

न जीवितं यत्सुखमैहिकं वा सत्याच्च्युतं रक्षति दुर्गतिभ्यः ।
सत्यं विजह्यादिति कस्तदर्थं यच्चाकरः स्तुतियशःसुखानाम् ॥ २३ ॥

संदृश्यमानव्यभिचारमार्गे त्वदृष्टकल्याणपराक्रमे वा ।
श्रद्धेयतां नैति शुभं तथा च किं वीक्ष्य शङ्का तव मय्यपीति ॥ २४ ॥

---

१. वा० प्रतिज्ञात० ।

प्रिय प्राणों के लिए, सुख के साधन धन के लिए, बन्धुओं के लिए, या राजत्व के लिए शोक करते हुए अथवा पुत्र-प्रिय पिता को या रोते हुए पुत्रों को स्मरण कर तुम नेत्रों से आँसू बहा रहे हो" ॥ १५ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—

"प्राणों माता-पिता पुत्रों बन्धुओं स्त्रियों या ऐश्वर्य-सुखों को स्मरण कर मेरे (नेत्रों से) ये आँसू नहीं निकल रहे हैं। किन्तु सुभाषितों के साथ (पुरस्कार की) आशा से आया हुआ द्विज मेरा अपहरण सुनकर निश्चय ही निराशा से जल रहा होगा, यही सोचकर मेरी आँखें सजल हो रही हैं ॥ १६ ॥

इसलिए मुझे तब तक के लिए छोड़ दें जब तक द्विज के निराशा-दग्ध हृदय को सत्काररूप जल के सिञ्चन से हरा करूँ और उससे सुभाषितरूप मधु भी ग्रहण करूँ ॥ १७ ॥

इस प्रकार द्विज के ऋण से मुक्त होकर, फिर यहाँ आकर आनन्द से उल्लासपूर्ण आपकी आँखों से देखा जाता हुआ मैं आपके ऋण से भी मुक्त होऊँगा ॥ १८ ॥

यह भागने का उपाय (बहाना) है, ऐसी आशङ्का से आप का मन पीड़ित न हो। हे राजन्, हमारे-जैसे लोगों का मार्ग दूसरा है और अन्य लोगों के चलने का मार्ग दूसरे प्रकार का है" ॥ १९ ॥

सौदास ने कहा—

"तुम्हारे द्वारा निश्चयपूर्वक कहा जाता हुआ यह वचन किसी प्रकार भी विश्वसनीय नहीं है। मृत्यु के मुख से मुक्त होकर कौन स्वस्थचित्त मनुष्य फिर उसी के पास जायगा ? ॥ २० ॥

दुस्तर मृत्यु-भय को पारकर जब तुम सुख शोभा और सम्पत्ति से भरे हुए अपने भवन में पहुँचोगे, तब क्या कारण है कि तुम फिर मेरे समीप आओ" ॥ २१ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"मेरे आने का कारण महान् (स्पष्ट) होनेपर भी आप क्यों नहीं समझ रहे हैं ? मैंने प्रतिज्ञा की है कि मैं आऊँगा। मुझे दुर्जन के समान समझते हुए आप आशङ्का न करें। मैं सुतसोम हूँ। कुछ लोग लोभ या मृत्यु के भय से सत्य का तृणवत् परित्याग करते हैं। किन्तु सज्जनों के लिए सत्य धन और जीवन है। अतः सङ्कट में भी वे सत्य को नहीं छोड़ते ॥ २२ ॥

जीवन या ऐहलौकिक सुख सत्य से गिरे हुए की दुर्गतियों से रक्षा नहीं कर सकता। तब उस (जीवन या सुख) के लिए कौन सत्य को छोड़ेगा, जो स्तुति कीर्ति और सुख का मूल है ? ॥ २३ ॥

जो कुमार्ग पर चलता हुआ दिखाई पड़ता है या कल्याण के लिए उद्योग करता हुआ नहीं दिखाई पड़ता उसका शुभाचरण विश्वसनीय नहीं है। किन्तु क्या देखकर आप मुझ पर भी आशङ्का कर रहे हैं ? ॥ २४ ॥

त्वत्तो भयं यदि च नाम ममाभविष्यत्
सङ्गः सुखेषु करुणाविकलं मनो वा ।
विख्यातरौद्रचरितं ननु वीरमानी
त्वामुद्यतप्रहरणावरणोऽभ्युपैष्यम् ॥ २५ ॥

त्वत्संस्तवस्त्वयमभीप्सित एव मे स्यात्
तस्य द्विजस्य सफलश्रमतां विधाय ।
एष्याम्यहं पुनरपि स्वयमन्तिकं ते
नास्मद्विधा हि वितथां गिरमुद्गिरन्ति ॥ २६ ॥

अथ सौदासस्तद् बोधिसत्त्ववचनं विकल्पितमिवामृष्यमाणश्चिन्तामापेदे—सुष्ठु खल्वयं सत्यवादितया च धार्मिकतया च विकत्थते । तत्पश्यामि तावदस्य सत्यानुरागं धर्मप्रियतां च । किं च तावन्ममानेन नष्टेनापि स्यात् ? अस्ति हि मे स्वभुजवीर्यप्रतापाद्वशीकृतं शतमात्रं क्षत्रियकुमाराणाम् । तैर्यथोपयाचितं भूत यज्ञं करिष्यामीति विचिन्त्य बोधिसत्त्वमुवाच—तेन हि गच्छ । द्रक्ष्यामस्ते सत्यप्रतिज्ञतां धार्मिकतां च ।

गत्वा कृत्वा च तस्य त्वं द्विजस्य यदभीप्सितम् ।
शीघ्रमायाहि यावत्ते चितां सज्जीकरोम्यहम् ॥ २७ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य स्वभवनमभिगतः प्रतिनन्द्यमानः स्वेन जनेन तमाहूय ब्राह्मणं तस्माद् गाथाचतुष्टयं शुश्राव । तच्छ्रुत्वा सुभाषिताभिप्रसादितमनाः स महासत्त्वः संराधयन् प्रियवचनसत्कारपुरःसरं साहस्रिकीं गाथां कृत्वा समभिलषितेनार्थेन तं ब्राह्मणं प्रतिपूजयामास । अथैनं तस्य पिता अस्थानातिव्ययनिवारणोद्यतमतिः प्रस्तावक्रमागतं सानुनयमित्युवाच—तात सुभाषितप्रतिपूजने साधु मात्रां ज्ञातुमर्हसि । महाजनः खलु ते भर्तव्यः, कोशसंपदपेक्षिणी च राजश्रीः । अतश्च त्वां ब्रवीमि—

शतेन संपूजयितुं सुभाषितं परं प्रमाण न ततः परं क्षमम् ।
अतिप्रदातुर्हि कियच्चिरं भवेद्धनेश्वरस्यापि धनेश्वरद्युतिः ॥ २८ ॥

समर्थमर्थः परमं हि साधनं न तद्विरोधेन यतश्चरेच्छ्रियम् ।
नराधिपं श्रीर्न हि कोशसंपदा विवर्जितं वेशवधूरिवेक्षते ॥ २९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

अर्घप्रमाणं यदि नाम कर्तुं शक्यं भवेद्देव सुभाषितानाम् ।
व्यक्तं न ते वाच्यपथं व्रजेयं तन्निष्क्रयं राज्यमपि प्रयच्छन् ॥ ३० ॥

श्रुत्वैव यन्नाम मनः प्रसादं श्रेयोऽनुरागः स्थिरतां च याति ।
प्रज्ञा विवृद्ध्या वितमस्कता च क्रय्यं ननु स्यादपि तत्स्वमांसैः ॥ ३१ ॥

यदि मैं आप से भयभीत, सुखों में आसक्त या दया-हीन होता तो मैं वीर आप-जैसे विख्यात क्रूरकर्मा के पास कवच पहन कर और शस्त्र लेकर आता ॥ २५ ॥

मेरी यही इच्छा है कि मैं आप से बात-चीत करूँ। उस द्विज के परिश्रम को सफल कर मैं स्वयं पुनः आपके समीप आऊँगा। मेरे-जैसे लोग असत्य-वचन नहीं कहते ॥ २६ ॥

तब सौदास बोधिसत्त्व के उस वचन को कल्पित समझ कर सह नहीं सका। उसने सोचा—"यह सत्यवादी और धर्मानुरागी होने का गर्व कर रहा है। इसके सत्यानुराग और धर्म-प्रियता को देखता हूँ। इसके चले जाने से भी मेरी क्या हानि होगी? मेरे पास सौ क्षत्रिय-कुमार हैं ही, जिन्हें मैंने अपने भुज-बल से वश में किया है। उन्हें ही लेकर मैं अपने सङ्कल्प के अनुसार भूत-यज्ञ करूँगा"। यह सोचकर उसने बोधिसत्त्व से कहा—"जाओ। तुम्हारी सत्यवादिता और धार्मिकता भी देखूँ।

जाओ और उस द्विज के मनोरथ को पूर्ण कर शीघ्र ही चले आओ; जब तक तुम्हारे लिये चिता तैयार करता हूँ" ॥ २७ ॥

तब बोधिसत्त्व 'बहुत अच्छा' इस प्रकार प्रतिज्ञा कर अपने घर गये। वहाँ स्वजनों ने उनका अभिनन्दन किया। बोधिसत्त्व ने उस ब्राह्मण को बुलाकर उससे चार गाथाएँ सुनीं। सुभाषितों के सुनने से प्रसन्नचित्त उस महापुरुष ने मधुर वचन और सम्मान के साथ उसकी स्तुति करते हुए, प्रत्येक गाथा का मूल्य सहस्र मुद्राएँ निर्धारित कर, अभिलषित धन देकर उस ब्राह्मण की पूजा की।

तब उसके पिता ने अनुचित और अतिव्यय से उसे रोकने के उद्देश्य से प्रसङ्गवश अनुनय-पूर्वक कहा—"सुभाषित के पुरस्कार में सीमा का ज्ञान होना चाहिए। तुम्हें बहुत से लोगों का भरण-पोषण करना है और राज-लक्ष्मी तभी तक रहती है जब तक कोश में धन रहता है। अतः मैं तुम्हें कहता हूँ—

सुभाषित के पुरस्कार में सौ मुद्राएँ देना बहुत है। इससे अधिक की सीमा उचित नहीं है। यदि धनपति (कुबेर) भी अतिदान करें तो उनकी लक्ष्मी कब तक ठहरेगी? ॥ २८ ॥

धन (सफलता का) एक साधन है, बड़ा शक्तिशाली साधन। क्यों कि इसके बिना कोई अपना अभीष्ट सिद्ध नहीं कर सकता। राजलक्ष्मी, वेश्या के समान, कोश-सम्पत्ति-विहीन राजा की ओर नहीं देखती" ॥ २९ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—

"हे राजन्, यदि सुभाषितों (सूक्तियों) के मूल्य की सीमा निश्चित की जाय, तो स्पष्ट है कि उनके मूल्य में राज्य देकर भी मैं आपकी निन्दा का पात्र नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

जिस (सुभाषित) को सुनते ही मन प्रसन्न होता है, कल्याण-प्राप्ति की इच्छा स्थिर होती है, ज्ञान विकसित होकर निर्मल होता है, उसे अपने शरीर का मांस देकर भी खरीदना चाहिए ॥ ३१ ॥

दीपः श्रुतं मोहतमःप्रमाथी चौराद्यहार्यं परमं धनं च ।
संमोहशत्रुव्यथनाय शस्त्रं नयोपदेष्टा परमश्च मन्त्री ॥ ३२ ॥

आपद्गतस्याप्यविकारि मित्रमपीडनी शोकरुजश्चिकित्सा ।
बलं महद्दोषबलावमर्दि परं निधानं यशसः श्रियश्च ॥ ३३ ॥

सत्संगमे प्राभृतशीभरस्य सभासु विद्वज्जनरञ्जनस्य ।
परप्रवादद्युतिभास्करस्य स्पर्धावतां कीर्तिमदापहस्य ॥ ३४ ॥

प्रसन्ननेत्राननवर्णरागैरसंस्कृतैरप्यतिहर्षलब्धैः ।
संराधनव्यग्रकराग्रदेशैर्विख्याप्यमानातिशयक्रमस्य ॥ ३५ ॥

विस्पष्टहेत्वर्थनिदर्शनस्य विचित्रशास्त्रागमपेशलस्य ।
माधुर्यसंस्कारमनोहरत्वादक्लिष्टमाल्यप्रकरोपमस्य ॥ ३६ ॥

विनीतदीप्तप्रतिभोज्ज्वलस्य प्रसह्य कीर्तिप्रतिबोधनस्य ।
वाक्सौष्ठवस्यापि विशेषहेतुर्योगात्प्रसन्नार्थगतिः श्रुतश्रीः ॥ ३७ ॥

श्रुत्वा च वैरोधिकदोषमुक्तं त्रिवर्गमार्गं समुपाश्रयन्ते ।
श्रुतानुसारप्रतिपत्तिसारास्तरन्त्यकृच्छ्रेण च जन्मदुर्गम् ॥ ३८ ॥

गुणैरनेकैरिति विश्रुतानि प्राप्तान्यहं प्राभृतवच्छ्रुतानि ।
शक्तः कथं नाम न पूजयेयमाज्ञां कथं वा तव लङ्घयेयम् ॥ ३९ ॥

यास्यामि सौदाससमीपमस्मादर्थो न मे राज्यपरिश्रमेण ।
निवृत्तसंकेतगुणोपमर्दं लभ्यश्च यो दोषपथानुवृत्त्या ॥ ४० ॥

अथैनं पिता स्नेहात्समुत्पतितसंभ्रमः सादरमुवाच—तवैव खलु तात हितावेक्षिणा मयैवमभिहितम् । तदलमत्र ते मन्युवशमनुभवितुम् । द्विषन्तस्ते सौदासवशं गमिष्यन्ति । अथापि प्रतिज्ञातं त्वया तत्समीपोपगमनम्, अतः सत्यानुरक्षी तत्संपादयितुमिच्छसि, तदपि ते नाहमनुज्ञास्यामि । अपातकं हि स्वप्राणपरिरक्षानिमित्तं गुरुजनार्थं चानृतमार्गो वेदविहित इति । तत्परिहारश्रमेण

कानों से सुना गया सुभाषित प्रदीप है, जो अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करता है, उत्तम धन है जिसे चोर आदि अपहरण नहीं कर सकते, मोहरूप शत्रु को नष्ट करने वाला शस्त्र है और नीति का उपदेशक उत्तम मन्त्री है ॥ ३२ ॥

विपत्ति में पड़ने पर भी अविचल रहने वाला मित्र है, शोकरूपी रोग की पीड़ा रहित चिकित्सा है, (काम क्रोध आदि) दोषों की सेना को पराजित करने वाली महाशक्ति है तथा कीर्ति और श्री की उत्तम निधि है ॥ ३३ ॥

सुभाषित (वाक्-सौष्ठव) सत्संग में उत्तम उपहार है, सभाओं में विद्वानों को आनन्द देता है, विवादों में द्युतिमान् सूर्य है, ईर्ष्यालु व्यक्तियों के यश और गर्व को चूर्ण करता है ॥ ३४ ॥

(सुभाषित सुनकर) असंस्कृत साधारण मनुष्य भी अत्यन्त हर्ष प्राप्त करते हैं, उनके नेत्र और मुख चमकते हैं, प्रशंसा में हाथों के अग्रभाग सञ्चालित करते हुए वे सुभाषित की उत्कृष्टता सूचित करते हैं ॥ ३५ ॥

सुभाषित कार्य-कारण के स्पष्ट उदाहरणों से युक्त, विविध शास्त्रों के उद्धरणों से रमणीय तथा माधुर्य संस्कार और मनोहरता के कारण अभिनव पुष्प-मालाओं के समान होता है ॥ ३६ ॥

विनम्र दीप[1] की चमक के समान उज्जवल होता है और कीर्ति को बलपूर्वक जगाता है। स्पष्ट अर्थ—प्रवाह से पूर्ण सुन्दर शास्त्र (– वचन) सुभाषित में उत्कर्ष उत्पन्न करता है ॥ ३७ ॥

(सुभाषित) सुनकर लोग त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) के साधन निर्दोष मार्ग का आश्रय लेते हैं और सुने हुए के अनुसार आचरण करनेवाले अनायास ही भवसागर पार करते हैं ॥ ३८ ॥

अनेक गुणों के लिए विख्यात सुभाषित उपहार के समान मुझे प्राप्त हुए हैं। समर्थ होने पर भी मैं कैसे उन्हें सत्कृत न करूँ या (सत्कार-सीमा के विषय में) कैसे आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन करूँ ? ॥ ३९ ॥

अतः मैं सौदास के समीप जाऊँगा। राज्य (–सञ्चालन) में होनेवाले परिश्रम से मुझे प्रयोजन नहीं है। असत्य आचरण के द्वारा संकेत (सौदास के पास जाने के वचन) के अतिक्रमण से मेरे गुणों का जो विनाश[2] होगा उससे भी मुझे प्रयोजन नहीं है" ॥ ४० ॥

तब पिता ने स्नेह के कारण घबड़ाहट में आकर उनसे कहा—"पुत्र, तुम्हारे ही हित को देखते हुए मैंने ऐसा कहा।

क्रोध न करो। तुम्हारे शत्रु सौदास के वश में जायँ। तुमने सौदास के समीप जाने की प्रतिज्ञा की है। अतः तुम सत्यरक्षी उस प्रतिज्ञा को पूर्ण करना चाहते हो। तो भी मैं तुम्हें इसकी अनुमति न दूँगा। क्योंकि अपने प्राणों की रक्षा के लिए तथा गुरुजनों के लिए असत्य

तव कोऽर्थः ? अर्थकामाभ्यां च विरोधिदृष्टं धर्मसंश्रयमनयमिति व्यसनमिति च राज्ञां प्रचक्षते नीतिकुशलाः। तदलमनेनास्मन्मनस्तापिना स्वार्थनिरपेक्षेण ते निर्बन्धेन। अथाप्ययशस्यं साधं धर्मविरोधि चेति प्रतिज्ञाविसंवादनमनुचितत्वान्न व्यवस्यति ते मतिः, एवमपीद त्वद्विमोक्षणार्थं समुद्यक्तं सज्जमेव नो हस्त्यश्वरथपत्तिकायं संपन्नमनुरक्तं कृतास्त्रशूरपुरुषमनेकसमरविजितं महत्सहौघभीमं बलम्। तदनेन परिवृतः समभिगम्यैनं वशमानय, अन्तकवशं वा प्रापय। एवमप्यर्थप्रतिज्ञता संपादिता स्यादात्मरक्षा चेति।

बोधिसत्त्व उवाच—नोत्सहे देव अन्यथा प्रतिज्ञातुमन्यथा कर्तुं शोच्येषु वा व्यसनपङ्कनिमग्नेषु नरकाभिमुखेषु सुहृत्सु स्वजनपरित्यक्तेष्वनाथेषु च तद्विधेषु प्रहर्तुम्।

अपि च,

दुष्करं पुरुषादोऽसावुदारं चाकरोन्मयि।
मद्वचःप्रत्ययाद्यो मां व्यसृजद्वशमागतम् ॥ ४१ ॥

लब्धं तत्कारणाच्चेदं मया तात सुभाषितम्।
उपकारी विशेषेण सोऽनुकम्प्यो मया यतः ॥ ४२ ॥

अलं चात्र देवस्य मदत्ययाशङ्कया। का हि तस्य शक्तिरस्ति मामेवमभिगतं विहिंसितुमिति। एवमनुनीय स महात्मा पितरं विनिवारणसोद्यमं च विनिवर्त्य प्रणयिजनमनुरक्तं च बलकायमेकाकी विगतभयदैन्यः सत्यानुरक्षी लोकहितार्थं सौदासमभिविनेष्यंस्तन्निकेतमभिजगाम ॥

दूरादेवावलोक्य सौदासस्तं महासत्त्वमतिविस्मयादभिवृद्धबहुमानप्रसादश्चिराभ्यासविरूढक्रूरतामलिनमतिरपि व्यक्तमिति चिन्तामापेदे—अहहहह !

आश्चर्याणां बताश्चर्यमद्भुतानां तथाद्भुतम्।
सत्यौदार्यं नृपस्येदमतिमानुषदैवतम् ॥ ४३ ॥

मृत्युरौद्रस्वभावं मां विनीतभयसंभ्रमः।
इति स्वयमुपेतोऽयं ही धैर्यं साधु सत्यता ॥ ४४ ॥

स्थाने खल्वस्य विख्यातं सत्यवादितया यशः।
इति प्राणान् स्वराज्यं च सत्यार्थं योऽयमत्यजत् ॥ ४५ ॥

अथ बोधिसत्त्वः समभिगम्यैनं विस्मयबहुमानावर्जितमानसमुवाच—

मार्गपर चलने में पाप नहीं है, वह वेद-विहित है। उस (मार्ग) को छोड़ने से क्या प्रयोजन ? नीति-निपुण व्यक्ति कहते हैं कि अर्थ और काम-भोग के विरुद्ध (केवल) धर्म के आश्रय में जाना राजाओं के लिए अनीतिपूर्ण और विपत्ति-जनक है। तब हमारे मन के लिए दुःखदायी तथा अपने स्वार्थ के विरुद्ध इस आग्रह को छोड़ो। पुत्र, तुम सोचते हो कि प्रतिज्ञा तोड़ने से अयश और अधर्म होगा, तुमने ऐसा कभी किया नहीं और इसलिए करना भी नहीं चाहते हो। तब तुम्हारी रक्षा के लिए हाथियों घोड़ों रथों और पैदलों की, अस्त्रसञ्चालन में निपुण वीर पुरुषों की, अनेक समरों में विजय-श्री प्राप्त करनेवाली हमारी विशाल शक्तिशाली राज-भक्त और जल-प्रवाह के समान भयङ्कर सेना तैयार है। उससे घिरे हुए तुम उसके पास जाकर उसे अपने वश में लाओ या यम के वश पहुँचाओ। इस प्रकार तुम्हारी प्रतिज्ञा भी असत्य नहीं होगी और आत्मरक्षा भी होगी।"

बोधिसत्त्व ने कहा—"राजन् प्रतिज्ञा हो कुछ और आचरण हो कुछ, ऐसा मैं नहीं कर सकता। जो दया के पात्र हैं, विपत्ति के पङ्क में फँसे हुए हैं, नरक की ओर अग्रसर हैं, स्वजनों से परित्यक्त अनाथ हैं और (इसलिए) मेरे मित्र हैं, ऐसे लोगों के ऊपर मैं प्रहार भी नहीं कर सकता। और भी—यद्यपि मैं उसके वश में आ गया था, तो भी मेरे वचन पर विश्वास कर उसने मुझे छोड़ दिया। उसने मेरे प्रति यह दुष्कर उदारता दिखलाई॥ ४१॥

हे तात, उसीके कारण मैंने यह सुभाषित पाया। वह मेरा उपकारी है, अतः वह मेरी विशेष अनुकम्पा का पात्र है॥ ४२॥

आप मेरे अनिष्ट की आशङ्का न करें। जब मैं इस प्रकार उसके पास जाऊँगा तो उसकी क्या शक्ति होगी कि वह मेरी हिंसा करे ?" इस प्रकार वह महात्मा अपने पिता से अनुनय कर, रोकने की चेष्टा करते हुए स्नेही लोगों तथा अनुरक्त सेना को लौटाकर, भय और घबड़ाहट छोड़कर वह सत्य-रक्षक अकेले ही लोक-हित के लिए सौदास को विनीत (शिक्षित) करने की इच्छा से उसके स्थान पर गये।

दूर से ही उस महापुरुष को देखकर सौदास विस्मित श्रद्धालु और प्रसन्न हुआ। यद्यपि चिरकाल के अभ्यास से उसकी क्रूरता बद्धमूल और बुद्धि कलुषित हो गई थी, तो भी उसने यह स्पष्ट सोचा—"अहो, आश्चर्यों का आश्चर्य ! अद्भुतों का अद्भुत ! राजा की यह सत्यवादिता और उदारता मनुष्यों और देवताओं से बढ़कर है॥ ४३॥

भय और घबड़ाहट छोड़कर काल के समान रौद्र स्वभाववाले मेरे पास यह स्वयं ही आये। यह धैर्य और सत्य-रक्षा प्रशंसनीय है॥ ४४॥

ठीक ही सत्यवादिता के कारण इनका यश चारों ओर फैला हुआ है। इसीलिए तो इन्होंने सत्य के लिए प्राणों और स्वराज्य (के मोह) को छोड़ा"॥ ४५॥

तब बोधिसत्त्व उस सौदास के पास जाकर, जिसका मन विस्मय और श्रद्धा से भरा हुआ था, बोले—

प्राप्तं सुभाषितधनं प्रतिपूजितोऽर्थी
प्रीतिं मनश्च गमितं भवतः प्रभावात् ।
प्राप्तस्तदस्म्ययमशान यथेप्सितं मां
यज्ञाय वा मम पशुव्रसमादिश त्वम् ॥ ४६ ॥

सौदास उवाच—

नात्येति कालो मम खादितुं त्वां धूमाकुला तावदियं चितापि ।
विधूमपक्वं पिशितं च हृद्यं शृण्मस्तदेतानि सुभाषितानि ॥ ४७ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—कस्तवार्थं इत्थंगतस्य सुभाषितश्रवणेन ?

इमामवस्थामुदरस्य हेतोः प्रपन्नोऽसि संत्यक्तघृणः प्रजासु ।
इमाश्च धर्मं प्रवदन्ति गाथाः समेत्यधर्मेण यतो न धर्मः ॥ ४८ ॥

रक्षोविकृतवृत्तस्य संत्यक्तार्यपथस्य ते ।
नास्ति सत्यं कुतो धर्मः किं श्रुतेन करिष्यसि ॥ ४९ ॥

अथ सौदासस्तामवसादनाममृष्यमाणः प्रत्युवाच—मा तावद्भोः !

कोऽसौ नृपः कथय यो न समुद्यतास्त्रः
क्रीडावने वनमृगीदयितान्निहन्ति ।
तद्वन्निहन्मि मनुजान् यदि वृत्तिहेतो-
राधर्मिकः किल ततोऽस्मि न ते मृगघ्नाः ॥ ५० ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

धर्मे स्थिता न खलु तेऽपि नमन्ति येषां
भीतद्रुतेष्वपि मृगेषु शरासनानि ।
तेभ्योऽपि निन्द्यतम एव नराशनस्तु
जात्युच्छ्रिता हि पुरुषा न च भक्षणीयाः ॥ ५१ ॥

अथ सौदासः परिकर्कशाक्षरमप्यभिधीयमानो बोधिसत्त्वेन तन्मैत्रीगुण-प्रभावादभिभूतरौद्रस्वभावः सुखायमान एव तद्वचनमभिप्रहसन्नुवाच—भोः सुतसोम !

मुक्तो मया नाम समेत्य गेहं समन्ततो राज्यविभूतिरम्यम् ।
यन्मत्समीपं पुनरागतस्त्वं न नीतिमार्गे कुशलोऽसि तस्मात् ॥ ५२ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—नैतदस्ति । अहमेव तु कुशलो नीतिमार्गे यदेनं न प्रति-पत्तुमिच्छामि ।

यं नाम प्रतिपन्नस्य धर्मादैकान्तिकी च्युतिः ।
न तु प्रसिद्धिः सौख्यस्य तत्र किं नाम कौशलम् ॥ ५३ ॥

"मैंने आपके प्रभाव से सुभाषित रूपी धन पाया, प्रार्थी का सत्कार किया, मानसिक प्रसन्नता पाई। मैं यह आ गया हूँ। आप चाहें मुझे खा जायँ या अपने यज्ञ का पशु बनावें" ॥ ४६ ॥

सौदास ने कहा—

"तुम्हें खाने का मेरा समय कट नहीं रहा है। यह चिता भी धुएँ से भरी है धूम-रहित अग्नि में पका हुआ मांस स्वादिष्ट होता है। तब तक ये सुभाषित सुनूँ" ॥ ४७ ॥

बोधिसत्त्व ने पूछा—"इस अवस्था में तुम्हें सुभाषित सुनने से क्या लाभ ?

अपनी प्रजाओं के प्रति दयाभाव छोड़कर तुम पेट के कारण इस अवस्था में पहुँच गये हो। ये गाथाएँ धर्म का प्रतिपादन करती हैं और अधर्म के साथ धर्म का मेल नहीं है (विरोध है) ॥ ४८ ॥

तुमने सज्जनों का मार्ग छोड़ दिया है, तुम्हारा आचरण राक्षसों के समान बिगड़ गया है। तुम सत्य और धर्म से रहित हो। तब सुभाषित सुनकर क्या करोगे ?" ॥ ४९ ॥

तब इस अपमान को नहीं सह सकते हुए सौदास ने उत्तर दिया—"ऐसा न कहो।

बतलाओ ऐसा कौन राजा है, जो अस्त्र उठाकर क्रीडा-वन में मृगों को नहीं मारता है ? उसी प्रकार यदि अपनी वृत्ति के लिए मैं मनुष्य का वध करता हूँ तो मैं अधार्मिक हूँ और मृगों का वध करनेवाले (वे राजा) अधार्मिक नहीं हैं !" ॥ ५० ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—

"भय से भागते हुए मृगों की ओर जो अपने धनुष झुकाते हैं वे भी निस्सन्देह धार्मिक नहीं हैं, उनसे भी अत्यन्त निन्दनीय है मनुष्यों का भक्षण करनेवाला। क्योंकि (सभी प्राणियों में) मनुष्य जाति में ऊँचे हैं और (इसलिए) भक्षणीय नहीं हैं" ॥ ५१ ॥

तब बोधिसत्त्व के द्वारा कठोर शब्दों में कहे जाने पर भी, उनकी मैत्री के प्रभाव से अपने रौद्र स्वभाव को छोड़कर, उनके वचन को सुनकर सुख अनुभव करते हुए और हँसते हुए सौदास ने कहा—"हे सुतसोम, मुझसे मुक्त होकर राज्य की विभूति से अत्यन्त रमणीय अपने घर में पहुँचकर, तुम पुनः मेरे समीप आ गये, अतः तुम नीति-मार्ग में कुशल नहीं हो" ॥ ५२ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"नहीं। मैं ही नीतिमार्ग में निपुण हूँ कि मैं इस मार्ग पर चलना नहीं चाहता हूँ।

जिसपर चलकर मनुष्य धर्म से अवश्य च्युत होता है, सुख नहीं प्राप्त करता है उसमें क्या कुशलता है ? ॥ ५३ ॥

किं च भूयः,

ये नीतिमार्गप्रतिपत्तिधीराः प्रायेण ते प्रेत्य पतन्त्यपायान्
अपास्य जिह्मानिति नीतिमार्गान् सत्यानुरक्षी पुनरागतोऽस्मि ॥ ५४ ॥

अतश्च नीतौ कुशलोऽहमेव त्यक्त्वानृतं योऽभिरतोऽस्मि सत्ये ।
न तत्सुनीतं हि वदन्ति तज्ज्ञा यन्नानुबध्नन्ति यशः सुखार्थाः ॥ ५५ ॥

सौदास उवाच—

प्राणान् प्रियान् स्वजनमश्रुमुखं च हित्वा
राज्याश्रयाणि च सुखानि मनोहराणि ।
कामर्थसिद्धिमनुपश्यसि सत्यवाक्ये
तद्रक्षणार्थमपि मां यदुपागतोऽसि ॥ ५६ ॥

बोधिसत्त्व उवाच बहवः सत्यवचनाश्रया गुणातिशयाः । संक्षेपस्तु[1] श्रूयताम्—

माल्यश्रियं ह्यतयातिशेते सर्वान् रसान् स्वादुतया च सत्यम् ।
श्रमादृते पुण्यगुणप्रसिद्ध्या तपांसि तीर्थाभिगमश्रमांश्च ॥ ५७ ॥

कीर्तेर्जगद्व्याप्तिकृतक्षणाया मार्गस्त्रिलोकाक्रमणाय सत्यम् ।
द्वारं प्रवेशाय सुरालयस्य संसारदुर्गोत्तरणाय सेतुः ॥ ५८ ॥

अथ सौदासः साधु युक्तमित्यभिप्रणम्यैनं सविस्मयमभिवीक्षमाणः पुनरुवाच—

अन्ये नरा मद्वशगा भवन्ति दैन्यार्पणात्त्रासविलुप्तधैर्याः ।
संत्यज्यसे त्वं तु न धैर्यलक्ष्म्या मन्ये न ते मृत्युभयं नरेन्द्र ॥ ५९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

महतापि प्रयत्नेन यच्छक्यं नातिवर्तितुम् ।
प्रतीकारासमर्थेन भयक्लैब्येन तत्र किम् ॥ ६० ॥

इति परिगणितलोकस्थितयोऽपि तु कापुरुषाः

पापप्रसङ्गादनुतप्यमानाः शुभेषु कर्मस्वकृतश्रमाश्च ।
आशङ्कमानाः परलोकदुःखं मर्तव्यसंत्रासजडा भवन्ति ॥ ६१ ॥

तदेव कर्तुं न तु संस्मरामि भवेद्यतो मे मनसोऽनुतापः ।
सात्मीकृतं कर्म च शुक्लमस्माद्धर्मस्थितः को मरणाद्बिभीयात् ॥ ६२ ॥

न च स्मराम्यर्थिजनोपयानं यन्न प्रहर्षाय ममार्थिनां वा ।
इति प्रदानैः समवाप्ततुष्टिर्धर्मे स्थितः को मरणाद्बिभीयात् ॥ ६३ ॥

---

१. पा० 'संक्षेपतस्तु' ।

और भी,

जो नीति-मार्गपर चलने में धीर हैं वे मृत्यु के बाद प्रायः दुर्गति को प्राप्त होते हैं। अतः कुटिल नीतिमार्ग को छोड़कर मैं सत्य की रक्षा करता हुआ पुनः आ गया हूँ ॥ ५४ ॥

अतः नीति में कुशल मैं ही हूँ जो असत्य को छोड़कर सत्य में रमण करता हूँ। पण्डित उसे सुनीति नहीं कहते जिससे कीर्ति आनन्द और कल्याण की प्राप्ति नहीं होती" ॥ ५५ ॥

सौदास ने कहा—

"प्रिय प्राणों, रोते हुए स्वजनों और राज्य से होनेवाले मनोहर सुखों को छोड़कर, आप सत्य-वचन में किस कल्याण की सिद्धि को देखते हैं, जिसकी रक्षा के लिए आप मेरे पास आ गये ?" ॥ ५६ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"सत्य वचन से बहुत लाभ हैं। संक्षेप में सुनिये—

सत्यवचन मनोहरता में माला की शोभा से और स्वाद में सभी रसों से बढ़कर है तथा परिश्रम के बिना ही पुण्य की प्राप्ति होने से श्रम-साध्य तपस्या और तीर्थ-यात्रा से बढ़कर है ॥ ५७ ॥

सत्यवचन भूलोक में व्याप्त होकर आनन्द प्रदान करने वाली कीर्ति के त्रिलोक में पहुँचने का मार्ग है, स्वर्ग का प्रवेश-द्वार है तथा भव-सागर पार करने के लिए सेतु है" ॥ ५८ ॥

तब सौदास ने 'ठीक है, युक्ति-युक्त है' यह कहते हुए उन्हें प्रणाम किया और विस्मय-पूर्वक देखते हुए पुनः कहा—

"मेरे वश में आकर दूसरे लोग दीन दुःखी और भय से अधीर हो जाते हैं; किन्तु, हे राजन्, धैर्य आपको नहीं छोड़ रहा है, मैं समझता हूँ, आपको मृत्यु का भय नहीं है" ॥ ५९ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—

"बड़े प्रयत्न से भी जिस (मृत्यु) का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता वहाँ भय से होने वाली उस व्याकुलता से क्या लाभ, जो प्रतीकार (रक्षा) करने में असमर्थ है ? ॥ ६० ॥

जगत् की वस्तुस्थिति को जानते हुए भी कापुरुष,

जिन्होंने सत्कर्मों के लिए यत्न नहीं किया, अपने पाप-कर्म को स्मरण कर संतप्त होते हुए, परलोक में होने वाले दुःख की आशङ्का करते हुए, मृत्यु के भय से निस्तब्ध होते हैं ॥ ६१ ॥

मुझे स्मरण नहीं हो रहा है कि मैंने ऐसा कुछ किया है, जिससे मुझे मानसिक व्यथा हो। मैंने सत्कर्म ही किये हैं, अतः धर्म में स्थिर रहने वाला कोई मृत्यु से क्यों डरे ? ॥ ६२ ॥

मुझे यह भी स्मरण नहीं हो रहा है कि याचक मेरे पास आये हों और उनके आगमन से मुझे या याचकों को आनन्द नहीं हुआ हो। भूदान देकर मैंने आनन्द प्राप्त किया है। इस तरह धर्म में स्थिर रहने वाला कोई मनुष्य मृत्यु से क्यों डरे ? ॥ ६३ ॥

चिरं विचिन्त्यापि च नैव पापे मनःपदन्यासमपि स्मरामि ।
विशोधितस्वर्गपथोऽहमेवं मृत्योः किमर्थं भयमभ्युपेयाम् ॥ ६४ ॥

विप्रेषु बन्धुषु सुहृत्सु समाश्रितेषु
दीने जने यतिषु चाश्रमभूषणेषु ।
न्यस्तं मया बहु धनं ददता यथार्हं
कृत्यं च यस्य यदभूत्तदकारि तस्य ॥ ६५ ॥

श्रीमन्ति कीर्तनशतानि निवेशितानि
सत्राजिराश्रमपदानि सभाः प्रपाश्च ।
मृत्योर्न मे भयमतस्तदवाप्ततुष्टे-
र्यज्ञाय तत्समुपकल्पय भुङ्क्ष्व वा माम् ॥ ६६ ॥

तदुपश्रुत्य सौदासः प्रसादाश्रुव्याप्तनयनः समुद्भिद्यमानरोमाञ्चपिटको विस्मृतपापस्वभावतामिस्रः सबहुमानमवेक्ष्य बोधिसत्त्वमुवाच—शान्तं पापम् ।

मद्याद्विषं स खलु हालहलं प्रजान-
न्नाशीविषं प्रकुपितं ज्वलदायसं वा ।
मूर्धापि तस्य शतधा हृदयं च यायाद्
यस्त्वद्विधस्य नृपपुगत्र पापमिच्छेत् ॥ ६७ ॥

तदर्हति भवांस्तान्यपि मे सुभाषितानि वक्तुम् । अनेन हि ते वचनकुसुम-वर्षेणाभिप्रसादितमनसः सुष्ठुतरमभिवृद्धं च तेषु मे कौतूहलम् । अपि च भोः ।

दृष्ट्वा मे चरितच्छायावैरूप्यं धर्मदर्पणे ।
अपि नामागतावेग स्यान्मे धर्मोत्सुकं मनः ॥ ६८ ॥

अथैनं बोधिसत्त्वः पात्रीकृताशय धर्मश्रवणप्रवणमानसमवेत्योवाच—तेन हि धर्मार्थिना तदनुरूपसमुदाचारसौष्ठवेन धर्मः श्रोतुं युक्तम् । पश्य ।

नीचैस्तरासनस्थानाद्विबोध्य विनयश्रियम् ।
प्रीत्यर्पिताभ्यां चक्षुभ्यां वाङ्मध्वास्वादयन्निव ॥ ६९ ॥

गौरवावर्जितैकाग्रप्रसन्नामलमानसः ।
सत्कृत्य धर्मं शृणुयाद्भिषग्वाक्यमिवातुरः ॥ ७० ॥

अथ सौदासः स्वेनोत्तरीयेण समास्तीर्योच्चैस्तरं शिलातलं तत्र चाधिरोप्य बोधिसत्त्वं स्वयमनास्तरितायामुपविश्य भूमौ बोधिसत्त्वस्य पुरस्तादाननोद्वीक्षण-व्यापृतनिरीक्षणरतं महासत्त्वमुवाच—ब्रूहीदानीं मार्षेति । अथ बोधिसत्त्वो नवा-म्भोधरनिनदमधुरेण गम्भीरेणापूरयन्निव तद्वनं व्यापिना स्वरेणोवाच—

यदृच्छयाप्युपानीतं सकृत्सज्जनसंगतम् ।
भवत्यचलमत्यन्तं नाभ्यासक्रममीक्षते ॥ ७१ ॥

बहुत सोचने पर भी मुझे स्मरण नहीं हो रहा है कि मैंने मन से भी (कभी) पाप में पैर रखा है। इस प्रकार मैंने स्वर्ग का मार्ग साफ कर लिया है, तब मैं मृत्यु से क्यों डरूँ ? ॥६४॥

ब्राह्मणों बन्धुओं मित्रों आश्रितों दीन-दुःखियों और संन्यास-आश्रम के आभूषण-स्वरूप संन्यासियों को यथायोग्य दान देते हुए मैंने बहुत धन दिया है। जिसके लिए जो कुछ भी किया जाना चाहिये था वह मैंने किया है ॥ ६५ ॥

मैंने सैकड़ों सुन्दर धर्मशालाएँ, यज्ञ-प्राङ्गण, आश्रम, सभा-भवन और पानी पीने के स्थान बनवाये हैं, जिनसे मुझे सन्तोष प्राप्त हुआ है। अतः मुझे मृत्यु से भय नहीं है। तब मुझे यज्ञ के लिए तैयार करो या खा जाओ" ॥ ६६ ॥

यह सुनकर सौदास की आँखें आँसू से भर आईं और रोंगटे खड़े हो गये। अपने तामस पाप-स्वभाव को भूलकर सम्मानपूर्वक बोधिसत्त्व को देखते हुए कहा—"पाप शान्त हो।

हे नृपवर, जो तुम्हारे-जैसे व्यक्ति का अनिष्ट चाहे, वह जानकर हलाहल विष क्रुद्ध सर्प या जलते हुये लोहे को खाये तथा उसके मस्तक और हृदय के सौ टुकड़े हो जायँ ॥ ६७ ॥

अतः आप मुझे वे सुभाषित भी कहें। आपके वचनरूपी फूलों की वर्षा से मेरा मन प्रसन्न हो गया है और उन्हें सुनने की मेरी उत्सुकता बहुत बढ़ गई है।

और भी,

धर्म के दर्पण में अपने चरित के प्रतिबिम्ब की कुरूपता को देखकर, धर्म के लिए उत्सुक मेरे मन में आवेग (वैराग्य) उत्पन्न हो सकता है" ॥ ६८ ॥

तब उसे शुद्धाशय और धर्मश्रवण में दत्तचित समझकर, बोधिसत्त्व ने कहा—"धर्म-जिज्ञासु को उचित आचार के साथ धर्म सुनना चाहिये। देखो,

निम्न आसन पर बैठकर विनय से होनेवाली शोभा को धारण कर, आँखों को प्रीति रस से भरकर, वचनरूप मधु का आस्वादन करते हुए, श्रद्धालु, एकाग्र प्रसन्न निर्मल मन से आदरपूर्वक धर्म को सुने, जैसे रोगी वैद्य के वचन को सुनता है" ॥ ६९-७० ॥

तब सौदास ने अपनी चादर से ऊँची शिला को ढककर, उसपर बोधिसत्त्व को बैठाकर और स्वयं उनके सामने अनावृत (नंगी) भूमि पर बैठकर, उनके मुख की ओर देखते हुये, उस महासत्त्व से कहा—"महाशय, अब कहिये।" तब बोधिसत्त्व ने नये जल से भरे हुए मेघ की ध्वनि के समान मधुर गम्भीर स्वर से उस वन को भरते हुए कहा—

"यदि संयोग से एक बार भी सज्जन के साथ मित्रता हो जाय तो वह अत्यन्त स्थायी होती है, अभ्यास (बार बार मिलन या सम्भाषण) की अपेक्षा नहीं रखती है" ॥ ७१ ॥

तदुपश्रुत्य सौदासः साधु साध्विति स्वशिरः प्रकम्प्याङ्गुलीविक्षेपं बोधिसत्त्वमुवाच—ततस्ततः ?

अथ बोधिसत्त्वो द्वितीयां गाथामुदाजहार—

न सज्जनाद् दूरचरः क्वचिद्भवेद्भजेत साधून् विनयक्रमानुगः ।
स्पृशन्त्ययत्नेन हि तत्समीपगं विसर्पिणस्तद्गुणपुष्परेणवः ॥ ७२ ॥

सौदास उवाच—

सुभाषितान्यर्चयता साधो सर्वात्मना त्वया ।
स्थाने खलु नियुक्तोऽर्थः स्थाने नावेक्षितः श्रमः ॥ ७३ ॥

ततस्ततः ? बोधिसत्त्व उवाच–

रथा नृपाणां मणिहेमभूषणा व्रजन्ति देहाश्च जराविरूपताम् ।
सतां तु धर्मं न जराभिवर्तते स्थिरानुरागा हि गुणेषु साधवः ॥ ७४ ॥

अमृतवर्षं खल्विदम् । अहो संतर्पिताः स्मः । ततस्ततः ? बोधिसत्त्व उवाच–

नभश्च दूरे वसुधातलाच्च पारादवारं च महार्णवस्य ।
अस्ताचलेन्द्रादुदयस्ततोऽपि धर्मः सतां दूरतरेऽसतां च ॥ ७५ ॥

अथ सौदासः प्रसादविस्मयाभ्यामावर्जितप्रेमबहुमानो बोधिसत्त्वमुवाच—

चित्राभिधानातिशयोज्ज्वलार्था गाथास्त्वदेता मधुरा निशम्य ।
आनन्दितस्त्वत्प्रतिपूजनार्थं वरानहं ते चतुरो ददामि ॥ ७६ ॥

तद्वृणीष्व यद्यन्मत्तोऽभिकाङ्क्षसीति ॥ अथैनं बोधिसत्त्वः सविस्मयबहुमान उवाच—कस्त्वं वरप्रदानस्य ?

यस्यास्ति नात्मन्यपि ते प्रभुत्वमकार्यसंरागपराजितस्य ।
स त्वं वरं दास्यसि क परस्मै शुभप्रवृत्तेरपवृत्तभावः ॥ ७७ ॥

अहं च देहीति वरं वदेयं मनश्च दित्साशिथिलं तव स्यात् ।
तमत्ययं कः सघृणोऽभ्युपेयादेतावदेवालमलं यतो नः ॥ ७८ ॥

अथ सौदासः किंचिद् व्रीडावनतवदनो बोधिसत्त्वमुवाच–अलमत्रभवतो मामेवं विशङ्कितुम् ।

प्राणानपि परित्यज्य दास्याम्येतानहं वरान् ।
विस्रब्धं तद् वृणीष्व त्वं यद्यदिच्छसि भूमिप ॥ ७९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच–तेन हि

सत्यव्रतो भव विसर्जय सत्त्वहिंसां बन्दीकृतं जनमशेषमिमं विमुञ्च ।
अद्या न चैव नरवीर मनुष्यमांसमेतान् वराननवरांश्चतुरः प्रयच्छ ॥ ८० ॥

यह सुनकर सौदास ने 'साधु, साधु' यह कहते हुए, अपना सिर हिलाकर और अङ्गुलि उठाकर, बोधिसत्त्व से कहा—"तब तब ?"

तब बोधिसत्त्व ने (यह) दूसरी गाथा कही—

"सज्जन से कभी दूर नहीं रहना चाहिये, विनयपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिये। उनके गुणरूपी फूलों से उड़ने वाली धूल उनके समीप जाने वाले पर अवश्य पड़ेगी ॥ ७२ ॥

सौदास ने कहा—

"हे साधु, सर्वभाव से सुभाषितों का सत्कार करते हुए आपने ठीक ही धन का सदुपयोग किया और ठीक ही अपने परिश्रम का विचार नहीं किया ॥ ७३ ॥

तब तब ?" बोधिसत्त्व ने कहा—

"मणियों और सुवर्ण से विभूषित राजाओं के रथ और शरीर जरा-जीर्ण हो जाते हैं, किन्तु सज्जनों का धर्म जरा-जीर्ण नहीं होता, क्योंकि सद्गुणों से उनका स्थिर अनुराग होता है" ॥ ७४ ॥

"यह तो अमृत की वर्षा है। मैं तृप्त हो गया। तब तब ?" बोधिसत्त्व ने कहा—

"आकाश (स्वर्ग) पृथ्वी से दूर है, समुद्र के इस तीर से दूसरा तीर दूर है, अस्ताचल से उदयाचल दूर है, सज्जनों का धर्म असज्जनों के धर्म से और भी दूर है" ॥ ७५ ॥

तब आनन्द और विस्मय के कारण सौदास के हृदय में प्रेम और सम्मान उत्पन्न हुआ। उसने बोधिसत्त्व से कहा—

"चित्र-विचित्र शब्दोंवाली अतिशय उज्ज्वल अर्थ वाली ये मधुर गाथाएँ आप से सुनकर मैं आनन्दित हूँ। अतः इनके सत्कार में मैं आपको चार वर देता हूँ ॥ ७६ ॥

अब आप जो कुछ चाहते हैं मुझसे माँगिये।" तब बोधिसत्त्व ने विस्मय और सम्मान के साथ कहा—"तुम वर देने वाले कौन हो ?

तुम कुकर्मों में आसक्त हो। तुम्हारा अपने पर भी अधिकार नहीं है। शुभ आचरण से भटके हुए तुम दूसरे को क्या वर दोगे ? ॥ ७७ ॥

मैं कहूँ 'वर दो' और तुम्हारा मन देने में शिथिल हो जाय। तब कौन दयावान् व्यक्ति (वचन-भङ्ग से उत्पन्न) उस विपत्तिको प्राप्त करे ? मेरे लिये यही बहुत है (कि तुम वर देना चाहते हो)" ॥ ७८ ॥

तब लज्जा से कुछ अधोमुख होकर सौदास ने बोधिसत्त्व से कहा—"आप मुझ पर ऐसी आशङ्का न करें।

प्राणों का मोह छोड़कर भी मैं आपको ये वर दूँगा। हे राजन्, आप जो कुछ भी चाहते हों आश्वस्त होकर मुझसे माँगें" ॥ ७९ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"तब

सत्य-व्रत धारण करो, प्राणि-हिंसा छोड़ो, बन्दी बनाये गये इन सभी लोगों को मुक्त करो, और मनुष्य-मांस न खाओ। हे नरवीर, मुझे ये चार उत्तम वर दो" ॥ ८० ॥

सौदास उवाच—

ददामि पूर्वान् भवते वरांस्त्रीनन्यं चतुर्थं तु वरं वृणीष्व।
अवैषि किं न त्वमिद यथाहमीशो विरन्तुं न मनुष्यमांसात् ॥ ८१ ॥

बोधिसत्त्व उवाच--हन्त तवैतत्संवृत्तम्। ननूक्तं मया कस्त्वं वरप्रदानस्येति ? अपि च भोः !

सत्यव्रतत्वं च कथं स्यादहिंसकता च ते।
अपरित्यजतो राजन् मनुष्यपिशिताशिताम् ॥ ८२ ॥

आह—

ननूक्तं भवता पूर्वं दास्याम्येतानहं वरान्।
प्राणानपि परित्यज्य तदिदं जायतेऽन्यथा ॥ ८३ ॥

अहिंसकत्वं च कुतो मांसार्थं ते घ्नतो नरान्।
सत्येवं कतमे दत्ता भवता स्युर्वरास्त्रयः ॥ ८४ ॥

सौदास उवाच—

त्यक्त्वा राज्यं वने क्लेशो यस्य हेतोर्धृतो[1] मया।
हतो धर्मः क्षता कीर्तिस्त्यक्ष्यामि तदहं कथम् ॥ ८५ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अत एव तद्भवांस्त्यक्तुमर्हति।

धर्मादर्थात्सुखात्कीर्तेर्भ्रष्टो यस्य कृते भवान्।
अनर्थायतनं तादृक्कथं न त्यक्तुमर्हसि ॥ ८६ ॥

दत्तानुशयिता चेयमनौदार्यहते जने।
नीचता सा कथं नाम त्वामप्यभिभवेदिति ॥ ८७ ॥

तदलं ते पाप्मानमेवानुभ्रमितुम्। अवबोद्धुमर्हस्यात्मानम्। सौदासः खल्वत्रभवान्।

वैद्येक्षितानि कुशलैरुपकल्पितानि
ग्राम्याण्यनूपजलजान्यथ जाङ्गलानि।
मांसानि सन्ति कुरु तैर्हृदयस्य तुष्टिं
निन्दावहाद्विरम साधु मनुष्यमांसात् ॥ ८८ ॥

तूर्यस्वनान् सजलतोयदनादधीरान्
गीतस्वनं च निशि राज्यसुखं च तत्तत्।
बन्धून् सुतान् परिजनं च मनोनुकूलं
हित्वा कथं नु रमसेऽत्र वने विविक्ते ॥ ८९ ॥

---

१. पा० 'वृतो'।

सौदास ने कहा—

"आपको तीन पूर्व वर देता हूँ, चौथा वर दूसरा माँगिये। क्या आप नहीं जानते कि मैं मनुष्य मांस से निवृत्त होने में असमर्थ हूँ ?" ॥ ८१ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"तुम्हें वही हुआ। मैंने पहले ही कहा था कि तुम वर देनेवाले कौन हो।

और भी,

हे राजन्, यदि आप नर-मांस-भक्षण नहीं छोड़ते हैं तो आपका सत्य-व्रत कैसे रहेगा और आपकी अहिंसा कैसे रहेगी ?" ॥ ८२ ॥

पुनः कहा—

"तुमने पहले ही कहा था कि प्राण-परित्याग करके भी मैं ये वर दूँगा। अब यह (वचन) अन्यथा (असत्य) हो रहा है ॥ ८३ ॥

मांस के लिए तुम मनुष्यों को मारते रहोगे तो तुम्हारी अहिंसा कैसे रहेगी। ऐसा होनेपर तुमने कौन तीन वर दिये ?" ॥ ८४ ॥

सौदास ने कहा—

"जिसके लिए राज्य छोड़कर, धर्म और कीर्ति नष्ट कर, मैंने जंगल में क्लेश उठाया उसे मैं कैसे छोड़ूँगा ?" ॥ ८५ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"इसीलिए तो आप छोड़ सकते हैं।

जिसके लिए आप धर्म अर्थ सुख और कीर्ति से भ्रष्ट हुए, अनर्थ के घर उस (मांस) को आप क्यों नहीं छोड़ सकते ? ॥ ८६ ॥

और; देकर पछताना, यह अनुदार मनुष्य का काम है। यह नीचता आपको क्यों सताये ? ॥ ८७ ॥

अतः आप पाप के पीछे न पड़ें। आप अपने को समझें। आप सौदास हैं।

ग्रामों जलाशयों और जंगलों में प्राप्त होनेवाले मांस, जो वैद्यों द्वारा (निर्दोष) बताये जायँ और पाचकों द्वारा तैयार किये जायँ, आपके लिए सुलभ हैं। उन्हीं (मांसों) से अपने हृदय को तृप्त कीजिये। निन्दित-नर-मांस को तो छोड़ ही दीजिये ॥ ८८ ॥

सजल मेघ के गर्जन के समान गम्भीर तूर्य-ध्वनि को, रात्रि-काल के संगीत-स्वर को, विविध राज्य-सुखों को तथा मनोऽनुकूल बन्धुओं बच्चों और परिजनों को छोड़कर इस निर्जन वन में रहना आप कैसे पसन्द करते हैं ? ॥ ८९ ॥

चित्तस्य नार्हसि नरेन्द्र वशेन गन्तुं
धर्मार्थयोरनुपरोधपथं भजस्व ।
एको नृपान् युधि विजित्य समस्तसैन्यान्
मा चित्तविग्रहविधौ परिकातरो भूः ॥ ९० ॥

लोकः परोऽपि मनुजाधिप नन्ववेक्ष्य-
स्तस्मात्प्रियं यदहितं च न तन्निषेव्यम् ।
यत्स्यात्तु कीर्त्यनुपरोधि मनोज्ञमार्गं
तद्विप्रियं सदपि भेषजवद्भजस्व ॥ ९१ ॥

अथ सौदासः प्रसादाश्रुव्याप्तनयनो गद्गदायमानकण्ठः समभिसृत्यैव बोधिसत्त्वं पादयोः संपरिष्वज्योवाच–

गुणकुसुमरजोभिः पुण्यगन्धैः समन्ता-
ज्जगदिदमवकीर्णं कारणे त्वद्यशोभिः ।
इति विचरति पापे मृत्युदूतोग्रवृत्तौ
त्वमिव हि क इवान्यः सानुकम्पो मयि स्यात् ॥ ९२ ॥

शास्ता गुरुश्च मम दैवतमेव च त्वं
मूर्ध्ना वचांस्यहममूनि तवार्चयामि ;
भोक्ष्ये न चैव सुतसोम मनुष्यमांसं
यन्मां यथा वदसि तच्च तथा करिष्ये ॥ ९३ ॥

नृपात्मजा यज्ञनिमित्तमाहृता मया च ये बन्धनखेदपीडिताः ।
हतत्विषः शोकपरीतमानसास्तदेहि मुञ्चाव सहैव तानपि ॥ ९४ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य यत्र ते नृपसुतास्तेनावरुद्धास्तत्रैवाभिजगाम । दृष्ट्वैव च ते नृपसुताः सुतसोमं हन्त मुक्ता वयमिति परं हर्षमुपजग्मुः ।

विरेजिरे ते सुतसोमदर्शनान्नरेन्द्रपुत्राः स्फुटहासकान्तयः ।
शरन्मुखे चन्द्रकरोपबृंहिता विजृम्भमाणाः कुमुदाकरा इव ॥ ९५ ॥

अथैनानभिगम्य बोधिसत्त्वः समाश्वासयन् प्रियवचनपुरःसरं च प्रतिसंमोद्य सौदासस्याद्रोहाय शपथं कारयित्वा बन्धनाद्विमुच्य सार्धं सौदासेन तैश्च नृपतिपुत्रैरनुगम्यमानः स्वं राज्यमुपेत्य यथार्हकृतसंस्कारांस्तान् राजपुत्रान् सौदासं च स्वेषु स्वेषु राज्येषु प्रतिष्ठापयामास ॥

तदेवं श्रेयः समाधत्ते यथातथाप्युपनतः सत्संगम इति श्रेयोऽर्थिना सज्जनसमाश्रयेण भवितव्यम् । एवमसंस्तुतहृत्पूर्वजन्मस्वप्युपकारपरत्वाद् बुद्धो भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् । एवं सद्धर्मश्रवणं दोषापचयाय गुणसमाधानाय

हे राजन्, आप चित्त के वशीभूत न हों, धर्म और अर्थ के अनुकूल मार्ग पर चलें। आपने अकेले ही सारी सेनाओं के साथ राजाओं को युद्ध में पराजित किया। अब (एक) चित्त से संघर्ष करने में आप कातर न हों ॥ ९० ॥

हे मनुष्यों के अधिपति, परलोक पर भी ध्यान देना है; अतः अहितकर प्रिय का सेवन न कीजिये। जो मनोहर मार्ग, कीर्ति का बाधक नहीं है वह यदि अप्रिय भी हो तो औषध के समान उसका सेवन कीजिये" ॥ ९१ ॥

तब सौदास की आँखें आनन्द के आँसू से भर आईं, कण्ठ गद्गद हो गया। बोधिसत्त्व के समीप जाकर उनके पैरों से लिपटकर वह बोला—

"आपकी सुन्दर कीर्ति ने आपके गुणरूपी फूलों के पराग की पवित्र सुगन्धि से समस्त जगत् को भर दिया है। यमदूत के समान क्रूरकर्मा मुझ पापी पर आपके समान दूसरा कौन व्यक्ति दया दिखाता ? ॥ ९२ ॥

आप मेरे उपदेशक गुरु और देवता हैं। मैं आपके इन वचनों को शिरोधार्य करता हूँ। हे सुतसोम, मैं मनुष्य-मांस न खाऊँगा। आप मुझे जो कुछ जिस प्रकार से कहते हैं उसे मैं उसी प्रकार से करूँगा ॥ ९३ ॥

मैं यज्ञ के निमित्त जिन राजकुमारों को लाया, जिन्हें बन्धन में डालकर मैंने पीड़ित किया, (इसलिए) जो उदास और शोकाकुल हैं, चलिये, उन्हें हम दोनों मिलकर मुक्त कर दें" ॥९४॥

तब बोधिसत्त्व 'बहुत अच्छा' कहकर, उस सौदास के द्वारा वे राजकुमार जहाँ बन्द किये गये थे, वहीं गये। सुतसोम को देखते ही वे 'अहो, हम मुक्त हो गये' यह सोचकर अत्यन्त आनन्दित हुए।

सुतसोम को देखकर वे राज-पुत्र हास्य की कान्ति से सुशोभित हुए, जैसे शरद् ऋतु के आरम्भ में चन्द्र-किरणों के स्पर्श से खिलते हुए कुमुद शोभा पाते हैं ॥ ९५ ॥

तब उनके पास जाकर, उन्हें आश्वासन देकर, मधुर शब्दों में उनका अभिनन्दन कर, सौदास से द्रोह नहीं करने के लिए उनसे प्रतिज्ञा करवाकर, उन्हें बन्धन से मुक्त कर, सौदास और उन राजकुमारों के साथ अपने राज्य में पहुँचकर, यथायोग्य उनका सत्कार कर, बोधिसत्त्व ने उन राज-पुत्रों और सौदास को अपने अपने राज्य में (राज-पद पर) प्रतिष्ठित किया।

जिस किसी भी प्रकार से प्राप्त सत्सङ्ग कल्याणकारी ही होता है, यह सोचकर कल्याणार्थी को सज्जन के आश्रय में जाना चाहिए। अपने पूर्व-जन्मों में भी उपकार करनेवाले भगवान् बुद्ध अपरिचितों के मित्र थे, इस प्रकार तथागत के वर्णन में भी यह कथा कहनी चाहिए। सद्धर्म के सुनने से दोष क्षीण होते हैं और गुण प्राप्त होते हैं—इस प्रकार सद्धर्म के

च भववीति सद्धर्मश्रवणेऽपि वाच्यम् । श्रुतप्रशंसायामपि वाच्यम्—एवमनेकानुशंसं श्रुतमिति । सत्यकथायामपि वाच्यम्—एवं सज्जनेष्टं पुण्यकीर्त्यकरं सत्यवचनमित्येवं स्वप्राणसुखैश्वर्यनिरपेक्षाः सत्यमनुरक्षन्ति सत्पुरुषा इति । सत्यप्रशंसायामप्युपनेयं करुणावर्णेऽपि चेति ॥

॥ इति सुतसोम-जातकमेकत्रिंशत्तमम् ॥

---

३२. अयोगृह-जातकम्

राजलक्ष्मीरपि श्रेयोमार्गं नावृणोति संविग्नमानसानामिति संवेगपरिचयः कार्यः । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान् व्याधिजरामरणप्रियविप्रयोगादिव्यसनशतोपनिपातदुःखितमनाथमत्राणमपरिणायकं लोकमवेक्ष्य करुणया समुत्साह्यमानस्तत्परित्राणव्यवसितमतिरतिसात्मीभूतस्वभावस्तत्तत्संपादयमानो विमुखस्यासंस्तुतस्यापि च लोकस्य हितं सुखविशेषं च कदाचिदन्यतमस्मिन् राजकुले प्रजानुरागप्रामुख्यादस्खलिताभिवृद्ध्या च समृद्ध्या समानतदृप्तसामन्तया चाभिव्यज्यमानमहाभाग्ये विनयश्लाघिनि जन्म प्रतिलेभे । स जायमान एव तद्राजकुलं तत्समानसुखदुःखं च पुरवरं परयाभ्युदयश्रिया संयोजयामास ।

प्रतिग्रहव्याकुलतुष्टविप्रं मदोद्धताभ्युज्ज्वलवेषभृत्यम् ।
अनेकतूर्यस्वनपूर्णकूजमानन्दनृत्तानयवृत्तमावम् ॥ १ ॥

संसक्तगीतद्रवहासनादं परस्पराश्लेषविवृद्धहर्षम् ।
नरैः प्रियाख्यानकदानतुष्टैराशास्यमानाभ्युदयं नृपस्य ॥ २ ॥

विवर्तितद्वारविमुक्तबन्धनं समुच्छ्रितानध्वजचित्रचत्वरम् ।
विचूर्णपुष्पासवसिक्तभूतलं बभार रम्यां पुरमुत्सवश्रियम् ॥ ३ ॥

महागृहेभ्यः प्रविकीर्यमाणैर्हिरण्यवस्त्राभरणादिवर्षैः ।
लोकं तदा व्याप्तुमिवोद्यता श्रीरुन्मत्तगङ्गाललितं चकार ॥ ४ ॥

तेन च समयेन तस्य राज्ञो जाता जाताः कुमारा म्रियन्ते स्म । स तं विधिप्रमादानुषक्तमिति मन्यमानस्तस्य तनयस्य रक्षार्थं मणिकाञ्चनरजतभक्तिचित्रे श्रीमति सर्वायसे प्रसूतिभवने भूतविद्यापरिदृष्टेन वेदविहितेन च क्रमेण विहित-

सुनने में भी यह कथा कहनी चाहिए। शास्त्र-ज्ञान की प्रशंसा में भी इसे कहना चाहिए—इस प्रकार शास्त्र-ज्ञान से अनेक लाभ होते हैं। सत्य के प्रसङ्ग में भी इसे कहना चाहिए—सत्य-वचन सज्जनों का अभीष्ट है, पुण्य और कीर्ति का घर है, इस प्रकार सत्पुरुष अपने जीवन सुख और ऐश्वर्य की उपेक्षा कर सत्य की रक्षा करते हैं, इस प्रकार सत्य की प्रशंसा में और करुणा के वर्णन में भी इस दृष्टान्त को उपस्थित करना चाहिए।

सुतसोम-जातक इकतीसवाँ समाप्त।

---

३२. अयोगृह-जातक

जिनके मन में वैराग्य का उदय हुआ है उनके कल्याण-मार्ग को राजलक्ष्मी भी नहीं रोक सकती। अतः वैराग्य से परिचय करना चाहिये।, तब जैसी कि अनुश्रुति है—

यह भगवान् जब बोधिसत्त्व थे तभी उन्होंने संसार को रोग जरा मरण प्रिय-वियोग आदि शत शत विपत्तियों से ग्रस्त दुःखित अनाथ असहाय और नायक-विहीन देखकर करुणा से प्रेरित होकर, उसकी रक्षा करने का सङ्कल्प किया। अति साधु-स्वभाव होने के कारण अपने से विमुख और अपरिचित प्राणियों का भी बहुविध हित-सुख सम्पादन करते हुए उन्होंने एक बार विनय सम्पन्न किसी राज-वंश में जन्म लिया। प्रजाओं के स्नेह और अनुकूलता के कारण उस वंश की समृद्धि निरन्तर बढ़ रही थी तथा अभिमानी सामन्तों के विनम्र हो जाने के कारण उस वंश का सौभाग्य सूचित हो रहा था। उन्होंने जन्म लेते ही उस राज-कुल को तथा उसके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी उस उत्तम नगर को अभ्युदय की अतिशय शोभा से युक्त किया।

वहाँ दान लेते लेते ब्राह्मण सन्तुष्ट हो गये। उज्ज्वल वस्त्र-आभूषण धारण किये भृत्य आनन्द से फूले नहीं समाये। अनेक नगाड़ों की ध्वनि से सड़कें (?) भर गईं। आनन्द और नृत्य से उच्छृङ्खलता उत्पन्न हुई ॥ १ ॥

संगीत-रस प्रवाहित हुआ। हास्य की तुमुल ध्वनि हुई। एक-दूसरे को आलिङ्गन करने से आनन्द की वृद्धि हुई। प्रिय संवाद के दान से सन्तुष्ट मनुष्यों ने राजा के अभ्युदय की कामना की ॥ २ ॥

(कारागार के) द्वार खुल गये और बन्दी छोड़ दिये गये। ऊपर फहराती हुई पताकाओं से प्राङ्गण सुशोभित हुए। सुगन्धित चूर्ण फूल और द्रव से पृथ्वी पट गई। इस प्रकार नगर ने उत्सव की उत्तम शोभा को धारण किया ॥ ३ ॥

उस समय बड़े बड़े घरों से बरसाये जाते हुये सुवर्ण-वस्त्र आभरणों से संसार को मानों व्याप्त करने के लिए उद्यत लक्ष्मी ने उन्मत्त गङ्गा की लीला का अनुकरण किया ॥ ४ ॥

उस समय राजा के जो पुत्र उत्पन्न होते थे वे मर जाते थे। इसे भूतबाधा मानते हुए उन्होंने पुत्र की रक्षा की व्यवस्था की। एक सुन्दर प्रसूति-गृह बनवाया, जो समूचा लोहे का बना हुआ और सोना-चाँदी तथा मणियों की आकृतियों से अलङ्कृत था। भूत-विद्या-सम्मत

रक्षोघ्नप्रतीकारे समुचितैश्च कौतुकमङ्गलैः कृतस्वस्त्ययनपरिग्रहे जातकर्मादिसंस्कारविधिं संवर्धनं च कारयामास। तमपि च महासत्त्वं सत्त्वसंपत्तेः पुण्योपचयप्रभावात्सुसंविहितत्वाच्च रक्षाया नामानुषाः प्रसेहिरे। स कालक्रमादवाप्तसंस्कारकर्मा श्रुताभिजनाचारमहद्भ्यो लब्धविद्वद्यशःसंमाननेभ्यः प्रशमविनयमेधागुणावर्जितेभ्यो गुरुभ्यः समधिगतानेकविद्य प्रत्यहमापूर्यमाणमूर्तिर्यौवनकान्त्या निसर्गसिद्धेन च विनयानुरागेण परं प्रेमास्पद स्वजनस्य जनस्य च बभूव।

असंस्तुतमसबन्धं दूरस्थमपि सज्जनम्।
जनोऽवैति सुहृत्प्रीत्या गुणश्रीस्तत्र कारणम्॥ ५॥

हासभूतेन नभसः शरद्विकचरश्मिना।
संबन्धसिद्धिर्लोकस्य का हि चन्द्रमसा सह॥ ६॥

अथ स महासत्त्वः पुण्यप्रभावसुखोपनतैर्दिव्यकल्पैरनल्पैरपि च विषयैरुपलाल्यमानः स्नेहबहुमानसुमुखेन च पित्रा विश्वासनिर्विशङ्कं दृश्यमानः कदाचित्स्वस्मिन् पुरवरे प्रविततरमणीयशोभां कालक्रमोपनतां कौमुदीविभूतिं दिदृक्षुः कृताभ्यनुज्ञः पित्रा काञ्चनमणिरजतभक्तिचित्रालंकारं समुच्छ्रितनानाविधरागप्रचलितोज्ज्वलपताकध्वजं हैमभाण्डाभ्यलंकृतविनीतचतुरतुरंगं दक्षदाक्षिण्यनिपुणशुचिविनीतधीरसारथिं चित्रोज्ज्वलवेषप्रहरणावरणानुयात्रं रथवरमधिरुह्य मनोज्ञतूर्यस्वनपुरःसरस्तत्पुरवरमनुविचरंस्तद्दर्शनाक्षिप्तहृदयस्य कौतूहललोलचक्षुषः स्तुतिसभाजनाञ्जलिप्रग्रहप्रणामाशीर्वचनप्रयोगसव्यापारस्योत्सवरम्यतरवेषरचनस्य पौरजानपदस्य समुदयशोभामालोक्य लब्धप्रहर्षावकाशोऽपि मनसि कृतसंवेगपरिचयत्वात्पूर्वजन्मसु स्मृतिं प्रतिलेभे।

कृपणा बत लोकस्य चलत्वविरसा स्थितिः।
यदियं कौमुदीलक्ष्मीः स्मर्तव्यैव भविष्यति॥ ७॥

एवंविधायां च जगत्प्रवृत्तावहो यथा निर्भयता जनानाम्।
यन्मृत्युनाधिष्ठितसर्वमार्गा निःसंभ्रमा हर्षमनुभ्रमन्ति॥ ८॥

अवार्यवीर्येष्वरिपु स्थितेषु जिघांसया व्याधिजरान्तकेषु।
अवश्यगम्ये परलोकदुर्गे हर्षावकाशोऽत्र सचेतसः कः॥ ९॥

और वेद-सम्मत विधि से भूतों के विनाश का प्रतिकार किया। समुचित शुभ अनुष्ठान और मङ्गल कर्म किये। बालक का जातकर्म आदि संस्कार और संवर्धन किया। उस महासत्त्व की सात्त्विकता पुण्य-प्रभाव और रक्षा की व्यवस्था के कारण भूतों के लिए वह असह्य (अजेय) हुए। काल-क्रम से उनके संस्कार किये गये। उन्होंने शास्त्रज्ञ कुलीन सदाचारी विद्या के लिए विख्यात सम्मानित शान्त विनयी और मेधावी आचार्यों से अनेक विद्याएँ प्राप्त कीं। युवावस्था की कान्ति से उनका शरीर प्रतिदिन भरने लगा। स्वभाव-सिद्ध विनयानुरागिता (विनम्रता) के कारण वह स्वजन और दूसरे लोग सभी के प्रिय हो गये।

जिसके साथ न परिचय है न सम्बन्ध, उस दूरस्थ सज्जन के पीछे लोग मित्र-भाव से चलते हैं, इसका कारण है सज्जन में सद्गुणों का होना ॥ ५ ॥

शरद् ऋतु के चमकते हुए, आकाश के हास्यस्वरूप चन्द्रमा के साथ लोगों का क्या सम्बन्ध है (कि उससे उतनी प्रीति करते हैं ? ॥ ६ ॥

अब वह महासत्त्व (महात्मा) अपने पुण्य-प्रभाव से अनायास प्राप्त भूरि भूरि दिव्य भोगों को भोग रहे थे। पुत्र के प्रति स्नेह और सम्मान से अनुकूल रहने वाले पिता उनपर विश्वास होने के कारण उनकी ओर से निश्चिन्त थे। एक बार अपने उत्तम नगर में कालक्रम से उपस्थित कौमुदी-महोत्सव की फैली हुई सुन्दर शोभा देखने की इच्छा से पिता की आज्ञा लेकर वह एक उत्तम रथपर चढ़े, जो सोना चाँदी और मणियों से विभूषित था, जिसपर अनेक रंगों की उज्ज्वल पताकाएँ और ध्वजाएँ हिल रही थीं, जिसके शिक्षित और चतुर घोड़े सुवर्ण-अलङ्कारों से अलङ्कृत थे, जिसका सारथि दक्ष निपुण पवित्र विनम्र और धीर था, जिसके पीछे चित्र-विचित्र उज्ज्वल वेष शस्त्र और कवच धारण किये हुए अनुचर चल रहे थे। उस रथ पर आरूढ होकर वह नगाड़ों की मनोहर ध्वनि के साथ उस उत्तम नगर में विचरण करने लगे। उन्हें देख कर उत्सव के कारण सुन्दर वेष बनाये हुए नागरिकों और ग्रामीणों के चित्त उनकी ओर आकृष्ट हुए, आँखें उत्कण्ठा से चञ्चल हो उठीं। उन्होंने कुमार की स्तुति और सम्मान किया, हाथ जोड़े, प्रणाम किया और आशीर्वाद दिया। उस समग्र शोभा को देखकर हृदय में आनन्द की अनुभूति के लिए अवसर होने पर भी, वैराग्य से परिचय होने के कारण उन्हें अपने पूर्व-जन्मों का स्मरण हुआ।

(उन्होंने सोचा--)

संसार की स्थिति अस्थिरता के कारण दुःखदायी और दयनीय है। कौमुदी-महोत्सव की यह शोभा भी शीघ्र ही स्मरण-शेष (समाप्त) हो जायगी ॥ ७ ॥

जगत् की प्रवृत्ति ऐसी (अस्थिर) होने पर लोग इतने निर्भय हैं कि, प्रत्येक मार्ग पर मृत्यु के बैठे रहने पर भी, वे घबड़ाहट छोड़कर आनन्द का अनुसरण कर रहे हैं ! ॥ ८ ॥

महाशक्तिशाली अजेय शत्रु—व्याधि बुढ़ापा और मृत्यु—मारने के लिए उद्यत हैं, परलोक-रूपी दुर्ग में अवश्य जाना है, तब ज्ञानी मनुष्य के लिए आनन्द का अवसर ही कहाँ है ? ॥९॥

स्वनानुकृत्येव महार्णवानां संरम्भरौद्राणि जलानि कृत्वा ।
मेघास्तडिद्भासुरहेममालाः सभूय भूयो विलयं व्रजन्ति ॥ १० ॥

तटैः सम तद्विनिबद्धमूलान् हृत्वा तरूँल्लब्धजवैः पयोभिः ।
भवन्ति भूयः सरितः क्रमेण शोकोपतापादिव दीनरूपाः ॥ ११ ॥

हृत्वापि शृङ्गाणि महीधराणां वेगेन वृन्दानि च तोयदानाम् ।
विघूर्ण्य चोद्वर्त्य च सागराम्भः प्रयाति नाशं पवनप्रभावः ॥ १२ ॥

दीप्तोद्धतार्चिर्विकसत्स्फुलिङ्गः संक्षिप्य कक्षं क्षयमेति वह्निः ।
क्रमेण शोभाश्च वनान्तराणामुद्यन्ति भूयश्च तिरोभवन्ति ॥ १३ ॥

कः संप्रयोगो न वियोगनिष्ठः काः संपदो या न विपत्परैति ।
जगत्प्रवृत्ताविति चञ्चलायामप्रत्यवेक्ष्यैव जनस्य हर्षः ॥ १४ ॥

इति स परिगणयन् महात्मा संवेगाद्व्यावृत्तप्रमोदोद्धवेन मनसा रमणीयेष्वपि पुरवरविभूषार्थमभिप्रसारिषु लोकचित्रेष्वविप्रज्यमानबुद्धिः क्रमेण स्वभवनमनुप्राप्तमेवात्मानमपश्यत् । तदभिवृद्धसंवेगश्च विषयसुखेष्वनास्थो धर्म एकः शरणमिति तत्प्रतिपत्तिनिश्चितमतिर्यथाप्रस्तावमभिगम्य राजानं कृताञ्जलिस्तपोवनगमनायानुज्ञामयाचत—

प्रव्रज्यासंश्रयात्कर्तुमिच्छामि हितमात्मनः ।
कृतां तत्राभ्यनुज्ञां च त्वयानुग्रहपद्धतिम् ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा प्रियतनयः स तस्य राजा दिग्धेन द्विरद इवेषुणाभिविद्धः ।
गम्भीरोऽप्युदधिरिवानिलावधूतस्तच्छोकव्यथितमनाः समाचकम्पे ॥ १६ ॥

निवारयिष्यन्नथ तं स राजा स्नेहात्परिष्वज्य सबाष्पकण्ठः ।
उवाच कस्मात्सहसैव तात संत्यक्तुमस्मान् मतिमित्यकार्षीः ॥ १७ ॥

त्वदप्रियेणात्मविनाशहेतुः केनायमित्याकलितः कृतान्तः ।
शोकाश्रुपर्याकुललोचनानि भवन्तु कस्य स्वजनाननानि ॥ १८ ॥

अथापि किंचित्परिशङ्कितं वा मयि व्यलीकं समुपश्रुतं वा ।
तद्ब्रूहि यावद्विरमामि तस्मात्पश्यामि न त्वात्मनि किंचिदीदृक् ॥ १९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

इत्यभिस्नेहसुमुखे व्यलीकं नाम किं त्वयि ।
विप्रियेण समर्थः स्यान्मामासादयितुं च कः ॥ २० ॥

बिजलीरूपी सुवर्ण-मालाओं से विभूषित मेघ महासमुद्रों के गर्जन का अनुकरण करते हुए मानो क्रोध से भयङ्कर जल वृष्टि करते हैं, वे उत्पन्न (या इकट्ठे) होकर फिर विलीन हो जाते हैं ॥ १० ॥

नदियाँ अपनी वेगवती जलधारा से तटों को और तटगतों बद्धमूल वृक्षों को गिराती हैं और फिर क्रम से मानो शोक ताप से दीन-हीन बन जाती हैं ॥ ११ ॥

हवा अपने वेग से पहाड़ों की चोटियों को गिराकर, बादलों को तितर-बितर कर, समुद्र के जल को आलोड़ित और क्षुब्ध कर, प्रभाव हीन हो जाती है। १२ ॥

जलती हुई तेज लपटों वाली और फैलती हुई चिनगारियों वाली अग्नि तृण को जलाकर शान्त हो जाती है। (वसन्त में) वन की शोभा क्रमशः बढ़ती और (ग्रीष्म में) समाप्त हो जाती है ॥ १३ ॥

वह कौन मिलन है जिसका अन्त वियोग नहीं ? वह कौन सम्पत्ति है जिसको विपत्ति नहीं घेरती ? जगत् की स्थिति ऐसी चञ्चल होने पर लोग (वास्तविकता को) नहीं देखकर ही आनन्द करते हैं। १४ ॥

यों सोचते हुए उस महात्मा का मन वैराग्य के कारण आनन्द और उत्तेजना से रहित था। राजधानी को विभूषित करने के लिये फैले हुए चित्र-विचित्र रमणीय लोगों में उनका मन नहीं रमा। उन्होंने क्रम से अपने को अपने भवन में पहुँचा हुआ ही देखा। इससे उनका वैराग्य और भी बढ़ गया। 'विषय-सुखों से सम्बन्ध नहीं रखने वाला धर्म ही एकमात्र शरण है' यह सोचते हुए उन्होंने धर्माचरण का निश्चय किया। अवसर मिलते ही राजा के पास जाकर हाथ जोड़कर उन्होंने तपोवन जाने की अनुमति माँगी।

"संन्यास ग्रहण कर मैं अपना कल्याण करना चाहता हूँ। इसके लिए आप मुझे आज्ञा देने की कृपा करें" ॥ १५ ॥

यह सुनकर पुत्र-प्रिय वह राजा विषलिप्त बाण से विद्ध हाथी के समान, गम्भीर होने पर भी वायु से विक्षुब्ध समुद्र के समान, शोक से मर्माहत होकर काँपने लगे ॥ १६ ॥

उन्हें रोकने के लिए राजा ने स्नेहपूर्वक आलिङ्गन किया और आँसुओं से रुँधे कण्ठ से कहा—"हे तात, क्यों हठात् ही तुमने हमें छोड़ने का निश्चय किया है ? ॥ १७ ॥

तुम्हारे किस शत्रु ने अपने विनाश के लिए यम का आह्वान (या आलिङ्गन) किया है ? किसके स्वजनों के मुख दुःख के आँसुओं से व्याप्त होने को हैं ? ॥ १८ ॥

अथवा यदि मुझ में कुछ अनुचित (या अकार्य) की आशङ्का की है या सुना है तो कहो, मैं उसे छोड़ दूँगा। किन्तु मैं तो अपने में ऐसा कुछ नहीं देख रहा हूँ" ॥ १९ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—

"स्नेह से अनुकूल रहने वाले आप में क्या अनुचित हो सकता है ? और, मेरा अनिष्ट या अप्रिय करने वाला कौन है ?" ॥ २० ॥

अथ किं तर्हि नः परित्यक्तुमिच्छसीति चाभिहितः साश्रुनयनेन राज्ञा स महासत्त्वस्तमुवाच—मृत्युभयात् । पश्यतु देवः,

यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति गर्भे निवासं नरवीर लोकः ।
ततःप्रभृत्यस्खलितप्रयाणः स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति ॥ २१ ॥

नीतौ सुयुक्तोऽपि बले स्थितोऽपि नात्येति कश्चिन्मरणं जरां वा ।
उपद्रुतं सर्वमितीदमाभ्यां धर्मार्थमस्माद्वनमाश्रयिष्ये ॥ २२ ॥

व्यूढान्युदीर्णनरवाजिरथद्विपानि सैन्यानि दर्परभसाः क्षितिपा जयन्ति
जेतुं कृतान्तरिपुमेकमपि त्वशक्तास्तन्मे मतिर्भवति धर्ममभिप्रपत्तुम् ॥२३॥

हृष्टाश्वकुञ्जरपदातिरथैरनीकैर्गुप्ता विमोक्षमुपयान्ति नृपा द्विषद्भ्यः ।
सार्धं बलैरतिबलस्य तु मृत्युशत्रोर्मन्वादयोऽपि विवशा वशमभ्युपेताः ॥२४॥

संचूर्ण्य दन्तमुसलैः पुरगोपुराणि
मत्ता द्विपा युधि रथांश्च नरान् द्विपांश्च ।
नैवान्तकं प्रतिमुखाभिगतं नुदन्ति
वप्रान्तलब्धविजयैरपि तैर्विषाणैः ॥ २५ ॥

दृढचित्रवर्मकवचावरणान् युधि दारयन्त्यपि विदूरचरान् ।
इषुभिस्तदस्त्रकुशला द्विषतश्चिरवैरिणं न तु कृतान्तमरिम् ॥ २६ ॥

सिंहा विकर्तनकरैर्नखरैर्द्विपानां कुम्भाग्रभग्नशिखरैः प्रशमय्य तेजः ।
भित्त्वैव च स्रुतमनांसि रवैः परेषां मृत्युं समेत्य हतदर्पबलाः स्वपन्ति ॥२७॥

दोषानुरूपं प्रणयन्ति दण्डं कृतापराधेषु नृपाः परेषु ।
महापराधे यदि मृत्युशत्रौ न दण्डनीतिप्रवणा भवन्ति ॥२८॥

नृपाश्च सामादिभिरप्युपायैः[1] कृतापराधं वशमानयन्ति ।
रौद्रश्चिराभ्यासदृढावलेपो मृत्युः पुनर्नानुनयादिसाध्यः ॥२९॥

क्रोधानलज्वलितघोरविषाग्निगर्भै-
र्दंष्ट्राङ्कुरैरभिदशन्ति नरान् भुजंगाः ।
दंष्ट्रव्ययलविधुरास्तु भवन्ति मृत्यौ
वध्येऽपि नित्यमपकारविधानदक्षे ॥ ३० ॥

दष्टस्य कोपरभसैरपि पन्नगैश्च
मन्त्रैर्विषं प्रशमयन्त्यगदैश्च वैद्याः ।
आशीविषस्त्वतिविषोऽयमरिष्टदंष्ट्रो
मन्त्रागदादिभिरसाध्यबलः कृतान्तः ॥ ३१ ॥

---

१. पा० अभ्युपायैः ।

"तब क्यों हमें छोड़ना चाहते हो?" रोते हुए राजा के द्वारा यह पूछे जाने पर उस महात्मा ने कहा—"मृत्यु के भय से। श्रीमान् देखें।

हे राजन्, जिस प्रथम रात्रि को मनुष्य गर्भ में प्रवेश करता है उसी रात्रि से वह प्रतिदिन बिना रुके मृत्यु की ओर बढ़ता रहता है॥ २१॥

नीतिमान् हो या बलवान्, जरा और मरण से कोई नहीं बच सकता। यह सम्पूर्ण जगत् इन दोनों के उपद्रव से पीड़ित है। यही कारण है कि धर्माचरण के लिए मैं तपोवन जाऊँगा॥ २२॥

मदोद्धत राजा पैदल घोड़े रथ और हाथी की विशाल शक्तिशाली सेनाओं को पराजित करते हैं। किन्तु वे यमरूपी शत्रु को, यद्यपि वह एक ही है, जीतने में असमर्थ हैं। अतः मैं धर्माचरण करने का विचार करता हूँ॥ २३॥

हृष्ट-पुष्ट घोड़े हाथी पैदल और रथ की सेनाओं से सुरक्षित राजा शत्रुओं से छुटकारा पाते हैं। किन्तु मनु आदि राजा भी अपनी सेनाओं के साथ विवश होकर अतिबलवान् मृत्युरूप शत्रु के वशीभूत हुए॥ २४॥

मतवाले हाथी मुसल के समान दाँतों से युद्ध में रथों मनुष्यों हाथियों और नगर के द्वारों को चूर चूर कर देते हैं, किन्तु जब काल (यम) सामने आता है तब वे दीवारों को तोड़ने में सफल उन दाँतों से उसे नहीं हटा सकते॥ २५॥

बाण चलाने में निपुण योद्धा अपने बाणों से सुदृढ़ और चित्र-विचित्र कवच धारण किये हुए दूरस्थ शत्रुओं को विदीर्ण करते हैं; किन्तु सनातन शत्रु काल पर उनका कुछ वश नहीं चलता॥ २६॥

सिंह अपने तीक्ष्ण नखों को हाथियों के कपोलों में गड़ाकर उनके तेज को शान्त कर देते हैं, अपने गर्जनों से दूसरों के कानों और हृदयों को विदीर्ण करते हैं, किन्तु मृत्यु से सामना होने पर वे अभिमान और सामर्थ्य खोकर सो रहते हैं॥ २७॥

राजा लोग अपराधियों को उनके अपराध के अनुरूप दण्ड देते हैं; किन्तु महापराधी मृत्युरूप शत्रु के प्रति वे दण्डनीति का आश्रय नहीं लेते॥ २८॥

वे राजा साम-आदि उपायों के द्वारा अपराधी को वश में ले आते हैं; किन्तु (अपराध के) दीर्घ अभ्यास से महा-अभिमानी भयङ्कर मृत्यु को विनय आदि के द्वारा वश में नहीं ला सकते॥ २९॥

सर्प क्रोधाग्नि से प्रज्वलित भयङ्कर विषाग्नि से भरे हुए दाँतों से मनुष्यों को डँसते हैं; किन्तु नित्य-अपकारी वध के योग्य मृत्यु के प्रति उनकी डँसने की शक्ति कुण्ठित हो जाती है॥ ३०॥

सर्प जब क्रोध में आकर किसी को डँसते हैं तो वैद्य मन्त्रों और ओषधियों के द्वारा उसके विष को शान्त कर देते हैं; किन्तु यह कालरूप सर्प अति-विषधर और सुदृढ़ दाँतों वाला है, मन्त्रों ओषधियों आदि से यह शक्तिहीन नहीं किया जा सकता॥ ३१॥

पक्षानिलैर्ललितमीनकुलं व्युदस्य
मेघौघभीमरसितं जलमर्णवेभ्यः ।
सर्पान् हरन्ति विततप्रहणाः सुपर्णा
मृत्युं पुनः प्रमथितुं न तथोत्सहन्ते ॥ ३२ ॥

भीतद्रुतानपि जवातिशयेन जित्वा
संसाद्य चैकभुजवज्रविलासवृत्त्या ।
व्याघ्राः पिबन्ति रुधिराणि वने मृगाणां
नैवंप्रवृत्तिपटवस्तु भवन्ति मृत्यौ ॥ ३३ ॥

दंष्ट्राकरालमपि नाम मृगः समेत्य
वैयाघ्रमाननमुपैति पुनर्विमोक्षम् ।
मृत्योर्मुखं तु पृथुरोगजरार्तिदंष्ट्रं
प्राप्तस्य कस्य च पुनः शिवतातिरस्ति ॥ ३४ ॥

पिबन्ति नृणां विकृतोग्रविग्रहा
सहौजसायूंषि दृढग्रहा ग्रहाः ।
भवन्ति तु प्रस्तुतमृत्युविग्रहा
विपन्नदर्पोत्कटतापरिग्रहाः ॥ ३५ ॥

पूजारतद्रोहकृतेऽभ्युपेतान् ग्रहान्नियच्छन्ति च सिद्धविद्याः ।
तपोबलस्वस्त्ययनौषधैश्च मृत्युग्रहस्त्वप्रतिवार्य एव ॥ ३६ ॥

मायाविधिज्ञाश्च महासमाजे जनस्य चक्षूंषि विमोहयन्ति ।
कोऽपि प्रभावस्त्वयमन्तकस्य यद्भ्राम्यते तैरपि नास्य चक्षुः ॥ ३७ ॥

हत्वा विषाणि च तपोबलसिद्धमन्त्रा
व्याधीन्नृणामुपशमय्य च वैद्यवर्याः ।
धन्वन्तरिप्रभृतयोऽपि गता विनाशं
धर्माय मे रमति तेन मतिर्वनान्ते ॥ ३८ ॥

आविर्भवन्ति च पुनश्च तिरोभवन्ति
गच्छन्ति वानिलपथेन महीं विशन्ति ।
विद्याधरा विविधमन्त्रबलप्रभावा
मृत्युं समेत्य तु भवन्ति हतप्रभावाः ॥ ३९ ॥

दृप्तानपि प्रतिनुदन्त्यसुरान् सुरेन्द्रा दृप्तानपि प्रतिनुदन्त्यसुराः सुरांश्च ।
स्थानाधिरूढमतिभिः समुदीर्णसैन्यैस्तैः संहतैरपि तु मृत्युरजय्य एव ॥४०॥

इमामवेत्याप्रतिवार्यरौद्रतां कृतान्तशत्रोर्भवने न मे मतिः ।
न मन्युना स्नेहपरिक्षयेण वा प्रयामि धर्माय तु निश्चितो वनम् ॥ ४१ ॥

गरुड़ अपने पंखों की हवा से समुद्र जल को, जहाँ मछलियाँ खेलती हैं, हिलाते हुए, मेघों के समान भयङ्कर शब्द करते हुए, अपने फैले हुए मुखों से साँपों को पकड़कर ले जाते हैं; किन्तु वे मृत्यु का उस प्रकार से विनाश नहीं कर सकते ॥ ३२ ॥

बाघ भय से भागे हुए जंगल के मृगों को भी अतिशय वेग से पकड़कर वज्र के समान एक पंजे से मानो खेल में मारकर उनके रुधिर को पी जाते हैं; किन्तु मृत्यु के प्रति वे ऐसा आचरण करने में कुशल नहीं होते ॥ ३३ ॥

मृग दाँतों से विकराल व्याघ्र-मुख में पहुँचकर, संभव है, वहाँ से फिर छूट जाय; किन्तु रोग-बुढ़ापा-दुःखरूप बड़े दाँतोंवाले मृत्यु-मुख में पहुँचकर भला किसकी कुशल है ? ॥ ३४ ॥

विकृत और विकराल आकृतिवाले राक्षस[1] मनुष्यों को दृढ़तापूर्वक पकड़कर उनकी शक्ति और आयु को पी जाते हैं। किन्तु जब उनके लिए मृत्यु से संघर्ष करने का समय आता है, तब उनका अभिमान भयङ्करता और पकड़ समाप्त हो जाती है ॥ ३५ ॥

(प्रत–) विद्या सिद्ध करनेवाले पुरुष पूजा-कर्म में निरत व्यक्ति से द्रोह करने के लिए आये हुए राक्षसों को नियन्त्रित करते हैं। किन्तु तपोबल मङ्गल-कर्म और ओषधियों से भी मृत्युरूप राक्षस का निवारण नहीं किया जा सकता ॥ ३६ ॥

ऐन्द्रजालिक (जादूगर) लोगों की बड़ी भीड़ में उनकी आँखों को मोह (चकमे) में डाल देते हैं। किन्तु यम इतना प्रभावशाली है कि वे (ऐन्द्रजालिक) भी उसकी आँखों को नहीं फेर सकते ॥ ३७ ॥

तपोबल से मन्त्र सिद्ध करनेवाले पुरुष विष उतारते हैं, श्रेष्ठ वैद्य मनुष्यों के रोग दूर करते हैं। वे तथा धन्वन्तरि आदि भी काल के वशीभूत हुए। अतः वन में धर्माचरण करने का मेरा विचार है ॥ ३८ ॥

विद्याधर विविध मन्त्रों की शक्ति और प्रभाव से प्रकट होते हैं और पुनः अदृश्य होते हैं, वायु-मार्ग से जाते हैं या पृथ्वी में प्रवेश करते हैं। किन्तु मृत्यु से मुठभेड़ होने पर वे प्रभाव-हीन हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

देवता मदोद्धत राक्षसों को भी पीछे हटाते हैं और राक्षस मदोद्धत देवताओं को भी पीछे हटाते हैं। किन्तु दोनों की सम्मिलित शक्तिशाली मदोद्धत सेनाएँ भी मृत्यु को नहीं जीत सकती हैं ॥ ४० ॥

मृत्युरूप शत्रु की इस भयङ्करता का निवारण नहीं किया जा सकता, यह जानकर घर में रहने का मेरा विचार नहीं है। मैं क्रोध से या स्नेह के क्षीण होने से नहीं, किन्तु धर्माचरण के लिए निश्चय कर वन जा रहा हूँ" ॥ ४१ ॥

राजोवाच—अथ वने तव क आश्वासः एवमप्रतिक्रिये मृत्युभये सति धर्मपरिग्रहे च ।

किं त्वा वने न समुपैष्यति मृत्युशत्रु-
धर्मे स्थिताः किमृषयो न वने विनष्टाः ।
सर्वत्र नाम नियतः क्रम एष तत्र
कोऽर्थो विहाय भवनं वनसंश्रयेण ॥ ४२ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

कामं स्थितेषु भवने च वने च मृत्यु-
र्धर्मात्मकेषु विगुणेषु च तुल्यवृत्तिः ।
धर्मात्मनां भवति न त्वनुतापहेतु-
र्धर्मश्च नाम वन एव सुखं प्रपत्तुम् ॥ ४३ ॥

पश्यतु देवः,

प्रमादमदकन्दर्पलोभद्वेषास्पदे गृहे ।
तद्विरुद्धस्य धर्मस्य कोऽवकाशपरिग्रहः ॥ ४४ ॥

विकृष्यमाणो बहुभिः कुकर्मभिः परिग्रहोपार्जनरक्षणाकुलः ।
अशान्तचेता व्यसनोदयागमैः कदा गृहस्थः शममार्गमेष्यति ॥ ४५ ॥

वने तु संत्यक्तकुकार्यविस्तरः परिग्रहक्लेशविवर्जितः सुखी ।
शमैककार्यः परितुष्टमानसः सुखं च धर्मं च यशांसि चार्छति ॥ ४६ ॥

धर्मश्च रक्षति नरं न धनं बलं वा
धर्मः सुखाय महते न विभूतिसिद्धिः ।
धर्मात्मनश्च मुदमेव करोति मृत्यु-
र्न ह्यस्ति दुर्गतिभयं निरतस्य धर्मे ॥ ४७ ॥

क्रियाविशेषश्च यथा व्यवस्थितः शुभस्य पापस्य च भिन्नलक्षणः ।
तथा विपाकोऽप्यशुभस्य दुर्गतिश्चित्रस्य धर्मस्य सुखाश्रया गतिः ॥ ४८ ॥

इत्यनुनीय स महात्मा पितरं कृताभ्यनुज्ञः पित्रा तृणवदपास्य राज्यलक्ष्मीं तपोवनाश्रयं चकार । तत्र च ध्यानान्यप्रमाणानि चोत्पाद्य तेषु च प्रतिष्ठाप्य लोकं ब्रह्मलोकमधिरुरोह ॥

तदेवं संविग्नमनसां राजलक्ष्मीरपि श्रेयोमार्गं नावृणोतीति संवेगपरिचयः कार्यः । मरणसंज्ञावर्णेऽपि वाच्यम्—एवमाशुमरणसंज्ञा संवेगाय भवतीति । तथा मरणानुस्मृतिवर्णेऽनित्यताकथायामभ्युपनेयम्—एवमनित्याः सर्वसंस्कारा इति ।

राजा ने कहा—"इस प्रकार जब मृत्युरूप भय का प्रतिकार नहीं है तब वन में धर्माचरण करने से तुम्हें (मृत्यु से बचने का) क्या आश्वासन मिलता है ?

क्या वन में तुम्हारे पास मृत्युरूप शत्रु नहीं आयेगा ? क्या धर्म-रत ऋषि वन में नहीं मरे ? यह धर्माचरण सर्वत्र संभव है (या यह गति सर्वत्र अवश्यम्भावी है)। तब घर छोड़कर वन जाने से क्या लाभ ?" ॥ ४२ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—"अवश्य ही, गृहस्थ हों या वनवासी, धर्मात्मा हों या धर्महीन, सबके प्रति मृत्यु का समान व्यवहार है। किन्तु धर्मात्माओं के लिए वह (मृत्यु) दुःखदायी नहीं है और धर्माचरण वन में सुकर है ॥ ४३ ॥

महाराज देखें—

घर तो असावधानी अभिमान काम-वासना लोभ और द्वेष का निवास-स्थान है। उनके विरुद्ध धर्माचरण के लिये वहाँ कौन अवसर मिलेगा ? ॥ ४४ ॥

अनेक कुकार्यों से घसीटा जाता हुआ, संग्रह उपार्जन और संरक्षण से व्याकुल, सम्पत्ति और विपत्ति की प्राप्ति से अशान्तचित्त गृहस्थ कब शान्ति-मार्ग पर चलेगा ? ॥ ४५ ॥

किन्तु वन में कुकार्यों को छोड़कर और संग्रह के कष्ट से मुक्त होकर मनुष्य सुखी होता है। वहाँ शान्ति ही उसका एकमात्र कार्य है, चित्त सन्तुष्ट रहता है। वह सुख धर्म और यश को पाता है ॥ ४६ ॥

धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है, न कि धन या बल। धर्म से ही महा-सुख होता है, न कि सम्पत्ति की प्राप्ति से। मृत्यु तो धर्मात्माको आनन्द ही देती है, उसके लिये दुर्गति का भय नहीं है ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार धर्म और अधर्म का भेद निश्चित है, उनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार अधर्म का परिणाम दुर्गति है और उज्ज्वल धर्म का सुखद सद्गति" ॥ ४८ ॥

इस प्रकार वह महात्मा पिता से अनुनय कर, उनकी आज्ञा प्राप्त कर, राज्यलक्ष्मी को तृण के समान छोड़कर, तपोवन चले गये। और, वहाँ अपरिमित ध्यान किया तथा लोगों से भी ध्यान कराया। अन्त में ब्रह्मलोक चले गये।

इस प्रकार जिनके मन में वैराग्य का उदय हुआ है उनके कल्याण-मार्ग को राज-लक्ष्मी भी अवरुद्ध नहीं कर सकती। मृत्यु के ज्ञान में भी इसे कहना चाहिए—शीघ्र मरना है, यह ज्ञान वैराग्य को उत्पन्न करता है। मरण का स्मरण कराने के लिए तथा अनित्यता की कथा में

तथा सर्वलोकेऽनभिरतिसंज्ञायाम्—एवमनाश्वासिक संस्कृतमिति । एवमत्राणोऽयमसहायश्च लोक इत्येवमपि वाच्यम् । एवं वने धर्मः सुखं प्रतिपत्तुं न गेह इत्येवमप्युन्नेयम् ॥

॥ इति अयोगृह-जातकं द्वात्रिंशत्तमं ॥

३३. महिष-जातकम्

सति क्षन्तव्ये क्षमा स्यान्नासतीत्यपकारिणमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन्नरण्यप्रदेशे पङ्कसंपर्कात्परुषवपुर्नीलमेघविच्छेद इव पादचारी वनमहिषवृषो बभूव । स तस्यां दुर्लभधर्मसंज्ञायां संमोहबहुलायामपि तिर्यग्गतौ वर्तमानः पटुविज्ञानत्वान्न धर्मचर्यानिरुद्योगमतिर्बभूव ।

चिरानुवृत्त्येव निबद्धभावा न तं कदाचित्करुणा मुमोच ।
कोऽपि प्रभावः स तु कर्मणो वा तस्यैव वा यत्स तथा बभूव ॥ १ ॥

अतश्च नूनं भगवानवोचदचिन्त्यतां कर्मविपाकयुक्तेः ।
कृपात्मकः सन्नपि यत्स भेजे तिर्यग्गतिं तत्र च धर्मसंज्ञाम् ॥ २ ॥

विना न कर्मास्ति गतिप्रबन्धः शुभं न चानिष्टविपाकमस्ति ।
स धर्मसंज्ञोऽपि तु कर्मलेशांस्तांस्तान् समासाद्य तथा तथासीत् ॥ ३ ॥

अथान्यतमो दुष्टवानरस्तस्य कालान्तराभिव्यक्तां प्रकृतिभद्रतां दयानुवृत्त्या च विगतक्रोधसंरम्भतामवेत्य नास्माद्भयमस्तीति तं महासत्त्वं तेन तेन विहिंसाक्रमेण भृशतरमबाधत ।

दयामृदुषु दुर्जनः पटुतरावलेपोद्धवः
परां व्रजति विक्रियां न हि भयं ततः पश्यति ।
यतस्तु भयशङ्कया सुकृशयापि संस्पृश्यते
विनीत इव नीचकैश्चरति तत्र शान्तोद्धवः ॥ ४ ॥

स कदाचित्तस्य महासत्त्वस्य विस्रब्धप्रसुप्तस्य निद्रावशाद्वा प्रचलायतः सहसैवोपरि निपतति स्म । द्रुममिव कदाचिदेनमधिरुह्य भृशं संचालयामास । क्षुधितस्यापि कदाचिदस्य मार्गमावृत्य व्यतिष्ठत । काष्ठेनाप्येनमेकदा श्रवणयोर्घट्टयामास । सलिलावगाहनसमुत्सुकस्याप्यस्य कदाचिच्छिरः समभिरुह्य पाणिभ्यां नयने समाववे । अप्येनमधिरुह्य समुद्यतदण्डः प्रसह्यैव वाहयन्

भी इसे उपस्थित करना चाहिए। इस प्रकार सभी चीजें अनित्य हैं, तथा सम्पूर्ण संसार में कहीं भी आनन्द नहीं है—यह कहना चाहिए। जो कुछ उत्पन्न हुआ है वह अविश्वसनीय है। यह संसार त्राण-रहित और असहाय है—यह भी कहना चाहिए। इस प्रकार वन में धर्माचरण सुकर है, न कि घर में—यह भी कहना चाहिए।

अयोगृह-जातक बत्तीसवाँ समाप्त।

---

३३. महिष-जातक

क्षमा के लिए अवसर तब मिलता है जब कोई क्षमा के योग्य हो; अन्यथा नहीं। इस प्रकार साधु अपकारी को भी लाभ मानकर आदर देते हैं। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व किसी जंगल में जंगली भैंसा हुए। कीचड़ के लेप से उनका शरीर इतना मलिन रहता था कि वह नीले मेघ के टुकड़े के समान लगते थे, जो पैरों पर चल रहा हो। वे उस पशु योनि में भी, जहाँ अज्ञान छाया रहता है और जहाँ धर्मज्ञान होना तो कठिन है, पड़कर भी बड़े ज्ञानी और इसलिए धार्मिक भी थे।

चिरकाल से आचरित बद्धमूल करुणा ने उन्हें कभी नहीं छोड़ा। किन्तु उनके (पूर्व-) कर्म का ही यह फल था कि वह वैसे हुए॥ १॥

अतः भगवान् ने ठीक ही कहा है कि कर्म-फल की युक्ति (रहस्य) को समझना संभव नहीं है। क्योंकि दयालु स्वभाव के होकर भी वह पशु योनि में गये और वहाँ उनका धर्म-ज्ञान बना रहा॥ २॥

कर्म के विना जन्म-परम्परा (बार बार जन्म लेना) नहीं हो सकती है और शुभ (कर्म) का अशुभ फल भी नहीं हो सकता। यद्यपि वह धर्मज्ञ थे तथापि अपने कुछ (अशुभ) कर्मों के कारण उन्हें वैसी योनियों में जाना पड़ता था॥ ३॥

तब किसी दुष्ट वानर ने समय समयपर अभिव्यक्त उनके भद्र स्वभाव को तथा दयालुता के कारण उनके अक्रोध को जानकर 'इनसे कुछ डर नहीं है', यह सोचकर उस महासत्त्व को अनेक हिंसापूर्ण उपायों से सताया।

दयार्द्र व्यक्तियों के प्रति दुर्जन उद्धत और उत्तेजित होकर बड़ी दुष्टता करता है, क्योंकि वह देखता है कि उनसे कोई भय नहीं है। किन्तु जिस व्यक्ति से भय की क्षीण आशङ्का से भी ग्रस्त होता है उसके प्रति वह शान्त होकर विनीत शिष्य के समान विनम्र आचरण करता है॥ ४॥

वह महासत्त्व जब शान्तिपूर्वक सोये रहते थे या नीन्द से ऊँघते रहते थे तब वह (दुष्ट वानर) हठात् ही उनके ऊपर उछल पड़ता था। कभी वृक्ष के समान उनके ऊपर चढ़कर जोरों से उन्हें हिलाने लगता था। कभी भूख से पीड़ित उनके मार्ग को रोककर खड़ा हो जाता था। एक बार काठ लेकर उनके कानों को रगड़ दिया। जब वह जलाशय में घुसना चाहते थे तब उनके शिरपर चढ़कर वह अपने हाथों से उनकी आँखों को बन्द कर देता था। उनके

यमस्य लीलामनुचकार । बोधिसत्त्वोऽपि महासत्त्वः सर्वं तदस्याविनयचेष्टितमुपकारमिव मन्यमानो निःसंक्षोभसंरम्भमन्युर्मर्षयामास ।

स्वभाव एव पापानां विनयोन्मार्गसंश्रयः ।
अभ्यासात्तत्र च सतामुपकार इव क्षमा ॥ ५ ॥

अथ किलान्यतमो यक्षस्तमस्य परिभवममृष्यमाणो भावं वा जिज्ञासमानस्तस्य महासत्त्वस्य तेन दुष्टकपिना वाह्यमानं तं महिषवृषभं मार्गे स्थित्वेदमुवाच—मा तावद्भोः ! किं परिक्रीतोऽस्यनेन दुष्टकपिना ? अथ द्यूते पराजितः ? उताहो भयमस्मात्किंचिदाशङ्कसे ? उताहो बलमात्मगतं नावैषि यदेवमनेन परिभूय वाह्यसे ? ननु भोः !

वेगाविद्धं त्वद्विषाणाग्रवक्त्रं वज्रं भिन्द्याद्वज्रवद्वा नगेन्द्रान् ।
पादाश्चेमे रोषसंरम्भमुक्ता मज्जेयुस्ते पङ्कवच्छैलपृष्ठे ॥ ६ ॥

इदं च शैलोपमसंहतस्थिरं समग्रशोभं बलसंपदा वपुः ।
स्वभावसौजस्कनिरीक्षितोर्जितं दुरासदं केसरिणोऽपि ते भवेत् ॥ ७ ॥

मथान धृत्वा तदिमं क्षुरेण वा विषाणकोटचा मदमस्य बोद्धर ।
किमस्य जाल्मस्य कपेरशक्तवत्प्रबाधनादुःखमिदं तितिक्षसे ॥ ८ ॥

असज्जनः कुत्र यथा चिकित्स्यते गुणानुवृत्त्या सुखशीलसौम्यया ।
कटूष्णरूक्षाणि हि यत्र सिद्धये कफात्मको रोग इव प्रसर्पति ॥ ९ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तं यक्षमवेक्षमाणः क्षमापक्षपतितमरूक्षाक्षरमित्युवाच—

अवैम्येनं चलं नूनं सदा चाविनये रतम् ।
अत एव मया त्वस्य युक्तं मर्षयितुं ननु ॥ १० ॥

प्रतिकर्तुमशक्तस्य क्षमा का हि बलीयसि ।
विनयाचारधीरेषु क्षन्तव्यं किं च साधुषु ॥ ११ ॥

शक्त एव तितिक्षते दुर्बलस्खलितं यतः ।
वरं परिभवस्तस्मान्न गुणानां पराभवः ॥ १२ ॥

असत्क्रिया हीनबलाच्च नाम निर्देशकालः परमो गुणानाम् ।
गुणप्रियस्तत्र किमित्यपेक्ष्य स्वधैर्यभेदाय पराक्रमेत ॥ १३ ॥

ऊपर चढ़कर लाठी उठाकर बलात् उन्हें हाँकते हुए उसने यम की लीला का अनुकरण किया। महासत्त्व बोधिसत्व ने भी उसके सभी अविनयपूर्ण कार्यों को उपकार समझते हुए, क्षोभ या क्रोध के वशीभूत न होकर, क्षमा कर दिया।

अविनय के मार्ग पर चलना पापियों का स्वभाव ही है और अभ्यास के कारण उसे उपकार समझकर क्षमा करना सज्जनों का स्वभाव है ॥ ५ ॥

तब उनके अपमान को नहीं सह सकते हुए या उस महासत्त्व के भीतरी भाव को जानने की इच्छा से किसी यक्ष ने उस दुष्ट बानर के द्वारा चढ़कर हाँके जाते हुए महिष से मार्ग में खड़े होकर कहा—'ऐसा तो नहीं होना चाहिए। क्या इस दुष्ट वानर ने तुम्हें खरीद लिया है, या तुम जुए में हराये गये हो, या इससे कुछ भय की आशङ्का होती है, या अपने को बलवान् नहीं समझते हो, जो इसके द्वारा इस प्रकार अपमानपूर्वक वहन कराये जा रहे हो? अवश्य ही,

वेगपूर्वक चलाया गया तुम्हारे सींग का अग्र भाग पत्थर को फोड़ सकता है, वज्र के समान बड़े-बड़े वृक्षों को विदीर्ण कर सकता है। और, क्रोधपूर्वक फेंके गये तुम्हारे ये पैर चट्टान में भी वैसे ही धँस सकते हैं जैसे कीचड़ में ॥ ६ ॥

पर्वत के समान सुदृढ़ बलवान् और सुन्दर तुम्हारा यह शरीर सिंह के लिए भी दुर्लभ है। जो स्वभाव से शक्तिशाली हैं वे भी तुम्हारी शक्ति से परिचित हैं ॥ ७ ॥

तब इसे पकड़कर अपने खुर से मथ डालो या सींग के नोक से इसका अभिमान चूर्ण कर दो। क्यों इस दुष्ट वानर के द्वारा सताये जाने के क्लेश को सह रहे हो? ॥ ८ ॥

शील-सद्गुण के द्वारा दुर्जन की चिकित्सा नहीं हो सकती है। इससे तो वह और बढ़ेगा ही, जैसे कटु उष्ण और रूखे पदार्थों से साध्य कफ रोग[१] (विपरीत चीजों के उपयोग से) बढ़ता ही है" ॥ ९ ॥

तब बोधिसत्त्व ने यक्ष की ओर देखते हुए क्षमा-सूचक कोमल शब्दों में कहा—

"मैं निश्चय जानता हूँ कि यह चञ्चल है और सर्वदा अविनयपूर्ण कार्य किया करता है। इसीलिए तो इसको क्षमा करना मेरे लिए उचित है ॥ १० ॥

जो प्रतिकार करने में असमर्थ है वह बलवान् को क्या क्षमा करेगा? और, आचारवान् विनयवान् साधुओं को क्षमा ही क्या करना है? ॥ ११ ॥

बलवान् ही दुर्बल के अपराध को क्षमा कर सकता है: अतः उसके द्वारा अपमानित होना अच्छा है, किन्तु गुणों को छोड़ना अच्छा नहीं ॥ १२ ॥

दुर्बल के द्वारा अपमानित होना गुणों के प्रकटन का उत्तम अवसर है। वहाँ गुणानुरागी व्यक्ति क्या देखकर धैर्य छोड़ने की चेष्टा करेगा? ॥ १३ ॥

नित्यं क्षमायाश्च ननु क्षमायाः कालः परायत्ततया दुरापः ।
परेण तस्मिन्नुपपादिते च तत्रैव कोपप्रणयक्रमः कः ॥ १४ ॥

स्वां धर्मपीडामविचिन्त्य योऽयं मत्पापशुद्ध्यर्थमिव प्रवृत्तः ।
न चेत्क्षमामप्यहमत्र कुर्यामन्यः कृतघ्नो बत कीदृशः स्यात् ॥१५॥

यक्ष उवाच—तेन हि न त्वमस्याः कदाचित्प्रबाधनाया मोक्ष्यसे—

गुणेष्वबहुमानस्य दुर्जनस्याविनीतताम् ।
क्षमानैभृत्यमत्यक्त्वा कः संकोचयितुं प्रभुः ॥ १६ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

परस्य पीडाप्रणयेन यत्सुखं निवारणं स्यादसुखोदयस्य वा ।
सुखार्थिनस्तन्न निषेवितुं क्षमं न तद्विपाको हि सुखप्रसिद्धये ॥ १७ ॥

क्षमाश्रयादेवमसौ मयार्थतः प्रबोध्यमानो यदि नावगच्छति ।
निवारयिष्यन्ति त एनमुत्पथादमर्षिणो यानयमभ्युपैष्यति ॥ १८ ॥

असत्क्रियां प्राप्य च तद्विधाज्जनान्न मादृशेऽप्येवमसौ करिष्यति ।
न लब्धदोषो हि पुनस्तथाचरेदतश्च मुक्तिर्मम सा भविष्यति ॥ १९ ॥

अथ यक्षस्तं महासत्त्वं प्रसादविस्मयबहुमानावर्जितमतिः साधु साध्विति सशिरःप्रकम्पाङ्गुलिविक्षेपमभिसंराध्य तत्तत्प्रियमुवाच—

कुतस्तिरश्चामियमीदृशी स्थितिर्गुणेष्वसौ चादरविस्तरः कुतः ।
कयापि बुद्ध्या त्विदमास्थितो वपुस्तपोवने कोऽपि भवांस्तपस्यति ॥ २० ॥

इत्येनमभिप्रशस्य तं चास्य दुष्टवानरं पृष्ठादवधूय समादिश्य चास्य रक्षाविधानं तत्रैवान्तर्दधे ।

तदेवं सति क्षन्तव्ये क्षमा स्यान्नासतीत्यपकारिणमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते इति क्षान्तिकथायां वाच्यम् । एवं तिर्यग्गतानां बोधिसत्त्वानां प्रतिसंख्यानसौष्ठवं दृष्टम् । को नाम मनुष्यभूतः प्रव्रजितप्रतिज्ञो वा तद्विकलः शोभेत ? इत्येवमपि वाच्यम् । तथागतवर्णे सत्कृत्य धर्मश्रवणे चेति ॥

॥ इति महिषजातकं त्रयस्त्रिंशत्तमम् ॥

समुचित क्षमा का अवसर दूसरों के अधीन होने के कारण नित्य नहीं मिल सकता है। दूसरों के द्वारा उस अवसर के उत्पन्न किये जाने पर क्यों क्रोध किया जाय ? ॥ १४ ॥

अपने अधर्म को नहीं देखते हुए जो मेरे पाप की शुद्धि के लिए तैयार हुआ है उसे यदि मैं क्षमा नहीं करूँ, तब दूसरा कृतघ्न कौन होगा ?" ॥ १५ ॥

यक्ष ने कहा—"तब तुम इसके द्वारा सताये जाने से कभी छुटकारा नहीं पाओगे।

गुणों का आदर न करने वाले दुर्जन के अविनय को, क्षमा को छोड़े बिना कौन दूर कर सकता है ?" ॥ १६ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—

"दूसरे को पीड़ा देने से जो सुख या दुःख का निवारण हो, सुख चाहनेवाला उसका सेवन न करे; क्योंकि उसका परिणाम सुखदायक नहीं होता है ॥ १७ ॥

क्षमा का आश्रय लेकर मेरे द्वारा ठीक ठीक समझाये जाने पर भी यदि यह नहीं समझता है तो जिन असहनशील प्राणियों के पास यह जायगा वे इसे कुपथ से रोकेंगे ॥ १८ ॥

वैसे (असहनशील) प्राणियों से असत्कृत होकर यह मेरे-जैसे के प्रति भी ऐसा (अविनय) नहीं करेगा। दण्डित होकर यह पुनः वैसा आचरण नहीं करेगा। और, इस प्रकार (इसके अविनय से) मेरी मुक्ति हो जायगी" ॥ १९ ॥

तब उस महासत्त्व के प्रति आनन्द आश्चर्य और सम्मान से भरकर यक्ष ने "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा" कहते हुए, शिर और अंगुलियों को हिलाकर उनकी आराधना की और बहुत-कुछ प्रिय वचन कहा—

"पशु-पक्षियों की यह स्थिति कैसे होती है ? गुणों के प्रति उनका इतना आदर क्यों होता है ? कुछ समझकर ही आपने यह शरीर धारण किया है। तपोवन में आप कोई तपस्वी ही हैं" ॥ २० ॥

इस प्रकार उनकी प्रशंसा कर उस दुष्ट वानर को उनकी पीठ से हटा दिया और रक्षा का उपाय बतलाकर वह वहीं अन्तर्धान हो गया।

इस प्रकार क्षमा के लिए अवसर तब मिलता है जब कोई क्षमा के योग्य हो; अन्यथा नहीं। इस प्रकार साधु अपकारी को भी लाभ मानकर आदर देते हैं। क्षमा की कथा में यह कहना चाहिये । इस प्रकार पशु-पक्षियों की योनि में पड़े हुए बोधिसत्त्वों का उत्कृष्ट ज्ञान (विवेक) देखा गया है। तब मनुष्य होकर या प्रव्रज्या (संन्यास) की प्रतिज्ञा लेकर कौन उसके बिना शोभा प्राप्त करेगा ? यह भी कहना चाहिये। तथागत का वर्णन करने में और आदरपूर्वक धर्मश्रवण करने में भी यह कथा कहनी चाहिये।

महिष-जातक तैंतीसवाँ समाप्त।

३४. शतपत्र-जातकम्

प्रोत्साह्यमानोऽपि साधुर्नालं पापे प्रवर्तितुमनभ्यासात् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन् वनप्रदेशे नानाविधरागरुचिरचित्रपत्रः शतपत्रो बभूव । करुणापरिचयाच्च तदवस्थोऽपि न प्राणिहिंसाकलुषां शतपत्रवृत्तिमनुववर्त ।

बालैः प्रवालैः स महीरुहाणां पुष्पाधिवासैर्मधुभिश्च हृद्यैः ।
फलैश्च नानारसगन्धवर्णैः संतोषवृत्तिं बिभरांचकार ॥ १ ॥

धर्मं परेभ्यः प्रवदन् यथार्हमार्तान् यथाशक्ति समुद्धरंश्च ।
निवारयंश्चाविनयादनार्यानुद्भावयामास परार्थचर्याम् ॥ २ ॥

इति परिपाल्यमानस्तेन महासत्त्वेन तस्मिन् वनप्रदेशे सत्त्वकायः साचार्यक इव बन्धुमानिव सवैद्य इव राजन्वानिव सुखमभ्यवर्धत ।

दयामहत्त्वात्परिपाल्यमानो वृद्धिं यथासौ गुणतो जगाम ।
स सत्त्वकायोऽपि तथैव तेन संरक्ष्यमाणो गुणवृद्धिमाप ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्स महासत्त्वः सत्त्वानुकम्पया वनान्तराणि समनुविचरंस्तीव्रवेदनाभिभवाद्विचेष्टमानं दिग्धविद्धमिवान्यतमस्मिन् वनप्रदेशे रेणुसंपर्कव्याकुलमलिनकेसरसटं सिंहं ददर्श । समभिगम्य चैनं करुणया परिचोद्यमानः पप्रच्छ—किमिदं मृगराज ? बाढं खल्वकल्यशरीरं त्वां पश्यामि ।

द्विपेषु दर्पातिरसानुवृत्त्या जवप्रसङ्गादथवा मृगेषु ।
कृतं तवास्वास्थ्यमिदं श्रमेण व्याधेषुणा वा रुजया कयाचित् ॥ ४ ॥

तद् ब्रूहि वाच्यं मयि चेदिदं ते यदेव वा कृत्यमिहोच्यतां तत् ।
ममास्ति या मित्रगता च शक्तिस्तत्साध्यसौख्यस्य भवान् सुखी च ॥ ५॥

सिंह उवाच—साधो पक्षिवर ! न मे श्रमजातमिदमस्वास्थ्यं रुजया व्याधेषुणा वा । इदं त्वस्थिशकलं गलान्तरे विलग्नं शल्यमिव मां भृशं दुनोति । न ह्येनच्छक्नोम्यभ्यवहर्तुमुद्गरितुं वा । तदेष कालः सुहृदाम् । यथेदानीं जानासि, तथा मां सुखिनं कुरुष्वेति ॥

अथ बोधिसत्त्वः पटुविज्ञानत्वाद्विचिन्त्य शल्योद्धरणोपायं तद्वदनविष्कम्भप्रमाणं काष्ठमादाय तं सिंहमुवाच—या ते शक्तिस्तया सम्यक् तावत्स्वमुखं

३४. शतपत्र-जातक

उसकाये जाने पर भी सज्जन अभ्यास के अभाव में पापकर्म में प्रवृत्त नहीं होते हैं। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व किसी वन में अनेक रंगों से युक्त मनोहर चित्र-विचित्र पंखों से विभूषित शतपत्र (नामक पक्षी) हुए। करुणा से परिचय होने के कारण उस अवस्था में भी उन्होंने प्राणिहिंसा से कलुषित शतपत्र की (हिंसक) वृत्ति का अनुसरण नहीं किया।

वह वृक्षों के नये पल्लवों, सुगन्धित मीठे स्वादिष्ठ फूलों तथा विविध रस गन्ध वर्णवाले फलों को खाकर सन्तोष रखते थे ।। १ ।।

दूसरों को यथायोग्य धर्मोपदेश करते हुए, पीड़ितों का यथाशक्ति उद्धार करते हुए और दुर्विनीतों को अविनय से रोकते हुए परोपकार किया करते थे ।। २ ।।

उस वन में उस महासत्त्व के द्वारा इस प्रकार परिपालित प्राणि समूह सुखपूर्वक बढ़ने लगा, मानो (बोधिसत्त्व के रूप में) उन्हें आचार्य बन्धु वैद्य और उत्तम राजा मिला हो।

जिस प्रकार अतिशय दया के कारण परिपालित वह सत्त्व-समूह (प्राणिसमूह) गुणों में बढ़ने लगा, उसी प्रकार उसके द्वारा परिपालित सत्त्वगुण की भी वृद्धि हुई ।। ३ ।।

एक बार जीव-दया के कारण दूसरे वनों में विचरण करते हुए उस महासत्त्व ने किसी वन में एक सिंह को देखा। वह तीव्र वेदना से छटपटा रहा था, जैसे विष-लिप्त वाण से विद्ध हुआ हो। धूल के सम्पर्क से उसके केसर अस्त-व्यस्त और मलिन हो गये थे। उसके समीप जाकर करुणा से प्रेरित होकर महासत्त्व ने पूछा—"मृगराज ! क्या बात है, आपको अत्यन्त अस्वस्थ देख रहा हूँ ?

हाथियों के बीच पराक्रम प्रकट करने से या मृगों का वेगपूर्वक पीछा करने से उत्पन्न थकावट से, या व्याध के वाण से या किसी रोग से आपकी यह अस्वस्थता हुई है ? ।। ४ ।।

यदि आप कहने योग्य मानते हैं तो कहिये और जो कुछ करनेयोग्य हो उसे भी कहिये। यदि मुझ मित्र में कुछ शक्ति है और उसके द्वारा आपको सुख पहुँचाया जा सकता है[1] तो आप सुखी हैं" ।। ५ ।।

सिंह ने कहा—"हे साधु, हे पक्षिश्रेष्ठ, थकावट रोग या व्याध के वाण से मेरी यह अस्वस्थता नहीं हुई है। गले के भीतर अटका हुआ यह हड्डी का टुकड़ा शल्य (बर्छा, तीर) के समान मुझे अत्यन्त कष्ट दे रहा है। मैं इसे न तो निगल सकता हूँ और न उगल ही सकता हूँ। यह मित्रों के लिए (सहायता करने का) समय है। आप जो कुछ जानते हैं उसके द्वारा मुझे सुखी (स्वस्थ) कीजिये।"

तब बोधिसत्त्व ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के कारण शल्य (हड्डी) निकालने का उपाय सोच लिया और उसके मुख-विस्तार की माप का काठ लेकर उस सिंह से कहा—"आपकी जितनी

निर्व्यादेहीति । स तथा चकार । अथ बोधिसत्त्वस्तदस्य काष्ठं दन्तपाल्योरन्तरं सम्यङ्निवेश्य प्रविश्य चास्य गलमूलं तत्तिर्यगवस्थितमस्थिशकलं वदनाग्रेणाभिहत्यैकस्मिन् प्रदेशे समुत्पादितशैथिल्यमितरस्मिन् परिगृह्य पर्यन्ते विचकर्ष । निर्गच्छन्नेव तत्तस्य वदनविष्कम्भणकाष्ठं निपातयामास ।

सुदृष्टकर्मा निपुणोऽपि शल्यहृन्न तत्प्रयत्नादपि शल्यमुद्धरेत् ।
यदुज्जहारानभियोगसिद्धया स मेधया जन्मशतानुबद्धया ॥ ६ ॥

उद्धृत्य शल्येन सहैव तस्य दुःखं च तत्संजनितां शुचं च ।
प्रीतः स शल्योद्धरणाद्यथासीत् प्रीतः सशल्योद्धरणात्तथासीत् ॥ ७ ॥

धर्मता ह्येषा सज्जनस्य ।

प्रसाध्य सौख्यं व्यसनं निवर्त्य वा सहापि दुःखेन परस्य सज्जनः ।
उपैति तां प्रीतिविशेषसंपदं न यां स्वसौख्येषु सुखागतेष्वपि ॥ ८ ॥

इति स महासत्त्वस्तस्य तद्दुःखमुपशमय्य प्रीतहृदयस्तमामन्त्र्य सिंहं प्रतिनन्दितस्तेन यथेष्टं जगाम ॥

अथ स कदाचित्प्रविततरुचिरचित्रपत्रः शतपत्रः परिभ्रमन् किंचित्क्वचित् तद्विधमाहारजातमनासाद्य क्षुदग्निपरिगततनुस्तमेव सिंहमचिरहतस्य हरिणतरुणस्य मांसमुपभुञ्जानं तद्रुधिरानुरञ्जितवदननखरकेसराग्रं संध्याप्रभासमालब्धं शरन्मेघविच्छेदमिव ददर्श ।

कृतोपकारोऽपि तु न प्रसेहे वक्तुं स याच्ञाविरसाक्षरं तम् ।
विशारदस्यापि हि तस्य लज्जा तत्कालमौनव्रतमादिदेश ॥ ९ ॥

कार्यानुरोधात्तु तथापि तस्य चक्षुष्पथे ह्रीविधुरं चचार ।
स चानुपश्यन्नपि तं दुरात्मा निमन्त्रणामप्यकरोन्न तस्य ॥ १० ॥

शिलातले बीजमिव प्रकीर्णं हुतं च शान्तोष्मणि भस्मपुञ्जे ।
समप्रकारं फलयोगकाले कृतं कृतघ्ने विदुले च पुष्पम् ॥ ११ ॥

अथ बोधिसत्त्वो नूनमयं मां न प्रत्यभिजानीत इति निर्विशङ्कतरः समभिगम्यैनमर्थिवृत्त्या प्रयुक्तयुक्ताशीर्वादः संविभागमयाचत—

पथ्यमस्तु मृगेन्द्राय विक्रमार्जितवृत्तये ।
अर्थिसंमानमिच्छामि त्वद्यशःपुण्यसाधनम् ॥ १२ ॥

शक्ति है उससे अपने मुख को अच्छी तरह खोलिये।" उसने वैसा ही किया। तब बोधिसत्त्व ने उसकी दन्त-पंक्तियों के बीच उस काठ को अच्छी तरह स्थिर कर, उसके गले के भीतर घुसकर, तिरछा स्थित उस हड्डी के टुकड़े के एक छोर को चोंच से पकड़कर, उसे ढीलाकर, उसके दूसरे छोर को पकड़कर, खींच लिया। बाहर निकलते हुए ही उन्होंने उस मुख विस्तारक काठ को गिरा दिया।

सुपरीक्षित निपुण शल्य-हारक प्रयत्नपूर्वक भी उस शल्य को नहीं निकाल सकता है, जिसे उन्होंने जन्म-परम्परा से अनायास-प्राप्त बुद्धि से निकाला ॥ ६ ॥

उन्होंने शल्य के साथ ही उसके दुःख को तथा दुःख से उत्पन्न शोक को निकाला। शल्य के निकलने से जितना प्रसन्न वह सिंह था उतना ही प्रसन्न बोधिसत्त्व भी थे ॥ ७ ॥

सज्जन का यह धर्म है।

सज्जन स्वयं दुःख सहता हुआ भी दूसरे का दुःख दूर कर या सुख पहुँचाकर जितना आनन्द पाता है उतना अनायास प्राप्त अपनी सुख-समृद्धि में भी नहीं ॥ ८ ॥

इस प्रकार वह महासत्त्व उस सिंह का दुःख दूरकर, प्रसन्न चित्त हो, उससे विदा लेकर, उससे अभिनन्दित होकर (उसका धन्यवाद ग्रहण कर), अपने अभीष्ट स्थान को चले गये।

तब एक बार अपने मनोहर पंख फैलाये हुए वह शतपत्र (आहार की खोज में) भटक रहे थे। किन्तु अपने योग्य कहीं कुछ आहार नहीं पाया। भूख की ज्वाला से उनका शरीर जलने लगा। तब उन्होंने उसी सिंह को देखा। वह तत्क्षण मारे गये तरुण हरिण का मांस खा रहा था। हरिण के रुधिर से उसके मुख नख और केसर रंग गये थे। अतः सन्ध्या की आभा से रञ्जित शरद्-ऋतु के मेघ खण्ड के समान वह दिखाई पड़ता था।

यद्यपि शतपत्र ने सिंह का उपकार किया था, तथापि वह याचना के रूखे शब्द न कह सके। यद्यपि वह बोलने में चतुर थे तथापि लज्जा ने उस समय उन्हें मौन-व्रत धारण करने का आदेश दिया ॥ ९ ॥

किन्तु कार्य-वश (भूख की ज्वाला से) वह लज्जा छोड़कर (या लज्जा-जनक स्थिति में) उसकी आँखों के आगे विचरण करने लगे। उन्हें देखते हुए भी उस दुरात्मा ने (आहार के लिए) उन्हें आमन्त्रित नहीं किया ॥ १० ॥

जिस प्रकार चट्टान पर बोया गया बीज, गर्मी-रहित राख के ढेर में डाली गई आहुति निष्फल होती है, उसी प्रकार विदुल (जल-वेतस) का फूल और कृतघ्न का किया गया उपकार फल-काल में व्यर्थ होता है ॥ ११ ॥

तब बोधिसत्त्व ने, अवश्य ही यह मुझे नहीं पहचान रहा है, यह सोचकर निश्शङ्क भाव से उसके समीप जाकर, याचक के समान उपयुक्त आशीर्वाद देते हुए, उससे दान माँगा।

"पराक्रम से आहार प्राप्त करने वाले मृगराज को स्वस्ति हो। मैं चाहता हूँ कि आप याचक का सत्कार करें, जिससे आपको कीर्ति और पुण्य प्राप्त हो" ॥ १२ ॥

इत्याशीर्वादमधुरमप्युच्यमानोऽथ सिंहः क्रौर्यमात्सर्यपरिचयादनुचितार्यवृत्तिः कोपाग्निदीप्तयातिपिङ्गलया दिधक्षन्निव विवर्तितया दृष्ट्या बोधिसत्त्वमीक्षमाण उवाच—मा तावद्भोः ।

दयाक्लैव्यं न यो वेद खादन् विस्फुरतो मृगान् ।
प्रविश्य तस्य मे वक्त्रं यज्जीवसि न तद्बहु ॥ १३ ॥

मां पुनः परिभूयैवमासादयसि याच्ञया ।
जीवितेन नु खिन्नोऽसि परं लोकं दिदृक्षसे ॥ १४ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तेन तस्य रूक्षाक्षरक्रमेण प्रत्याख्यानवचसा समुपजातव्रीडस्तत्रैव नभः समुत्पपात । पक्षिणो वयमित्यर्थतः पक्षविस्फारणशब्देनैनमुक्त्वा प्रचक्राम ॥

अथान्यतमा वनदेवता तस्य तमसत्कारमसहमाना धैर्यप्रयामजिज्ञासया वा समुत्पत्य तं महासत्त्वमुवाच—पक्षिवर, कस्मादिममसत्कारमस्य दुरात्मनः कृतोपकारः सन् संविद्यमानायां शक्तावपि मर्षयसि ? कोऽर्थः कृतघ्नेनाननैवमुपेक्षितेन ?

शक्तस्त्वमस्य नयने वदनाभिघाताद्
विस्फूर्जितः प्रमथितु बलशालिनोऽपि ।
दंष्ट्रान्तरस्थमपि चामिषमस्य हतुं
तन्मृष्यते किमयमस्य बलावलेपः ॥ १५ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तथाप्यसत्कारविप्रकृतः प्रोत्साह्यमानोऽपि तया वनदेवतया स्वां प्रकृतिभद्रतां प्रदर्शयन्नुवाच—अलमलमनेन क्रमेण । नैष मार्गोऽस्मद्विधानाम् ।

आर्ते प्रवृत्तिः साधूनां कृपया न तु लिप्सया ।
तामवैतु परो मा वा तत्र कोपस्य को विधिः ॥ १६ ॥

वञ्चना सा च तस्यैव यन्न वेत्ति कृतं परः ।
को हि प्रत्युपकारार्थी तस्य भूयः करिष्यति ॥ १७ ॥

उपकर्ता तु धर्मेण परतस्तत्फलेन च ।
योगमायाति नियमादिहापि यशसः श्रिया ॥ १८ ॥

कृतश्चेद्धर्म इत्येव कस्तत्रानुशयः पुनः ।
अथ प्रत्युपकारार्थमृणदानं न तत्कृतम् ॥ १९ ॥

उपकृतं किल वेत्ति न मे परस्तदपकारमिति प्रकरोति यः ।
ननु विशोध्य गुणैः स यशस्तनुं द्विरदवृत्तिमभिप्रतिपद्यते ॥ २० ॥

इस मधुर आशीर्वाद के कहे जाने पर भी सज्जन के आचरण से अपरिचित क्रूर और द्वेषी सिंह ने क्रोधाग्नि से प्रज्वलित रक्तवर्ण तिरछी दृष्टि से मानो जलाने की इच्छा से बोधिसत्त्व को देखते हुए कहा—"नहीं।

छटपटाते हुए मृगों को खाता हुआ जो दयारूपी कायरता को नहीं जानता है ऐसे मुझ सिंह के मुख में प्रविष्ट होकर तुम (निकल आये) जीवित हो, क्या यही बहुत नहीं है ?।१३।

फिर याचना के द्वारा मुझे अपमानित और पीड़ित कर रहे हो। जीवन तुम्हें भार हो गया है। तुम अब परलोक देखना चाहते हो" ॥ १४ ॥

बोधिसत्त्व तिरस्कार के इन रूखे अक्षरों से लज्जित हुए और वहीं आकाश में उड़ गये। पंख फैलने के शब्द से 'हम पक्षी हैं' यह उसे कहते हुए चले गये।

तब उनके उस असत्कार को नहीं सह सकते हुए या उनमें कितना धैर्य है, यह जानने की इच्छा से किसी वन-देवता ने उड़कर उस महासत्त्व से कहा—"हे पक्षि-श्रेष्ठ, आपने तो उपकार किया, किन्तु इस दुरात्मा ने आपका यह असत्कार किया। तब शक्ति के रहते आप इसे क्यों सह रहे हैं ? इस कृतघ्न की उपेक्षा करने से क्या लाभ ?

यद्यपि यह बलवान् है तथापि आप झपटकर अपनी चोंच की चोट से इसकी आँखें फोड़ सकते हैं। इसके दाँतों के बीच से मांस छीन सकते हैं। तब इसके इस बल अभिमान को आप क्यों सह रहे हैं ?" ॥ १५ ॥

तब उस प्रकार से अपमानित होने पर भी और उस वन-देवता के द्वारा उसकाये जाने पर भी बोधिसत्त्व ने अपने उत्तम स्वभाव का परिचय देते हुए कहा—"यह मार्ग अनुचित है। हमारे-जैसे प्राणियों के लिए यह मार्ग नहीं है।

सज्जन दया से प्रेरित होकर, न कि लाभ की इच्छा से, दुःख में पड़े हुए का उपकार करते हैं। वह उस उपकार को माने या न माने, इसमें क्रोध के लिए कौन अवसर है ? ॥१६॥

यदि वह उपकार को नहीं मानता है तो इससे उसी की हानि होगी। क्योंकि कौन प्रत्युपकार चाहनेवाला फिर उसका उपकार करेगा ? ॥ १७ ॥

उपकार करनेवाला धर्म और परलोक में धर्म का फल तथा निश्चय ही इस लोक में भी उज्ज्वल यश प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

यदि धर्म समझकर उपकार किया तो अनुताप क्यों ? यदि प्रत्युपकार के लिए (उपकार) किया था, तब वह ऋण-दान था, उपकार नहीं ॥ १९ ॥

वह मेरे उपकार को नहीं मानता है, यह सोचकर यदि कोई अपकार करता है तो वह गुणों से अपने यशरूपी शरीर को शुद्ध कर हाथी की वृत्ति अपनाता है ॥ २० ॥

न वेत्ति चेदुपकृतमातुरः परो न योक्ष्यतेऽपि स गुणकान्तया श्रिया ।
सचेतसः पुनरथ को भवेत्क्रमः समुच्छ्रितं प्रमथितुमात्मनो यशः ॥ २१ ॥

इदं त्वत्र मे युक्तरूपं प्रतिभाति—

यस्मिन् साधूपचीर्णेऽपि मित्रधर्मो न लक्ष्यते[1] ।
अनिष्ठुरमसंरब्धमपयायाच्छनैस्ततः ॥ २२ ॥

अथ सा देवता तत्सुभाषितप्रसादितमनाः साधु साध्विति पुनरुक्तमभिप्रशस्य तत्तत्प्रियमुवाच—

ऋते जटावल्कलधारणश्रमाद्भवानृषिस्त्वं विदितायतिर्यतिः ।
न वेषमात्रं हि मुनित्वसिद्धये गुणैरुपेतस्त्विह तत्त्वतो मुनिः ॥ २३ ॥

इत्यभिलक्ष्य प्रतिपूज्यैनं तत्रैवान्तर्दधे ॥

तदेवं प्रोत्साह्यमानोऽपि साधुर्नालं पापे प्रवर्तितुमनभ्यासादिति सज्जनप्रशंसायां वाच्यम् । एवं क्षान्तिकथायामप्युपनेयम्—एवं क्षमापरिचयान्न वैरबहुलो भवति, नावद्यबहुलो बहुजनप्रियो मनोज्ञश्चेति । एवं प्रतिसंख्यानबहुलाः स्वां गुणशोभामनुरक्षन्ति पण्डिता इति प्रतिसंख्यानवर्णे वाच्यम् । तथागतमाहात्म्ये च भद्रप्रकृत्यभ्यासवर्णे च—एवं भद्रप्रकृतिरभ्यस्ता तिर्यग्गतानामपि न निवर्तत इति ॥

॥ इति शतपत्र-जातकं चतुस्त्रिंशत्तमम् ॥

॥ कृतिरियमार्यशूरपादानाम् ॥

---

1 पा० लभ्यते ।

यदि कोई अस्थिर-चित्त प्राणी उपकार को नहीं मानता है तो वह गुणों की शोभा को नहीं प्राप्त करेगा। किन्तु ज्ञानवान् प्राणी (अपकार के द्वारा) अपने उन्नत यश को नष्ट करे, यह क्या उचित होगा ? ॥ २१ ॥

इस विषय में मुझे तो यही उचित जान पड़ता है।

उपकार करनेपर भी यदि किसी में मित्र का धर्म नहीं पाया जाय तो क्रोध किये विना मृदुतापूर्वक धीरे धीरे उससे हट जाय" ॥ २२ ॥

इन सुभाषितों से प्रसन्नचित्त होकर उस देवता ने "साधु, साधु" बार बार यह कहते हुए उनकी प्रशंसा की और बहुत कुछ प्रिय कहा।

"यद्यपि आप जटा और वल्कल वस्त्र नहीं धारण करते हैं, तथापि आप ऋषि हैं, भविष्य जाननेवाले यति हैं। केवल वेष धारण करने से कोई मुनि नहीं हो सकता; किन्तु जो गुणों से युक्त है वास्तव में वही यहाँ मुनि है" ॥ २३ ॥

इस प्रकार उनकी विशिष्टता प्रतिपादित कर और उनकी पूजा कर वह वहीं अन्तर्धान हो गये।

इस प्रकार उसकाये जानेपर भी सज्जन अभ्यास के अभाव में पाप में प्रवृत्त नहीं होते— यह सज्जन की प्रशंसा में कहना चाहिए। क्षमा की कथा में भी इसे उपस्थित करना चाहिए— क्षमा के अभ्यास से शत्रुता प्रायः नष्ट हो जाती है, निन्दा प्रायः नहीं होती है। क्षमाशील मनुष्य बहु-जन-प्रिय और मनोहर (आनन्द-दायक) होता है। विवेकी पण्डित अपने गुणों की शोभा की रक्षा करते हैं—यह विवेक की प्रशंसा में कहना चाहिए। तथागत के माहात्म्य में और उत्तम स्वभाव की प्रशंसा में यह कहना चाहिए—इस प्रकार यदि उत्तम स्वभाव का अभ्यास किया जाय तो पशु-पक्षियों की योनि में पड़ने पर भी वह (उत्तम स्वभाव) नष्ट नहीं होता है।

शतपत्र-जातक चौंतीसवाँ समाप्त।

यह कृति आर्य आर्यशूर की (है)।

परिशिष्ट (टिप्पणियाँ)

पृष्ठ	टि०	
३	१	अज्ञात मार्ग के खास खास चिह्नों का पहले ही परिचय प्राप्त कर लेने से उस पर चलने में सुविधा होती है।
३	२	अनुकूल माता-पिता-आचार्य आदि गुरुजनों की उत्तम सहायता।
,,	३	या 'ब्राह्मणों के लिए वेद के समान, क्षत्रियों के लिए आदरणीय राजा के समान'।
५	१	कुहना = लोभ से दम्भपूर्वक मौन-ध्यान आदि करना, पाखण्ड द्वारा वञ्चना।
७	१	या "आत्म-स्नेह (=शरीर-प्रेम) की सीमा को लाँघ कर"।
,,	२	या "कितनी कष्टदायक है आत्म-स्नेह की यह क्रूरता"।
,,	३	या "किस दूसरे प्राणी से मांस की याचना करूँ ?"
,,	४	या "समझूँगा कि मैंने पाप किया है और"
९	१	या "श्रद्धा प्रदान करूँगा"।
,,	२	या "उनके सद्गुणों के प्रति अपने इन शब्दों में मानो अपना सम्मान व्यक्त किया"।
,,	३	काम, मार, शैतान।
११	१	उत्साह-शक्ति = विक्रम—बल; मंत्र-शक्ति = ज्ञान-बल; प्रभु-शक्ति = कोश-बल और दण्ड-बल। (कौटिल्य अर्थ-शास्त्र २।६)।
,,	२	अर्थ धर्म और काम।
१५	१	उदात्तचित्त, निर्भय।
१७	१	आप दूसरों का अभ्युदय देखकर प्रसन्न होते हैं और यह दरिद्र दूसरों की समृद्धि देखकर दग्ध होगा।
,,	२	या 'गर्हित लोभ-पाश को धारण करता है'।
२५	१	राजा के प्रति भृत्यों का अनुराग या भृत्यों के प्रति राजा का अनुराग या राजा और भृत्यों का पारस्परिक अनुराग (प्रेम)। उसकी बढ़ती हुई राज-भक्ति के कारण राज्य-लक्ष्मी अचल हो गई।
३१	१	या 'वाणिज्य-व्यापार में अपनी ईमानदारी के कारण'।
४७	१	पा० '०धीरतया' ?
५१	१	अशान्त समुद्रवसना।

पृष्ठ	टि०	
५३	१	या सत्संग-सुख से शीतल ।
,,	२	अभीष्ट सिद्ध करने में समर्थ, मनोरथ पूरा कर सकने वाला ।
५९	१	'प्रतीरं' के स्थान पर 'प्रकीर्णं' रखकर अर्थ किया है । 'प्रतीरं' रहने पर अर्थ होगा—'जिसके तीर पर एक विमल जलाशय है' ।
,,	२	मैंने 'तपसातनु:' के स्थान में 'तेजसातनु:' रखा है, दे० बुद्धचरित बारह ९७ ।
,,	३	या 'उबालकर' ।
६३	१	या 'हे तपस्वी काश्यप, आपके इस युक्ति-युक्त सुभापित के लिए मैं...।
,,	२	या 'इच्छा से भी बहुत अधिक' ।
,,	३	या 'हे मुनि, आपके इस उचित सुभाषित के लिए भी' ।
७१	१	मनुष्यों की बोली बोल सकने के पहले यक्ष तुतलाते हैं ।
७३	१	'दुर्जन-धन को' 'गर्व' का विशेषण समझा जाय तो अर्थ होगा—'दुर्जनोचित अभिमान नहीं करते हैं' ।
७९	१	या "प्रजाजन (का अभ्युदय) इन्हें सह्य नहीं है ।"
,,	२	अनर्थे पाण्डित्यं तेन हताः (दग्धाः) = अनर्थ-पाण्डित्यहताः ।
८१	१	'वपुर्गुण' के लिए देखिये बुद्धचरित आठ ६५ ।
९१	१	यद्यपि वह उस राज-शास्त्र को जानता था, जिसमें धर्म मार्ग का अनुसरण वहीं तक किया गया है जहाँ तक यह अर्थ-सम्मत (अर्थ की प्राप्ति में सहायक) है—स्पेयर ।
,,	२	"पीडार्थेऽपि व्यलीकं स्यात्"—अमरकोष ।
,,	३	मद-अवलेप = मद-लेप, मद-धारा; अभिमान ।
,,	४	प्रमार्ष्टि = पोंछता है; नष्ट करता है ।
९३	१	या 'विश्वन्तर की दान-आसक्ति-रूपी व्यसन ही नीति-मार्ग की उपेक्षा है ।
,,	२	यथा राजा तथा प्रजा । यदि राजा कुमार्ग पर चलेगा तो प्रजा भी कुमार्ग पर चलेगी । यदि कोई प्रजा कुमार्ग पर चले तो उतनी हानि नहीं, किन्तु यदि राजा कुमार्ग पर चले तो इसका प्रभाव समस्त प्रजा पर पड़ सकता है ।
९५	१	पा० "वस्तु बाह्यम्" ? = बाहरी चीज ।
९७	१	अनुपभुक्त = अखण्ड, एकान्त, शान्त, निर्मल, पवित्र ।
,,	२	मद एव आचार्यः, तेन उपदिष्टानि ।
९९	१	गूर् = उद्यम और गति के अर्थ में । 'उद्गूर्णलगुडः'—पञ्चतन्त्र, नि० सा० प्रेस, पृ० २४० ।

पृष्ठ	टि०	
१०१	१	वन-वासी मुनिगण पशु-पक्षियों का भी सत्कार करते थे।
,,	२	निर्+यत्+णिच्+ल्यप्, देना, समर्पण करना, दतस्य निर्यातनं, प्रत्यर्पणं।
,,	३	अजिनान्त "कृष्णाजिन" नाम के लिए देखिये अष्टाध्यायी के सूत्र "उपकादिभ्यो …" २।४।६९, "अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च" ५।३।८२ और "संज्ञायां मित्राजिनयोः" ६।२।१६५ की काशिका वृत्ति।
,,	४	"हेतौ च" २।३।२३ के अनुसार तृतीयान्त फल को निमन्त्रण के साथ जोड़ कर अर्थ किया है। 'आनमिताग्रशाखाः' के साथ भी रखा जा सकता है।
,,	५	या 'स्निग्धवल्कल, कोमल छाल वाले।'
१०१	६	पा० "कुसुमरजोवासितसुखपवनं ?"
१०३	१	मनमोहिनी, प्रतिकूल आचरण करनेवाली।
११५	१	'प्रतारणा के लिए देखिये बुद्धचरित ग्यारह ५०।
,,	२	चतुर्थ पाद का पाठ अनिश्चित जान पड़ता है।
११७	१	देखिये 'प्रत्ययनेयबुद्धिः' सौन्दरनन्द पाँच १७।
११९	१	'जनप्रकाशेनाडम्बरेण' को वाक्य के उत्तरार्ध में रखकर यहाँ अर्थ किया गया है।
१२१	१	या "स्तुतियों से पुञ्जीभूत राजा का यश"।
१२५	१	इन्द्र के योग्य चिह्न या अर्हत् की आकृति के चिह्न से विभूषित।
१२९	१	दैत्य-अधिपतियों, या दैत्य-राज।
१३१	१	'आराधनं साधने स्याद्वाप्तौ'—अमरकोष।
१३३	१	'साधुः' के स्थान में 'साधु' रखें—स्पेयर।
,,	२	'व्याहन्तुं' के साथ केवल 'उत्सेहे' पढ़ने से अर्थ होगा—'विरोध कर सके।'
१३७	१	अपने और पराये के बीच भेद-भाव किये बिना धर्म का अनुसरण करनेवाली उनकी दण्ड-नीति।
,,	२	उन्माद उत्पन्न करनेवाली, पागलपन पैदा करनेवाली।
१४१	१	'काल-नालिका' यह शब्द हर्षचरित के अष्टम उच्छवास में (हर्षचरित उत्तरार्ध पृष्ठ १७४ पर) समय-सूचक यन्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
१४३	१	आकार=मन का अभिप्राय, हृद्गत भाव—पद्मचन्द्रकोश।
१४७	१	आहवनीय=अग्नि, जिसमें हवन किया जाय।
,,	२	स्पेयर ने लक्ष्मी का अर्थ 'पारलौकिक सुख' किया है।
,,	३	त्रिवर्ग-साधक, अर्थ धर्म और काम की प्राप्ति करानेवाली।
१५१	१	धर्म है आश्रय जिसका, धर्म के आधार पर, धर्म की दुहाई देकर।